श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रादुर्भावितायां

श्रीमद्भागवतदशमस्कन्ध–

सुबोधिन्यां

सप्तमाष्टमे राजससाधनफलप्रकरणे

लेखसमेते

स्वतन्त्रलेखादियुते च



श्रीमद्भागवत–दशमस्कन्ध–राजससाधनफलप्रकरण–सुबोधिनी

श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचिता

वि.सं. २०६६, श्रीवल्लभाब्द ५३२

३०० प्रति.

प्रकाशक:
श्रीवल्लभविद्यापीठ–श्रीविट्ठलेशप्रभुचरणाश्रम ट्रस्ट
वैभव को–ऑपरेटिव सोसायटी,
पूना–बेंगलोर रोड, कोल्हापुर,
महाराष्ट्र – ४१६००८.

संगणकाटंकन:
माया क्रिएशन्स, पूणे.

मुद्रक:
रमा आर्ट
४, चुनावाला इन्डस्ट्रीयल एस्टेट,
कोण्डीविटा रोड, अन्धेरी(पूर्व),
मुम्बई – ४०००५९.



श्रीकृष्णाय नमः।

सम्पादकीय

पूर्वप्रकाशित मूल श्रीसुबोधिनी और टीकाओंको पुनःप्रकाशित करनेकी शृंखलामें यह राजससाधन–फलप्रकरण पाँचवी कड़ी है. इसके अलावा इसमें यह वैशिष्ट्य है कि हमने मुद्रित संस्करणोंकी प्राप्य हस्तप्रतोंसे तुलना करके यथावसर संशोधन या पाठभेद प्रस्तुत किये हैं.

एक हस्तप्रत हमें गुजरातके संखेडासे प्राप्त हुई है. इसे हमें उपलब्ध करानेवालोंका यह दावा, कि यह श्रीराणाव्यासने श्रीगोपीनाथ प्रभुचरणोंके लिये लिखी थी, अप्रतीतिकर है. इसमें श्रीगुसांईजीके प्रक्षेप भी प्राप्त होते हैं और लिपिकर्ताकी इतिश्रीमें संवत् १७०४का उल्लेख मिलता है. यह लिपिकर्ता श्रीव्रजनाथ भट्ट हैं ऐसा माण्डवीस्थ गो.श्रीशरदबावाने श्रीगोपीनाथप्रभुचरणग्रन्थावलीमें निरूपण किया है. विशेष जानकारी उस पुस्तकमें प्राप्त हो सकती है. फिर भी इस हार्दिक सहयोगके लिये हम इस हस्तप्रतको उपलब्ध करानेवालोंके आभारी हैं.

इनके आद्य मुद्रित संस्करणोंके सम्पादकोंकी प्रस्तावनाएं हमने प्रथम परिशिष्टके रूपमें प्रकाशित की हैं.

लेखोपेत राजससाधनप्रकरणसुबोधिनी तथा राजसफलप्रकरणसुबोधिनी श्रीमूलचन्द्र तेलीवाला तथा श्रीधीरजलाल सांकलीयाने क्रमशः विक्रम संवत् १९७९ और १९८१में प्रकाशित की थी, जो कि सम्प्रदायमें आदर्श सम्पादनका जो कीर्तिमान उन्होंने स्थापित किया है उसीका अनुसरण था. आद्य और शुद्ध मुद्रणके अतिरिक्त संगत साहित्यह्न स्वतन्त्रलेख, कारिकासूचि, श्लोकसूचि, उपन्यस्तवाक्यसूचि, योजनासे भूषित भागवतार्थनिबन्ध, त्रिविधनामावली, श्रीपुरुषोत्तमसहस्रनाम, श्रीभागवतदशमस्कन्धार्थानुक्रमणिका, श्रीसुबोधिन्यनुस्यूतवाङ्मुक्तिकावली आदिह्न का निवेश अपने आपमें एक सांगोपांग ग्रन्थप्रकाशनकी मिसाल है आज भी. इन सभीका इस संस्करणमें निवेश करते हम उन आद्यसम्पादकोंके प्रति अपनी चिरकृतज्ञता व्यक्त करते हैं. इनमेंसे

भागवतार्थनिबन्ध, त्रिविधनामावली, श्रीभागवतदशमस्कन्धानुक्रमणिका एवं श्रीपुरुषोत्तमसहस्रनाम प्रकरणार्थ/लीलार्थ के बोधक होनेके कारण हमने इन्हें वाक्यार्थ-पदार्थनिरूपिका श्रीसुबोधिनीके पूर्व ही दिये हैं. श्रीहरिरायजी आदिके स्वतन्त्रलेख हमने तृतीयपरिशिष्टतया प्रकाशित किये हैं. कारिका-श्लोक-उपन्यस्तवाक्य-सूचियां एवं श्रीमदाचार्यवाङ्मुक्तावली हमने द्वितीय परिशिष्टके रूपमें प्रकाशित की हैं.

तामसप्रमाणप्रकरणकी हमारी शैलीको यथावत् निभाते हुए हमने हमारे द्वारा प्रस्तावित पाठ ( ) रूपमें दिये हैं; तथा श्रीसुबोधिनीपाठके अनुसार श्रीभागवतके श्लोकोंके संशोधनका भी प्रयास किया है. हमारी पादटिप्पणीयाँ '-सम्पा.'संकेतसे पहचानी जा सकती है; अन्य सब पादटिप्पणी आद्यसम्पादकोंकी हैं.

पाठकोंसे यह अनुरोध है कि वे अपने संग्रहमेंके अप्रकाशित स्वतन्त्रलेखोंकी झॅरोक्स कॉपी हमें उपलब्ध करायें. भविष्यमें उन्हें अवश्य छापने हैं.

इस ग्रन्थके सम्पादनकार्यमें हमारे सहयोगी श्रीभोगीभाई, श्रीरसिकभाई, श्रीहसमुखभाई, श्रीहर्षदभाई, श्रीधर्मेन्द्र झाला, श्रीपरेशभाई, श्रीअनिलभाई, श्रीमती बीना पलीचा तथा सम्पूर्ण मुद्रणकार्यभारके वाहक श्रीमनीष बाराईके हम कृतज्ञ हैं.

राजसप्रकरणानुरूप चाञ्चल्यसे ग्रस्त होकर हमने इस प्रकाशनके लिये पाठकोंके धैर्यकी परीक्षा-सी ले ली इसका हमें खेद है. हम सभीकी पाठकगणसे ये ही अपेक्षा है कि वे इस वाङ्मयके अध्ययनद्वारा हमें चिरकृतज्ञ बनायें.

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विट्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान्।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति।।

श्रीवल्लभाब्द ५३२ — **गोस्वामी श्याममनोहर**

दोलोत्सव — **असित शाह**



॥श्रीकृष्णाय नमः॥

॥श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः॥

राजस साधन–फलप्रकरणद्वयी

(भूमिका)

माहात्म्य–बोध–परिपुष्ट–रति–स्वरूप–
श्रीकृष्ण–भक्ति–सरणी–तरणीः किलायं।
मोहान्धकार–कलि–कल्मष–वारको वै
श्रीवल्लभो विजयते जगदेकबन्धुः॥

(उपक्रम)

महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणके अनुसार श्रीमद्भागवतपुराण परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णकी सर्ग विसर्ग स्थान पोषण ऊति मन्वन्तर ईशानुकथा निरोध मुक्ति और आश्रय रूपी दशविध लीलाओंके गानार्थ भगवज्ज्ञानावतार महर्षि वेदव्यासद्वारा प्रकट हुवा है.

इसके दशमस्कन्धमें निजभक्तोंके बीच प्रकट होनेवाले भगवान्के भूतलपर अवतीर्ण ऐसे स्वरूपसौष्ठव एवं ऐसे लीलाविहार का निरूपण है कि जिन लीलाविहारोंमें भगवान् अपनी सर्वज्ञ होनेके स्वरूपको भक्तोंके भक्तिमय मनोरथोंकी एकाग्र अभिज्ञतामें परिसीमित बना लेते हैं. अपनी निरंकुश स्वाधीनताको भी अपनी भक्ताधीनताके कृपांकुशसे परिचालित करते हैं. इसी तरह शुद्धाद्वैतमयी ब्राह्मिकी आत्मरतिरूपा निजानन्दतुष्टिको भी भजनानन्दप्रदानकी तुष्टिमें ही नितान्त निरुद्ध कर लेते हैं!

अंशी अपने–आपको जब अपने अंशोंमें निरुद्ध कर लेता है तो यह स्वाभाविक ही है कि अंशोंमें भी अंशीके गुणधर्म झलकने लग जाते हैं और इसी तरह अंशीमें अंशोंके भी! अतएव क्षुद्र लौकिक बाह्य विषयोंकी ओर छलकती



फेनोपम अंशोंकी आसक्ति उपशमितहो कर अंशीकी मूलभूत अलौकिक आत्मरतिके रूपमें प्रत्यङ्मुखी बनने लगती है. अंशोंमें आविद्यक अहन्ता–ममतावश उभरनेवाले पति पुत्र सखा बन्धु प्रियतम स्वामी सदृश लौकिक आसक्तिवाले भाव भी इसी तरह अंशीमें भी निजभक्तजनोचित रतिके रूपमें विश्वतोमुख होने लग जाते हैं.

अंशों और अंशी के बीच विविध रतिभावोंका इस प्रकार प्रकट हो पाना, अंशों और अंशी के इतरेतरमें निरुद्ध हो जानेकी प्रक्रियाको सांगोपांग सफल बना देता है.

अतएव भगवान्का निजभक्तोंके बीच लीलाविहारार्थ प्रकट होना साधननिरोध माना गया है तो भगवान्के उन लीलाविहारोंमें अपनी लौकिक विषयोंमें रही आसक्तिको भूल कर अंशोंका निरुद्ध हो पाना निरोधस्कन्धमें प्रतिपादनीय लीलामें फलनिरोध माना गया है.

भूतलपर प्रकट होनेवाले भक्त तो प्रपञ्चकी प्राकृत मर्यादाके अनुरूप बहुधा तामस राजस या सात्त्विक स्वभावोंवाले ही होते हैं. अतएव भक्तोंकी लौकिक विषयोंमें रही आसक्तिको अपनेमें निरुद्ध कर लेनेको अवतीर्ण होनेवाले भगवान्के स्वरूपसौष्ठव एवं लीलाविहार प्रथमतया तो भक्तोंके स्वभावानुरूप ही होते हैं. अन्ततः, परन्तु, वे भक्तोंको भगवान्के दिव्य स्वभावके अनुरूप ढाल देनेमें पूर्णतया सफल हो ही जाते हैं.

सृष्ट्युपादानरूपा त्रिगुणात्मिका प्रकृति, प्राकृत प्रपंच तथा उसके रूपरसगन्धादि विषयोंमें आसक्त जीवात्माओंके सात्त्विक राजस या तामस भाव एकमेवाद्वितीय ब्रह्मके ही अनेकभावापन्न होनेके सत्यसंकल्प और सर्वभवनसामर्थ्य के वश प्रकट होते हैं. यह **''ये चैव सात्त्विकाः भावा राजसाः तामसाः च ये मत्तएव इति तान् विद्धि नतु अहं तेषु ते मयि''** (भग.गीता.७।१२) इस गीताके वचनके आधारपर सिद्ध होता है. फिरभी भगवान् अपने मूल स्वरूपमें प्राकृत गुणधर्मोंवाले मानें नहीं जाते; क्योंकि, सृष्टिके



घटक या नियामक तत्त्व काल कर्म स्वभाव पुरुष या प्रकृति आदि सभी एकमात्र भगवान्के ही विविध अवान्तर रूप माने गये हैं.

भगवद्गीताके चौदहवें अध्यायमें भी इन सात्त्विक राजस या तामस गुणोंकी त्रयीके सूक्ष्म अन्तरका प्रतिपादन भगवान्ने किया है. इसके भलीभांति बोधको सृष्टिके सर्गके समय जन्मग्रहणके बन्धन और प्रलयके समय नाशकी व्यथा से मुक्ति प्रदान करनेवाला दरसाया गया है. इसे भगवान् निजसाधर्म्यरूपा परा सिद्धिके रूपमें बिरदाते हुवे : **''ज्ञानानां ज्ञानम् उत्तमम्''** (वहीं अध्यायारम्भमें) कहते हैं.

भगवान्ने इन तीन गुणोंके प्रकट होनेकी कारणप्रक्रिया भी पहले यहां समझायी है कि कैसे त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके प्रथम विकाररूप गर्भोपम महत् तत्त्वमें अपने चिदंश बीजोंके गर्भाधान द्वारा सृष्टिके अन्तर्गत सभी योनियोंमें जीवमूर्तियां प्रकट होती हैं. अग्नि और अयोगोलक जैसे औपाधिकतया इतरेतररूप बन जाते हैं, वैसी ही प्रक्रिया यहां भी प्रस्तुत की गयी है. अधिक तपाये जानेपर जैसे लोहेका गोला स्वयं आग जैसा लाल बन जाता है और आग भी खुद लोहेके गोलेकी तरह गोलाकार. इसी तरह प्रकृतिके उपादान कारण होनेके कारण प्रथम विकाररूप महत् तत्त्वमें अनुस्यूत होनेवाली त्रिगुणात्मकता त्रिगुणातीत चिदंशोंमें तथा चिदंशोंका चैतन्यगुण अचेतन महत् तत्त्वमें झलकने लग जाता है.

इस तरह तीन गुणोंके औपाधिक प्रादुर्भावकी प्रक्रियाके प्रतिपादनके बाद भगवान् इन तीनों गुणोंके एकैकशः स्वभाव और प्रभाव का भी निरूपण करते हैं. यथा सत्त्वगुण स्वस्थ निर्मल प्रकाशरूप होनेके कारण ज्ञान और सुख के साथ जीवको बांधनेवाला होता है. रजोगुण वस्तुके अस्वस्थ संगसे उत्पन्न होनेवाली तृष्णाके वश प्रादुर्भूत होनेवाला रागरूप होता है. अतएव कर्मोंके साथ जीवको बांधनेवाला बन जाता है. इसी तरह अज्ञानवश प्रकट होनेवाला तमोगुण सभी देहधारियोंके भीतर मोह जगानेवाला होनेके कारण प्रमाद आलस्य और निद्रा जैसी अवस्थाओंमें जीवको बांध देनेवाला होता है; अतएव श्रीभागवतके ''अह्नि आपृतं निशि शयानम् अतिश्रमेण लोके विकुण्ठे उपनेष्यति गोकुलं स्म'' (भाग.पुरा.२।७।३१) वचनमें व्रजभक्तोंको आध्यात्मिक साधनाओंकी उपेक्षा



करनेवाले लौकिक व्यापारोंमें केवल व्यापृत प्रमादी जनोंकी तरह निरूपित किया गया है. इसे भगवानकी तामस भक्तोंमें निरुद्ध होनेकी लीलाके रूपमें दरसाना अभिप्रेत है. सत्त्वगुणके हमारे भीतर बढ़नेपर देहके सभी द्वारोंमें प्रकाश उत्पन्न होता है. रजोगुणके बढ़नेपर लोभ और उसकी पूर्तिके हेतु प्रवृत्त्यारंभ अर्थात् कर्मोंका अनुपशम बढ़ने लगता है. तमोगुणके बढ़नेपर अप्रकाश और अप्रवृत्ति के अनुरूप प्रमाद–मोह बढ़ने लगते हैं.

क्योंकि क्रियाका अंश जीवात्माओंमें ब्रह्मके सद्रूप जड़ महत् तत्त्वकी ओरसे आता है और चेतनाका अंश ब्रह्मके चिद्रूप आत्मतत्त्वकी ओरसे आता है. अतः क्रियाके वश जीवात्माके भीतर कर्ता होनेका भाव पनपता है तो चेतनाके वश जीवात्माके भीतर द्रष्टा होनेका भाव पनपता माना गया है. अपने कर्तृत्वको, परन्तु, प्राकृतगुणमूलक मान कर तथा द्रष्टृत्वको अप्राकृत पुरुषचैतन्यमूलक मान कर, जो जीव कर्तृभाव और द्रष्टृभावके अस्वाभाविक अहंकारसे मुक्त हो पाता है, वह भगवद्भाव अर्थात् भगवान्की तरह जागतिक क्रिया–कलापोंमें लीलोपयोगी साक्षिभावको प्राप्त कर पाता है.

अतएव इन तीन गुणोंके प्रकट होनेकी सिद्धान्ताभिमत प्रक्रिया महाप्रभुने यों समझायी है :

‘‘यथा ऊर्णनाभिः सृष्ट्यर्थम् एकाम् ऊर्णाम् उद्वमते तथा भगवानपि त्रिविधसृष्ट्यर्थं त्रिगुणान् उद्वमते... सद्रूपेण निर्गतं ‘सत्त्वम्’ इति उच्यते. केवल चिद्रूपेण निर्गतं क्रियाशक्तिप्रधानत्वात् सदानन्दाभावात् च ‘रजः’ इति उच्यते. आनन्दांशात् च तमः. ते भगवद्रूपाएव भगवता सृष्टाः. नच ते पूर्वं स्थिताः तथा सति भगवदात्मकाः ते न भवेयुः’’.

(सुबो.२।५।१९).

अतएव सच्चिदानन्दरूप परब्रह्म परमात्मा भगवान्के सर्वोपादानरूप होनेसे सत्ता चेतना या आनन्द उन–उन अंशोंमें अंशात्मना अनुस्यूत रहते हैं. सृष्टिके



अवान्तर उपादान तत्त्व और अवान्तर नियामक तत्त्वोंके अन्तर्वर्ति-नियामक होनेके कारण भगवान्की नियामकता भी अंशात्मना सारे नाम-रूप-कर्मोंमें अनुस्यूत रहती है. सभीके लिये आश्रयणीय एवं भजनीय होनेसे भगवान्के सनातन अकृत्रिम ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान अथवा वैराग्य आदि दिव्य गुणधर्म भी उन-उन जीवोंमें अंशात्मना अनुस्यूत हो पाते हैं.

सृष्ट्यर्थ परिगृहीत इन अवान्तररूपोंके गुण धर्म या रूप भी, इन तत्त्वोंके भगवान्में ही अवस्थित होनेके कारण, भगवान्में भी परम्परया अवस्थित तो अवश्य ही प्रतीत होते हैं; परन्तु, भगवान्के मूलस्वरूपमें साक्षात् अवस्थित नहीं होते. इसी अर्थमें प्राकृत गुणधर्मोंसे रहित होनेके कारण अपरिमित दिव्य गुणधर्मोंवाले स्वयं भगवान्को 'निर्गुण' कहा जाता है. अपवादरूपेण, अतएव, कुछ सर्वथा भगवद्भावनिष्ठ भक्त भी भगवान्की ही तरह निर्गुण भी हो ही सकते हैं. यह श्रीभागवतके **''कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं, रजो वैकल्पिकं मतं, प्राकृतं तामसं ज्ञानं, मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्''** (भाग.पुरा.११।२५।२४) वचनके आधारपर प्रमाणित होता है. भगवद्गीतामें अर्जुनके **''कैः लिंगैः त्रीन् गुणान् एतान् अतीतो भवति... किम् आचारः कथञ्च एतान् त्रीन् गुणान् अतिवर्तते ?''** (भग.गीता.१४।२१) ऐसे तीन गुणोंके दायरेसे बाहर निकलनेके लिंग आचरण और प्रकार के बारेमें प्रश्न करनेपर भगवान्ने प्रश्नके अनुरूप पहले तो सात्त्विक प्रकाश, राजस प्रवृत्ति; तथा, तामस मोह रूपी गुणधर्मोंके अपने भीतर विद्यमान होनेपर अद्वेष तथा निवृत्त हो जानेपर उनके बारेमें आकांक्षाका अभाव होना लिंगके रूपमें दिखलाया लगता है. इन प्राकृत गुणोंसे विचलित हुवे बिना उनका उदासीन भावसे स्वीकार, रजोधूलि या स्वर्णादिधन के बारेमें समदृष्टि रखनी, सुख-दुःख दोनोंमें समानरूपेण स्वस्थ रह पाना, प्रिय-अप्रिय दोनोंको तुल्यतया देख पानेका धैर्य, अपनी निन्दा-स्तुति दोनोंको तुल्यतया सुन पानेका धैर्य, मान-अपमान या शत्रु-मित्र दोनोंको तुल्यतया निहार पानेका विवेक, इस तरहकी बाह्याभ्यन्तर वृत्ति निभा पानेवाला जीव, तीन गुणोंके बन्धनोंको निजी साधनबल द्वारा तोड़ने समर्थ हो पाता है, ऐसी बात **''सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते''** (भग.गीता.१४।२५) बतायी है.

अन्तमें, परन्तु, भगवान्की कृपाके वश मिलनेवाली अव्यभिचारिणी



भक्तिद्वारा भी तीन गुणोंके बन्धनोंसे जीवात्मा उभर पाती है, ऐसा भी उपदेश **''मां च यो अव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते स गुणान् समतीत्य एतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते''** (भग.गीता.१४।२६) इस कारिकामें दिया है.

यहां यह उल्लेखनीय हो जाता है कि साधनबलसे केवल गुणातीत होना माना गया; जबकि, भक्तिबलसे समतीत हो कर ब्रह्मभूय होना और अधिक स्वीकारा गया है. ब्रह्म तो स्वयं गुणातीत सर्वगुणाधार तथा भूमा होनेपर भी भक्तोंके लीलाभावोंके अनुरूप गुणानुसरणकी लीला प्रकट करता है. वह अपरिच्छिन्नानन्दात्मक ही भक्तोंकेलिये अनिर्वचनीय परमानन्दस्वरूप बन जाता है. ऐसे लीलाविशिष्ट ब्रह्मके समान होना 'ब्रह्मभूयस्' होना है. हम देख चुके कि प्रस्तुत स्कन्धमें प्रतिपाद्य निरोधलीलाके हेतु भगवान् अपने भक्तोंके बीच पहले प्रकट होते हैं. बादमें अपने स्वरूपसौष्ठव एवं लीलाविहारों द्वारा उन भक्तोंके भीतर प्रपंचकी विस्मृतिके साथ स्वयंके स्वरूप एवं लीला में अनन्यासक्तिका सम्पादन करते हैं. यह अनन्यासक्ति ही व्युत्क्रमेण माहात्म्यज्ञानसे मण्डित हो जानेपर भक्तिका स्वरूप धारण कर लेती है. निरोधलीलाके अन्तर्गत भगवदासक्तिमें प्रपंचविस्मृतिवाला अंश उसे अव्यभिचारिणी बन पानेमें उपकारक बनता है. यह प्रक्रिया है निरोधलीलाद्वारा तीन गुणोंके दायरेमें से बाहर निकल कर गुणातीत भगवान्के साथ स्वयं भी गुणातीत बन कर जुड़ पानेकी !

इसी स्कन्धके गुणातीत प्रकरणके कुछ उद्गार, अतएव, इस प्रसंगमें अवलोकनीय हैं :

''दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तव आत्ततनोः
चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः ।
न परिलषन्ति केचिद् अपवर्गमपि ईश्वर ! ते !
चरणसरोजहंकुलसंगविसृष्टगृहाः ।।
स्वजनसुतात्मदारधनधामधरासुरथैः
त्वयि सति किं नृणां श्रयत आत्मनि सर्वरसे ।
इति सद् अजानतां मिथुनतो रतये चरतां



सुखयति कोनु इह स्वविहते स्वनिरस्तभगे ।।''

(भाग.पुरा.१०।८७।२१-३४).

एतावता यह स्पष्ट हो जाता है कि क्यों हमारी साधनाके बलपर सम्पादित पूर्वोक्त सात्त्विकता हमें आत्मकैवल्य पर्यन्त ही फलप्रदान करने समर्थ हो पाती है. क्यों भगवत्कृपालभ्य भगवन्निष्ठा, इसके विपरीत, प्रपंचविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्ति या अव्यभिचारिणी भक्ति. सर्वकामनाकी उपशामिका मुक्तिकी कामनासे भी भक्ति ही हमें विरत बना कर नीरस साक्षिभावसे भी उबार कर भगवान्‌की तरह ही सर्वथा लीलाभावसे परिपूर्ण बना पाती है. इसी हेतु या प्रयोजन के अभिप्रायवश भगवान्‌ने कहा **''परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानम् उत्तमं... इदं ज्ञानम् उपाश्रित्य मम साधर्म्यम् आगताः सर्गेऽपि न उपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च''** (भग.गीता.१४।१-२).

यहां अवधारणीय हो जाता है कि सर्वगुणाधार गुणातीत परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण यदि स्वयं सर्गादिमें जनमते न हों अथवा प्रलयके समय स्वयंके भीतर स्वयमेव परिगृहीत बहुविध नाम-रूप-कर्मोंको उपसंहृत न करते हों तो उपनिषद् भगवद्गीता एवं श्रीभागवत आदिके ह्वह्व

''ब्रह्म वा इदम् अग्रे आसीत्. तद् आत्मानमेव अवेद 'अहं ब्रह्म अस्मि' इति. तस्मात् तत् सर्वम् अभवत्'' (बृह.उप.१।४।१०).

''एष हि देवः प्र दिशो अनु सर्वाः, पूर्वो हि जातः स उ गर्भे अन्तः, स विजायमानः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्मुखः तिष्ठति विश्वतोमुखः'' (महाना.उप.२।१).

''बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव च अर्जुन! तानि अहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ... अजोऽपि सन् अव्ययात्मा भूतानाम् ईश्वरोऽपि सन् प्रकृतिं स्वाम् अधिष्ठाय सम्भवामि आत्ममायया'' (भग.गीता.४।५-६).

''सर्वभूतानि... प्रकृन्तिं यान्ति मामिकां कल्पक्षये पुनः तानि



कल्पादौ विसृजामि अहं. प्रकृतिं स्वाम् अवष्टभ्य विसृजामि पुनः– पुनः भूतग्रामम् इमं कृत्स्नम् अवशं प्रकृतेः वशात्. नच मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति... उदासीनवद् आसीनम् असक्तं तेषु कर्मसु'' (भग.गीता.९।७–९).

''सएव आद्यः पुरुषः कल्पे–कल्पे सृजति अजः आत्मनि आत्मना आत्मानम् संयच्छति च पाति च'' (भाग.पुरा.२।६।३८).

इत्यादि अनेकानेक वचन सर्गके आदिमें ही नहीं प्रत्युत मध्यमें भी भगवान्के भी जन्मग्रहणके वृत्तान्त तथा अन्तमें आत्मोपसंहरणके भी वृत्तान्त के पोषक मिलते हैं. इनकी संगति उपनिषदादि शास्त्रोंमें –

''स वै नैव रेमे... स द्वितीयम् ऐच्छत्. स ह एतावान् आस'', ''आनन्दाद्धि एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति'' (बृह.उप.१।४।३, तैत्ति.उप.३।६).

''लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'' (ब्र.सू.२।१।३३).

''चित्रं तव ईहितम् इह अहो अमितयोगमायालीलाविसृष्टभुवनस्य विशारदस्य सर्वात्मनः समदृशो विषमः स्वभावो भक्तप्रियो यद् असि कल्पतरुस्वभावः'' (भाग.पुरा.८।२३।८).

इत्यादि वचनोंमें निरूपित गुणातीत आनन्दात्मक सर्वात्मभावात्मक साक्षिभावके साथ जन्मादिके निरूपण द्वारा समझायी गयी है. यों भगवान्के दिव्य नाम–रूप–कर्मोंके निर्गुण जन्म स्थिति प्रलय की रीति और सात्त्विकगुणोपनीत आत्मकैवल्यरूप साक्षिभाववश प्रतीत होते जन्मादिराहित्य; अथवा, राजस–तामसगुणोपनीत जन्मादिके मोहनके भी बीच रहे सूक्ष्म तारतम्यको जानना आवश्यक होता है.

स्वयं भगवान् भी अतएव प्रथम प्रकारके निरूपणमें **''प्रकृतिं स्वाम् अधिष्ठाय सम्भवामि आत्ममायया... जन्म कर्म च मे दिव्यम् एवम्''** (भग.गीता.४।६-९) यों अपने जन्मकर्मकी दिव्यताके हेतुतया स्वयंको प्रकृतिके अधिष्ठाता रहते हुवे जन्मादिग्रहण करनेवाला दिखलाते हैं. इसके विपरीत **''सर्वभूतानि... प्रकृतिं यान्ति मामिकां कल्पक्षये पुनः तानि कल्पदौ विसृजामि अहं प्रकृतिं स्वाम् अवष्टभ्य विसृजामि पुनः-पुनः भूतग्रामम् इमं कृत्स्नम् अवशं प्रकृतेः वशात्''** (भग.गीता.९।७-८) वचनमें अन्य जीवात्माओंके जन्म आदि भगवान्की प्रकृतिके वशमें होनेके कारण उसपर अवलम्बित या उसके साथ बंधे हुवे होनेके कारण घटित होते दिखलाते हैं. सात्त्विकतोपनीत आत्मकैवल्यसे भी उभर कर, जब जीवात्मा भगवन्निष्ठ हो कर समग्र सृष्टिको लीलाभावसे निहारने सक्षम हो पाती है, तब वह भी भगवान्के लीलाभाववश होते जन्म आदिकी तरह स्वयंके जन्म आदिका अनुभव लीलाभावसे करनेको सक्षम हो पाती है. अतः मोहित नहीं हो पाती ! यों वह भी गुणातीत बन जाती है.

यों कुल मिला कर चार तरहके भक्तोंके बीच भगवान्के स्वरूपसौष्ठव और लीलाविहार भी चार तरहके स्वीकारे गये हैं. तदनुरूप दशमस्कन्धके मूल पांच प्रकरणोंके अन्तर्गत प्रथम प्रकरण तो स्वयंके भक्तोंके बीच निरोधार्थ भगवान्के द्वारा जन्मग्रहण करनेकी लीलाका निरूपक प्रकरण माना गया है. शेष चार प्रकरण चतुर्विध भक्तोंके बीच प्रकट किये निज स्वरूपसौष्ठव एवं लीलाविहार के अनुरूप क्रमशः तामस राजस सात्त्विक और निर्गुण रूपोंमें स्वीकारे गये हैं.

इन भक्तोंके बीच निरुद्ध हो जानेकी लीला करनेको ही भगवान् भूतलपर अवतीर्ण होते हैं. अतः पहले तो ये भक्त अपने-अपने स्वभाव और रुचि की सीमाओंके भीतर ही भगवान्को स्वीकार कर पाते हैं. बादमें, किन्तु, भगवान्के स्वरूपसौष्ठव और लीलाविहारों में अंकुरित या पनपनेवाली भक्तोंकी रुचि ही शनैः-शनैः प्रेमके रूपमें पल्लवित होने लगती है. वह आसक्तिके भी रूपमें पुष्पित हो पाती है और, अन्तमें, व्यसनके रूपमें वह फलित हो जाती है. इस अवस्थामें पहुंचनेवाले भक्त प्रपंचको विस्मृत करके भगवान्में अनन्यतया आसक्त हो पाते हैं. इस अवस्थाकी प्राप्तिके बाद भगवान्की निरोधलीला अपने

चरमोत्कर्षको प्राप्त कर लेती है. अतएव भगवान्के विविध स्वरूपसौष्ठव एवं लीलाविहारों में विविध भक्तोंकी रुचि प्रेम आसक्ति और व्यसन के इन मनोभावोंके अनुरूप भक्तोंके साथ भगवान् द्वारा सम्पन्न किये गये लीलाविहारोंको क्रमशः प्रमाणलीला प्रमेयलीला साधनलीला और फललीला के रूपोंमें मान्य किया गया है.

स्वरूपसौष्ठव और लीलाविहार में अंकुरित रुचि ही भगवान्को पहचान पानेको प्रमाणात्मना कार्यकारी बन जाती है. इस रुचिके प्रेमके रूपमें पल्लवित हो जानेपर भगवान्का स्वरूपसौष्ठव और लीलाविहार सम्मुग्धाकारवाली अनुभूतिका विषय बने रहनेके बजाय प्रमाणसिद्ध प्रमेयात्मना सुनिर्धारित हो पाता है. इस भगवत्प्रेमका आसक्तिके रूपमें प्रफुल्लित हो पाना ऐसे भगवान्की संनिधिके नैरन्तर्यका हेतु बन जानेके कारण साधनात्मना पुष्पित हो जाता है. इस ऐसी आसक्तिके और अधिक परिपक्व हो जानेपर भक्तोंके भीतर वह भगवद्व्यसनात्मना फलित हो कर अन्य सभी प्रपंचासक्तिओंका विस्मरणरूप हो जाता है.

भूतलपर जन्म लेनेवाले भगवान्की, भक्तोंके भावोंके अनुरूप प्रकट होनेवाली लीला ही, भक्तोंको शनैः-शनैः भगवदनुरूप निर्गुण अर्थात् प्राकृत गुणोंसे ऊपर उठा कर, भगवद्भक्तिमें तत्पर बना देती है. अतएव प्राकृत गुणोंके अन्तर्गत सर्वप्रथम आरम्भणीय बिन्दु तामस गुण-धर्म-स्वभाव वर्णित हुवे हैं. अतएव तामस प्रमाण-प्रमेय-साधन-फल प्रकरण प्रमुखतया व्रजलीलाके रूपमें निरूपित हुवे हैं. उसके बाद राजस प्रमाण-प्रमेय-साधन-फल राजस गुण-धर्म-स्वभाववाले भक्तोंके साथ, जो मथुरा और द्वारका में भगवान्की लीला हैं प्रमुखतया उनके वर्णनार्थ ही यहां इस प्रकरणमें प्रतिपादित हुवे है. क्योंकि सात्त्विक भक्तोंको अपने सात्त्विक स्वभावके अनुरूप प्रमाणकी अपेक्षा नहीं रहती; अतः, सात्त्विक प्रकरणमें भगवान्की प्रमेय-साधन-फलरूपा त्रिविध लीला ही भागवतमें निरूपित हुयी हैं. अन्तमें निर्गुण भक्तोंके साथ की गयी भगवल्लीलाओंका वर्णन भी भागवतके दशमस्कन्धमें प्रतिपादित हुवा है.

यहां एक और विषय सावधानतया विचारणीय हो जाता है कि सर्वसाधारणतया सभी कुछ जब त्रिगुणात्मक हो ऐसी स्थितिमें भूतलपर प्रकट



होनेवाले भगवदवतारकालके भक्तोंमें भी वह क्या सर्वसाधारण सात्त्विक-राजस-तामसभावोंके रूपमें निरूपणीय है अथवा अन्य किसी असाधारण अभिप्रायवश ?

इसके समाधानार्थ महाप्रभुद्वारा विरचित तत्त्वार्थदीप निबन्धके शास्त्रार्थप्रकरणका मंगलाचरण अवगाहनीय है. वहां [१]**यः क्रीडति** [२]**यो जगद् भूत्वा क्रीडति** [३]**यतो जगत् क्रीडति** यों क्रीड़ाके तीन प्रकारोंके अन्तर्गत भगवान्‌की कुछ लीला स्वयंके सच्चिदानन्दात्मक रूप-नाम-कर्मोंको प्रकट करने होती प्रतिपादित की गयी हैं, कुछ लीला आनन्दांशके तिरोधानद्वारा ब्राह्मिक सच्चिदंशोंके उपादानभावश प्रकट होती प्रतिपादित हुयी हैं, तो कुछ लीलाओंमें भगवान् उपादान या अनुस्यूत नहीं बनते केवल निमित्त या अधिष्ठान मात्र बनते हैं. इनमें प्रथम लीलाके अन्तर्गत सात्त्विकादि अप्राकृत भाव योगमाया द्वारा प्रकट होते हैं. द्वितीयके अन्तर्गत सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाद्वारा परिगृहीत त्रिगुणात्मिका प्रकृति और त्रिगुणातीत पुरुष द्वारा भगवद्‌गीतोक्त रीतिके अनुसार सात्त्विक आदि भाव प्रकट होते हैं. तीसरे प्रकारकी लीलामें भगवन्निष्ठ अविद्याशक्तिकी अंगभूता व्यामोहिका माया द्वारा जीवका केवल व्यामोहन होता है. वस्तुतः कोई भी रूप या नाम या कर्म सदंशको उपादान बना कर प्रकट हुवा नहीं होता. अर्थात् उसका केवल आभास ही वैसा होता है. अतः वे केवल सदधिष्ठानक होते हैं सदुपादानक नहीं. यह भगवद्‌गीतोक्त "**मत्तः स्मृतिः ज्ञानम् अपोहनं च**" (भग.गीता.१५।१५) वचनमें स्मृति और ज्ञान की तरह स्मृत्यपोहन और ज्ञानापोहन भी भगवान्‌की व्यामोहिका मायाके प्रभाववश सम्पन्न होता स्वीकारा गया है.

इसमें उल्लेखनीय तथ्य यह और है कि वात्सल्य सख्य दास्य या मधुर आदि प्राकृत स्वभावोंकी परिधिमें भगवान्‌के बारेमें पनपनेवाले विविध मनोभाव, नाम्ना, रुचि प्रेम आसक्ति एवं व्यसन भावोंकी मनन-निदिध्यासन रूपी साधनोंकी प्रतिपादिका ब्रह्ममीमांसाके अनुरूप प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलकी प्रक्रियाओंकी विधासे मीमांसा की गयी है.

इन अनेकविध भक्तोंके विविध भावोंको अपने [१]माहात्म्यज्ञान [२]स्वरूपज्ञान तथा [३]स्वयं लीलाविहारोंके कृपानुभावक अभिप्रायके ज्ञान से भगवान् स्वयं

लीलया मण्डित करते जाते हैं. यों वे लोकसदृश मनोभाव भी शनैः-शनैः वैसे-वैसे भक्तिभावोंमें व्युत्क्रमेण रूपान्तरित होने लग जाते हैं. यह व्युत्क्रम इस अर्थमें प्रकट होता है कि औपनिषदिक साक्षाद् ब्रह्मज्ञान और/अथवा साक्षाद् भगवत्स्वरूपासक्ति के बिना सर्वरूपेण सर्वदा-सर्वत्र विद्यमान भी भगवान् प्रकटतया प्रमाणबलसे तो अनुभूत नहीं हो सकते. अतएव उत्सर्गरूपेण भक्ति इन दोनों अंगोंको पूर्वोत्तर अवस्थाओंके रूपमें अपना कर ही प्रकट होती है, ऐसा माना जाता है. प्राणिमात्रके भीतर विद्यमान ब्राह्मिकी आत्मरति प्रेमासक्तिव्यसनादिकी अवस्थाओंमें विकसित होनेपर भी भगवन्माहात्म्यज्ञानके बिना भक्तिके रूपमें मान्य नहीं हो पाती. अतएव माहात्म्यज्ञानको भक्तिकी पूर्वावस्था माना जाता है और उत्तरावस्था सुदृढ सर्वतोधिक स्नेह. फिरभी भूतलपर स्वतः प्रकट होनेवाले भगवान्की लीलामें किसी तरहकी पूर्वनियतिके रूपमें माहात्म्यज्ञानकी अपेक्षा स्वयं भगवान् ही अपवादरूपेण रखते नहीं हैं.

अतः भगवान् अपने अनुग्रहके अनुभावके रूपमें लौकिक भावोंको ही भक्तिके रूपमें मान्य कर लेते हैं. यों शनैः-शनैः अपने बारेमें पनपी रुचि प्रेम आसक्ति या व्यसन के भावोंको उनके अनुपातमें ही क्रमशः माहात्म्यज्ञानसे मण्डित करते जाते हैं. अतः लौकिक भावों और भक्तिभावों के बीच रही विभाजकरेखा अवतारलीलामें धुंधला जाती सी लगती है.

फिरभी क्योंकि श्रीमद्भागवत महापुराण भी अवतारलीलाओंका निरूपण अन्ततः तो भगवान्के भूतलपर प्रकट होनेके प्रमुख प्रयोजनरूप भक्तिशास्त्रके प्रवर्तनार्थ ही प्रकट करना चाहता है. अतएव महाप्रभुका इस बारेमें सुस्पष्ट विधान है :

''एषा हि समाधिभाषा. तत्र हि पुरुषप्रयत्नो भक्तावेव, सुदृढः सर्वतोऽधिकः स्नेहस्तु आत्मत्वेन ज्ञाते भवति; माहात्म्यज्ञानन्तु सृष्ट्यादिभिः. द्वयं साधयितुम् एषा संहिता... सृष्ट्यादीनां लीलात्वेन ज्ञाते भगवद्भक्तिः भवति न कार्यत्वेन. कौतुकाधिष्ठितेन अनायासेन क्रियामाणं कर्म लीला.''

(सुबो.१।१।१-४).

अतः इन विविध भावोंको श्रीभागवतपुराण, कभी भक्तिके स्थायिभाव तो



कभी अनुभाव के रूपोंमें भी, दरसाता होनेपर भी, अन्ततः निर्गुणलीलाके समय तो भक्तिके स्थायिभावके विविध संचारिभावोंके रूपमें ही प्रतिपादित करना चाहता है.

(प्रस्तुत खण्डका प्रतिपाद्य विषय)

प्रस्तुत खण्डमें तदनुसार राजस प्रकरणके अन्तर्गत अवान्तर साधनप्रकरण और फलप्रकरण नियोजित हुवे हैं.

वाल्लभ मतीय प्रक्रियाके प्रतिपादनपरक 'प्रमेयरत्नार्णव' नामक अद्भुत ग्रन्थमें ग्रन्थकार श्रीबालकृष्ण भट्ट भगवल्लीलामें प्रकट हुयी इन तामसता राजसता या सात्त्विकता की व्याख्या ह्नह्न

[१] भावरूप पारिभाषिक

[२] धर्मविशेषरूप

तथा

[३] भगवन्मायाकृत

यों तीन तरहकी समझाते हैं. साथ ही साथ यहां लक्ष्यमें रखने लायक एक और तथ्य यह भी है कि जैसे दशमस्कन्धके आरंभके चार अध्यायोंमें भगवान्का जन्म चारों प्रकारके भक्तोंको अपनेमें निरुद्ध करनेकी लीलाके हेतु है. अतः क्रमसंगतिके अनुरूप पहले भगवान् तामस भक्तोंका निरोध उन भक्तोंके भावानुरूप अपने स्वरूपसौष्ठव और लीलाविहार द्वारा सिद्ध कर लेते हैं, तब उन भक्तोंके भीतर प्रपंचविस्मृतिके साथ भगवदासक्ति इतनी दृढ़ हो जाती है कि उनके तामस स्वभाव और उसके प्रभाववश होते कायिक वाचिक या मानसिक व्यापारोंमें तामसी लीलाविकार निवृत्त हो जाते हैं. अतः इस प्रयोजनकी पूर्ति हो जानेपर भगवान् राजस भक्तोंके निरोधार्थ राजस भक्तोंके बीच पधार जाते हैं. परिणामरूपेण तामस भक्तोंके साथ भगवान्की सफल संयोगलीलाके बाद विप्रयोगलीला चलती है. इस विप्रयोगकी तीव्रता ही इन तामस भक्तोंके चित्तोंको पुनः प्रापंचिक विषयोंमें भटक जानेसे रोके रखती है. अतएव इनके अन्तःकरणोंमें तो भगवान् निरुद्ध ही हो गये होनेके कारण उन्हें भगवत्स्वरूप और



भगवल्लीला का संयोगसुख मिलता रहता है परन्तु तामस गुणकी निवृत्तिके बाद प्रकट हुवे राजस गुणोंके अनुरूप बाह्य भगवत्स्वरूप एवं बाह्य भगवल्लीला का विप्रयोग भी इन भक्तोंको शान्त और स्वस्थ नहीं होने देता. फलतः राजस भक्तोंका जो स्वभावप्राप्त मौलिक गुण होता है, वही गुण तामसगुणके निवृत्त हो जानेके कारण, पहले जो तामस भक्त थे, ऐसे भक्तोंके भीतर राजस प्रकरणमें या तो वर्णनीय ही है अथवा अवर्णित होनेपर भी अभिप्रेत तो माना ही गया है.

अतः इस प्रकरणमें दोनों तरहके अर्थात् प्राकरणिक राजस भक्त और तामसप्रकरणवाले राजसभावापन्न भक्तोंके भी भीतर तीनों तरहके प्रकरणानुरोधी [१]भावरूप पारिभाषिक राजसत्व [२]धर्मविशेषरूप राजसत्व तथा [३]भगवन्मायाकृत राजसत्व भी मान्य किये गये हैं.

इनमें भावरूप प्रकरणाधिकारिताका निर्वाहक पारिभाषिक राजसत्व तो भगवान्के वैसे स्वरूपसौष्ठव और लीलाविहारों के अनुरूप स्वरूपलीलानुपाती होता है. धर्मविशेषरूप राजसत्व, जबकि, प्रसंगोपात्त भक्तोंके कायिक वाचिक या मानसिक अनुभावोंमे राजस भक्तोंमें ही नहीं प्रत्युत निर्गुण सात्त्विक राजस या तामस सभी तरहके भक्तोंके भगवद्भावोंमें संचारिभावोंकी तरह कभी-कभाक छलकनेवाला होता है.

इसमें लक्ष्यमें रखने लायक प्रमुख तथ्य यह है कि प्रथम प्रकारके तामसत्व राजसत्व या सात्त्विकत्व तो भगवान् अपनी लीलाके हेतु स्वयं ही भक्तोंके वैसे वरण द्वारा सम्पन्न करते हैं. जबकि द्वितीय प्रकारका राजसत्व तो भगवान्के प्रति भक्तोंके भीतर भरे हुवे भावोंका अनुभावरूप होता है. इस तरहकी लीलाके निर्वाहार्थ यदा-कदा भगवान् अपनी योगमाया द्वारा अथवा व्यामोहिका माया द्वारा भी संशयात्मिका मोहनात्मिका मनोवृत्ति प्रकट करते होनेके कारण भक्तोंके भी भीतर कभी-कभाक संशय या व्यामोह जो प्रकट होता है वह तीसरे प्रकारके राजसत्व या तामसत्व का प्रकार समझना चाहिये.

राजस भक्त प्रपंचासक्तिको भूल कर ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य



गुणधर्मोंके धर्मिस्वरूप भगवान्में अनन्यासक्त हो पायें, तदर्थ इन राजस भक्तोंको भगवान् स्वयं अपने अलावा दूसरे कोई भी प्रमाण प्रमेय साधन अथवा फल की अपेक्षा व्यवधान या अन्तराय से बचा लेनेको ही ऐसी सारी प्रमाण-प्रमेय आदिकी अपेक्षा स्वयं ही परिपूर्ण कर देते हैं. इसे ध्वनित करनेको इस राजस प्रकरणमें भी, जैसा कहा जा चुका है, प्रमाण-प्रमेय-साधन-फल प्रकरणोंकी चतुष्टयी योजित हुयी है. उसके अन्तर्गत प्रस्तुत खण्डमें साधन और फल प्रकरण प्रकाशित हो रहे हैं.

(राजसप्रकरणान्तर्गत अवान्तर साधनप्रकरणके प्रकरणार्थ और अध्यायार्थ)

इसे 'साधनप्रकरण' कहनेका अभिप्राय यह है कि प्रापंचिक दुःखोंके निवारणार्थ भगवान्के भक्तजनोंका चित्त भगवान्में एकतान हो जाय तो साधन सम्पन्न हो गया ऐसा माना जाता है. इसी प्रक्रियाके कारण राजस भक्तोंका भगवान्में निरोध सिद्ध हो जाता है. क्योंकि भगवान्के छह गुणधर्म और सातवें स्वयं धर्मी भगवान्में निरोधकी सिद्धि अपेक्षित है. अतः सात अध्यायोंमें यह कथा प्रतिपादित हुयी है.

राजससाधनान्तर्गत प्रथमाध्यायमें ऐश्वर्यगुणनिरूपण :

जैसा कि कहा जा चुका है वैसे श्रीकृष्णके बारेमें राजस भक्तोंके भीतर प्रपंचविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिरूप फल सिद्ध होता है, भगवान्के बारेमें व्यसनभाव सिद्ध हो जानेपर. फिरभी इसी बीचमें यदि किसी तरहका लौकिक व्यसन अन्तरायरूपेण उपस्थित होता हो तो उसका निराकरण भी यदि श्रीकृष्णसे अतिरिक्त अन्य किसी उपाय या व्यक्ति द्वारा सम्पन्न होना नियत हो तो श्रीकृष्णके अलावा अन्य प्रपंचकी विस्मृति सर्वात्मना प्रकट नहीं हो पायेगी. अतः भगवान्ने जरासन्ध द्वारा सत्रह बार मथुरापर किये आक्रमणोंमें उसे परास्त किया. इसके बाद पुनः कालयवनके द्वारा आक्रमण किये जानेपर अलौकिक रथ आयुध आदिका सहसा प्रकट हो जानेकी कथा भगवान्के ऐश्वर्य गुणके सूचनार्थ है. इसी तरह समुद्रके भीतर द्वारकाका निर्माण कर यादवोंको वहां बसा देना भी भगवान्के ऐश्वर्य गुणके निरूपणार्थ है. अतः प्रचलित अध्याय संख्याक्रमके अनुसार ५० वें, परन्तु दशमस्कन्धमें १२ १३ एवं १४ यों तीन अध्यायोंको प्रक्षिप्त माननेपर, ४७ वें

अध्यायमें

भगवान्‌के द्वारा राजस भक्तोंके साथ की गयी साधनलीला ऐश्वर्यगुणके द्योतनार्थ निरूपित हुयी है.

इस तरह शत्रुकृत भौतिक दुःखोंके निवारणद्वारा लोकमें आसक्त लीलापरिकरकी श्रीकृष्णके प्रति व्यसनभावकी सिद्धि भगवान्‌ने अपने ऐश्वर्य गुणको साधन बना कर, जो साधी उसका वर्णन यहां दशमस्कन्धके उत्तरार्धके ४७वें अध्यायमें किया गया है.

राजससाधनान्तर्गत द्वितीयाध्यायमें वीर्यगुणनिरूपण :

भगवान्‌के नित्यसंनिधानवाली मथुरा नगरी कालयवनद्वारा प्रदूषित होनेके कारण वहां भगवान्‌की स्थिति न रह जानेसे वैदिक कर्मानुष्ठान भी निष्फल रहते होनेके कारण दुःख पानेवाले वैदिक धर्मनिष्ठोंके आध्यात्मिक दुःखोंके निवारणार्थ भगवान्‌ने मुचुकुन्द द्वारा कालयवनके उपद्रवका उपशमन करवाया. भगवान्‌के चतुराईकी कथा यह कथा द्वारा वीर्य गुण निरूपणीय होनेके कारण; तथा, मुचुकुन्दकी स्तुतिसे प्रसन्न भगवान्‌द्वारा स्वयंके सामर्थ्यसे उसे मोक्षप्रदान करनेके कारण भी भगवान्‌के वीर्य गुणके वर्णनार्थ ही यह ४८वां अध्याय योजित हुवा है.

राजससाधनान्तर्गत तृतीयाध्यायमें यशोगुणनिरूपण :

इस ४९वें अध्यायमें श्रीरुक्मिणीजी द्वारा भगवान्‌के यशोगान तथा श्रीरुक्मिणीजी द्वारा भगवान्‌का पतित्वेन वरण भगवान्‌के यशोरूप गुणका निरूपणार्थ है.

राजससाधनान्तर्गत चतुर्थाध्यायमें श्रीगुणनिरूपण :

इस ५०वें अध्यायमें विदर्भपुरमें सर्वलोकहृदयरंजक अपने स्वरूपकी जो शोभा भगवान्‌ने दिखायी उसका वर्णन तथा स्वयंवरमें पहुंच पानेसे पूर्व ही श्रीरुक्मिणीके हरणका वृत्तान्त वर्णित हुवा है. क्योंकि उनके लिये अन्यसम्बन्ध पापरूप होता अतः उसके निवारणकी कथा भगवान्‌के श्रीरूप गुणके वर्णनार्थ है.



राजससाधनान्तर्गत पंचमाध्यायमें ज्ञानगुणनिरूपण :

इस ५१वें अध्यायमें स्वयंवरमें से अपहरणके वृत्तान्तमें भगवान्‌की सामर्थ्यका वर्णन हुवा है. श्रीरुक्मिणीका अपने साथ विवाह चाहनेवाले अन्यान्य अनेक राजाओंके द्वारा भगवान्‌को ललकारे जानेपर उन सभी राजाओंसे एकसाथ युद्धमें भगवान्‌को उलझना पड़ेगा, ऐसे अनिष्टकी शंका–कुशंका श्रीरुक्मिणीके स्नेहपूर्ण हृदयको सताने लगी उसका भी वर्णन है. अतः ऐसी मनोव्यथाके निवारक श्रीबलराम द्वारा दिये गये उपदेशवचनोंके वर्णनके कारण तथा अपनी बहनको भगवान्‌से छुड़ानेको पीछे दौड़नेवाले भाई रुक्मिको भगवान्‌द्वारा विरूप बनाये जानेके कारण विमना सी बनी श्रीरुक्मिणीको जो श्रीबलरामद्वारा जो पुनः उपदेश दिया उसकी भी कथा भगवान्‌के ज्ञानरूप गुणके निरूपणार्थ है.

राजससाधनान्तर्गत षष्ठाध्यायमें वैराग्यगुणनिरूपण :

इस ५२वें अध्यायमें कामदेवके अवताररूप अपने पुत्र प्रद्युम्नके सूतिकागृहसे ही हुवे अपहरण हो जानेके कारण इस विषयमें भगवान्‌की वैराग्यरूपा उदासीनता निरूपित हुयी है. क्योंकि भगवान् अपने भक्तोंमें प्रकट होनेवाले कामभावके पोषण–रक्षणमें अधिक सावधान नहीं होते, अतः इस अध्यायकी कथामें भगवान्‌के वैराग्यगुणका वर्णन अभिप्रेत है.

राजससाधनान्तर्गत सप्तमाध्यायमें धर्मिनिरूपण :

इस ५३वें अध्यायमें धर्मिरूप भगवान्‌का वर्णन है. सत्राजितकी 'स्यमन्तक' मणिके खो जानेपर उसे खोजनेके निमित्त भगवान् बहोत काल पर्यन्त द्वारकामें अनुपस्थित रहे. अतः इस अध्यायमें निरूपित द्वारकावासियोंको हुवा भगवान्‌का विप्रयोग, उनके साधनकी परिपूर्णताका द्योतक है. अतः यह धर्मिरूप भगवान्‌के स्वरूपकी कथा है. यों मिथ्याशाप लगनेपर भी भगवान् क्रोधित नहीं हुवे यह दिखलाना भी यहां प्रयोजन है.

(राजसप्रकरणान्तर्गत अवान्तर फलप्रकरणके प्रकरणार्थ और अध्यायार्थ)

इस तरह कैसे राजस भक्त अपने स्वभावके अनुरूप प्रपंचको भूल कर अनन्यभावसे भगवान्‌में आसक्त हो पाये, ऐसे राजस साधनोंके निरूपणपरक साधनप्रकरणके सात अध्यायोंके बाद, उन राजस भक्तोंकी फलावस्थाके



निरूपणार्थ पुनः ऐश्वर्य-वीर्य आदि भगवद्गुणधर्मोंके साथ धर्मिरूप भगवान्के निरूपणार्थ सात अध्यायोंवाला फलप्रकरण प्रारंभ होता है :

राजसफलान्तर्गत प्रथमाध्यायमें ऐश्वर्य :

इस ५४(प्रचलित क्रमानुसार ५७)वें अर्थात् प्रस्तुत प्रकरणके प्रथम अध्यायमें भगवान्के अभक्त सत्राजितके घातक भगवान्के प्रिय शतधन्वा आदिके वधद्वारा उसे मुक्ति प्रदान करनेकी कथा है. साथ ही साथ चुरायी गयी उस मणिको अपने पास छिपाये रखनेको काशी नगरीमें छिपनेवाले अक्रूरको दी गयी थी. उन अक्रूरको मणि लौटानेको बाधित कर देनेकी कथा भगवान्के लोभरूप दोषसे रहित तथा सहज ऐश्वर्य गुणवान् होनेके वर्णनार्थ है.

राजसफलान्तर्गत द्वितीयाध्यायमें वीर्यगुणनिरूपण :

५५वें तदनुसार द्वितीय अध्यायमें अग्निद्वारा अर्जुनको अक्षयबाणकोष और धनुष दिलवानेकी कथा, विश्वकर्मा मय द्वारा दिव्य राजसभा और इन्द्रप्रस्थ नगरी के निर्मापण द्वारा पाण्डवोंको धर्म अर्थ तथा काम रूपी फलोंके प्रदानकी कथा और यादवोंको विद्याके पांच पर्वोंका फल प्रदान करनेको पंचपर्वा विद्यारूपिणी भगवान्की पंचविधा शक्तिरूपा मित्रविन्दा आदि महिषियोंसे विवाहकी कथा भगवान्के वीर्य गुणके वर्णनार्थ है.

राजसफलान्तर्गत तृतीयाध्यायमें यशोगुणनिरूपण :

५६वें अर्थात् तृतीय अध्यायमें जो विरक्त और भक्तिमान् भक्त थे, उनके भगवत्सम्बन्धी सुख ऐहिक-पारलौकिक फलोंसे विलक्षण थे, यह दिखलानेको अविद्यावश प्रकट होती अहन्ता-ममताके मूर्तिमान् रूप मुर दैत्यका वध, ऐहिक सुखरूप नरकासुरका वध, एकादश इन्द्रिय और उनके पांच विषय रूपी सोलह वृत्तिरूपा कलाओंकी मूर्तिमती सोलह सहस्र नायिकाओंके साथ परिणयकी कथा, ये सभी कुछ यादवोंके लिये अतिशय सुखप्रद होनेसे यशो गुणके निरूपणार्थ ये कथायें वर्णित हुयी हैं. इसी तरह भौमासुरके वध और भूमिद्वारा की गयी स्तुतिके कारण उसे अभयदानकी कथा भी भगवान्के यशोरूप गुणके वर्णनार्थ है.

राजसफलान्तर्गत चतुर्थाध्यायमें श्रीगुणनिरूपण :

५७वें अर्थात् चौथे अध्यायमें यह अभिप्रेत है कि भगवान् फलोपभोगसामर्थ्यकी तरह फल भी स्वयं ही प्रदान करते हैं. अतः भक्तोंके सभी अभिमान आदि अनेक दोष भी भगवान् ही दूर करते हैं. अतएव श्रीरुक्मिणीजीके साथ भगवान्के परिहास और उन्हें सान्त्वना प्रदान करनेकी की कथा ऐसे भगवान्के श्री गुणके वर्णनार्थ है.

राजसफलान्तर्गत पंचमाध्यायमें ज्ञानगुणनिरूपण :

५८वें अर्थात् पांचवें अध्यायमें यह वर्णन अभिप्रेत है कि भगवान्की विविध पटरानियां भगवान्के मनको वशमें कर नहीं पायी. भगवान्के ऐसे ज्ञानरूप गुण, साथ ही साथ, श्रुतिके अनुसार जैसे ब्रह्मज्ञानीके सत्कर्म और दुष्कर्म उसके प्रेमी और द्वेषी को लग जाते हैं, ऐसे ही भगवद्भक्तोंके साथ भी होता है; अतएव प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के शास्त्रनिषिद्ध विवाहके दुष्कर्मवश प्रकट होनेवाले दण्डका भागी यादवोंके द्वेषी रुक्मिको भुगतना पड़ा. भगवान्के ऐसे ज्ञानरूप गुणकी कथा यहां वर्णनीय है.

राजसफलान्तर्गत षष्ठाध्यायमें वैराग्यगुणनिरूपण :

५९में अर्थात् छट्ठे अध्यायमें अनिरुद्धको बांध कर अपहरण करते समय भगवान् द्वारा प्रतीकार न करनेकी कथा भगवान्के वैराग्य गुणके वर्णनार्थ है.

राजसफलान्तर्गत सप्तमाध्यायमें धर्मिनिरूपण :

६०वें अर्थात् सातवें अध्यायमें इतर देव अपने भक्तोंको जो वरदान करते हैं, उसका योगक्षेम निभा नहीं पाते जबकि भगवान् अपने दिये वरदानका हर परिस्थितिमें पालन करते हैं. अतः बाणासुरकी भुजाओंको काटनेकी तथा वरप्रदान करनेकी कथा ऐश्वर्य आदि छहों गुणधर्मोंके आश्रयीभूत भक्तोंका अपने स्वरूपसे कार्य सिद्ध करनेवाले धर्मिरूप भगवान्की कथा है.

इस तरह भगवल्लीलाके परिगानार्थ प्रकट श्रीमद्भागवतके अन्तर्गत प्रपंचमें अपने भक्तोंके बीच प्रकट हो कर उनके स्वभावके अनुरूप अपना स्वरूप और



अपनी लीला प्रकट करनेवाले भगवान्‌की निरोधलीलाके अन्तर्गत राजस भक्तोंके साधन और फल का निरूपण करनेवाले चौदह अध्यायोंका संक्षिप्त सार समझ आनेपर श्रीकृष्णकी मनोरमलीलाओंका वास्तविक तात्पर्य समझ आ सकता है. इसे श्रीभागवतपीयूषसमुद्रमथनक्षम श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणद्वारा प्रतिपादित अभिप्रायके रूपमें समझना चाहिये.

श्रीमदाचार्यवाचो मे स्फुरन्तु हृदि सर्वदा।
याभिर्विना भागवते बोद्धुं वक्तुं न पारये।।

दिनांक : १ मार्गशीर्ष, २०६६ गोस्वामी श्याम मनोहर
पारले, मुंबई.

जरासन्धसमानीतसैन्यस्य बहुशो वधः।
जामातुर्वधसन्तप्त-जरासन्धचमूवधः।।३२।।
बहुशः सैनयोद्वेगो द्वारकादुर्गकारणम्।
यवनस्य वधो दृष्ट्या मुचुकुन्दस्य संस्तुतिः।।
वरं दत्वा ततो म्लेच्छवधं कृत्वा धने ततः।।३३।।
नीयमाने धनैर्दृप्तजरासन्धात् पलायनम्।
रैवताद् रेवतीकन्या-बलदेवसमर्पणम्।।३४।।
रुक्मिणीप्रियसन्देशश्रवणादखिलान् रिपून्।
निर्जित्य निर्गमो गेहादम्बिकाया हृतिर्बलात्।।३५।।
चैद्यसान्त्वनमुर्वीशैः ततो रुक्मिसमागमः।
युद्धाक्षेपापराधौ च मुण्डनं तस्य कृष्णतः।।३६।।
रुक्मिणीदुःखशमनं रामवाक्यं च मोक्षणम्।
ततो विवाहो रुक्मिण्याः विधिवत् स्वपुरे मुदा।।३७।।
प्रद्युम्नोत्पत्तिकथनं हरणं सूतिकागृहात्।
मायावत्योक्तवृत्तान्तः शम्बरस्य वधस्ततः।।३८।।
पुनरागमनं गेहे सन्तोषो द्वारकौकसाम्।
सूर्यात् स्यमन्तकप्राप्तिर्याचनं तस्य वै हरेः।।३९।।
तत्सम्बन्धात् प्रसेनस्य वधाऽकीर्तिर्हरेस्तथा।
तन्मार्जनाय ऋक्षस्य गेहे गमनमेतयोः।।४०।।
युद्धं ज्ञात्वा स्वऋषभं जाम्बुवत्याः समर्पणम्।
सत्राजितस्य प्राप्तस्य सतो दानं मुरारिणा।।४१।।
विवाहः सत्यभामायाः दत्तायाः प्रीतये हरेः।

।।इति राजससाधनप्रकरणम्।।

रामेण सह कृष्णस्य गमनं गजसाह्वये।।४२।।
अक्रूरकृतवर्मभ्यां प्रेरिताच्छतधन्वनः।
सत्राजितवधो मध्ये कृष्णाच्छतधनोर्वधः।।४३।।
रामस्य मिथिलायात्रा गदाशिक्षा सुयोधने।
अक्रूरमणिदानं च इन्द्रप्रस्थे हरेर्गतिः।।४४।।
कालिन्द्या संगतिः शौरेर्विवाहः स्वपुरे ततः।
मित्रविन्दाहृतिर्नाग्नजित्युद्वाहनमेव च।।४५।।
भद्राया लक्ष्मणायाश्च विवाहः मुरघातिना।
पीठतत्तनयानां च नरकस्य च घातनम्।।४६।।
भूमिस्तुती राजकन्याप्रेषणं स्वपुरे ततः।
गत्वा महेन्द्रभवनं पारिजातहृतिर्बलात्।।४७।।
उद्वाहो राजकन्यानां रुक्मिणीकृष्णकौतुकम्।
कृष्णभार्याकथा पुत्रनामान्युद्वाहपर्वणि।।४८।।
रामाद् रुक्मिवधो द्यूते बाणस्य हरसंकथा।
उषास्वप्नकथा चित्रलेखाया हरणं हरेः।।४९।।
पौत्रस्य बन्धनं चापि बाणयादवसंयुगः(गे?)।
कृष्णशङ्करयोर्युद्धे ज्वरसंस्तवनं ततः।।५०।।
बाणबाहुच्छिदा रुद्रस्तुतिर्बाणभयं वरः।
उषाप्राप्तिः...

।।इति राजसफलप्रकरणम्।।

श्रीद्वारिकेशानां टीका

चम्पकारण्यसम्भूतमरेलग्रामवासिनम्।
चरणाद्रौ समासीनं वन्दे श्रीवल्लभाधिपम्।।

अथ उत्तरार्धानुक्रमणिकां व्याख्यास्ये. सप्तचत्वारिंशाध्यायम् अनुक्रामन्तिह्न

जरासन्धसमानीतसैन्यस्य बहुशो वधः।

जामातुर्वधसन्तप्तजरासन्धचमूवधः।।३२।।

बहुशः सेनयोद्वेगो द्वारकादुर्गकारणम्।

जामातुः कंसस्य वधः स्वपुत्रीभ्यामुक्तः तेन **तप्तस्य जरासन्धस्य** सम्बन्धिनां **चमूनां वधः** मारणम् उत्तरार्धे एकचत्वारिंशदध्यायाः तत्समसङ्ख्याकैः एकचत्वारिंशद्भिः. तत्र सुबोधिन्याम्ह्न ''उत्तरार्धसमैः श्लोकैरतिदेशस्ततः परम्। द्वाभ्यां कलाभिरपरः साधिकाभिरिति स्थितिः।।''

कंसस्त्रियोर्जरासन्धगेहे गमनमेकतः।

द्वितीये दुःखविज्ञप्तिस्तृतीये संगरोद्यमः।।

मथुरारोधनं तुर्ये पञ्चमे कृष्णवीक्षणम्।

षष्ठे भगवतश्चिन्ता चतुर्भिर्वचनं हरेः।।

द्वाभ्यां संगरसम्पत्तिः सार्धेन बलबोधनम्।

द्वाभ्यां युद्धाय गमनं सार्धाभ्यां शत्रुभाषणम्।।

एकेन शत्रुहननं निषेधो दशभिश्च युत्।

एकैकतो बन्धमोक्षौ त्रिभिः शत्रुनिवर्तनम्।।

हरिप्रवेशः स्वपुरि पञ्चभिर्वित्तदापनम्।

एकेन राज्ञे एवं हि चत्वारिंशत् तथैककः।।

द्वाभ्यां युद्धस्यातिदेशो द्वयेन यवनागतिः।

चत्वारि हरिवाक्यानि पञ्चभिर्द्वारिकाकृतिः।।

बहुशः सप्तदशकृत्वा जरासन्ध**सेनयोद्वेगः** तन्निवृत्तये **द्वारिकादुर्गकारणं** त्रिभिः समृद्धिर्लोकानां सार्धेन गमनं हरेः। अर्धाधिकाष्टपञ्चाशच्छ्लोका अस्मिन् प्रकीर्तिताः।। एवम् अर्धाधिकाष्टपञ्चाशच्छ्लोकाः. इति सप्तचत्वारिंशाध्यायसङ्ग्रहः.

अष्टचत्वारिंशाध्यायम् अनुक्रामन्तिह्न

यवनस्य वधो दृष्ट्या मुचुकुन्दस्य संस्तुतिः।

वरं दत्वा

यवनस्य वध इति. **यवनस्य वधः मुचुकुन्दस्य दृष्ट्या.** सच उक्तः ''तं विलोक्य...'' इत्यादि एकविंशत्या. तत्र एवं विभागःह्व आद्यैः त्रिभिः भगवत्स्वरूपवर्णनं, ''वासुदेव'' इति द्वाभ्यां भगवन्निश्चयः. ''इति निश्चित्य'' इति त्रिभिः हरेः पलायनम्. ''एवं क्षिप्त'' इति द्वाभ्यां कन्दराप्रवेश–मुचुकुन्दताडने. ''स उत्थाय'' इति द्वाभ्यां मुचुकुन्दोन्मीलन–यवनदाहौ. एवं द्वादशः. ''को नाम'' इति पञ्चप्रश्नाः एकेन पद्येन. ''स इक्ष्वाकुकुले'' इति सप्तभिः मुचुकुन्दवृत्तान्तः. ''एवमुक्तः'' इति मुचुकुन्दशयनम्. षट्त्रिंशता **मुचुकुन्दस्य संस्तुतिः**. ''यवने भस्मसाद्'' इति पञ्चभिः मुचुकुन्दाय हरिणा स्वरूपं दर्शितम्. ''को भवान्'' इति चतुर्भिः मुचुकुन्दप्रश्नः. चतुर्भिः स्ववृत्तान्तकथनम्. ''एवम्'' इति भगवद्वचनोद्यमः. ''जन्म कर्म'' इति सार्धाष्टभिः भगवद्वचनानि. ''इत्युक्त'' इति मुचुकुन्दवचनोद्यमः. ''विमोहितोऽयं जन'' इति त्रयोदशभिः मुचुकुन्देन हरिः स्तुतः. तत्र आद्यैः त्रिभिः तामस–राजस–सात्त्विक–मोहाः. ततः त्रिभिः परमं दोषत्रयम्. ''ततो निर्जित्य'' इति त्रिभिः राजस–तामस–सात्त्विक–धर्मनिरूपणम्. ''मन्ये मम'' इति त्रिभिः फलनिरूपणम्. ''चिरमिह'' इति रक्षाप्रार्थनम्. वरं दत्वा ''ततः सार्वभौमः'' इति षड्भिः वरदानम्. एवं त्रिषष्टि(श्लोकाः). इति अष्टचत्वारिंशाध्यायसङ्ग्रहः.

एकोनपञ्चाशत्तमाध्यायम् अनुक्रामन्तिह्व

.... ततो म्लेच्छवधं कृत्वा धने ततः।।३३।।
नीयमाने धनैर्दृप्तजरासन्धात् पलायनम्।
रैवताद् रेवतीकन्या–बलदेवसमर्पणम्।।३४।।
रुक्मिणीप्रियसन्देशश्रवणात् ....

ततो म्लेच्छवधम् (इति). ''इत्थं सोऽनुगृहीतः'' इति श्लोकचतुष्टये मुचुकुन्दवृत्तान्तः पूर्वशेषः. ''भगवान् पुनः'' इति पद्ये **म्लेच्छवधः**. ''नीयमाने धने गोभिः'' इत्यादि नवभिः **दृप्तजरासन्धात् पलायनम्.** तत्र आद्ये जरासन्धागमः. ''विलोक्य'' इति द्वाभ्यां भगवत्पलायनम्. ''पलायमानौ'' इत्यनेन जरासन्धात् पलायनम्. ''प्रद्रुत्य'' इति रामकृष्णयोः पर्वतारोहणम्. ''गिरौ निलीनौ'' इति जरासन्धेन गिरिदाहः. ''तत उत्पत्य'' इति हर्योः पर्वताद् उत्फालः. ''अलक्ष्यमाणौ'' इति भगवतः द्वारिकाप्रवेशः. ''सोऽपि'' इत्यनेन जरासन्धप्रत्यापत्तिः. ''आनर्ताधिपतिः'' इतिपद्येन बलभद्रोद्वाहः. **रैवताद्** इति अपादाने पञ्चमी. ''असमर्थसमासो ज्ञापकसिद्धः''. **रेवत्येव कन्या**

बलदेवाय समर्पणम्. ''भगवानपि गोविन्दः'' इति पद्याभ्यां संक्षेपेण श्रीकृष्णोद्वाहः. त्रिभिः विस्तारप्रश्नः. **रुक्मिणीप्रियसन्देशश्रवणं** चतुर्विंशतिभिः तत्वसङ्ख्याकैः. तत्रह्न

द्वाभ्यां श्रीरुक्मिणीजन्म गान्धर्वोद्वाह एव च।
उद्वाहोद्वारणं ज्ञानमेकैकस्मिन् द्विजागतिः।।
भगवद्दर्शनं पूजा भोजनाङ्घ्रिनिषेवणम्।
षड्वाक्यानि हरेर्धर्मबोधकानि शुकोक्ति....
सप्तभिः रुक्मिणीवाक्यानुवादो ब्राह्मणेन च।
चत्वारिंशश्च चत्वारि पद्यान्यत्र स्थितानि हि।।

एवं चतुश्चत्वारिंशच्छ्लोकाः. इति एकोनपञ्चाशदध्यायसङ्ग्रहः.

पञ्चाशत्तमाध्यायम् अनुक्रामन्तिह्न

.... अखिलान् रिपून्।
निर्जित्य निर्गमो गेहादम्बिकाया हृतिर्बलात्।।३५।।

अखिलान् इति. अत्र एवं विभागःह्न **अम्बिकायाः गेहाद् निर्गमो** रुक्मिण्याः **अखिलान् रिपून् निर्जित्य बलाद् आहृतिः** श्रीकृष्णकृता.

एकेन मैत्री द्वाभ्यां श्रीकृष्णवाक्यं रथानतिः।
द्वाभ्यामारुह्य गमनमेकेनैकेन तत्कृतिः।।
पुरस्य वर्णनं द्वाभ्यां पित्रादीनां समर्चनम्।
कन्यालङ्करणं रक्षादानं चैकैकतस्ततः।।
षड्भिः कुण्डिनवृत्तान्तो द्वाभ्यां बलसमागमः।
रुक्मिणीचिन्तनं सार्धैस्त्रिभिः चिन्ताफलं ततः।।
शकुनं सफलं द्वाभ्यां द्विजदर्शनमेकतः।
आवेदनं सरामस्य कृष्णस्यागमनस्य च।।
एकेनैकेन नमनं त्रिभिः श्रीकृष्णसत्कृतिः।
एकेन सर्वसत्कारः पौरोत्साहस्त्रिभिस्ततः।।
अतिदेशोर्द्धतो यानं रुक्मिण्याः पूजनाय हि।
पञ्चभिर्नमनं त्रिभ्यः चतुर्भिर्देविपूजनम्।।

रुक्मिणीहरणं षड्भिः सप्तपञ्चाशदेव हि।

एवं सप्तपञ्चाशच्छ्लोकाः. इति पञ्चाशदध्यायसङ्ग्रहः.

एकपञ्चाशत्तमाध्यायम् अनुक्रामन्तिह्न

चैद्यसान्त्वनमुर्वीशैः ततो रुक्मिसमागमः।

युद्धाक्षेपापराधौ च मुण्डनं तस्य कृष्णतः।।३६।।

रुक्मिणीदुःखशमनं रामवाक्यं च मोक्षणम्।

ततो विवाहो रुक्मिण्याः विधिवत् स्वपुरे मुदा।।३७।।

चैद्य इति. **चैद्यस्य** शिशुपालस्य **सान्त्वनमुर्वीशैः** जरासन्धादिभिः सप्तदशभिः ''इति सर्वे'' इत्यादिभिः. तत्र एवं विभागःह्न एकेन युद्धोद्यमः एकेन युद्धाय यादवस्थितिः एकेन शत्रुकृतः प्रहारः एकेन रुक्मिणीविषादः एकेन भगवद्वाक्यम्. एकेन गदादिकृतः जरासन्धादिभिः संगरः एकेन अवयविवधः एकेन अवयववधः एकेन शत्रुसेनापलायनम् एकेन सान्त्वनोद्यमः. षड्भिः उर्वीशैः चैद्यसान्त्वनम्. एकेन शिशुपालप्रत्यापत्तिः. तथाच उक्तं ''युद्धं च सप्तदशभिः प्रजापतिजयाय हि। मुण्डनं सप्तदशभिः सार्धैः साम्यनिवृत्तये।। बोधनं सर्वविद्याभिरैश्वर्येण परिग्रहः।'' सात्त्विकं युद्धं मुण्डनं तामसम्. **रुक्मिसमागमः** ''रुक्मि तु'' इति पञ्चभिः सार्धैः. ''रथेनैकेन'' इति एकेन **युद्धम्.** ''आह चात्र क्षणम्'' इति द्वाभ्याम् **आक्षेपः.** ''स्मयन्'' इति सार्धैः चतुर्भिः **अपराधः.** ''तस्य चापतत'' इति सार्धैः चतुर्भिः **कृष्णेन रुक्मिमुण्डनम्.** ''तावद्'' इति अर्धेन रुक्मिसेनावधः. ''कृष्णान्तिकम्'' इति सार्धेन रुक्मिमोचने **रुक्मिणीदुःखशमनम्.** ''असाध्विदम्'' इति त्रयोदशभिः **रामवाक्यानि.** ''एवं भगवता तन्विः'' इति सार्धैः त्रिभिः रुक्मि**मोक्षणम्.** ''भगवान् भीष्मकसुताम्'' इति अष्टभिः विधिवद् विवाहः. तत्र एवं विभागःह्न ''रुक्मि तु राक्षस'' इत्यनेन रुक्मिणः मत्सरः. ''रुक्म्यमर्षी'' इति संरम्भेण प्रतीज्ञोद्यमः. ''अहं त्वा'' इति प्रतिज्ञा. ''इत्युक्त्वा'' इति द्वाभ्यां सूताज्ञापनम्. ''विकत्थमान'' इति गमननिषेधः. ''धनुर्विकृष्य'' इति युद्धम्. ''कुत्र यासि'' इति द्वाभ्यामाक्षेपः. ''अष्टभिः'' इति त्रिभिः भगवद्वीर्यम्. ''ततो रथाद्'' इति भगवन्निकटगमनम्. ''तस्य च'' इति रुक्मिहननोद्यमः. ''दृष्ट्वा'' इति रुक्मिणीविषादः. ''योगेश्वर'' इति भगवत्प्रार्थना. ''तथा'' इति वधनिवृत्तिः. ''चैलेन'' इत्यर्धेन रुक्मिमुण्डनम्. ''तावद्'' इत्यर्धेन रुक्मिसेनावधः. ''कृष्णान्तिकम्'' इत्यादि अष्टादशभिः बोधनं राजसम्. ''कृष्णान्तिक'' इति सार्धेन बलभद्रकृते रुक्मिबन्धदर्शन-मोचने.

त्रयोदशवचनानि संकर्षणस्य. तत्र आद्येन कृष्णोपालम्भः. ‘‘मैवास्मान्’’ इति रुक्मिणीसान्त्वनम्. ‘‘बन्धुर्वधार्हे’’ इति चतुर्भिः कृष्णोपालम्भः. तत्र आद्येन वधनिषेधः. द्वाभ्यां क्षत्रियधर्मनिरूपणम्. ‘‘तव’’ इति स्वोपालम्भस्य स्थापनम्. ‘‘आत्ममोहः’’ इति सप्तभिः ज्ञानेन बोधनं रुक्मिण्याः. तत्र कारिकात्रयंह्न ‘‘स्वरूपाज्ञाननानात्वे देहादीनां च शत्रुता। दोषत्रयं निरूप्यादौ आत्मधर्मनिरूपणम्।। स्वप्रकाशोऽयमात्मा हि असंगश्च निरूप्यते। जन्मादिदोषास्त्वन्यस्य ह्यतस्तैर्नैव दुष्यति।। असंसर्गाग्रहो भ्रान्तदृष्टान्तैर्विनिरूप्यते। ततोपसंहृतिर्युक्ताज्ञानेनाज्ञाननुत्तये।।’’ ‘‘एवं भगवत’’ इति बोधनफलम्. ‘‘प्राणावशेष’’ इति पद्येन रुक्मिमोचनम्. ‘‘चक्रे’’ इति सार्धेन रुक्मिणः भोजकटे निवासः. ‘‘ततो भगवान्’’ इति अष्टभिः गुणातीतं रुक्मिण्युपयमनम् अष्टविधैश्वर्येण. तत्र आद्ये विवाहः. द्वितीये महोत्सवः सर्वेषाम्. तृतीये पारिबर्होपाहारः. चतुर्थपञ्चमाभ्यां पुरीशृङ्गारः. षष्ठे षड्विधभक्तानां मोदः. सप्तमे विस्मयः अष्टमे महामोदः. एवम् एकषष्ठिः श्लोकाः. इति एकपञ्चाशदध्यायसङ्ग्रहः.

द्विपञ्चाशत्तमाध्यायम् अनुक्रामन्तिह्न

प्रद्युम्नोत्पत्तिकथनं हरणं सूतिकागृहात्।
मायावत्योक्तवृत्तान्तः शम्बरस्य वधस्ततः।।३८।।
पुनरागमनं गेहे सन्तोषो द्वारकौकसाम्।

प्रद्युम्न इति. **प्रद्युम्नोत्पत्तिकथनं** ‘‘कामस्तु’’ इति द्वाभ्याम्. प्रद्युम्नस्य शम्बरेण **सूतिकागृहाद् हरणं** ‘‘तं शम्बर’’ इत्यादिनवभिः. ‘‘भवान्नारायणसुत’’ इत्यादिचतुर्भिः **मायावत्योक्तवृत्तान्तः.** ‘‘स च **शम्बरमभ्येत्य’’** इति नवभिः शम्बरस्य वधः. ‘‘आकीर्यमाण’’ इति द्वाभ्यां **पुनः गेहे आगमनं तत** इति शम्बरवधानन्तरम्. ‘‘तं दृष्ट्वा’’ इति पञ्चदशभिः **सन्तोषः द्वारकौकसाम्.** तत्र एवं विभागःह्न आद्याभ्याम् अनङ्गस्य साङ्गत्वम्; आद्ये पितृद्वारा द्वितीयेऽस्मिन् मातृतः. नवसु प्रथमे प्रद्युम्नस्य हरण-समुद्रप्रक्षेपौ. द्वितीये मीनेन प्रद्युम्ननिगरण-मीननिग्रहौ. तृतीये शम्बराय मीनोपाहरण-मीनविदारणे. चतुर्थे सार्धे मायावत्यै प्रद्युम्ननिवेदन-नारदवचने. पञ्चमषष्ठ... रतिवृत्तान्तः पत्यौ स्नेहश्च. सप्तमे प्रद्युम्नस्य यौवनधारणम्. अष्टमे रत्याः प्रद्युम्नेन केलिः. नवमे प्रद्युम्नेन रतिः पृष्टा. चतुर्षु आद्येषु प्रथमे हरिसुतत्वज्ञापनम्. द्वितीये शम्बरवधप्रार्थना. तृतीये वधावश्यकत्वाय मातृदुःखनिवेदनम्. चतुर्थे मायादानम्. नवसु प्रथमे कामेन युद्धाय

शम्बराह्वानम्. द्वितीये शम्बरागमनम्. तृतीये शम्बरेण गदाप्रक्षेपः. चतुर्थे प्रद्युम्नेन गदा प्रतिक्षिप्ता. पञ्चमे शम्बरेण मायया अश्मवर्षणम्. षष्ठे प्रद्युम्नेन सर्वमायोपमर्दनम्. सप्तमे गौह्यकादि-मायाप्रयोजन-प्रदर्शने. अष्टमे शम्बरस्य शिरःछेदः. द्वयोः गमनागमने. पञ्चदशसुह्व

दर्शनं कृष्णमननं वैलक्षण्यावधारणम्।
रुक्मिणीस्तन्यसंस्रावः कस्यायमिति संशयः।।
स्वात्मजस्मरणं कृष्णसारूप्ये संशयो महान्।
स्वात्मजाध्यवसायः श्रीकृष्णस्यागमनं ततः।।
तूष्णीम्भावो हरेर्वीणापाणिना सर्वभाषणम्।
श्रुत्वाश्चर्यं महानन्दः सर्वेषां परिरम्भणम्।।
आनन्दो द्वारकास्थानां माहात्म्यं शम्बरद्विषः।
सार्धा ह्येकोनचत्वारिंशच्छ्लोकाऽत्र सम्मताः।।

एवं सार्धैकोनचत्वारिंशच्छ्लोकाः. इति द्विपञ्चाशदध्यायसङ्ग्रहः.

त्रिपञ्चाशत्तमाध्यायम् अनुक्रामन्तिह्व

सूर्यात् स्यमन्तकप्राप्तिर्याचनं तस्य वै हरेः।।३९।।
तत्सम्बन्धात् प्रसेनस्य वधाऽकीर्तिर्हरेस्तथा।
तन्मार्जनाय ऋक्षस्य गेहे गमनमेतयोः।।४०।।
युद्धं ज्ञात्वा स्वऋषभं जाम्बुवत्याः समर्पणम्।
सत्राजितस्य प्राप्तस्य सतो दानं मुरारिणा।।४१।।
विवाहः सत्यभामायाः दत्तायाः प्रीतये हरेः।

सूर्यात् स्यमन्तक इति. सत्राजितः भक्तस्य स्वसेव्यात् **सूर्यात् स्यमन्तकस्य प्राप्तिः** ''सत्राजितः स्वतनयाम्'' इति सार्धैकादशभिः. तत्र आद्ये संक्षेपः. द्वितीये प्रश्नः. तृतीये सूर्येण सत्राजिते मणिदानम्. चतुर्थे द्वारकास्थानां सत्राजितः अज्ञानम्. पञ्चमे भगवते सूर्यशंकितानां शंसनम्. षष्ठे पञ्चसम्बोधनैः भगवन्नमनम्. सप्तमे सूर्यागमनशंसनम्. अष्टमे विरञ्च्यागमनशंसनम्. नवमे भगवत्कृतः निषेधः. दशमे सत्राजिता देवसदने मणिः निवेशितः. मणिप्रभावः सार्धे एकादशे. हरेः सत्राजितः मणियाचनं द्वादशे. मणि**सम्बन्धात् प्रसेनस्य वधः** व्याघ्रकृतः ''तमेकदा'' इति सार्धाभ्याम्. ''अपश्यन्'' इति सार्धेन हरेः अकीर्तिः. अकीर्ति**मार्जनाय हरेः**

ऋक्षस्य गेहे गमनं ''भगवांस्तदुपाकर्ण्य'' इति पञ्चभिः. आद्ये गमनम्. द्वितीये हतानां दर्शनम्. तृतीये भगवतः बिले प्रवेशः. चतुर्थे तत्र मणिदर्शनम्. पञ्चमे धात्र्या आक्रोशः. ''स वै भगवता'' इति चतुर्भिः एतयोः हरिजाम्बवतोः **युद्धम्.** ''जाने ताम्'' इति षड्भिः ऋक्षस्य **स्वऋषभज्ञानम्.** आद्यैः त्रिभिः स्तुतिः. भगवद्वचनोद्यमः चतुर्थे. पञ्चमे भगवत्कराभिमर्षणेन ऋक्षस्य व्यथापनोदनम्. षष्ठे भगवद्वाक्यम्. ''इत्युक्तः स्वाम्'' इत्यादिषड्भिः **जाम्बवत्याः समर्पणम्.** तत्र आद्ये मणिकन्यादानम्. द्वितीये बहिःस्थितानां द्वारकागमनम्. तृतीये देवक्यादिविषादः. चतुर्थे सत्राजितं शपतां दुर्गोपस्थानम्. पञ्चमे भगवत्प्रादुर्भावः जाम्बवत्या साकम्. षष्ठे सर्वेषां महोत्सवः. सत्राजिते मणिदानं ''सत्राजितम्'' इति द्वाभ्याम्. **सत्राजित्सम्बन्धिनः** सूर्यात् **प्राप्तस्य सतो मणेः मुरारिणा दानम्** अर्थात् सत्राजिते. आद्ये मणिदानम्. द्वितीये सत्राजितः गृहे गमनम्. हरेः **प्रीतये दत्ताया सत्यभामायाः विवाहः** ''सोऽनुध्यायन्'' इति षड्भिः. तत्र आद्यैः त्रिभिः सत्राजित्परितापः. त्रिभिः विवाहः. तत्र आद्ये मणिकन्यादानम्. द्वितीये विवाहः. तृतीये मणिप्रतिदानम्. एवं सार्धपञ्चचत्वारिंशच्छ्लोकाः. इति त्रिपञ्चाशदध्यायसङ्ग्रहः.

चतुःपञ्चाशत्तमाध्यायम् अनुक्रामन्तिह्न

रामेण सह कृष्णस्य गमनं गजसाह्वये।।४२।।

अक्रूरकृतवर्मभ्यां प्रेरिताच्छतधन्वनः।

सत्राजितवधो मध्ये कृष्णाच्छतधनोर्वधः।।४३।।

रामस्य मिथिलायात्रा गदाशिक्षा सुयोधने।

अक्रूरमणिदानं च ....

रामेण सह इति ''विज्ञातार्थोऽपि'' इति द्वाभ्याम्. तत्र आद्ये **गमनम्.** द्वितीये लौकिककरणम्. ''लब्ध्वैतदन्तरम्'' इति सप्तभिः सत्राजिद्वधः. तत्र आद्याभ्यां **कृतवर्माक्रूराभ्यां शतधनुप्रेरणम्.** तृतीये **सत्राजिद्वधः.** चतुर्थे मणिमादाय शतधन्वनः गमनम्. पञ्चमे सत्यभामायाः पितृमृतिज्ञानम्. षष्ठे सत्राजितः तैलद्रोण्यां प्रासनं सत्यभामायाः हस्तिनापुरगमन-भगवद्विज्ञापनानि. सप्तमे भगवतः प्राकृतानुकृतिः. **शतधनोर्वधः मध्ये सत्राजितो मरणसांपरायिकयोः** अन्तरा. ''आगत्य भगवान्'' इत्यादि सार्धैश्चतुर्दशभिः अविद्यारूपस्य शतधनोः वधः. तत्र एवं विभागःह्न आद्ये भगवदागमनम्. द्वितीये शतधन्वनः कृतवर्मणः सहायप्रार्थनम्. तृतीयचतुर्थाभ्यां कृतवर्मणः अनंगीकारः. पञ्चमे अक्रूरप्रार्थनम्.

षष्ठसप्तमाष्टमैः अक्रूरकृतं प्रत्याख्यानम्. नवमे अक्रूरे मणिं न्यस्य शतधन्वनः पलायनम्. दशमे भगवतः अनुयानम्. एकादशे मिथिलोपवने पद्भ्यां हरेः अनुद्रवणम्. द्वादशे शतधनुवधः. त्रयोदशे रामाग्रे मण्यप्राप्तिकथनम्. चतुर्दशे बलेन हरेः द्वारकाप्रेषणम्. ''इत्युक्त्वा'' इति द्वाभ्यां **रामस्य मिथिलायात्रा.** एकेन **सुयोधनस्य** बलेन **गदायुद्धशिक्षा.** ''केशवो द्वारकामेत्य'' इत्यादिषोडशभिः **अक्रूराय मणिदानम्.**

तत्राद्ये स्वपुरे यानं द्वितीये सांपरायिकम्।
सत्राजितः तृतीयेऽक्रूरस्य काशीपलायनम्।।
उपद्रवाश्चतुर्थे पञ्चमे विस्मरणं हरेः।
अक्रूरपूर्ववृत्तान्तो द्वाभ्यां स्थविरवक्तृतः।।
अक्रूराकारणं दूतैः सप्तमे तु प्रियाः कथाः।
चतुर्भिः कृष्णवाक्यानि सामदानादिभेदतः।।
चतुर्दशे मणिप्राप्तिः सर्वेषां दर्शितं मणेः।
अक्रूराय पुनर्दानं षोडशे तु फलस्तुतिः।।
द्विचत्वारिंशताच्छ्लोकैः सार्धैरध्यायपूरणम्।

एवं सार्धद्विचत्वारिंशच्छ्लोकाः. इति चतुःपञ्चाशदध्यायसङ्ग्रहः.

पञ्चपञ्चाशत्तमाध्यायम् अनुक्रामन्तिह्न

.... इन्द्रप्रस्थे हरेर्गतिः।।४४।।
कालिन्द्या संगतिः शौरेर्विवाहः स्वपुरे ततः।
मित्रविन्दाहृतिर्नाग्नजित्युद्वाहनमेव च।।४५।।
भद्राया लक्ष्मणायाश्च विवाहः ....

इन्द्रप्रस्थे हरेर्गतिः इति सप्तदशभिः. तत्र आद्यैः द्वादशभिः भक्तिः द्वादशांगस्य पुरुषस्य. पञ्चभिः कर्म. द्वादशसु प्रथमे भगवतः शक्रप्रस्थगमनम्. द्वाभ्यां भक्तानां कृत्यम्. चतुर्थे भगवत्कृतिः. पञ्चमे द्रौपद्यभिवन्दनम्. षष्ठे भगवदीयपूजा. सप्तमे पृथाभिरम्भणम्. अष्टमे पृथाप्रेम. द्वाभ्यां पृथास्तुतिः. एकादशे युधिष्ठिरविज्ञप्तिः. द्वादशे सुखेन वासः. पञ्चसु प्रथमाभ्यां खाण्डववनप्रवेशः. तृतीये व्याघ्रादिवेधः. तुरीये अर्जुनस्य यमुनातटे गतिः. पञ्चमे जलपानम्. ''तासामाद्य'' इति एकादशभिः **कालिन्द्याः संगतिः** ''एकादशेन्द्रियैः

कामः''. तत्र

आद्ये अर्जुनसम्प्रेषो द्वितीये प्रश्नपञ्चकम्।
त्रिभिः कालिन्दीविज्ञप्तिः षष्ठे कृष्णाय वन्दनम्।।
रथारोपश्च कन्यायाः सप्तमे पुरनिर्मितिः।
अष्टमे सारथिः कृष्णो जिष्णोः खाण्डवदाहने।।
नवमे वाह्निसन्तोषो धनुः प्रभृतिदापनम्।
मयस्य मोचनं पङ्क्तौ तेन सख्ये सभा कृता।।

शौरिपदं देहलीदीपकन्यायेन संगतौ विवाहे सम्बध्यते. शौरेः कालिन्द्या सह **विवाहः** द्वारिकायां तिष्ठतः सतः ''स तेन'' इति द्वाभ्यां; पूर्वस्मिन् कालिन्द्या सह द्वारिकागमनम् उत्तरस्मिन् उपयमः. ''विन्दानुविन्दौ'' इति द्वाभ्यां साङ्ख्यवैराग्यरूपाभ्यां **मित्रविन्दाविवाहः**. तत्र पूर्वस्मिन् प्रतिबन्धनिवृत्तिः अपरस्मिन् हृत्वा विवाहः द्वारिकायाम् इति पूर्वस्मादनुवर्तते. **नाग्नजित्युद्वाहः** चतुर्विंशत्या, सफलभक्तेः चतुर्विंशतिविधत्वात्. तत्र आद्ये सत्योत्पत्तिः. द्वितीयस्मिन् सत्यायाः अन्याशक्तत्वम्. तृतीये अयोध्यागमनं हरेः. चतुर्थे भगवत्सत्कारः. पञ्चमषष्ठयोः सत्यामनोरथः. सप्तमे नग्नजिन्मनोरथः. अष्टमे हरेः आसनपरिग्रहः. नवमे भगवद्याञ्चा. दशमे हरिप्रशंसा. एकादशे स्वसमयविज्ञापनम्. द्वादशे वृषवीर्यवर्णनम्. त्रयोदशे भगवते वाग्दानम्. चतुर्दशे भगवतः परिकरबन्धनम्. पञ्चदशे वृषदमनम्. षोडशे सत्याविवाहः. सप्तदशे अन्तःपुरे परमोत्सवः. अष्टादशे वादित्रवादनादयः महोत्सवाः. एकोनविंशति-विंशतितमयोः षड्विधपारिबर्हदानम्. एकविंशतितमे दम्पत्तीप्रेषणम्. द्वाविंशतितमे राजपुत्ररोधः. त्रयोविंशतितमे प्रतिबन्धनिवारणम्. चतुर्विंशतितमे श्रीकृष्णस्य द्वारिकाप्रत्यापत्तिः. भक्तिप्रकार(त?) स्तु २३ तः (?). देवीजननाद् राज्ञः देवप्रसादः प्रथमे. नृपाणाम् अज्ञेयत्वेन देवरूपता द्वितीये. गृहे भगवदागमनेन देवपोषकता तृतीये. भगवद्दास्यकरणेन शम्भुसमता चतुर्थे. सत्यायाः भगवदर्धांगत्वकामनया कृष्णसमता पञ्चमे. अब्जजस्य शीर्ष्णि पादरजोधारणकथनेन ब्रह्मसमता षष्ठे. अर्चितस्य पुनः प्रार्थनेन धैर्ययुक्तता सप्तमे. भगवतः आसनपरिग्रहेण स्थितत्वेन स्थिरकार्यकारितम् अष्टमे. भगवतः स्वयम् उद्यम्य सौहृदेच्छया लोकोद्धारकत्वं नवमे. राज्ञा भगवतः सर्वाधिकत्वकथनेन क्रियाशक्तिमत्त्वं पङ्क्तौ. दीनतया स्वकृतसमयविज्ञापनेन भक्तिनिष्ठा एकादशे. गोवृषनृपात्मनत्वकथनेन वंशो द्वादशे. भगवतैव वृषदमनज्ञानेन ज्ञानशक्तिः

त्रयोदशे. भगवता समयं श्रुत्वा परिकरबन्धनेन सानुभावभक्तिः चतुर्दशे. सप्तोक्षदमनेन हविर्नाशकहननभक्तिः पञ्चदशे. वेदमन्त्रोक्तविधिना सत्योपयमेन मन्त्रनाशकहननभक्तिः षोडशे. राजपत्नीनां परमोत्सवेन वैदिकभक्तिः सप्तदशे. शङ्खादिवादित्रनादेन भगवता सम्बद्धा भक्तिः अष्टादशे. भगवते पारिबर्हदानेन संसारात् मोचनभक्तिः एकोनविंशे. शतगुणाधिकदानेन अतिभक्तिः विंशे. दम्पत्योः प्रेषणे हृदये स्नेहविक्लेदेन धैर्ययुक्ता भक्तिः एकविंशे. दुष्टैः मार्गप्रतिबन्धेन रंतिदेवसमा भक्तिः द्वाविंशे. अर्जुनेन प्रतिबन्धनिराकरणेन परमा भक्तिः त्रयोविंशे. द्वारकाम् एत्य सत्यया रमणेन सकलभक्तिफलरूपः प्रादुर्भावः चतुर्विंशे. ''श्रुतकीर्तेः'' इतिपद्ये **भद्राविवाहः**. ''सुतां च मद्राधिपते'' इतिपद्ये **लक्ष्मणाविवाहः**. ''अन्याश्चैवम्'' इतिपद्ये चकारेण समुच्चितः षोडशसहस्रनायिकाविवाहः. एवम् अष्टपञ्चाशच्छ्लोकाः. इति पञ्चपञ्चाशदध्यायसङ्ग्रहः.

षट्पञ्चाशत्तमाध्यायम् अनुक्रामन्तिह्न

.... मुरघातिना।

पीठतत्तनयानां च नरकस्य च घातनम्।।४६।।

भूमिस्तुती राजकन्याप्रेषणं स्वपुरे ततः।

गत्वा महेन्द्रभवनं पारिजातहृतिर्बलात्।।४७।।

उद्वाहो राजकन्यानां ....

मुर इति इदं पदम् उभयत्र सम्बध्यते. प्रश्नः एकेन. नवभिः सार्धैः मुरविघातनम्. तत्र एकेन प्रश्नः. सार्धेन हरेः प्राग्ज्योतिषपुरगमनम्. ''गिरिदुर्गैः'' इत्यनेन पुरदार्ढ्यम्. ''गदया'' इति द्वाभ्यां दुर्गभेदः. ''पाञ्चजन्य'' इति मुरोत्थानम्. ''त्रिशूल'' इति मुरस्याभिद्रवणम्. ''आविध्य शूलम्'' इति मुरस्य अपराधः. ''तदापतद्'' इति हरिणा मुरताडनम्. ''तामापतन्तीम्'' इति सार्धैः **मुरघातः. घातिना** इति पूर्वाग्रिमाभ्यां सम्बध्यते. 'घातनम्' इति पाठस्तु सुगमः. ''तस्यात्मजाः सप्त पितुर्वधातुराः'' इति त्रिभिः ताम्रादिप्राणहाणं पीठहननं च. ''स्वानीकपान'' इत्यादि सार्धैः नवभिः **नरकस्य घातनम्.** चकारौ सैन्यघातनसूचकौ. तदुक्तं ''पीठं पुरस्कृत्य चमूपतिं मृधे'', ''दृष्ट्वा विद्रावितं सैन्यं'', ''तद् भौमसैन्यं भगवान् गदाग्रजः'' इत्यादि. ''ततश्च भूः कृष्णमुपेत्य कुण्डले'' इति भूम्या छत्रकुण्डलादिदानं स्तुत्युद्यमौ. ''नमस्ते देवदेवेश'' इत्यादिसप्तभिः **भूमिस्तुतिः**. तत्र आद्यैः चतुर्भिः नमनम्. ''त्वं वै सिसृक्षू''

इत्यनेन माहात्म्यम्. ''अहं पदोज्योतिः'' इति स्वरूपम्. ''तस्यात्मजोऽयम्'' इति प्रार्थना. राजकन्याप्रेषणं पञ्चभिः. ''इति भूम्या'' इतिपद्ये भौमगृहप्रवेशः. ''तत्र राजन्य'' इति राजकन्यादर्शनम्. ''तं प्रविष्टम्'' इति **राजकन्याभिः** कृष्णवरणम्. ''भूयात् पतिरयम्'' इति तासां हरौ भावेन हृदयधारणम्. ''ताः प्राहिणोद्'' इति तासां द्वारिका**प्रेषणम्.** ''ऐरावतकुल'' इति ताभिः सह चतुःषष्टिराजप्रेषणम्. षोडशकलस्य भगवतः एकैकस्याः कलायाः सहस्रे सहस्ररूपाः ताः. ''गीतं वाद्यम्'' इत्यादि कलारूपाः गजाः. ततः तत्प्रेषणानन्तरं **बलात् पारिजातहरणं** ''गत्वा सुरेन्द्र'' इति चतुर्भिः. आद्ये स्वर्गगमनं छत्रकुण्डलदानम्. ''नोदितः'' इति पारिजातहरणम् इन्द्रादिजयश्च. तृतीये सत्यभामागृहोद्याने पारिजातस्थापनम्. ''ययाच'' इति देवाढ्यतानिन्दनम्. चतुर्भिः **राजकन्योद्वाहः.** ''अथो मुहूर्त'' इति विवाहः. ''गृहेषु'' इति ताभिः रमणार्थं तासां गृहेषु प्रत्येकरूपेण स्थितिः. ''इत्थं रमापतिम्'' इति तासां कामकृतम्. ''प्रत्युद्गमासन'' इति तासां भक्तिकृता द्वादशधा सेवा. एवं सार्धषट्चत्वारिंशच्छ्लोकाः. इति षट्पञ्चाशदध्यायसङ्ग्रहः.

सप्तपञ्चाशत्तमाध्यायम् अनुक्रामन्तिह्न

.... रुक्मिणीकृष्णकौतुकम्।

रुक्मिणी इति. **रुक्मिणीकृष्णयोः कौतुकं** परिहासः इति यावत्. सच समस्ताध्यायेन. तत्र **कौ** पृथिव्यां **तुकं** सुखं जलं वा शिरो वा. सुखे ''अयं हि परमो लाभः'' (श्लो. ३१), जले ''समुद्रं शरणं गतान्'' (श्लो. १२), शिरसि ''यद् वाञ्छया नृपशिखामणयः'' (श्लो. ४१). तत्र एवं विभागःह्न

प्रथमे सप्तमी सेवा त्रिभिर्मन्दिरवर्णनम्।
वीजनोपासना द्वाभ्यां रुक्मिणीरूपवर्णनम्।।
एकेन कृष्णवीक्षा परिहासवचांसि तु।
एकादशभिरत्रैव द्वाभ्यामनुचितिः कृतेः।।
चतुर्भिः दूषणं वस्तु तत्र हेतुचतुष्टयम्।

तथाहि सुबोधिन्यां ''रूपतः फलतश्चैव सम्मत्या युक्तिभिस्तथा। चतुर्भिर्दूषणं प्राह चतुर्विधमिहाच्युतः।।''

अज्ञानमग्रिमकृतिस्ततो द्वाभ्यां निरूपिता।
अतः परं यत्कर्तव्यं द्वाभ्यां तद्रूप्यते पुनः।।

हेतुः स्वहरणे द्वाभ्यामेकेन स्वानपेक्षता।
हरेर्निवृत्तिरेकेन रुक्मिण्याः पतनं त्रिभिः।।
सम्यग्ज्ञानेन किञ्चिज्ज्ञानेन मोहेन तत् त्रिधा।
चतुर्भिः सान्त्वनं पूर्तेस्त्रिभिर्वाक्येन सान्त्वनम्।।
हर्यभिप्रेतकरणं द्वाभ्यामुत्तरदापनम्।
रुक्मिण्याः पञ्चदशभिर्भगवद्वचसां ततः।।
उत्तराण्येकादशभिः द्वयेन प्रार्थना ततः।
भावस्य वर्णनं द्वाभ्यां नवभिस्तत्प्रशंसनम्।।
अतिदेशस्ततो द्वाभ्यामन्यास्वध्यायपूरणम्।
एकोनषष्टिः पद्यानि ह्यध्यायेऽस्मिन् स्थितानि हि।।

एवम् एकोनषष्टिः श्लोकाः. इति सप्तपञ्चाशदध्यायसङ्ग्रहः.

अष्टपञ्चाशत्तमाध्यायम् अनुक्रामन्ति कृष्ण इति.

कृष्णभार्याकथा पुत्रनामान्युद्वाहपर्वणि।।४८।।

रामाद् रुक्मिवधो द्यूते ....

वैदिकं रमणं ह्याद्ये प्राकृतत्वं च पञ्चभिः।
एवं षड्भिः कृष्णभार्याणां कथा सर्वतोधिका।।
तत्र मोहकषड्धर्मा दोषाभावो हरेस्ततः।
ब्रह्माद्यगम्यपदवेः सेवादास्यं द्विषड्विधम्।।

''तासां या दशपुत्राणाम्'' इत्यादि सार्धत्रयोदशभिः पुत्रनामानि. तत्र अयं क्रमःह्व

प्रतिज्ञा प्रथमे द्वाभ्यां रुक्मिणीसुतवर्णनम्।
सार्धेन सत्यभामायाः जाम्बुवत्यास्तथैव हि।।
सत्यायाः सूर्यजातायाः लक्ष्मणामित्रविन्दयोः।
भद्रायाश्च सुता एकैकेनार्धेन सुता हरेः।।
रोहिण्याः पौत्रतत्पुत्रा द्वाभ्यां सर्वत्र मातृता।
सार्धाभ्यां राजप्रश्नश्च चकाराः पुत्रिसूचकाः।।
प्रद्युम्नोपयमे द्वाभ्यामुक्तं हेतुद्वयं शुकैः।

कन्यादानं तथैकेनानिरुद्धोद्वहनं त्रिभिः।।
उद्वाहे पञ्चदशभिर्वर्णनं रामरुक्मिणो।
तत्राद्ये रुक्मिणा कन्या भागिनेयाय दापिता।।
द्वितीयेऽपहृता तेन जित्वा राज्ञः स्वयंवरे।
कामोपयमने हेतुद्वयं द्वाभ्यामुदीरितम्।।
तृतीये रुक्मिणीकन्यादानं भगवता कृतम्।
दौहित्रायानिरुद्धाय चतुर्थे रोचनामदात्।।
पञ्चमे गमनं कृष्णादीनां भोजकटे पुरे।
षष्ठे निवृत्त उद्वाहेऽक्षद्यूतं रामरुक्मिणोः।।
द्यूतक्रीडाष्टभिः श्लोकैस्तत्राद्ये रुक्मिशिक्षणम्।
कलिङ्गराजा द्वितीये बलाह्वानं तृतीयके।।
(छलेन) जितवान् रुक्मी कालिङ्गः प्राहसद् बलम्।
तुर्ये रामजये रुक्मी मृषा स्वजयमुक्तवान्।।
पञ्चमे रामसंरम्भः षष्ठे रामजयः पुनः।
सप्तमे त्वाकाशवाणी ह्यष्टमे तदनादरः।।
आक्षिप्तः पञ्चदशके रुक्मिणा मुशलायुधः।
अतः परं रुक्मिवधो रामेण परिघेण हि।।
द्वितीये तु कलिङ्गस्य राज्ञो रदनपातनम्।
अन्येषां छिन्नभिन्नानां राज्ञामाशु पलायनम्।।
तृतीयेऽथ चतुर्थे तु तूष्णीम्भावो हरेस्ततः।
प्रत्यापत्तिः कुशस्थल्यां रथेन वरकन्ययोः।।
अध्यायेऽस्मिन् द्विचत्वारिंशच्छ्लोकाः व्यासैरुदीरिताः।

एवं द्विचत्वारिंशच्छ्लोकाः. इति अष्टपञ्चाशदध्यायसङ्ग्रहः.

एकोनषष्टितमाध्यायम् अनुक्रामन्तिह्न

.... बाणस्य हरसंकथा।
उषास्वप्नकथा चित्रलेखाया हरणं हरेः।।४९।।

पौत्रस्य बन्धनं चापि ....

बाणस्य हरसंकथा इति ''बाणः पुत्रशत'' इति नवभिः. ''बाणः पुत्र'' इति द्वाभ्यां बाणे महादेवसन्तोषः. ''स एकदा'' इति चतुर्भिः बाणेन रुद्रप्रार्थना. ''तच्छ्रुत्वा'' इति रुद्रक्रोधः. ''इत्युक्तः'' इति बाणस्य स्ववीर्यनाशप्रतीक्षा. **उषास्वप्नकथा** ''तस्योषा'' इति दशभिः. ''तस्योषा'' इति पद्ये उषायाः स्वप्ने प्राद्युम्निना रतिः. ''सा तत्र'' इति उषायाः विह्वलता. ''बाणस्य मन्त्री'' इति चित्रलेखोपाख्यानम्. ''कान्तं मृगयसे'' इति चित्रलेखायाः प्रश्नः. ''दृष्टः'' इति द्वाभ्याम् उषावचनम्. ''व्यसनं ते'' इति चित्रलेखाप्रतिज्ञा. ''इत्युक्त्वा'' इति त्रिभिः दैत्यमनुजोनिरुद्धलेखनम्. ''चित्रलेखा तम्'' इति पञ्चभिः हरेः अनिरुद्धस्य हरणम्. **तत्र आद्ये चित्रलेखायाः विहायसा द्वारकागमनम्. ''तत्र सुप्तं स्व'' इति** अनिरुद्धहरणम्. ''सा च तं सुन्दरवरम्'' इति त्रिभिः रमणम् उषानिरुद्धयोः. ''तां तथा'' इति नवभिः अनिरुद्ध**बन्धनम्.** ''तां तथा'' इति भटानाम् अनिरुद्धज्ञानम्. ''भटाः'' इति बाणाय आवेदनं द्वाभ्याम्. ''ततः प्र'' इति बाणस्य कन्यागारगमनम्. ''कामात्मजम्'' (इति) द्वाभ्यां बाणस्य दर्शन-विस्मयौ. ''स तं प्रविष्टम्'' इति द्वाभ्याम् अनिरुद्धेन बाणसैन्यविद्रावणम्. ''तं नाग'' इति अनिरुद्धबन्धनम्. **चापि** इति अव्यययुगेन दर्शन-विस्मय-सैन्यविद्रावणं सङ्गृहीतम्. एवं चैतस्मिन् अध्याये एकत्रिंशच्छ्लोकाः. पुस्तकान्तरेषु क्वचित् चत्वारः अधिकाः विगीताः दृश्यन्ते; सुबोधिनीस्वारस्येन सद्भिः उपेक्ष्याः ते. एवम् एकत्रिंशच्छ्लोकाः. इति एकोनषष्टिः अध्यायसङ्ग्रहः.

षष्टितमाध्यायम् अनुक्रामन्तिह्व

.... बाणयादवसंयुगः(गे?)।
कृष्णशङ्करयोर्युद्धे ज्वरसंस्तवनं ततः।।
बाणबाहुच्छिदा रुद्रस्तुतिर्बाणाभयं वरः।
उषाप्राप्तिः ....

बाणयादव इति. ''अपश्यताम्'' इति पञ्चभिः पद्यैः **बाणयादवयोः संयुगः**. तत्र आद्ये बन्धूनाम् अनिरुद्धशोचनम्. द्वितीये नारदाद् अनिरुद्धवृत्तान्तज्ञानं शोणितपुरगमनं च. तृतीये अष्टमहारथानां नामानि. ''अक्षौहिणीभिः'' इत्यनेन शोणितपुररोधः. ''भज्यमान'' इति बाणागमनम्. **कृष्णशङ्करयोः युद्धं** ''बाणार्थे'' इत्यादिषोडशभिः. तत्र आद्ये रुद्रागमनम्. ''आसीत् सुतुमुलम्'' इति शिवकृष्णयोः युद्धम्. ''कुम्भाण्डकूपकर्ण'' इतिपर्यन्तं चत्वारि द्वन्द्वानि.

''ब्रह्मादयः'' इति देवानां युद्धदर्शनार्थम् आगमनम्. ''शङ्करानुचरान्'' इति द्वाभ्यां शिवानुचरानुद्रावणम्. ''पृथग्विधानि'' इति त्रिभिः अस्त्रयुद्धम्. ''स्कन्दः'' इति गुहपलायनम्. ''कुम्भाण्डः'' इति बलभद्रेण बाणामात्यहननं सैन्यद्रावणं च. ''विशीर्यमाणम्'' इति त्रिभिः कृष्णबाणयोः युद्धम्. ''तन्माता'' इति कोटरागमनम्. ''ततस्तिर्यङ्'' इति बाणपलायनम्. ''विद्राविते'' इत्यादिदशभिः श्रीकृष्णयुद्धार्थं ज्वरागमनम्. ''अथ नारायणः'' इति ज्वरयोः युद्धम्. ''माहेश्वरः'' इति सार्धेन ज्वरस्य कृष्णशरणागतिः. ''नमामि'' इत्यादिचतुर्भिः **ज्वरसंस्तवनं** स्वरूप-बल-कार्य-रक्षाप्रार्थनाभेदेन. ''त्रिशिरस्ते'' इत्यस्मिन् ज्वरानुशासनम्. ''इत्युक्तः'' इति ज्वरगमन-बाणागमने. ''ततो बाहुसहस्रेण'' इति त्रिभिः **बाणबा**हुकृन्तनंह्व शस्त्रमोकः करछेदो रुद्रस्तुत्युद्यमस्तथा. ''त्वं हि ब्रह्म'' इत्यादिद्वादशभिः रुद्रस्तुतिः संवत्सरात्मक-कालातिक्रमार्थम्. तत्र सुबोधिन्यां ''यादृशो भगवान् कृष्णः संयोगेनैव गम्यते। दृश्यमानस्तु शास्त्रेण विसंवादी हि दृश्यते।। इति ज्ञापयितुं प्रोक्ता भूम्यादीनां तथा गता। अङ्गान्यपि हरेर्लोके भिन्नानीति विदुर्यतः।। अस्मदर्थं च भगवान् समागत इति श्रुतिः। निर्दोषपूर्णगुणकोऽप्यस्मदादिभिरीर्यते ।। यथाधिकारं तत्रापि हेतुर्हि भगवान् परः। अन्तरायस्तदज्ञाने यदासीत् तस्य च स्वयम्।। प्रकाशको महान् साक्षादतोऽस्माकं हितो भवेत्। कृष्णेच्छयैव सर्वेषामेवं बुद्धिविपर्ययः।। अन्यथा धनपुत्रादौ कथं मुग्धाः विवेकिनः? तस्मात् पूर्वापराधानां क्षमा नित्या हरौ परे।। तथापि चेन्न सेवन्ते व्यर्थजीवास्तु ते मताः। अनेन भजनं प्रोक्तं बाणोऽपि भजते यतः।। प्राकृताभजने हेतुर्दुरदृष्टं निरूप्यते। वयं तु लोकरीत्यैव भक्त उत्कर्षहेतवः।। युद्धार्थमागताः किन्तु भक्ता एव न संशयः। प्रकटेन प्रकारेण शरणागतिरुच्यते।। तादृशस्य हितं यस्मात् कर्तव्यमिति सार्थता।''

बाणाभयं चतुर्भिर्हि अङ्गीकारेण पूर्वतः।
दत्ताभयेन दर्पस्य शान्त्या शिष्टस्य रक्षणात्।।
उषानिरुद्धानयनं द्वाभ्यामेकेन मोदतः।
स्वलङ्कृतद्वारकायां प्रवेशेन फलेन च।।
उषाप्राप्तिश्चतुर्भिर्हि त्रिःपञ्चाशत्तयार्धकम्।

एवं सार्धत्रिपञ्चाशच्छ्लोकाः. इति षष्टिः अध्यायसङ्ग्रहः.

।।इति श्रीमद्गोस्वामि-मथुरानाथात्मज-गोस्वामिश्रीद्वारिकेश्वरविरचिता दशमोत्तरार्धानुक्रमणिकायां राजससाधनफलप्रकरणव्याख्या।।

।।श्रीकृष्णाय नमः।।

।।पुरुषोत्तमनामसहस्रे राजससाधनप्रकरणगतानि नामानि।।

(९१६–९३२)

जरासन्धसमानीत–सैन्यघाती विचारकः।
यवनव्याप्तमथुरा–जनदत्तकुशस्थलिः।।१।।
द्वारकाद्भुतनिर्माण–विस्मापितसुरासुरः।
मनुष्यमात्रभोगार्थ–भूम्यानीतेन्द्रवैभवः।।२।।
यवनव्याप्तमथुरा–निर्गमानन्दविग्रहः।
मुचुकुन्दमहाबोध–यवनप्राणदर्पहा।।३।।
मुचुकुन्दस्तुताशेष–गुणकर्ममहोदयः।
फलप्रदानसन्तुष्टिर्जन्मान्तरितमोक्षदः।।४।।
शिवब्राह्मणवाक्याप्त–जयभीतिविभावनः।
प्रवर्षणप्रार्थिताग्नि–दानपुण्यमहोत्सवः।।५।।
रुक्मिणीरमणः कामपिता प्रद्युम्नभावनः।
स्यमन्तकमणिव्याज–प्राप्तजाम्बवतीपतिः।।६।।
सत्यभामाप्राणपतिः ....।

।।पुरुषोत्तमनामसहस्रे राजसफलप्रकरणगतानि नामानि।।

(९३२–९५५)

.... कालिन्दीरतिवर्धनः।
मित्रविन्दापतिः सत्यापतिर्वृषनिषूदनः।।१।।
भद्रावाञ्छितभर्ता च लक्ष्मणावरणक्षमः।
इन्द्रादिप्रार्थितवध–नरकासुरसूदनः।।२।।
मुरारिः पीठहन्ता च ताम्रादिप्राणहारकः।
षोडशस्त्रीसहस्रेशश्छत्रकुण्डलदानकृत्।।३।।
पारिजातापहरणो देवेन्द्रमदनाशकः।
रुक्मिणीसमसर्वस्त्री–साध्यभोगरतिप्रदः।।४।।

रुक्मिणीपरिहासोक्ति-वाक्तिरोधानकारकः।
पुत्रपौत्रमहाभाग्य-गृहधर्मप्रदर्शकः।।५।।
शम्बरान्तकसत्पुत्र-विवाहहतरुक्मिकः।
उषापहृतपौत्रश्रीर्बाणबाहुनिवारकः।।६।।
शीतज्वरभयव्याप्त-ज्वरसंस्तुतषड्गुणः।
शङ्करप्रतियोद्धा च द्वन्द्वयुद्धविशारदः।।७।।

।।त्रिविधनामावल्यां राजससाधनप्रकरणगतानि नामानि।।

क्षात्रधर्मप्रवर्तकाय नमः[१] दिव्ययुद्धविशारदाय नमः[२] जरासन्धसमानीतसैन्यघातकाय नमः[३] द्वारकापुरनिर्माणहेतवे नमः[४] भक्ताचिन्त्यसुखदात्रे नमः[५] यवनान्तकाय नमः[६] मुचुकुन्दप्रसादकाय नमः[७] सर्वदेवतामनोरथपूरकाय नमः[८] शिवब्राह्मणवाक्यपरिपालकाय नमः[९] दैत्यमोहनचरित्राय नमः[१०] रुक्मिणीमनोरथपूरकाय नमः[११] रुक्मिणीगान्धर्वविवाहाय नमः[१२] रुक्मिणीप्राणपतये नमः[१३] रुक्मिप्रभृतिदुष्टमानसदुःखदाय नमः[१४] रुक्मिणीविवाहप्रदर्शितगृहस्थधर्माय नमः[१५] त्रिविधविवाहकर्त्रे नमः[१६] कामजनकाय नमः[१७] शम्बरघातकप्रद्युम्नाय नमः[१८] जाम्बवतीप्राणपतये नमः[१९] लोकनिर्मितसर्वार्थज्ञापकाय नमः[२०] सत्यभामावल्लभाय नमः[२१].

।।त्रिविधनामावल्यां राजसफलप्रकरणगतानि नामानि।।

सत्राजित्स्वर्गहेतवे नमः[१] स्यमन्तकमणिहर्त्रे नमः[२] शुद्धकीर्तिस्थापकाय नमः[३] अक्रूरादिभक्तदोषनिवारकाय नमः[४] कालिन्दीपतये नमः[५] पाण्डवराज्यस्थापकाय नमः[६] मित्रविन्दापतये नमः[७] सत्यापतये नमः[८] भद्रापतये नमः[९] लक्ष्मणापतये नमः[१०] रोहिणीपतये नमः[११] षोडशसहस्रनायिकापतये नमः[१२] मुरारये नमः[१३] नरकान्तकाय नमः[१४] वसुधापूजितचरणाय नमः[१५] सर्वजनीनसुखहेतवे नमः[१६] पारिजातापहरणाय नमः[१७] महेन्द्रादिदुष्टबुद्धिनिवारकाय नमः[१८] सर्वरत्नकोशादिपूरितगृहाय नमः[१९] रुक्मिण्यादिस्त्रीमनःपरीक्षकाय नमः[२०] लौकिकलीलावाक्यविशारदाय नमः[२१] श्रुत्यर्थप्रतिपादकदशदशपुत्राय नमः[२२] कलिधर्मप्रतिपादकवंशादिककर्त्रे नमः[२३] बाणासुरबलान्तकर्त्रे नमः[२४] महादेवादिसन्मानहेतवे नमः[२५] ज्वरादिदोषनाशकाय नमः[२६] प्रह्लादादिभक्तवंशरक्षकाय नमः[२७].

।।दशमोत्तरार्धराजससाधन–फलप्रकरणनिबन्धः।।

ततो व्यसनसिद्ध्यर्थं साधनान्याह सप्तभिः।
लौकिके व्यसने प्राप्ते तस्मिंश्च विनिराकृते।।१।।
व्यसनासक्तहृदयाः कृष्णव्यसनिनोऽभवन्।
जरासन्धश्च यवनः पुनर्ब्राह्मणसंयुतः।।२।।
शिवप्रसादपुष्टश्च जरासन्धो विशिष्यते।
राजसस्तामसश्चैव सात्त्विकश्च प्रकीर्तितः।।३।।
केवलः पौरुषापोह्यः स सप्तदशधोदितः।
प्रजापतिप्रसूतत्वात् तावद्वारं समागतः।।४।।
अष्टादशे द्वन्द्वभावमापन्नः सहजो महान्।
ततो व्यसनकर्ता हि तदैश्वर्येण वै हरिः।।५।।
विश्वकर्माणमाहूय मथुरासमभावतः।
द्वारकां निर्ममे तत्र योगवीर्यं चकार ह।।६।।
ततो व्यसननिर्मुक्ताः कृष्णव्यसनमागमन्।
एवमेकेन भूतानां व्यसनं विनिवर्तितम्।।७।।
आध्यात्मिकानां च तथा तदर्थं यवनो हतः।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

अतः परं षष्टिभिः साधनप्रकरणं विचारयन्तः समाख्यां समर्थयन्ति **ततो व्यसने**त्यादि. तथाच व्यसनसाधनबोधकत्वादिदं साधनप्रकरणमित्यर्थः. किं तत्साधनमित्याकाङ्क्षायामाहुः **लौकिक** इत्यादि. **व्यसने** दुःखे व्यसनासक्तहृदया दुःखासक्तहृदयाः **कृष्णव्यसनिनः** कृष्णैकतानाः. तथाच दुःखनिवारक–भगवदेकतानत्वं साधनमित्यर्थः. व्यसनप्रापकानाहुः जरासन्ध इत्यादि. तथाच जरासन्धस्यावस्थाभेदेन द्वैविध्यात् त्रयस्त इत्यर्थः. नन्वेवं त्रैविध्यं न युक्तं, जरासुतस्याष्टादशवारं युद्धायागमनादित्यत आहुः **केवल** इत्यादि.

प्रजापतिप्रसूतत्वादिति, जरया कृते सन्धाने तस्यैव प्रयोजकत्वात् तथा. तथाच द्वन्द्वभावापत्तिकृतव्यसनस्य प्रकारान्तरापन्नत्वेन तन्निवारणस्यापि तथात्वाद् युक्तमेव त्रैविध्यमित्यर्थः. शेषमतिरोहितार्थम्. निष्कृष्टं प्रथमाध्यायार्थमाहुः **एवमेकेनेत्यादि** ।।१-७।।

द्वितीयाध्यायं विचारयन्तः सर्वेषां द्वारकायां नयने मथुरायां कस्याप्यभावेन क्लेशस्याभावाद् यवनहननं किमर्थमित्याशङ्कां परिहरन्ति **आध्यात्मिकानामि-**

अद्यापि मथुरायां हि तिष्ठन्त्याध्यात्मिकाः सदा।।८।।

दैविकाश्चापि तिष्ठन्ति त्रिभिस्तान् मोचयत्यसौ।

रुक्मिणीव्यसनं तत्र नियामकमिति स्थितिः।।९।।

त्रिभिस्तस्य निवृत्तिर्हि वाक् शरीरं मनस्तथा।

मानसं वाचिकं वापि कायिकं वा निराकृतम्।।१०।।

आध्यात्मिकेऽधिकं किञ्चिद् दैविकाभेदसिद्धये।

व्यसनी मुचुकुन्दोऽपि निद्रया तन्निवारितम्।।११।।

फलप्रकरणं नैतत् तेन स्तुत्यापि नोऽभवत्।

साधनं परमुद्दिष्टं वीर्याध्यायो यतो मतः।।१२।।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

त्यादि. आध्यात्मिकानां दैविकानां च दुःखानां विद्यमानत्वात् तन्निवृत्त्यर्थं **यवनो हतः**. तेषां स्थानमाहुः **अद्यापी**त्यादि. **त्रिभिरि**ति अध्यायत्रयोक्तचरित्रैः. तथाच श्रीरामस्यान्येषां च लोकानां तत्र विद्यमानताया धननयनादिलिङ्गेनावगमात् तत्र क्लेशस्थितिः शक्यवचनेति तृतीयाध्याये मागधनिवृत्तिपर्यन्तं चरित्रमाधिदैविकदुःखनिवृत्त्यर्थमित्यर्थः. नन्वेवं सति तत्र श्रीरुक्मिण्यादिकथायाः किं प्रयोजनमत आहुः **रुक्मिणी**त्यादि. **तत्रे**ति आध्यात्मिकादिदुःखे. तथा चैवं सर्वभी राजभिर्विरोधे यादवकुमाराणां वा बलभगवतोर्वा विवाहः कथं कुत्र भावीति चिन्तारूप आध्यात्मिकदुःखाकारः तन्मूलभूतदैवानुकूल्यचिन्तारूपो दैविकाकार इति प्रतिभाति; तेनात्र तत्कथेत्यर्थः. ननु श्रीरुक्मिणीव्यसननिवृत्तिस्त्रिभिः कुत उच्यत इत्यत आहुः **त्रिभि**रित्यादि. **तथे**ति दुःखहेतुभूतम्. अत्र वागन्येषां ज्ञेया. निवृत्तिविभागमाहुः **मानसमि**त्यादि. आध्यात्मिके यादवानां दुःखे दूरीकर्तव्ये तस्य रुक्मिणीव्यसननियमितत्वाद् ब्राह्मणोक्तभगवद्वचनानुवादेन मानसं वाचिकं वा

तदुदुःखं निराकृतम्; तदग्रिमाध्याये कायिकम्. यदात्र हरणात् कायिकं निराकृतमुच्यते तदाग्रिमे रुक्म्यादिजयाद् वाचिकं मानसं चेति ज्ञेयम् ।।८-१०।।

एवं प्रसङ्गं समर्थयित्वा प्रस्तुतमाहुः **आध्यात्मिक** इत्यादि. **अधिकं किञ्चित्** मुचुकुन्दाय स्वरूपप्रदर्शनादिरूपं कार्यमधिकं किञ्चित् तत् तु प्रस्तुतव्यतिरिक्तम्. तस्य प्रयोजनमाहुः **दैविके**त्यादि. प्रदृश्यमानस्य स्वरूपस्याधिदैविकाभेदज्ञापनार्थमित्यर्थः. ननु यादवव्यसननिराकरणे प्रस्तुते मुचुकुन्दस्य कः प्रसङ्ग इत्यत आहुः **व्यसनी**त्यादि सार्धचतुष्टयम्. तदिति व्यसनम्. **नोऽभवदिति** मुक्तो नोऽभवत्. **उद्दिष्टमिति** उपदिष्टम्.

बलेन मोचितः स्वास्थ्यं न प्राप्स्यति कथञ्चन।
अतः साधनमुद्दिष्टं प्रवृत्त्यै मृगयाकथा।।१३।।
प्रारब्धकर्म तद्वृत्तं[१] तेन वा तन्न नाशितम्।
तत्तद्धर्मप्रधानत्वात् लीलायास्तत्र तत्र हि।।१४।।
तेन वीर्यगुणाद् बुद्धः सामर्थ्यं प्राप साधने।
तेनार्थान्मुक्तिरेवास्मै दत्ता भवति सर्वथा।।१५।।
यवनोऽपि प्रविष्टस्तं ततः सिद्धिमवाप्स्यति।
यवनैर्दूषिते स्थाने न नित्या मथुरा स्थिता[२] ।।१६।।
व्यसनं च ततस्तेषां वारितं यवनार्दनात्।
जरासन्धजयार्थाय[३] यवनानां धनं हृतम्।।१७।।
दुष्टद्रव्यात्तु तस्यापि बुद्धिनाशो भविष्यति।
प्रवर्षणगिरिस्थानां जीवानां च विनाशनात्।।१८।।
अग्नेः सम्प्रार्थनात् कृष्णः प्रवर्षणमथारुहत्[४] ।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

ननु मुचुकुन्दस्यानुद्धारे साधनमात्रोपदेशात् कथं वीर्यचरित्रत्वं येनाध्यायस्य तदाख्येत्यत आहुः **बलेने**त्यादि. **बलेने**ति बलात्कारेण प्रमेयबलेन वा. तथाच तस्य सुखार्थमिदानीमनुद्धारो नत्वसामर्थ्याद् अतो नास्य वीर्याध्यायत्वहानिरित्यर्थः. ननु यद्येवं तदा ''क्षात्रधर्मस्थितो जन्तूनि''त्यादिकं कुत उक्तमित्याशङ्कायामाहुः **प्रवृत्त्या**इत्यादि. ननु तदपि भगवता निवर्तितुं शक्यत एवेति नेदमुत्तरमित्यतः

पक्षान्तरमाहुः **प्रारब्धे**त्यादि. प्रारब्धस्य नाशाभावश्चतुर्थस्कन्धे उपपादित इति मर्यादानुरोधात् तथेत्यर्थः. नन्वेवमप्यत्र वीर्यलीलात्वे गमकं नोपलभ्यत इत्यत आहुः **तत्र** हीत्यादि. हीर्निश्चये. **तेने**ति भगवता. **तेने**ति हेतुना. तथाच प्रकरणाभावादत्र फलानुक्तिः. वस्तुतस्तु फलमपि तावन्महाकालसुप्तस्य क्षुत्तृट्क्रोधादिदोषसम्भवं निवार्य साधनकरणसामर्थ्यप्रापणेनाग्रे मुक्तिदानं सिद्धमिति तदेवात्र गमकमित्यर्थः. तेन कार्यान्तरस्यापि सिद्धिमाहुः **यवन** इत्यादि. तथाच मुचुकुन्दकथायां वीर्यनिरूपणार्थत्वमेव प्रसङ्ग इत्यर्थः. एवं द्वितीयाध्यायो विचारितः ।।११-१५ १/२।।

तृतीयाध्यायं विचारयन्ति **यवनै**रित्यादि. **नित्येति** सन्निहितभगवत्का, ''सर्वेषामंशानां भगवत्येव समागमादि''ति सुबोधिन्यां स्थितत्वात्. **तत** इति सन्निधानाभावात्. धनहरणादिप्रयोजनमाहुः **जरासन्धे**त्यादिसार्धेन. प्रवर्षणरोहो बलसहभावश्चेत्यपि प्रासङ्गिकमेवेत्याहुः **अग्नेरि**त्यादि. बलविवाहस्तु प्राय

---

१. तज्जातं. २. स्थिरा. ३. वधार्थाय. ४. -दहत्.

बलात्मा बलभद्रोऽयमतः सोऽपि निरूप्यते।।१९।।
अतो विवाहस्तस्यापि लोकरीतिश्च सम्मता।
बलभार्या निरोधस्था नेति भक्तौ निरूपिता।।२०।।
अतस्तस्याः कथामन्यामतिदेशान्न चोक्तवान्।
विवाहो द्विविधो लोके धर्मार्थो भोगसाधकः।।२१।।
आद्यो धर्म्यस्तु कर्तव्यः पश्चाद् भोगार्थमुद्यतः[१] ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ।।२२।।
विधिश्च वैदिकश्चैव सह सर्वैः स्वबान्धवैः[२] ।
रुक्मिण्यां प्रथमायां तु विवाहत्रयमुक्तवान्।।२३।।
गान्धर्वो ब्राह्मणद्वारा स्तोत्रं भावावबुद्धये।
प्रसह्य कन्याहरणं द्वितीये स्पष्टमेव हि।।२४।।
तत्सिद्ध्यर्थं तथा चक्रे कालः सत्सेवको यतः।
उत्तरोत्तरभावस्य वृद्ध्यर्थं रुक्मिणीवचः।।२५।।

विवाहकालात् पूर्वेद्युर्हरणं सर्वसम्मतम्।
समुद्रस्तु पिता तस्याः कालकूटोऽग्रजः स्मृतः।।२६।।
स दैत्यानां हिताकाङ्क्षी हराविष्टो बलोऽहनत्।
जिघांसन्तं जिघांसीयात् तथापि न हरिः स्वयम्।।२७।।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

इत्याहुः सार्धेन **अत** इत्यादि. अत्राध्याये यशसः कार्यमिति ज्ञापयन्ति **विवाह** इत्यादित्रिभिः. **स्तोत्रं भावावबुद्धये** इति, श्रीरुक्मिणीकृतं ''श्रुत्वा गुणानि''त्यादिनोक्तं स्तोत्रं स्वभावस्य भगवति बोधनायेत्यर्थः. तृतीयार्थ उक्तः ।।१६-२३१/२।।

चतुर्थाध्यायार्थमाहुः **प्रसह्ये**त्यादि. **तत्सिद्ध्यर्थं** हरणसिद्ध्यर्थम्. **तथा चक्रे** विवाहकालः ''अहो धिगस्मद्यश'' इत्युक्तं तद्धिक्कारं चक्रे, यतः **समीचीनो** मुख्यः **सेवकः**. तथाच भगवदिच्छामवगत्य तेषां धिक्कार्यत्वबुद्धिजनकमहंकारम् उत्पादितवानित्यर्थः. ननु ''नमस्ये त्वाम्बिकेऽभीक्ष्णमि''त्यादिप्रार्थनस्य किं प्रयोजनमत आहुः उत्तरोत्तरेत्यादि. एवं **सर्वसम्मतमि**त्यन्तेन चतुर्थाध्यायो विचारितः. अत्र श्रियो नयनात् श्रीकार्यं स्फुटमेव ।।२४-२५१/२।।

पञ्चमं विचारयन्तो बन्धूनां भीष्मकप्रभृतीनां भगवते दित्सायां केवलस्य रुक्मिणः कथं विरुद्धो यत्न इति शङ्कायामाहुः **समुद्र** इत्यादि. तर्हि भगवता कुतो न हतः तत्राहुः **हराविष्ट** इत्यादिसार्धद्वयम्. तर्हि श्रीरुक्मिण्या

---

१. भोगार्थसाधकः. २. सबान्धवैः.

जघान रुक्मिणं मूढं दैत्यानां बुद्धिनाशकम्।
वधानुकल्पः स्वद्रोहे भक्तद्रोहे वधः स्मृतः।।२८।।
वधानुकल्परूपं हि मुण्डनं तच्चकार ह।
सर्वात्मा भगवान् कृष्णो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।२९।।
यो यथा यं प्रपद्येत सोऽपि तन्मन्यते तथा।
रुक्मिण्यर्थं समागत्य तथा रुक्मी चकार ह।।३०।।

अतः कृष्णं प्रार्थयित्वा रुक्मिणी तं व्यमोचयत्।
भगवद्व्यतिरिक्तानामन्यधर्मः प्रवर्तते।।३१।।
नटवत् कपटाद् वापि ततः प्राह बलस्तथा।
द्वारकायां तु नेतव्यः सुखं बद्ध्वाल्पबन्धनैः।।३२।।
ततो मया प्रबोध्यश्च नान्यथेत्यन्तरं श्रियः।
तदभावाद् वैमनस्यं तद् रामेण निवारितम्।।३३।।
तथा चेत् कुरुते कृष्णस्तदा लोको विरुध्यते।
अस्मान् वञ्चयितुं रुक्मी कृष्णपक्षोऽप्युपाह्वयत्।।३४।।
यावज्जीवं तदा दुःखी दैत्यो दैत्यविसम्मतः।
ज्ञानाध्याये तथा युक्तं दैत्यानां मुण्डनं परम्।।३५।।
अत एव पुनः स्थानं कुण्डिनं न विवेश ह।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

कुतस्तस्य मोचनमित्याकाङ्क्षायामाहुः **सर्वात्मे**त्यादि. तथाच श्रीरुक्मिण्या भगवति श्रद्धावत्त्वेन भगवद्रूपत्वात् तन्मोचनार्थं रुक्मिणः प्रवृत्तत्वेन श्रीरुक्मिण्या भगवद्रूपया तन्मोचनमित्यर्थः. ननु तथापि बलदेवेन भगवान् किमित्युपालब्ध इत्याकाङ्क्षायामाहुः **भगवदि**त्यादि. **अन्यधर्मो** रजस्तमोधर्मः गुणक्षोभवशात् प्रवर्तते, भगवति तु मायया **नटवद**विद्यया **कपटाद्वा** तदुभयमपि नोचितं, शुद्धसत्त्वेऽवतीर्णत्वाद् गुणातीतत्वाद्वा, **ततो हेतोर्बलभद्र** उपालम्भं प्राह, यथा मृत्स्नाभक्षणे. तथाच भगवदाशयाबोधात् तथा वचनमित्यर्थः. ननु भगवतः करुणत्वात् प्रार्थनेन यथा वधान्निवृत्तिः तथा बन्धनादेरपि प्रार्थनया स्यादिति तदभावोऽपि कुतो न प्रार्थित इत्याशङ्कायां बन्धनं श्रीरुक्मिण्या अभिमतं नतु तत्प्रकारकमिति बोधयितुं तदाशयमाहुः **द्वारकाया**मित्यादि. ननु भगवतः सर्वज्ञत्वेन तदाशयस्यापि ज्ञानात् तथैव कुतो न भगवता कृतमिति शङ्कायां भगवदाशयमाहुः **तथा चेदि**त्यादिसार्धेन. मुण्डनस्यान्यदप्याशयमाहुः **ज्ञानाध्याय** इत्यादि. अत एवेति दैत्यत्वादेव. अध्यायत्रयार्थमुपसंहरन्ति

रुक्मिणीसहितः कृष्णः सर्वेषां सुखदोऽभवत्।।३६।।
एवं त्रिविधजीवानामुद्धर्ता व्यसनार्णवात्।
ततः कृष्णव्यसनिनो जाताः साधनमीरितम्।।३७।।
कामेन व्यसनं लोके स स्वयं व्यसनं गतः।
देहनाशात्[१] सर्वनाशाद् भार्याहरणतोऽपि हि।।३८।।
व्यसनं तद् देवदेहाज्जातं [२]चेन्नैव नश्यति।
यदा मुक्तिप्रदानार्थं वासुदेवः समुद्गतः।।३९।।
तदा माया च कामश्च तस्माद् बन्धार्थमुद्गतौ।
मायया मोहितो जीवः कामैर्नानाविधोऽभवत्।।४०।।
कामोत्पत्तिर्यदा कृष्णात् तदा तद्व्यसनं हतम्[३] ।
स्वस्थः स्मृत्या विरक्तश्च सर्वानेव प्रबाधते।।४१।।
कृष्णसम्बन्धिदेहेन रुद्धो वा न तथाविधः।
एवं षड्भिः समस्तानां व्यसनाभाव ईरितः।।४२।।
दुष्टव्यसनभावत्वात् ते कृष्णेऽपि तथा जगुः।
तेषां वा व्यसनं कृष्ण आधिदैविकमात्मनि।।४३।।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

रुक्मिणीत्यादिसार्धेन. एवं पञ्चमाध्यायो विचारितः ।।२६-३७।।

षष्ठं विचारयन्ति **कामेने**त्यादिसार्धैश्चतुर्भिः. **सर्वना**शादिति धन्वादिपरिकरनाशात्. **नैव नश्यती**ति, शम्बरस्य शिवप्रसादवत्तया बलिष्ठत्वान्नैव नश्यति. **तस्मादि**ति ल्यब्लोपे पञ्चमी, तन्निवृत्त्युपायमनुसन्धाय. उद्गताविति, अलौकिकप्रकारेण कार्यं कुर्वाणावभूताम्. व्यसनस्मृत्या विरागे कमपि न बाधेतेत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः **कृष्णे**त्यादि. तथाच भगवद्विचारितानेव न बाधत इत्यर्थः. अत्र विचारितभिन्नानां बाधनं वैराग्यकार्यं बोध्यम्. एवं षष्ठो विचारितः. षड्विधलीलया भौतिकाध्यात्मिकनिवृत्तिरुक्तेत्याहुः **एवमि**त्यादि ।।३८-४२।।

ननु समस्तव्यसननिवृत्तौ किं व्यसनं शिष्टं यदर्थं यत्न इत्याकाङ्क्षायां मायाकृतस्य तस्य तस्यावशिष्टत्वं बोधयन्तस्तन्निवृत्त्युपायो धर्मिणा क्रियत इति सप्तमाध्यायार्थबोधनाय तं विचारयन्ति **दुष्टे**त्यादि. **तथा जगुरि**ति मणिहर्तृत्वं

जगुः. तथाचेदं मायामोहकृतमाधिदैविकमित्यर्थः. नन्वेवं निरुद्धानां कथमीदृशो भावः सम्भवतीत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः **तेषां** वेत्यादि. तथाच

---

१. देशनाशात्. २. जातश्चेत्. ३. महत्, हृतम्.

पश्चात् तं नाशयामास धर्म्यध्यायेन सिद्धता।
फलसाधनयोरैक्यं वक्तुमेका कथोच्यते।।४४।।
मणिश्च व्यसनं हन्ति लोके ख्यातस्ततोऽपि चेत्।
व्यसनानि विनश्येरंस्तदा नैकान्तिको हरिः।।४५।।
इति तस्य निराकृत्यै ततो व्यसनमुच्यते।
तच्चापि चेत् कृष्णवाक्यात् साध्यते सर्वभावतः।।४६।।
तदा व्यसननाशाय कल्पते नान्यथा तु तत्।
इति निश्चित्य भगवान् सत्राजितमुवाच ह।।४७।।
''मणेर्यावद्धनं प्राप्यं तद् राजा दास्यती''ति हि।
अविश्वासं कृष्णवाक्ये कृत्वा तं नैव दत्तवान्।।४८।।
ततः सर्वक्षयो जात इति वक्तुं कथोच्यते।
सूर्यभक्तस्तु सत्राजित् ततो लक्ष्मीं सरस्वतीम्।।४९।।
मणिरूपां कन्यकां च द्वयं भोग्यं हरेः परम्।
तयोरन्यत्र सत्राजिद् विनियोगं हि वाञ्छति।।५०।।
अक्लिष्टकर्मा भगवान् कन्यार्थं तत् तथाकरोत्।
यादवोऽप्यन्यभक्तत्वात् न निरुद्धः प्रसेनकः।।५१।।
मणेरतिक्रमाच्चैवं मायाभृत्येन मारितः।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

लोकाः कथमबुद्ध्वा मणिहरणस्य भगवत्प्रयुक्तत्वं वदन्तीत्येतद्वा आधिदैविकं व्यसनमित्यर्थः. **सिद्धते**ति भगवद्व्यसनशालित्वमित्यर्थः. नन्वत्र प्रकरणे श्रीरुक्मिणीविवाहो व्यसनात्मकसाधनोपोद्धाततयोक्तः, तेन दुःखनिवृत्तौ सत्यां

साधनं पूर्णं सिद्धमेवेति तत्प्रकरणे सत्राजित्कन्यादानादिप्रकथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः फलेत्यादि. फलं विवाहः, तदेव दुःखनिवृत्तौ साधनमिति बोधनं प्रयोजनमित्यर्थः. प्रयोजनान्तरमाहुः **मणिश्चे**त्यादि **कथोच्यत** इत्यन्तम्. तच्चापीति मणेर्व्यसननाशकत्वमपि. भगवद्वचनाकारमाहुः **मणेर्यावदि**त्यादि. कथेति मणिकथा. ननु तथापि भगवतो मणियाचनस्य को वाशय इत्याकाङ्क्षायामाहुः **सूर्ये**त्यादि. **तत** इति अन्यभक्तत्वाद्धेतोः. एतस्य पदस्य तयोरित्यनेनान्वयः. तर्हि प्रसेनस्य कथमेवं मरणमित्यत आहुः **यादवोपी**त्यादि. **अतिक्रमादिति** पूज्यस्य तस्याभरणत्वेन विनियोगात्. **मायाभृत्येनेति** देवीवाहनेन सिंहेन ।।४३-५११/२।।

तर्हि सिंहः कुतो मारित इत्याकाङ्क्षायां तत्राप्यतिक्रममेव हेतुमाहुः

सोऽपि वक्त्रेण संस्पर्शाद् रामभक्तेन मारितः।।५२।।
भक्तबालकसौख्याय मणिः श्रीस्तत्र तिष्ठति।
ततः सा कन्यका प्राप्ता केवलोऽभून्मणिस्तदा।।५३।।
तदुच्छिष्टं न शुद्धं हि कृपया तदुपानयत्।
कन्यार्थमेव गमनं कालियह्रदवत् पुनः।।५४।।
राजसानां परीक्षार्थं बहुकालं न चागतः।
जाम्बवद्रोधसिद्ध्यर्थमात्मतत्त्वं विहाय हि।।५५।।
सप्तविंशतितत्त्वानि मुष्टिभिर्निहतानि वै।
ततः स्वरूपनिष्ठस्तु भगवज्ज्ञानमेयिवान्।।५६।।
लक्ष्मीं च कन्यकां बुद्ध्वा लीलार्थे चागतिं तथा।
सत्त्वं सम्पाद्य पूर्वं हि मणिं कन्यां ददौ ततः।।५७।।
उच्छिष्टत्वान्मणिं कृष्णः सत्राजिद्दत्तमप्युत।
न गृह्णादात्मजां वाणीं युक्तां स्वां जगृहे मुदा।।५८।।
सर्वात्मनान्यहृदयं न गृह्णाति हरिः स्वयम्।
सर्वात्मनाऽप्रपन्नं च नाशायैव कलिं यथा।।५९।।
उच्छिष्टं भक्तभोग्यं हि फलं भक्ताय दास्यति।
एवं सप्तभिरध्यायैर्व्यसनं सुनिरूपितम्।।६०।।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

सोपीत्यादि. केसरिणो हि चर्मनखाश्च पवित्राः नतु वक्त्रम्; तत्स्पर्शेन मणेरुच्छिष्टीभावादतिक्रम इति तथेत्यर्थः. ननु भवत्वेवं तथापि दुर्यशःप्रमार्जनस्य जातत्वाद् भगवतो बिलप्रवेशस्य किं प्रयोजनमत आहुः **भक्ते**त्यादि **गमनमित्यन्तम्.** उत्तानमग्रिमम्. तत इति भगवद्गमनोत्तरम्. **केवल** इति निःश्रीकः. **सत्त्वमिति** साधुत्वम्. नन्वन्ययाचितां कन्यां कुतो भगवान् गृहीतवानित्याशङ्कायामाहुः **सर्वात्मने**त्यादि. तथाच यद्यपि मूले नोक्तं तथापि मुदा ग्रहणरूपात् कार्यात् तथात्वमनुमीयत इत्यर्थः. तर्हि मणिं कुतो न गृहीतवानित्यत आहुः **उच्छिष्ट**मित्यादि. अत्र चाध्याये धर्मिलीला स्फुटैव. एवं सप्तमाध्यायो विचारितः. एवं षष्टिभिः साधनप्रकरणं विचार्योपसंहरन्ति **एवं सप्तभिरि**त्यादि ।।५२-६०।। इति श्रीमत्प्रभुचरणैः पुरुषोत्तमस्य दर्शिता दशमोत्तरार्ध-राजससाधनप्रकरणनिबन्धयोजना ।।

अतः फलं सप्तभिर्वै राजसानां निरूप्यते।
अक्रूरो यादवानां हि मुख्यस्तस्य फलं पुरा।।१।।
ततः पञ्चविवाहैश्च[1] विद्यापर्वस्वरूपिकाः
नायिकाः फलरूपा हि कृष्णसम्बन्धतो मताः।।२।।
तासां फलं हरिः कृष्णस्तत्सम्बन्धात्[2] तथेतरे[3]।
कृष्णं फलमुपासाद्य दुःखग्रामाद् विनिर्गताः।।३।।
ततोऽग्रे षोडशकलवृत्तिरूपाः सहस्रशः।
सम्बन्धेन हरिं प्राप्तास्तत्सम्बन्धात् तथेतरे।।४।।
फलं चतुर्विधं तत्र कृष्णप्राप्तिः पुरा फलम्।
स्वप्राप्तिः कृष्णदेवस्य द्वितीयं फलमुच्यते।।५।।
अन्योन्याध्यासवच्चैतत् फलद्वयमुदाहृतम्।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

अतः परमष्टपञ्चाशद्भिः फलप्रकरणं विचारयन्ति अत इत्यादि. अत इति

अतः परम्. एतेन फलनिरूपकत्वात् फलप्रकरणमिति समाख्याबीजमुक्तम्. तत्र किं फलमित्याकाङ्क्षायामत्र पूर्वप्रकरणवन्नैकविधं फलं किन्तु नानाविधमिति बोधयितुं तत्तदध्यायोक्तं प्रकारमाहुः **अक्रूर** इत्यादि. **पुरेति** प्रथमाध्याये. **तत** इति द्वितीयाध्याये. ननु भगवत्सम्बन्धस्य फलत्वं पूर्वप्रकरणे सिद्धमिति तस्य तथात्वं युक्तं, कथमेतासां तथात्वमित्यत आहुः **तासामि**त्यादि. **कृष्णतत्सम्बन्धादिति,** कृष्णेन सह तासां सम्बन्धः कृष्णतत्सम्बन्धः, तस्मात्. **तथेति** सम्बन्धिरूपेण. एवमधिकारिभेदेन फलभेदो द्वितीयाध्याये उक्तः ।।१-३।।

तृतीयाध्याय आहुः **ततोऽग्र** इत्यादि. **षोडशकलवृत्तिरूपा** इति, षोडशकलं मनः छान्दोग्ये सिद्धं, तद्वृत्तिः नानाप्रकारक-सङ्कल्पविकल्पः, तद्रूपाः. **तत्रेति,** तेषु चतुःप्रकारेषु फलेषु पूर्वं फलं ''तं प्रविष्टं स्त्रियो वीक्ष्ये''ति श्लोकद्वयेनोक्तम्. द्वितीयम् ''अथो मुहूर्त एकस्मिन्नि''ति श्लोकेनोक्तम्. एतदेव यथाधिकारमक्रूरे प्रथमं तथैव महिषीषु द्वयं बोध्यम्. द्वितीये विशेषमाहुः **अन्योन्ये**त्यादि. **उदाहृतमिति** तत्तदध्याय उक्तम्. अत्र च इति, सर्वाः पृथक् कृष्णे भावेन हृदयं दधुरिति ''गृहेषु तासामनपायी''त्यनेन चोक्तम् ।।४-५१/२।।

---

१. -विवाहाश्च. २. कृष्णतत्सम्बन्धादिति योजनापाठः. ३. तथापरे.

ततो भगवदंशस्य पुत्रभावेन कार्यवत्[१] **।।६।।**
लोकवेदप्रकारेण पुत्रपौत्रादिकं फलम्।
तेषां च सर्वभावेन देवयुद्धादि नान्यथा[२] **।।७।।**
कार्यसाधनमत्यर्थं चतुर्थं फलमुच्यते।
यथा लोके सर्वभावो लौकिकेषु प्रजायते।।८।।
तथा कृष्णे सर्वभावस्तेषां जात इतीर्यते।
कृष्णोऽपि चेत् तथा कर्ता तदा स्वप्नो मनोरथः।।९।।
प्रपञ्चाद्वैतवत् तत्र कृष्णाद्वैतं फलं मतम्।
अर्थधर्मौ धर्मकामौ काममोक्षौ निरूपितौ।।१०।।
केवलाश्चान्यसंयुक्ताः पुरुषार्थाः फलं हरेः।
अक्रूरस्य फलं सिद्धमर्थो धर्मेण संयुतः।।११।।

तदर्थं तादृशीं लीलां लोकाद् भिन्नां करोति हि।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

चतुर्थाध्यायः फलशेष इति पञ्चमस्थं तदाहुः **ततो भगवदि**त्यादि. पूर्वोक्तादाप्यरूपात् फलद्वयाद् अस्य वैलक्षण्यमाहुः **कार्यवदिति.** षष्ठसप्तमाध्यायोक्तं फलमाहुः **तेषां** चेत्यादि. नन्वस्य लौकिकत्वेन भगवत्सम्बन्धाभावात् कथं फलत्वमित्याकाङ्क्षायामाहुः **यथा लोक** इत्यादि. नन्वेवं सति फलत्वं दुर्घटं, सर्वभावस्य साधनकोटिनिविष्टत्वादित्यत आहुः **कृष्ण** इत्यादि. यथा लौकिकाः सर्वभावविषयाः सन्तः स्वप्नादिप्रयोजका भवन्ति **तथा कृष्णो** भगवानपि **सर्वभावविषयः** सन् तथा कर्ता स्वप्नादिकं प्रयोजयिता. तदा तेषां भगवद्विषयकः **स्वप्नो मनोरथश्च** ''पिता ममैवं कर्ता'', ''श्वसुरो ममैवं दाता लालयिते''त्यादिरूपो भवेत्. ततश्च लौकिकसर्वभाववतां यथा **प्रपञ्चाद्वैतं** तथा तेषां **कृष्णाद्वैतं** भवतीति हि सर्वभावस्वरूपम्[३]. एतदेव साधनाध्यायतृतीयपादे ''स एवाधस्तादि''ति छान्दोग्यश्रुतिमुपन्यस्य विचारितम्. तद् यद्यपि मुख्यफलाधिकारिणां साधनरूपं तथापि सायुज्याधिकारिणां तत् **फलं मतं** फलत्वेन सम्मतम्. तथाच साधनकोटिनिविष्टत्वेऽपि अधिकारिभेदात् फलनान्तरीयकत्वाच्च फलत्वमप्यविरुद्धमित्यर्थः ।।६-११/२।।

प्रकारान्तरेण फलचातुर्विध्यमाहुः **अर्थेत्या**दि. द्वितीयं चातुर्विध्यविभागप्रकारमुदाहृत्य विशदीकुर्वन्ति **अक्रूरस्येति.** तादृशीं दुर्यशोलेपनरूपाम्. **लोकाद् भिन्नां** लोकविलक्षणाम्. ननु बीभत्सानुभवः प्रकारान्तरेणापि भवेदिति

---

१. कार्यकृत्. २. देवगुह्यादिना तथेति पाठः. ३. तादृक् सर्वभावस्य स्वरूपं तादृग्भावस्वरूपम्.

स्वतस्तेषां कृतिश्चेत् स्यात् कृष्णस्तोषं कथं व्रजेत्?।।१२।।

दुर्योधनादिहन्तारो यथा वै पाण्डवाः प्रियाः।

सत्राजिद्घातकास्तद्वच्छतधन्वादयो मताः।।१३।।

युद्धेन मारणं मुख्यं वने वा गुप्तभावतः।

न तु सुप्तस्य सर्वासां समक्षं मारणं मतम्।।१४।।

शतधन्वा ततो वध्यो मुक्त्यर्थं मारितः स्वतः।

गुप्तलीला फले वाच्या तेनाज्ञानप्रकाशनम्।।१५।।

विद्यया बोधनं चापि विलम्बश्च पलायने।

अक्रूरवत् सोऽपि तिष्ठेत् लीनो वा तत्र वै भवेत्।।१६।।

तदा वध्यो न चैव स्यात् परं पापेन दूषितः।

युद्धार्थं कृष्णदेवेन मित्रयोः प्रार्थनां तथा।।१७।।

कृत्वा ज्ञात्वापि माहात्म्यं शरणं न स आगतः।

अलौकिकं फलं ह्येतत् मर्यादायां न युज्यते।।१८।।

अतो हि बलदेवस्य नात्र सम्मतिरुत्तमा।

अत्रैव बलदेवस्थं भिन्नमासीन्निवेशितम्।।१९।।

भगवद्धर्मजातं हि ततः स मिथिलां गतः।।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

किमर्थमेवं करणमित्याकाङ्क्षायामाहुः **स्वत** इत्यादि. **कृतिः** सत्राजिद्वधकृतिः. ननु तद्वधेन किं भगवत इत्यत आहुः **दुर्योधनादी**त्यादि. अयमर्थः. भगवान् हि मुक्त्यर्थमवतीर्णोऽन्यसम्बन्धस्य राहित्येन स्वमात्रैकतानत्वे तां ददाति, अन्यसम्बन्धं च न सहते. वध्यानां च हननेन तां ददाति. प्रकृते च दुर्योधनादय इव सत्राजिदादयोऽप्यन्यसम्बद्धा इति तद्धन्तारोऽपि ''अन्ते त्वधर्मे''ति न्यायेन वध्यमुक्तिप्रयोजकतया भगवदभिमतकरणात् प्रिया इति तदर्थं तथेत्यर्थः. ननु तर्हि पाण्डववत् सोऽपि कुतो न रक्षित इति चेत्, तत्राहुः युद्धेनेत्यादि. नन्वेवं सति भगवतः सर्वं विदितमेवेति विलापादिकं कुत इत्याकाङ्क्षायामाहुः गुप्तेत्यादि. **बोधनम्** अक्रूरादिकर्तृकं विलम्बः शतधन्वकर्तृकः. तर्हि तदैव कुतो न मारित इत्यत आहुः अक्रूरेत्यादि. ननु तर्हि मुक्तेरेवं देयत्वात् श्रीरामस्य कुतो वैमनस्यमित्यत आहुः **अलौकिकमित्यादि.** नन्वेवं सत्यपि बलदेवो भगवन्तं विहाय किमिति मिथिलायां गत इत्यपेक्षायामाहुः अत्रैवेत्यादि. **निवेशितमिति** द्वादशाध्याये निवेशितम् ।।१०-२०१/२।।

अरुचिश्च हरावासीदन्यधर्मप्रवेशतः।।२०।।
अतः परं तु रामेण नैकमत्यं क्वचित् क्वचित्।
लोकेऽपि फलमेतादृक् सेवकानां न रोचते।।२१।।
अतस्तद्गोपनार्थाय मारयित्वान्यथैव हि।
मण्यर्थं मारणं वक्तुं वृथा मारणमाह हि।।२२।।
सोऽपि ज्ञात्वा व्यवसितं क्षोभशान्त्यै ततो गतः।
काश्यादितीर्थे धर्मस्य सिद्धिरर्थेन साधिता।।२३।।
पुनः स्वस्थानमायातौ मणिं चावापतुः प्रभोः।
एवं यादववर्येषु फलमेतेन बोधितम्।।२४।।
तथैव पाण्डवानां च फलं दातुं विनिर्गतः।
सान्त्वने तेऽपि निर्दिष्टास्ततो गर्वत्रयं ददौ।।२५।।
आमुष्मिकं फलं सूर्यात् स हि वेदात्मको यतः।
तत्सम्मतिं ज्ञापयितुं कालिन्दीप्राप्तिरुच्यते।।२६।।
तदर्थं गमनज्ञाननिवृत्त्यै प्राप्य तां पुनः।
इन्द्रप्रस्थे स्थितः कालं तत्कार्याणां हि साधकः।।२७।।
आत्मबोधस्वरूपेयं तेन व्यावर्तितोऽर्जुनः।
मित्रविन्दा तपोरूपा तेनानीता बलान्निजात्।।२८।।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

भगवद्वाक्यतात्पर्यमाहुः **लोकेऽपी**त्यादिसार्धेन. एतेनेयमैश्वर्यलीलेति बोधितम्. एवं प्रासङ्गिकं शेषं निरूप्य शेषिणं निरूपयन्ति सोऽपीत्यादिद्वाभ्याम्. **सोऽपी**ति अक्रूरोऽपि. **आयातावि**ति, अक्रूरकृतवर्माणावायातौ, तेनाक्रूरस्यार्थधर्मयोः प्राप्तिरुक्ता. एवं सार्धत्रयोदशभिः प्रथमाध्यायो विचारितः ।।२१-२४।।

द्वितीयाध्यायं दशभिर्विचारयन्ति **तथैवे**त्यादिभिः. ननु यादवानां फले वक्तव्ये पाण्डवानां कः प्रसङ्ग इत्यत आहुः **सान्त्वन** इत्यादि. **गर्वत्रय**मिति गर्वजनकत्रयंह्न विश्वकर्माकारितं नगरम्, अग्निदत्तं गाण्डीवादिकं, मयकृता सभा

चेति. एतेषां यथायथं धर्मार्थकामसाधकत्वात् फलप्रकरणत्वाच्च 'वर्गत्रयमि'ति पाठः प्रतिभाति. प्रस्तुतं फलं वक्तुं तेषां स्वरूपादिकमाहुः **आमुष्मिकमित्यादि. ज्ञापयितु**मिति, यादवानामामुष्मिके फले वैदिकीं सम्मतिं ज्ञापयितुम्. **प्राप्ये**ति भिन्नं पदम्. **कालमि**ति अत्यन्तसंयोगे द्वितीया; यावता कालेन पाण्डवकार्यसिद्धिः तावत्कालमित्यर्थः. एतेन तेषां फलस्य प्रासङ्गिकत्वं स्फुटीकृतम्, अन्यथा तत्रैव कालिन्दीमुद्वहेत्. हिर्हेतौ. द्वितीयस्वरूपमाहुः **मित्रविन्दे**त्यादि ।।२५-२८।।

अन्तस्तापबहिस्तापौ भ्रातराविव बोधितौ।
स्वभागत्वाद्धुता तस्या बन्धूनां चाखिलार्थदः।।२९।।
योगात्मिकां नाग्नजितीं सूर्यवंशसमुद्भवाम्।
व्यसनान्यग्रतो जित्वा तां जग्राहाखिलर्द्धये।।३०।।
सिद्धिरूपं पारिबर्हमतस्तत्र निरूपितम्।
व्यसनाविष्टचित्तानां तत्रेच्छा न तु लभ्यते।।३१।।
इति दर्शयितुं पश्चाद् युद्धमाह नरेण हि।
नित्यानित्यविवेकाख्या भद्रा स्वयमुपागता।।३२।।
भक्तिरूपा लक्ष्मणा हि बलाद् बुद्ध्या च सङ्गता।
तस्या विस्तारकथनं सात्त्विकानां फले जगौ।।३३।।
सर्वार्थसाधनैर्युक्तः स्वतोऽपि फलदायकः।
फलप्रकरणे प्रोक्तः कृष्णः सर्वहितप्रदः।।३४।।
विषयाणामिन्द्रियाणामनन्तत्वं यदा भवेत्।
ज्ञानसाध्ये कर्मसाध्ये फले स्यान्निर्वृतिः परा।।३५।।
इति ज्ञापयितुं कृष्णः सहस्राणि च षोडश।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

तपोरूपत्वे गमकमाहुः **अन्तरि**त्यादि. **स्वभागत्वादि**ति, ''भागस्ते पैतृष्वसेयी''ति श्रुत्युक्तभागत्वात्. **तस्या** इत्यादि, भ्रात्रोरेव निषेधकत्वेनान्येषामनुकूलत्वात् तथेत्यर्थः. इदमपि तपोरूपत्वगमकम्.

तृतीयस्वरूपमाहुः योगेत्यादि. गमकमाहुः **सूर्ये**त्यादि. नवमे स्कन्धे तद्वंश्यानां योगित्वस्य दर्शितत्वात् तद्वंशजत्वेन तथेत्यर्थः. गमकान्तराण्याहुः **व्यसनानी**त्यादि. तज्जयस्य योगाङ्गत्वादित्यप्येकं गमकम्. **अखिलर्द्धये** इति यादवानामिति शेषः. अत्रापि गमकमाहुः **सिद्धी**त्यादि. चतुर्थस्वरूपमाहुः **नित्यानित्ये**ति. **नित्यानित्यविवेकस्य आख्या** प्रसिद्धिर्यतः वैराग्यात् तद्रूपा. तत्र गमकं **स्वयमुपागतेति,** ज्ञानयोगतपसां सिद्धौ वैराग्यस्य स्वयमेव प्राप्तेस्तथेत्यर्थः. पञ्चमस्वरूपमाहुः भक्तीत्यादि. गमकमाहुः हीत्यादि. हिर्हेतौ**,** **बलं** माहात्म्यज्ञापकं **बुद्धिः** स्नेहज्ञापिका. प्रमाणमाहुः **तस्या** इत्यादि. तथाच विस्तारेण प्रकरणेन च तदुभयरूपतायाः फलभक्तिरूपता-स्फुटीभावादित्यर्थः. अथ महिषीणां काममोक्षयोर्धर्मकामयोर्वा सिद्धिं स्फुटीकुर्वन्ति **सर्वार्थे**त्यादि. अत्र वीर्यलीला स्फुटैव. एवं दशभिर्द्वितीयो विचारितः ।।२९-३४।।

सार्धाष्टभिस्तृतीयं विचारयन्ति **विषयाणामि**त्यादि. **स्यादि**ति तदेति

नराणां कं सुखं हत्वा देवांश्च परिभूय हि।।३६।।
महिषीवृत्तिरूपास्ताः कालदोषनिवृत्तये।
उद्वाहयामास मुदा लोकवेदौ समर्थयन्।।३७।।
अविद्याकार्यरूपो हि मुरो नरकरक्षकः।
तत्पुत्राः पीठसहिताः प्राकृताः खादिवन्मताः।।३८।।
नरको भगवत्पुत्रश्चतुर्मूर्तेस्तपस्स्थितः[१]।
तपसोऽन्ते तपस्विभ्यः फलदातुस्तु याचनात्।।३९।।
भूम्या जातो वरः प्राप्तो न वध्यः सकलैरपि।
नारायणास्त्रयुक्तश्चेत् परं पुत्राय तद्ददौ।।४०।।
तेन वध्यो हरेर्जातस्तथैव सुखमैहिकम्।
दैवाधीनं तथा पुत्रफलं२ तत्र निवारितम्।।४१।।
दैवाधीनत्वमेतेन विरक्तो भक्तिसंयुतः।
ऐहिकामुष्मिकफलं कृष्णात् प्राप्नोत्यसंशयम्।।४२।।
यादवानां समस्तानामेवं दातुं हरिस्तथा।
परिहासविलासस्तु रुक्मिण्या यदिहोदितम्।।४३।।

शेषः. **उद्वाहयामासेति** स्वार्थे णिच्, 'रामो राज्यमचीकरदि'तिवत्. **मुदा कालदोषनिवृत्तये लोकवेदौ समर्थयन्नुदुवाहेत्यर्थः.** एतेन यशोलीलेयमिति बोधितम्. **खादिवदि**ति इन्द्रियादिवत्. **वरः प्राप्त** इति तेनेति शेषः. वराकारमाहुः नेत्यादि **चेदि**त्यन्तम्. वध्यत्वे प्रकारमाहुः **परमि**त्यादि. **पुत्राय** भगदत्ताय. **तथैवे**ति, अविद्याकार्येणाहन्तादिना रक्षितमिन्द्रियादिपोषितं भूम्यां जातं भगवदाज्ञाविरुद्धकृतिसहितं **यदैहिकं सुखं** नराणां तद् भगवन्नाश्यमिति तत्तुल्यता. एतास्वन्यमपि विशेषमाहुः तथेत्यादि. तासु **आमुत्रिकं फलं दैवाधीनम्.** तत्र हेतुः **निवारितमि**ति, अष्टावक्रेण शप्तत्वान्निवारितमित्यपि विशेष इत्यर्थः. स च ''न वयं साध्वि साम्राज्यमि''ति सात्त्विकफलप्रकरणे स्फुटीभविष्यति. एतेनैतासां धर्मकामौ केवलः कामो वा सिद्धः. एतल्लीलाप्रयोजनमाहुः दैवेत्यादि. **एतेनैतद्व्यतिरिक्तानां दैवाधीनत्वं निवारितमि**ति सम्बन्धः. सिद्धमाहुः **विरक्त** इत्यादि. **तथे**ति कृतवानिति शेषः. एवं सार्धाष्टभिस्तृतीयो विचारितः ।।३५-४२१/२।।

चतुर्थं विचारयन्ति सार्धैश्चतुर्भिः **परिहासे**त्यादि ।।४३।।

---

१. तपस्विनः. २. तथामुत्रफलमिति योजनापाठः प्रतिभाति ह्रसम्पा.

तद्वाचिकतिरोधानं गोपीनामिव कायिकम्।
अभिमानादिदोषाणां निवृत्त्यै मध्यमत्वतः।।४४।।
अन्तिमे च तथाध्याये मानसं च प्रवक्ष्यति।
एवं त्रिधा तिरोभावो दोषाभावाय बोध्यते।।४५।।
अत्यन्तं कोमला भक्ता न कृष्णरसभोजने।
समर्था इति दार्ढ्याय तिरोधानं करोति हि।।४६।।
अनेन सर्वभक्तानां सामर्थ्यं चापि यच्छति।
फलभोगे फलं चापि तथा दोषं निवारयन्।।४७।।
पुत्रपौत्रादिसम्पत्तिः फलपूर्वमुदाहृतम्।

तत्र दोषसमुद्भावे दैत्येष्वेव नियोजयेत्।।४८।।

इति दर्शयितुं रुक्मी हतो रामेण मङ्गले।

अधर्मोद्वाहजं पापं तत्रैव निहतं यतः।।४९।।

अतः पापे प्रतिहते सुखिनस्ते समागताः।

अतः परं सर्वभावैः कृष्णो भक्तार्थसाधकः।।५०।।

इति दर्शयितुं प्रोक्तमूषाख्यानं महाद्भुतम्।

अध्यायद्वितयेनैव वैराग्येणापि१ धर्मिणा।।५१।।

तूष्णीं स्वधर्मान् संहृत्य ज्ञात्वाप्यास्ते सदा हरिः।

यदोत्कृष्टं भक्तकार्यं कुतश्चित् सिद्धिमेति हि।।५२।।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

मध्यमत्वत इति मध्यमाधिकारित्वात्. भगवद्विप्रयोगस्येषदसहिष्णुत्वं प्रथमाधिकारित्वम्, अधिकासहिष्णुत्वं मध्यमाधिकारित्वं मध्यमत्वम्, अत्यन्तासहिष्णुत्वं चोत्तमत्वम्. **अन्तिम** इति स्कन्धसमाप्त्यध्याये. **प्रवक्ष्यती**ति ''स्त्रिय ऊचुरि''त्यादिना कथयिष्यति. **निवारयन्नि**ति यच्छतीत्यनुषङ्गः. एतेनात्र फलानुक्तावपि तच्छेषनिरूपकत्वेनास्याध्यायस्य फलप्रकरणान्तःपातित्वमित्यर्थः. अत्र श्रीलीला स्फुटैव ।।४४-४७।।

पञ्चमाध्यायं विचारयन्ति सार्धाभ्यां **पुत्रे**त्यादि. **तत्रे**त्यादि, पुत्रपौत्रादिषु सम्बन्धादिवशेन दोषोत्पत्तौ तद्दोषफलमेष भगवान् ''द्विषन्तः पापकृत्यामि''ति श्रुत्युक्तन्यायेन दोषप्रयोजकेषु **दैत्येष्वेवं योजयेदि**त्यर्थः. इयं च ज्ञानलीलेति ज्ञापनायाहुः **अधर्मे**त्यादि ।।४८-४९१/२।।

षष्ठसप्तमौ विचारयन्ति **अतः परमि**त्यादि. वैराग्यलीलात्वं स्फुटीकुर्वन्ति **तूष्णीमि**त्यादि. **सदे**त्यत्र 'यदे'ति यदेत्यत्र 'तदे'ति पाठः प्रतिभाति. धर्मिलीला

---

१. -अथ धर्मिणा.

इत्युषाहरणं ज्ञात्वा रक्षकांश्च निवारयन्।

अनभिप्रेतकर्ता च नारदो न निवारितः।।५३।।

एतदर्थं यतो लोके मुग्धभावः स्थिरोऽभवत्।
महादेवादिभिर्युद्धं नाट्यमत्र न संशयः।।५४।।
महादेवोक्त एवार्थो यतोऽयं हरिणा कृतः।
भक्तेषु पक्षपातो हि सर्वदेवेषु बोधितः।।५५।।
तथाप्यशक्ता निखिला इति बाहूंश्चकर्त ह।
भक्तप्रियेषु सर्वेषु ये केचिद् विमताः क्वचित्।।५६।।
यावता ते भविष्यन्ति सम्मतास्तत्करोति हि।
अनिरुद्धकथा प्रोक्ता यादवानां च सूचिका।।५७।।
राजसानां फलं ह्येतत् फलं कृष्णात् तु[१] निर्गुणम्।
एवं फलप्रकरणं राजसेषु निरूपितम्।।५८।।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

शिवस्तुत्यादिभिः स्पष्टैव ।।५०-५२।।

इतीति ज्ञापयितुमिति शेषः. **निवारयन्नि**ति **तूष्णीमासे**त्यनुषङ्गेण योजना. **अशक्ता** इति स्ववरदत्तार्थरक्षणेऽशक्ताः. एतेन कर्तनेन यज्ज्ञापितं तदाहुः **भक्तप्रियेष्वि**त्यादि. अनिरुद्धकथोपबन्धप्रयोजनमाहुः **अनिरुद्धे**त्यादि. **सूचिके**ति उद्वेलत्वसूचिका. सिद्धमर्थमाहुः **राजसाना**मित्यादि. **राजसानां** विचारे **फलं हि** निश्चयेन **एतत्** परिदृश्यमानं सर्वभावैः सर्वार्थसाधनरूपं; ते एतावदेव फलत्वेनाविदन्नित्यर्थः. तर्हि तत्त्वविचारे किं फलमित्याकाङ्क्षायामाहुः **फलमि**त्यादि. **निर्गुणमि**ति विश्वमायानिवृत्तिरूपमित्यर्थः. उपसंहरन्ति **एवमि**त्यादि ।।५३-५८।।

एवं सार्धद्विनवत्यधिकशतेन राजसप्रकरणं विचारितम्.

।इति श्रीमत्प्रभुचरणैः पुरुषोत्तमस्य दर्शिता दशमोत्तरार्ध-राजसफलप्रकरणयोजना।

१. कृष्णाच्चतुर्गुणम्.

श्रीगोष्ठीशालोपनाम–रामचन्द्रभट्टात्मज–घनश्यामभट्टकृता सूचिका ।

अतः परं दुःखनिवारकत्वेन भगवत्येकतानत्वमेव साधनम्; तद्द्वारा निरोधः सिद्ध इति साधनत्वमस्य प्रकरणस्य. अत्रापि सप्तभिरध्यायैः पूर्ववदेव निरूपणम्. तत्र प्रथमे जरासन्धपलायनादिकम् ऐश्वर्यकार्यमेव, द्वारकानिर्माणादिकं च. द्वितीये मुचुकुन्दद्वारा यवनहननं साधनमात्रोपदेशद्वारा मुचुकुन्दोद्धारकरणं च वीर्यमेव. तृतीये यशःकार्यं स्फुटमेव, ''श्रुत्वा गुणानि''त्यादिरुक्मिणीस्तुत्या यशोनिरूपकत्वात्. चतुर्थे रुक्मिण्या हरणेन अन्यसम्बन्धरूपापन्निवारकत्वात् श्रीकार्यम्. पञ्चमे रुक्मिविरूपकरणानन्तरं श्रीबलदेवद्वारा रुक्मिणीं प्रति ज्ञानोपदेशवाक्यानि ज्ञानकार्यरूपाणि. षष्ठे प्रद्युम्नदर्शनानन्तरं तत्रैव मनो लग्नं संसारे च विरक्तं जातमिति वैराग्यम्. सप्तमे जाम्बवता युद्धं मणिदानं धर्मिनिरूपणम्. अग्रे स्पष्टम्.

अतः परं फलप्रकरणम्. तत्तदधिकारिभेदेन तत्तत्फलनिरूपकत्वात् फलत्वमस्य प्रकरणस्य. अत्रापि पूर्ववदेव सप्ताध्यायाः. तत्र प्रथमे ऐश्वर्यं शतधन्ववधादिकार्यम्. द्वितीये विश्वकर्मणा नगरनिर्माणं मित्रविन्दाहरणादिकं वीर्यम्. तृतीये भौमवधानन्तरं भूमिस्तुत्या अभयदानं यश एव. चतुर्थे भगवतो रुक्मिणीं प्रति परिहासोक्त्यनन्तरं सान्त्वनं प्रियत्यागभयरूपापन्निवारकत्वात् श्रीकार्यम्. पञ्चमे भगवत्पत्न्यः रमणकर्तुर्भगवतो मनो वशीकर्तुं न समर्था इति निरूपणेन ज्ञानम्. षष्ठे अनिरुद्धबन्धनं प्रतीकाराकरणं वैराग्यम्. सप्तमे धर्मिनिरूपणं बाणभुजकृन्तन–वरदानादिना स्पष्टम्. एवमष्टाविंशतिभिरध्यायैः राजसप्रकरणं निरूपितम्.

उत्तरार्धसूचनिका

। श्रीकृष्णाय नमः । उत्तरार्धे

१।२४ क्रियाशक्तेर्व्यापकता नित्यता चोक्तेत्यादि.

२।६० भक्तिमार्गव्यतिरेकेणेत्यादि.

२।६३ अन्यथा पुरुषेषु कालरूपे वा लय इति, मर्यादायां ब्राह्मणस्यैव मुक्तिरिति.

३।२८ अर्हयामास प्रकारविशेषजिज्ञासायां स्वधर्ममतिदिशति.

३।३३ ब्राह्मणानां मोक्ष इत्यादि.

३।३८ वेदोऽपि लोकानुसारी भवतीति, ''यो यच्छ्रद्धः'' इत्यैक्यादनुरोधाद्वा शीलमपि तुल्यम्. स्वभावः शान्तोग्रादिरूपः.

३।३९ भगवान् भगवच्छास्त्रविरुद्धमर्थं न गृह्णातीत्यादि.

३।४० पूर्तेष्टादिस्वरूपं ''मद्भक्तपूजाभ्यधिके''ति.

४।१३ तिलमोदकदानं सर्वदोषहरम्.

४।४६ भगवदिच्छया मन्त्रः स्फुरितः.

४।४७ अनेनैव मन्त्रेण सर्वामपि पूजां कृतवती.

५।२५ अन्यत् सर्वं जगत्युत्पन्नं हविर्भवतीत्यादि. परोक्षप्रिया इव हि देवाः.

५।४४ ब्रह्मवादेऽयमेव सिद्धान्तः.

५।६० नित्यं हरिः श्रीसहितः, आविर्भावस्तु केवलस्यैवेति.

६।२ वैदर्भी भक्तिप्रधानेति.

६।२१ सम्यगाश्रयणं मनःपूर्वकं भक्त्येति.

६।३० वैदर्भी अत्यन्तभक्ता.

७।२३ द्वन्द्वयुद्धं सम्यक्प्रकारेण, न नटवदभिनयमात्रेण.

७।१० गृहे दैत्यानां प्रवेशाभावायेत्यादि.

८।४२ श्रवणकीर्तनस्मरणानि विकल्पेन विधीयन्ते, समुच्चयेन चेत्यादि.

९।६ यथा भगवान् पूजितः तथा भक्ता अपीत्यादि.

९।५ 'कृष्णा'पदेन कालिन्दीयोग्यता, ''यो यच्छ्रद्धः स एव सः''.

९।१० भावनाकार्यमेव क्लेशहननं, स्मरणं भावेनेति सिद्धम्.

१०।४४ परमतभाषा बन्द्या गृहीताः, बन्दिग्रहणम्, अभिप्रेता हि सेवा कर्तव्या, अभिप्रायस्तु दुर्गम इति छन्दः.

१०।४५ प्रत्युद्गमासनवरार्हणमिति दास्यं ससाधनं ताभिः
सुसंस्कृता दास्यं विदधुः.

एकादशाध्याये. अत्र विशेषो निबन्ध एवास्ति स लिख्यते
भगवान् फलभोगे सामर्थ्यं यच्छतीति.

१२।२ भगवान् सर्वदा गृह एव तिष्ठतीति,

१२।५ आभासे ''पतिमेकादशं कृधी''ति श्रुत्युक्तप्रकारेण सेवां
कृतवती.

१४।२३ अग्ने घोरास्तनुवः क्षुच्च तृष्णा च अस्नुक् चानाहुतिश्च
अशनाया च पिपासा च. तस्माद् देवतारूपमग्निं
निःसारयितुं वृत्रादिवाग्नीषोमौ.

१४।२६ कालो दैवं कर्मजीवः स्वभावो द्रव्यं क्षेत्रं प्राण आत्मा
विकारः तत्सङ्घातो बीजरोहप्रवाहः.

१४।३३ ''वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य'' इत्यत्र प्रकारः.

।।श्रीगोकुलरायकृतो अध्यायार्थः।।

राजसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे कृष्णव्यसनित्वस्य फलप्राप्तौ प्रयोजकत्वात् लौकिकव्यसनप्राप्तौ तन्निराकरणस्यैव कृष्णव्यसनसाधनत्वेन प्रजापतिप्रसूतस्य राजसभावापन्नस्य जरासन्धस्य सप्तदशवारं व्यसनकर्तुः केवलपौरुषेण तावद्वारनिराकरणार्थं ध्यायति कृष्णेऽलौकिकरथायुधाद्यागमनस्य ऐश्वर्यकार्यत्वात्, पुनर्विप्रप्रसादपुष्ट-तामसयवनकृते शिवप्रसादपुष्ट-सात्त्विकभावापन्न-जरासन्धकृते च दुःखे तन्निवारणस्य प्रकारान्तरसाध्यत्वेन तदर्थं द्वारकानिर्माणादेः ऐश्वर्यत्वाद् ऐश्वर्यनिरूपणं सप्तचत्वारिंशेऽध्याये. एवं शत्रुकृतभौतिकदुःखनिवारणेन लौकिकानां कृष्णव्यसनसिद्धिः.

राजसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे यवनदूषिते स्थाने नित्याया मथुरायाः स्थित्यभावात् कृतानामपि वैदिककर्मणां फलसाधकत्वाभावाद् वैदिकानां तद्रूपाध्यात्मिकदुःखे प्राप्ते तन्निवृत्त्यर्थं मुचुकुन्दद्वारा यवनहननस्य बुद्धिवीर्यरूपत्वात्, निद्रया साधनाभावरूपाध्यात्मिकदुःखिनो मुचुकुन्दस्यापि स्तुतिः, तुष्टेन भगवता स्वसामर्थ्यदानेन मुक्तिसाधने सामर्थ्यप्रापणस्य वीर्यरूपत्वाद् वीर्यनिरूपणम् अष्टचत्वारिंशेऽध्याये.

राजसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे नित्यदा वर्षावता प्रवर्षणेनाग्निप्रार्थनायां स्वयं सर्वजीवनाशकाग्निदानस्य यशोविरुद्धत्वेन रुक्मिणीप्रतिबन्धाभावाय पराजयहेतुपापोद्भवार्थं यवनद्रव्यग्रहणतो नष्टबुद्धिभिर्दुष्टैरग्निदापनस्य यशोरूपत्वात्, नारदादिभ्यः श्रुतभगवद्गुणाया रुक्मिण्या दुष्टकृतप्रतिबन्धेन भगवद्वरणाभावरूपाध्यात्मिकदुःखे प्राप्ते तन्निवारणार्थं प्रेषितविप्रसन्माननस्य यशोरूपत्वात्, रुक्मिणीप्रेषितपत्रिकाया भगवता श्रवणेन रुक्मिणीवाचोऽन्यसम्बन्धित्वरूपवाचिकदुःखनिवृत्तौ पत्रिकायां यशसः स्थितत्वात् यशोनिरूपणम् एकोनपञ्चाशत्तमाध्याये.

राजसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे विदर्भपुरे सर्वलोकरञ्जनार्थं स्वरूपशोभाप्रदर्शनस्य श्रीप्रयुक्तत्वात्, रुक्मिणीकायस्य अन्यसम्बन्धित्वरूप-कायिकदुःखनिवारणार्थं साक्षाच्छ्रीरूपाया एव रुक्मिण्या हरणात् श्रीनिरूपणं पञ्चाशत्तमेऽध्याये.

राजसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे कृष्णेन हृतामपि मां प्रबला दुष्टाः प्रतिनेष्यन्तीत्याकारक-रुक्मिणीमानसदुःखनिवारणार्थं सर्वराज्ञां पराभवे कृतेऽतिसाहसेन समागतस्य रुक्मिणोऽपि पराभवे मुण्डने च कृते बद्ध्वा द्वारकां

नीयमानस्य रुक्मिणो रामेण मोचने रुक्मिणीविचारितभङ्गाज्जातस्य वैमनस्यस्य रामोपदिष्टज्ञानेन निवारणाद् ज्ञाननिरूपणम् एकपञ्चाशत्तमाध्याये.

राजसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे स्वपुत्रस्य प्रद्युम्नस्य सूतिकागृहात् शम्बरेण हरणे भगवत उदासीनत्वात्, कामस्य सर्वलोकदुःखहेतुत्वाद् भगवता दुःखनिवारणे क्रियमाणे कामादेर्दुःखदानेऽशक्तज्ञापनार्थं कामस्यैव देहनाश-भार्याहरणादेर्दुःखस्य निरूपितत्वात्, स्मृतदुःखेन विरक्तेन कामेन सर्वत्र दुःखदानाभावाय स्वपुत्रस्यैव तस्य दुःखदापनाद्, भक्तेषु दुःखहेतुत्वाभावार्थं स्वसम्बन्धिदेहेन कामनिरोधाच्च वैराग्यनिरूपणं द्विपञ्चाशत्तमाध्याये. एवं भगवति कामाभावः.

राजसप्रकरणान्तर्गतसाधनप्रकरणे लोके ख्यातानां मण्यादीनामपि दुःखनिवारकत्वे भगवतो दुःखनिवारकत्वनियमभङ्गे प्राप्ते तन्नियमदार्ढ्यार्थं भगवदभक्तेषु निरोधरहितेषु मणिहेतुकदुःखनिरूपणाय मणिकथाप्रस्तावे सर्वलोकेषु भगवति मणिहारकत्वरूप-दोषारोपस्य मायाकृतस्य सर्वदुःखमूलस्याधिदैविकदुःखस्य भगवति दोषारोपे च भक्तानां हृदये जातस्याधिदैविकदुःखस्य च निवारणार्थं मणिप्रत्यानयनस्य धर्मिकार्यत्वात्, लक्ष्मीसरस्वतीरूप-जाम्बवतीसत्यभामापरिणयस्यापि धर्मिकार्यत्वात्, बिले बहुकालस्थित्या राजसानां निरोधपरीक्षायाः भक्तेन जाम्बवता युद्धस्य जाम्बवतः स्वरूपनिष्ठत्वकरणस्य च धर्मिकार्यत्वाद् धर्मिनिरूपणं त्रिपञ्चाशत्तमेऽध्याये. मिथ्याभिशापेऽपि जाते मण्यानयनेन निवारणाद् भगवति क्रोधाभावः.

राजसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे मणिकथाप्रस्तावे अभक्तसत्राजिद्घातकत्वेन प्रियाय शतधन्वने कृष्णभयदशायां कृतवर्माक्रूराभ्यां लौकिकालौकिकप्रबोधवतः मर्यादारूपबलदेवविसम्मतावपि मुक्तिरूपालौकिकफलप्रदानस्य केवलैश्वर्यमूलत्वात्, मणिहर्तुरक्रूरस्य काशीतः प्रत्याकारितस्य धर्मसंयुतार्थफलसिद्ध्यर्थं तस्मै सर्वलोकदृष्टमणिप्रत्यर्पणस्यापि ऐश्वर्यबोधकत्वादैश्वर्यनिरूपणं चतुःपञ्चाशत्तमेऽध्याये. एवं मणिप्रत्यर्पणेन भगवति लोभाभावः.

राजसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे पाण्डवेषु स्ववीर्यं दत्वा सभा-गाण्डीव-नगरनिर्माणैः धर्मार्थकामफलदानात्, यादवेषु विद्यापर्वजफलदानार्थं विद्यापर्वस्वरूपाणां पञ्चनायिकानां कामफलसिद्ध्यर्थं वीर्यशुल्केन परिणयात्, पर्वात्मकनायिकानां भगवच्छक्तिरूपत्वेन नायिकासम्बन्धिष्वपि

भगवच्छक्तिरूपधर्मद्वारा कृष्णसम्बन्धफलदानाद् वीर्यनिरूपणं पञ्चपञ्चाशत्तमेऽध्याये.

राजसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे विरक्तेषु भक्तिसंयुतेषु भक्तेषु भगवत्सम्बन्धिसुखस्य ऐहिकामुष्मिकविलक्षणत्वज्ञापनार्थम् अनन्तत्वज्ञापनार्थं चाविद्याकार्यरूपाहंममात्मकं मुरं निहत्य ऐहिकसुखरूपं नरकं च निहत्य इन्द्रादिदेवांश्च परिभूय कामसुखहेतुमनोमहिष्योः एकादशेन्द्रियपञ्चविषयात्मक-षोडशकलयोः सहस्रवृत्तिरूपाणां षोडशसहस्रनायिकानां परिणयेन यादवेषु तादृशसुखरूपफलप्रदानस्य यशोरूपत्वाद्, दैत्यवधेन देवकार्यसाधनस्य देवपराभवेन भक्तमनोरथपूरणस्य च यशोरूपत्वाद्, भूमिप्रार्थनया तत्पौत्राभयदानस्य च यशोरूपत्वात् यशोनिरूपणं षट्पञ्चाशत्तमेऽध्याये.

राजसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे सर्वभक्तानां दोषं निवारयन् फलभोगे सामर्थ्यं फलं च यच्छतीति ज्ञापनार्थं श्रीरूपाया रुक्मिण्यास्तदतिदेशेन च सर्वासां श्रीरूपाणां मध्यमाधिकारित्वात् परि(हास)त्वात् परिहासोक्तिरूप-वाचिकतिरोधानेनाभिमानादिदोषान् निवार्य दार्ढ्यं सम्पाद्य दृढभगवत्सम्बन्धसम्पादनात् श्रीनिरूपणं सप्तपञ्चाशत्तमेऽध्याये.

राजसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे भगवत्पत्न्यो रमणकर्तुर्भगवतो मनो वशीकर्तुं न समर्था इति निरूपणस्य ज्ञानबोधकत्वाद्, भगवत्सम्बद्धैर्भक्तैः भगवत्कार्यवद् भगवदंशविस्तारोऽपि कर्तव्य इति बोधनार्थं लोकवेदप्रकारेण श्रुत्यर्थप्रतिपादक-दशपुत्रपौत्राद्युत्पत्तिरपि ज्ञानकार्यरूपत्वात्, श्रुतौ ज्ञानिनां पापं तद्द्वेषिषु सञ्चरतीति निरूपणाद् अत्रापि प्रद्युम्नानिरुद्धयोरधमोद्वाहजपापस्य बलभद्रकृतवधेन ज्ञापितस्य कृष्णादिसर्वयादवद्वेषिणि रुक्मिणि सञ्चारेण ज्ञानलीलाया निरूपणाद् ज्ञाननिरूपणमष्टपञ्चाशत्तमेऽध्याये.

राजसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे लोकानां लौकिकेषु सर्वभावेन प्रपञ्चस्यैव स्वप्नमनोरथादिप्रयोजकत्वात् प्रपञ्चाद्वैतवद् भक्तानां यादवानां कृष्णकृतोपकारजनितेन कृष्णे सर्वभावेन कृष्णस्यैव स्वप्नमनोरथादिप्रयोजकत्वात् कृष्णाद्वैतफलदानज्ञापनार्थम् ऊषाख्याननिरूपणप्रस्तावे अनिरुद्धकार्यसिद्ध्यर्थमूषया (चित्रलेखया) द्वारकातोऽनिरुद्धहरणे जानतोऽपि भगवतः स्वधर्मोपसंहारेण तूष्णीम्भावस्य वैराग्यबोधकत्वात् वैराग्यनिरूपणमेकोनषष्टितमेऽध्याये.

राजसप्रकरणान्तर्गतफलप्रकरणे महादेवादिदेवाः स्वभक्तेभ्यो वरं दत्वा युद्धज्वराद्युपायसहस्रैरपि वरपालनेऽशक्ता इति ज्ञापनार्थं बाणभुजकृन्तनस्य धर्मिकार्यत्वात्, भगवांस्तु स्वभक्तेभ्यो वरं दत्वा तत्पालने शक्त इति ज्ञापनार्थं शिवस्तुत्या शिवात् श्रेष्ठत्वं ज्ञापयित्वा युद्धेऽपि बाणरक्षणस्य च धर्मिकार्यत्वात्, महादेवस्तुतौ च धर्मिस्वरूपनिरूपणाद्, भक्तकार्यसाधनेन भक्तपक्षपातस्यापि धर्मिबोधकत्वाद् धर्मिनिरूपणं षष्टितमेऽध्याये.

श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धान्तर्गत–
राजससाधन–फलप्रकरण–विषयानुक्रमणिका

विषयाः	पृष्ठानि
(१) राजससाधनप्रकरणम्	**१–२००**
१. भगवदैश्वर्यधर्मनिरूपकः प्रथमोऽध्यायः	
(आदितः सप्तचत्वारिंशः)	**१–३७**
रामकृष्णयोः जरासन्धेन सह १७ युद्धानि,	४–२९
अष्टादशमसंग्रामे प्राप्ते द्वारकादुर्गनिर्माणं, तत्र	
स्वजनस्थापनं मथुरातः निर्गमनं च	३०–३६
२. भगवद्वीर्यधर्मनिरूपकः द्वितीयोऽध्यायः	
(आदितः अष्टचत्वारिंशः)	**३७–७३**
कालयवनवधवृत्तान्तं,	३७–४५
मुचुकुन्दोपाख्यानं च	४५–७३
३. भगवद्यशोधर्मनिरूपकः तृतीयोऽध्यायः	
(आदितः एकोनपञ्चाशत्)	**७४–१००**
मुचुकुन्दस्य बदर्याश्रमगमनं,	७४–७६
रामकृष्णयोः पलायित्वा द्वारकागमनं,	७६–७९
रामकृष्णयोः विवाहौ च	७९–९७
४. भगवच्छ्रीधर्मनिरूपकः चतुर्थोऽध्यायः	
(आदितः पञ्चाशत्)	**७८–१२३**
श्रीकृष्णरुक्मिण्योः राक्षसविवाहः	
५. भगवज्ज्ञाननिरूपकः पञ्चमोऽध्यायः	
(आदितः एकपञ्चाशत्)	**१२४–१५६**
चैद्यादीनां पराजयानन्तरं स्वस्वपुरे प्रत्यापत्तिः,	१२४–१३०

।।श्रीकृष्णाय नमः।।

।।श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।।

।।श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।।

श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धसुबोधिन्यामुत्तरार्धे
तृतीये राजसप्रकरणे अवान्तरसाधनप्रकरणे
।।प्रथमः स्कन्धादितः सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः।।

उत्तरार्धे हरेर्लीला स्वतः सर्वात्मना कृता।
यदर्थमवतीर्णोऽसौ सा निरूप्या विभागशः।।(१)।।
एषा निरोधलीलैव स्वसंसारपरा परम्।

श्रीविट्ठलरायात्मज-श्रीवल्लभकृत-लेखः

श्रीहरिः। उत्तरार्धे प्रथमाध्याये कारिकासु स्वतः **सर्वात्मने**ति, अन्यानुरोधेन लीला पूर्वार्धे निरूपिता, अत्र **स्वतः कृता लीला** निरूप्यते इत्यर्थः. इदं पूर्वार्धान्ते सुबोधिन्यां निरूपितम्. निबन्धे ''अलौकिकेन भावेन यावद्धि भगवत्कृतः स पूर्वार्ध'' इति लक्षणमुक्तम्. तत्र अलौकिको भावो=भगवतः पुरुषोत्तमस्य भक्तानुरोध इत्यर्थः. ''लोकधर्मं पुरस्कृत्य यच्चकार यदूद्वहः तदुत्तरार्धकार्यमि''त्यत्र लोकवद्धर्मो महाराजवत्प्रकटतया स्वतः सर्वकरणमित्यर्थः. एवमविरोध उभयोः. **यदर्थमि**ति, भक्तिमप्यनपेक्ष्य स्वत एव सर्वोद्धारार्थमित्यर्थः. अतएव स्वतोऽप्युद्यम्य विवाहादिकरणमिति (१).

नन्वत्र प्रद्युम्नादिलीला अप्युच्यन्ते, अतः सर्वस्या अप्युत्तरार्धलीलायाः कथं निरोधत्वं? ''निरोधोऽस्यानुशयनमि''त्यत्र 'अस्ये'ति पदेन भगवल्लीलाया एव निरोधत्वेनोक्तेरित्यत आहुः **एषे**ति. **एषा** सर्वाप्युत्तरार्धलीला **निरोधलीलैव.** क्वचित्प्रद्युम्नादिभक्तलीलाकथनेन ईशानुकथात्वं शङ्कितं मा भूदित्येवकारः. परन्तु **स्वस्य** भगवतो यः **संसारः** पुत्रादिरूपस्त**त्परा** क्वचित्तद्द्वाराप्युच्यते, तथापि लीला भगवत एव. अत एव ''बलपार्थभीमव्याजाह्वयेने''ति वाक्यानीति

भगवांश्च तदीयाश्च तच्छास्त्रं चेति स त्रिधा॥(२)॥

चतुर्दशभिरध्यायैः प्रमाणं तस्य रूप्यते।

तदीया एकविंशत्या षड्भिः स च निरूप्यते॥(३)॥

कृतिः प्रमाणं तु हरेः स्वतश्चान्यानुरोधतः।

सप्तभिः सप्तभिः प्रोक्ता गुणैर्युक्तो हरिस्तथा॥(४)॥

वाक्यात्तदीया विज्ञेयास्तस्यैव न तु शास्त्रतः।

एकविंशविधं सर्वं श्रुत्वा तद्बहुधोदितम्॥(५)॥

षड्गुणैर्भगवान् रूप्यस्तेषु सर्वं प्रतिष्ठितम्।

तत्र तु प्रथमेऽध्याये स्वावतारप्रयोजनम्॥(६)॥

निरूप्य क्षात्रधर्मेण जयोऽन्यश्च निरूप्यते।

राजसानां साधने तु निरोधे भगवत्कृतिः॥(७)॥

सर्वथा साधनमिति तदेवादौ निरूप्यते।

विवाहपुत्रजन्मान्ता सा निरूप्या विशेषतः॥(८)॥

लेखः

भावः. **भगवांश्चे**ति **तदीयाश्चे**ति धर्मा इति शेषः. भगवद्धर्मावेशात्तेषां तथाकृतिः. धर्माश्च भगवद्रूपाः यतः **स** भगवानेव **त्रिधा** अतः सर्वा भगवल्लीलैवेत्यर्थः. **तच्छास्त्रं चे**ति, भगवतः शास्त्रमनुशासकं, भगवत्प्रमाहेतुरिति यावत् (२).

तदीयानामेकविंशतिभिर्निरूपणे हेतुमाहुः **वाक्यादि**ति. अत्र भगवत एव **वाक्यात्तदीया** धर्मा **विज्ञेयाः**, न तु साधारणशास्त्रन्यायेन, अतस्तत्प्रकरणारम्भे नृगप्रसङ्गेन भगवद्वाक्यैरेव धर्मज्ञानं निरूपितम्. तच्च सर्वं भगवद्वाक्यं कालातिक्रमेण निरोधसम्पादकत्वात् कालस्य चैकविंशतिविधत्वाद् एकविंशतिविधम् अतस्तदीया धर्मा एकविंशतिभिर्निरूप्यन्ते इत्यर्थः. तदेव वाक्यं श्रुत्वा अन्यैर्**बहुधोदितम्**, परन्तु मूलं तदेवेति भावः. भगवतोऽनन्तगुणत्वेऽपि षड्गुणैरेव निरूपणे हेतुमाहुः **तेष्वि**ति (५-६).

राजसानामिति, **साधनरूपे राजसानां निरोधे** वक्तव्ये **भगवत्कृतिरेव सर्वथा साधनमिति** हेतो**स्तदेव** साधनमाद्याध्याये निरूपतमित्यर्थः. **विवा**हेति, **सा** भगवत्कृतिरेतदन्ता साधनप्रकरणे निरूप्या. सप्तमाध्यायस्याग्रिमाध्यायेन

अलौकिकं ततः स्थानं निरूप्यमिति रूप्यते।
तस्योपद्रवनाशाय भ्रमोत्पादनमीरितम्।।(९)।।
निग्रहानुग्रहौ चैव प्रसङ्गात् सुनिरूपितौ।
अन्यथा लौकिकी लीला कृष्णस्य स्यान्नचान्यथा।।(१०)।।
त्रिविधो हि क्षत्रियाणां विवाहः परिकीर्तितः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव विहितश्च स्वगृह्यतः।।(११)।।
पुत्रस्यापि कथा वाच्या ह्यन्येनापि समर्पिताम्।
भार्यामाहुः क्षत्रियस्य तत्प्रसङ्गात्तथा परा।।(१२)।।
सत्यभामाविवाहान्ता कथेयं विनिरूपिता।
त्रिविधं दुःखमादौ हि भक्तानां विनिरूपितम्।।(१३)।।
भूमेर्मातुर्वैष्णवानां वैकुण्ठादागतिर्यतः।

लेखः

एकवाक्यतेति तत्रैव वक्ष्यत इति भावः (७-८).

अलौकिकमिति, यतो भगवत्कृतिरेव साधनत्वेनोच्यते ततो हेतोः **स्थानमप्यलौकिकमेव निरूप्यमिति** हेतोस्तादृशं द्वारकारूपं स्थानं निरूप्यते इत्यर्थः. तस्येति, तस्य स्थानस्योपद्रवाभावाय[१] ''सोऽपि दग्धावि''ति श्लोकेन जरासन्धस्य भ्रमोत्पादनमीरितम्, द्वारिकागमनज्ञाने तत्राप्यागत्योपद्रवं कुर्यादिति भावः. **निग्रहो** जरासन्धस्य, **अनुग्रहो** मुचुकुन्दस्य (९-१०).

पुत्रस्यापीति, पुत्रोऽपि क्षात्रप्रकारेणैव विवाहं सम्पादितवानि**त्यपिशब्दः**. तत्पुत्रत्वाद्युक्तमेवेति **हि**शब्दः. अन्येनापीति, शम्बरेणापि **समर्पितां** सूपौदनपाचने विनियुक्ताम्. अन्यथादृष्टिशङ्काभावाय तत्र **समर्पितामि**त्युक्तम्. ततस्तं हत्वा समानीतामिति शेषः. परा रुक्मिणः पुत्यपि **तत्प्रसङ्गात्** क्षात्रधर्मप्रसङ्गादेव स्वयं सर्वान् राज्ञो निर्जित्य हृता प्रद्युम्नस्य भार्या जातेत्यर्थः (१२).

आदौ हीति दशमस्कन्धप्रथमाध्याये इत्यर्थः. इदं च तत्र सम्यग्विवृतमिति तत्संमत्यर्थं **हि**शब्दः. तन्मध्ये **भूमेर्वैष्णवानां** चेति दुःखद्वयं **मथुरात्यागे**

---

१. उपद्रवनाशायेति पाठः.

द्वयमप्यत्र मथुरात्यागे हेतुर्निरूप्यते।।(१४)।।
प्रमाणरक्षासिद्ध्यर्थमनिवार्यं तु तद्द्वयम्।
निवार्यः सप्तदशधा ब्रह्माण्डे तु प्रजापतिः।।(१५)।।
स सप्तदशधा प्रोक्तस्तन्निवृत्तावशक्यता।
अतोऽत्र प्रथमं वाच्यं कृतिशक्यमनेकधा।।(१६)।।
उत्तरार्धसमैः श्लोकैरतिदेशस्ततः परम्।
द्वाभ्यां कलाभिरपरः साधिकाभिरिति स्थितिः।।(१७)।।

भगवानक्लिष्टकर्मेति निरूपयितुं प्रथमं कंसभार्ययोरुपद्रवहेतुमाह अस्ति प्राप्तीति द्वाभ्याम्.

अस्ति प्राप्तिश्च कंसस्य महिष्यौ भरतर्षभ ।
हते भर्तरि दुःखार्ते ईयतुः स्म पितुर्गृहान्।।१।।
पित्रे मगधराजाय जरासन्धाय दुःखिते।
वेदयाञ्चक्रतुः सर्वमात्मवैधव्यकारणम्।।२।।

उभयोः क्रियानामत्वमग्रे क्रियायोगित्वाय प्रथमत एव तथा निरूपितम्.

लेखः

हेतुः. तद्द्वयमपि मथुरास्थितौ **अनिवार्यम्.** तत्र हेतुः **प्रमाणे**ति, प्रमाणं वरदानवाक्यं ब्रह्मणोक्तं तस्य **रक्षासिद्ध्यर्थमि**ति. सप्तदशकृत्वो निवारणे अष्टादशे अनिवारणे च हेतुमाहुः **निवार्य** इति. ''यो वै सप्तदशं प्रजापतिं यज्ञमन्वायत्तं वेदे''ति श्रुतौ प्रजापतेर्ब्रह्माण्डे सप्तदशत्वमुक्तम्. **ब्रह्माण्डे तु प्रजापतिः स च सप्तदशधा** अतो ब्रह्माण्डप्रकारेण यावदागतस्तावत्पर्यन्तं निवारितवान्. अग्रे निवारणं तु अलौकिकभावेन भवति. तादृशो भावस्तु उत्तरार्धे लोकधर्मपुरस्कारेण लीलाकरणान्न सम्भवति अतः प्रजापतिनिवृत्तौ सत्यामग्रे

भगवतोऽ**शक्यता**. क्वचित्तथाभावोऽपि स्वीकर्तव्यः परं प्रयोजनवशात्, तत्तत्रैव विवरिष्यते. **अतो** हेतोरत्र **कृतिशक्यं** सप्तदशधा हननमनेकप्रकारेण **उत्तरार्धसमैरे**कचत्वारिंशद्भिः **श्लोकैः प्रथमं वाच्यम्. ततः परं द्वाभ्यामतिदेशो** वाच्यः. ततः **साधिकाभिः कलाभिः** सार्धपञ्चदशभिरपरोऽतिदेशो वाच्यः इ अस्मिन्नध्याये इति शेषः (१३-१७).

अस्तीति सर्वधात्वर्थः क्रियासामान्यम्, **प्राप्तिः** सर्वक्रियाफलम्. भगवदिच्छया एते पुत्ररहिते अनिरुद्धे[१] भगवत्सान्निध्यादेव भर्त्रा सह गमनरहिते पितृगृहे[२] गते. दिग्विजये पराजितः सोऽपि दुहितरावदादिति पुराणान्तरप्रसिद्धिः. चकारात्तत्सम्भृतिर्दास्यः सर्वाश्च **पितुर्गृहानीयतुः**. आकारणं ततएव नापेक्षितम्. निमित्तं भर्तृमरणम्. भगवतोऽतिसमर्थस्याक्लिष्टकर्मत्वज्ञापनाय तयोर्गमनं प्रसिद्धमेव जातमित्याह **स्मे**ति. नन्वेवं साधनफलरूपयोः कथं वैधव्यमिति चेत्, तत्राह **कंसस्य महिष्यावि**ति, महिषीत्वात् पराधीनत्वम्. तद्भोगातिशये प्रवृत्ते अपि भगवदिच्छया तथाभूते. तद्विश्वासार्थं **भरतर्षभे**ति, नात्र तयोर्दुःखे लौकिकं किञ्चिदस्तीति भावः. गमनेऽपि न दुःखान्तरं हेतुः किन्तु भर्तृहननमेव. गतयोः कृत्यमाह **पित्रे** इति. **मगधराजाये**ति प्राकृतदेशाधिपतित्वेन दोषोऽपि निरूपितः. दुर्जयत्वं निरूपयितुं **जरासन्धाये**ति. दुहितृप्रियत्वं निरूपयितुं **दुःखित** इति. **सर्वमा**काशवाणीप्रभृति मरणान्तम् आत्मनो धवाभावकारणं, कृष्णचरितमिति यावत् ।।१-२।।

पूर्वं तेन कंसवधः श्रुतएव, परं मल्लक्रीडायां मञ्चात् पतितो दैवान्मृत इति. इदानीं हेतुपूर्वकं भगवच्चरित्रं श्रुत्वा पयसा पुष्टः सर्प इव जात इत्याह **स तदप्रियमाकर्ण्येति.**

स तदप्रियमाकर्ण्य शोकामर्षयुतो नृप।
अयादवीं महीं कर्तुं चक्रे परममुद्यमम्।।३।।

लेखः

अस्ति प्राप्तीत्यत्र. **ततएवे**ति पितृगृहादेव हेतोरित्यर्थः. **तद्भोगातिशये** इति, कंसस्य भोगातिशयार्थं **प्रवृत्ते अपि भगवदिच्छया तथाभूते** विधवे भोगरहिते जाते इत्यर्थः. **तदि**ति, साधनफलरूपयोरपि भगवदिच्छया भोगराहित्यमित्यत्र

विश्वासार्थमित्यर्थः. आभासे वाक्यद्वयार्थ उक्त इति प्रत्येकवाक्यार्थावाहुः **गतयोरि**ति. तथाच गतिः प्रथमवाक्यार्थः कृत्यं द्वितीयवाक्यार्थः इति भावः. **पित्रे** इत्यत्र. **प्राकृतदेशे**ति निषिद्धदेशेत्यर्थः ।।१-२।।

---

१. अतिक्रुद्धे इति पाठः अशुद्धः ह्रसम्पा. २. पितृगृहगते इति पाठः.

छलेन मारणा**दमर्षः. (तद्)** मरणं **त्वप्रियम्.** राजा हि दुःखशोकप्रतीकारं करोत्येव, समर्थस्य तूष्णीम्भावो न युक्तइति. अयं दोषो वस्तुतो वसुदेवस्य, तद्रक्षार्थं सर्व एव यादवाः प्रवर्तिष्यन्त इति पृथिवी**मयादवीमेव** करिष्यामीति मनसि विधाय तदर्थं महान्तमेवोद्योगं कृतवान्. स हि महान् भवति कृष्णस्य च दोषं न पश्यति, आनुपूर्वी तादृशी श्रुतेति. **परमो ह्युद्यमः** तद्बन्धूनामपि स्ववशीकरणमुपायैः. सेनादिसम्पत्तिः स्पष्टैव ।।३।।

तस्योद्यमस्य फलमाह अक्षौहिणीभिर्विंशत्येति.

अक्षौहिणीभिर्विंशत्या तिसृभिश्चाभिसंवृतः।
यदुराजधानीं मथुरां न्यरुणत् सर्वतोदिशम्।।४।।

अक्षौहिणीत्रितयं तस्य गृहस्थं, **विंशतिरु**द्यमेन सम्पादिता. पूर्वस्थितं विशेषे न[1] प्रवक्ष्यतीति चकारेण समुच्चयः पृथङ्निरूपणं च कृतम्. अभितः **संवृत** इत्यैकमत्यम् एकप्रभुत्वं चोक्तम्. यादवानां जये स्थानग्रहणं मूलमिति **मथुराग्र**हणार्थं तां **न्यरुणत्** यतः सा **राजधानी. सर्वतोदिशमि**ति तत्रत्यानां निर्गमनाभावाय. **न्यरुणद्** आवृतवान्, अष्टदिक्ष्वावरणम्. अनेन रात्रावेव व्याजान्तरेण समागत्यावरणं कृतवानिति लक्ष्यते ।।४।।

तदा भीतानां वार्ताकथनं व्यर्थमिति भगवतश्चरित्रमाह निरीक्ष्येति.

निरीक्ष्य तद्बलं कृष्ण उद्वेलमिव सागरम्।
स्वपुरं तेन संरुद्धं स्वजनं च भयाकुलम्।।५।।

यतो भगवान् कालात्मा अवतीर्णः. तच्च समागतं बलरूपं,

लेखः

स तदप्रियमित्यत्र. ननु भगवतो घातकत्वात् निष्कृतिसिद्धये **भगवदर्थमुद्योगः** कर्तव्यो, न तु वसुदेवार्थं यादवार्थं वेत्यत आहुः **स ही**ति. **महान्** विचारकुशलः. ''जिघांसन्तं जिघांसीयादि''ति शास्त्रात् कृष्णस्य न दोषः किन्तु कापट्यकरणाद् वसुदेवस्य तद्रक्षकत्वात् यादवानां चेति भावः. भगवतस्तु यादवत्वाभिमानाभावान्नाहत्य रक्षकत्वमिति तेन ज्ञातम् अतः **अयादवीमि**त्युक्तम् ।।३।।

---

१. विशेषेण प्रवक्ष्यतीति मु.पाठः ह्नसम्पा.

न तु स्नेहार्थमन्यार्थं वा समागतम्. तस्य अमर्यादत्वं बहुत्वं चाहह्न वेलामतिक्रम्य समागच्छन्तं सागरमिव दृष्टवान्. नन्वक्लिष्टकर्मा भगवान्, यादवनयनार्थमागतो जरासन्धः यादवान् नयतु, राजा वा विचारं करिष्यति, स्वयं किमित्येवं कृतवानित्याशङ्क्याह **स्वपुरं तेन संरुद्धमिति.** मथुरा तु स्वनगरं, न केवलं यादवपुरीमात्रम्. **निरीक्ष्ये**ति त्रिषु सम्बन्धःह्न मथुरा[१] मोचनीया, अन्ये निर्भयाः कर्तव्याः, एकं च मारणीयमिति. गुणानां कार्यमुपस्थितमिति दर्शनम्. **स्वजना** भक्ताः, ते च **भयाकुलाः,** चकारात् तत्सम्बन्धिनोऽन्ये पुरवासिनः. बलस्यैकत्वमनायासेन मारणज्ञापनाय, पुर्यास्त्वावश्यकत्वाय, स्वजने वसुदेवं ज्ञापयितुम् ।।५।।

तत्र भगवान् पदार्थद्वयस्योपस्थितत्वात् किं कर्तव्यमिति चिन्तां कृतवानित्याह **चिन्तयामासे**ति.

चिन्तयामास भगवान् हरिः कारणमानुषः।

तद्देशकालानुगुणं स्वावतारप्रयोजनम्।।६।।

ननु किम् एतद्द्वयं यदर्थं चिन्तेत्याशङ्क्याह हरिः **कारणमानुष** इति. **भगवानि**त्युभयथापि करणे सामर्थ्यमुक्तम्ह्न किमक्लिष्टकर्मत्वात् कंसवदयं मारणीयः तावत् स्वजनाभिभवः सोढव्यः आहोस्विदक्लिष्टकर्मत्वं परित्यज्य वैषम्यमङ्गीकृत्य युद्धादिकं कर्तव्यमिति. किं तावत्प्राप्तम्? स्वधर्मपरित्यागोऽनुचितइति हरित्वं दूरीकृत्य कारणार्थं व्याजेन मनुष्यो जात इति कंसवदेव मारणीयः, अन्यथा व्याजकरणं व्यर्थं स्यात्. अक्लिष्टकर्मत्वरक्षार्थमेव मानुषभावेनावतीर्णः तस्माद्युद्धं न कर्तव्यमिति पूर्वः पक्षः. सिद्धान्तस्तु कर्तव्यः इति. यतो **हरिर**यं न भक्तानां दुःखं सहते. स्वधर्मश्च कर्तव्यःह्न सान्नाहिको हि षोडशवार्षिको भवतिह्न युद्धार्थमागतेन

चिन्तयामासेत्यत्र. स्वधर्मश्चेति क्षात्रधर्म इत्यर्थः. ननु क्षात्रधर्मास्तु षोडशवर्षानन्तरं विहिता इत्यत आहुः **सान्नाहिको ही**ति. अतिसमर्थस्य पूर्वमेव सन्नाहग्रहणे तदैव षोडशवार्षिकधर्माः कर्तव्या इति युक्तिबोधनाय

---

१. एका इत्यपि पाठः ह्वसम्पा.

च सह युद्धं कर्तव्यमिति. ननु स्वधर्मोऽन्यथा भविष्यतीति कथं क्लिष्टकरणमित्याशङ्क्य देशानुरोधेन करणं निरूपयति **तद्देशकालानुगुणमि**ति, तस्य देशस्य तस्य च कालस्य युद्धकरणमेवानुगुणम्. कदाचिदङ्गानुरोधेनाप्यङ्गिनो धर्मा अन्यथा क्रियन्ते, यथा प्रवर्ग्यसम्भारे आदित्यास्तमयेऽविरमणं, कृतान्तादेव विरमेदिति. यथा वा देशदोषेण प्रधानयागस्यापि नाशः दक्षयज्ञे. तस्मात् तस्मिन्देशे अभक्ताः स्थास्यन्तीति तदनुरोधेन ते मारणीयाः, तेषां च मृत्युकाल उपस्थितइति कालानुरोधोऽपि कर्तव्यः, अतः क्लिष्टकरणं तद्देशकालानुगुणं भवति. किञ्च **स्वावतारस्य प्रयोजनम**पि भवति. अवतारो हि भक्तानामुद्धारार्थः. स च कालं वञ्चयित्वा, लौकिकवत् कृत्वा, भक्ता नेयाः. तत्र क्लिष्टकरणमुपयुक्तं भवति. अन्यथा कालो भक्तेषु द्रोहं कुर्यात् कर्मादिभिः, ततो बहुकर्तव्यमापद्येत. अतः स्वावतारस्य प्रयोजनं यस्मात् तादृशमपि विषमकरणमिति भगवतश्चिन्ता युक्ता ।।६।।

चिन्तया निर्धारितं पक्षमाह **हनिष्यामी**ति चतुर्भिः.

हनिष्यामि बलं ह्येतद् भुवि भारं समाहितम्।
मागधेन समानीतं वश्यानां सर्वभूभुजाम्।।७।।
अक्षौहिणीभिः संख्यातं भटाश्वरथकुञ्जरैः।
मागधस्तु न हन्तव्यो भूयः कर्ता बलोद्यमम्।।८।।

बलं हनिष्यामीति प्रतिज्ञा. युक्तश्चायमर्थःह्व लोके हि यदुपरि यो गच्छति स तेन मार्यत इति नात्र विरोधः. **एतदि**ति प्रदर्शनेन बलस्यातिक्रमोऽपि सूचितः. बलेन समागतइति बलेनैव वधो युक्तो न तु व्याजेन. पूर्वोक्तास्तु व्याजेन समागताः अतस्तेषां व्याजेनैव हननं युक्तम्; ''ये यथा मां प्रपद्यन्ते'' इति भगवतो

व्रतरूपोऽपि धर्मः परिपालितो भवति. अनेन मारणे वैषम्यबुद्धिरपि परिहृता भवति, मार्याणामेव तथा बुद्धिर्जातेति.

लेखः

हिशब्दः. तं धर्ममाहुः **युद्धार्थमि**ति. **ननु स्वधर्म** इति अक्लिष्टकर्मत्वमित्यर्थः. **देशदोषेणे**ति, ''दैवान्निर्ऋतिगृहीते देवयजने'' इति निबन्धे निरूपणादित्यर्थः ।।६।।

एतत्सर्वमभिसन्धाय भगवान् हिशब्दमाह. किञ्च सर्वैर्भूभारहरणार्थं विज्ञापिते कार्यान्तरार्थमनागच्छन्नपि तेषां कृपयापि तथा समागतः अत आगमनकार्यसिद्ध्यर्थमपि मारयिष्यामीत्याह **भुवि भारमि**ति. एतद्भाररूपमेव बलम्, अत एव सर्वाधः पाताले स्थापितं तत्कालेन **भुवि समाहितम्.** सम्यगाहितत्वात् न कृत्रिमकालधर्मादिभिः दूरीकर्तुं शक्यते. ननु राज्ञो बलं धर्महेतुर्भवतीति तद्वधे प्राणिवधः अधर्मश्च स्यादिति चेत्, तत्राह **मागधेन** अधमदेशोद्भवेन **समानीतमि**ति. नन्वेतावतां स्वामी महानेव भविष्यतीत्याशङ्क्याह **वश्यानां सर्वभूभुजामि**ति, तद्वश्या दुष्टा एव, तेऽपि तत्स्वभावापन्ना जाता इति. अनेन तद्बलं न ग्राह्यमित्यप्युक्तम्, दुष्टं भारात्मकमिति. तस्याजेयत्वज्ञापनायाह **अक्षौहिणीभिः संख्यातमि**ति, समूहशो युद्धे भङ्गो भवेत्, सजातीया बहवोऽपि एकेन विजातीयेन हस्त्यादिना मार्यन्त इति. आदौ पञ्चभटा युद्धं कुर्वन्ति, तेषां पराजयशङ्कायां त्रयोऽश्ववाराः, तेषामपि पराजये एको रथी प्रवर्तते, तस्यापि तथात्वे षाष्टिहायनो गजः ह्वएवमेकापि पत्तिः क्रमतः सन्निविष्टा जेतुमशक्या. तादृशमेतदित्याह **भटाश्वरथकुञ्जरैः** कृत्वा पत्यङ्गत्रिगुणन्यायेन क्रमवृद्ध्या अक्षौहिणीसंज्ञापन्नाः, तेऽपि बहवः. अतोऽन्येषामशक्यत्वात् मयैव हन्तव्यं बलम्. अनेन सार्द्धश्लोकेन बलस्यावश्यवधार्थं दुष्टत्वं भारत्वं च निरूपितम्. ननु ''शास्त्रफलं प्रयोक्तरी''ति न्यायेन मागध एव किं न हन्यते, एते च दीना मोचनीया इति चेत्, तत्राह **मागधस्त्विव**ति. **तु**शब्दस्तेषां वधाभावं निराकरोति, भाररूपत्वात्. यद्यपि मागधोऽपि भाररूपः तथापि शवदाहक-काष्ठदाहक-दीर्घवंशवदन्तपर्यन्तं संरक्षणीयः. अतो **मागधो न हन्तव्यः**. तदेवाह **भूयः कर्ता बलोद्यममि**ति, बलानयनार्थमुद्यमं करिष्यति. अन्यथा बलं निलीय तिष्ठेद् भारभूतम्, समानयनार्थं

वा अधिकः प्रयत्नो भवेत्. यतोऽयं **मागधो** दुष्टः, आमरणान्तं यत्नं करिष्यतीति ॥७-८॥

लेखः

हनिष्यामीत्यत्र कृत्रिमकालेति, कालेन स्वकृतपापेन वा दूरीभविष्यन्तीति नेत्यर्थः ॥७-८॥

ननु कथं सर्वेषां वधार्थे प्रयत्नो ब्रह्मणः सर्वात्मनः तत्राह **एतदर्थोऽवतारोऽयमि**ति.

एतदर्थोऽवतारोऽयं भूभारहरणाय मे ।
संरक्षणाय साधूनां कृतोऽन्येषां वधाय च॥९॥

मलप्राया व्याधिप्राया दैत्याइति तन्निराकरणे न सर्वात्मत्वं भज्यते, उच्छूनः स्वावयवोऽपि छिद्यतइति. अतएव भगवान् स्वयं पुरुषरूपं प्राप्य तत्र दोषरूपान् दैत्यान् हन्तुं स्वयमेवौषधरूप आविर्भूतः. तदाह **एतदर्थोऽवतारोऽयमिति**. वैषम्यलक्षणो हि दोषो लौकिकः; स यत्र दोषत्वं न भजते स दोषो न भवति. अक्लिष्टकर्मत्वं तु पूर्वमेव परित्यज्य समागतमिति ''अङ्गीकृता ग्लानिर्न दोषाये''ति न्यायेन न दूषणं भवति. स्वतश्चोद्यम्य न हन्यते, निष्कपटेन युद्धार्थमागतं निष्कपटेन युद्धेन हन्तव्यमिति **मे अवतारः** मे च भूः. धर्म्यो वधो दोषाय न भवतीति धर्मार्थमप्येतद्वधं करिष्यामीत्याह **संरक्षणाय साधूनामि**ति. **कृत**त्वान्न करणम्. प्रकारान्तरेण साधुरक्षा कर्तव्येत्याशङ्क्याह **अन्येषामपि वधाये**ति. चकाराद् भक्तिस्थापनार्थम्. ततः कार्यचतुष्टयार्थमवतार इत्युक्तं भवतिह्व भूभारहरणार्थं साधुरक्षार्थं दुष्टनिराकरणार्थं भक्तिप्रवर्तनार्थं चेति. समप्रधानं चतुष्टयं, नत्वेकमन्यार्थमूह्व भूभारनिराकरणं राजसं, रक्षा सात्विकी, निग्रहः तामसः, भक्तिर्निर्गुणेति. न हि दुष्टहनने भूभारो गच्छति, पुनरुत्पत्तिसम्भवात्. हननार्थमेव प्रयत्ने तु भगवतस्तात्पर्याद्धता एव भवन्ति, न पुनरुत्पद्यन्ते, मुक्ताश्च भवन्ति; एवमेव सद्रक्षायामपि. असत्संसर्गात् सतामप्यसत्तापत्तौ सर्ववधे अनिष्टमेव स्यात्. अतस्तेषां बुद्ध्यादिबाधकमेव दूरीकर्तव्यमिति सद्रक्षापि स्वतन्त्रैव. भक्तेरननुप्रवेशः स्पष्ट एव. तदाह **अन्येषां वधाय** चेति ॥९॥

साम्प्रतवेशस्य प्रयोजनचतुष्टयमुक्त्वा पक्षपातलक्षणो धर्मः पूर्वमपि मयि वर्तत इति सृष्ट्यादावेव तथाङ्गीकारात् न दोषायेति वक्तुं पूर्वमपि

लेखः

एतदर्थ इत्यत्र. **दोषो लौकिक** इति लोकदृष्टान्तसिद्ध इत्यर्थः. यत्रेति, दैत्यवधे पूर्वोक्तप्रकारेण दोषत्वं नापद्यते इत्यर्थः ।।९।।

धर्मरक्षार्थं मयावताराः क्रियन्त इत्याह अन्योऽपि धर्मरक्षाया इति.

अन्योऽपि धर्मरक्षायै देहः सम्भ्रियते मया।

विरामायाप्यधर्मस्य काले प्रभवतः क्वचित्।।१०।।

एतद्व्यतिरिक्तानामवताराणां धर्मरक्षा अधर्मनिवृत्तिश्च फलम्. एतदेवाभिप्रेत्याह ''यदा यदा हि धर्मस्ये''ति. नत्वयमवतारो धर्मरक्षार्थः केवलः. **अपि**शब्दात्सोऽपि संगृह्यते. ततश्च षट् प्रयोजनानि भविष्यन्ति; अधर्मनिराकरणं धर्मरक्षा चेति. अत्रापि पूर्ववदुभयं [१]प्रमाणम्. अतएव ''संस्थापनाय धर्मस्ये''त्यपि वाक्यमविरुद्धम्. अतएव बुद्धावतारे केवलं धर्मरक्षैव प्रयोजनम्, कल्क्यवतारे अधर्मनिवृत्तिरेव, परशुरामावतारे दुष्टनिग्रह एव, बलभद्रे भूभारहरणमेव, पृथ्ववतारे सत्परिपालनमेव. एवं सर्वत्र यथायथमूह्यम्. सर्वाणि तु भगवत्येव, भक्तिश्च स्वतन्त्रा अधिका. नन्वेतत्सर्वं कालकर्मादिभिरेव स्वतन्त्रतया आज्ञया वा सिध्यतु किं विशेषावतारेणेत्याशङ्कायामाह काले प्रभवत इति. धर्माधर्मौ क्वचिदेव **काले प्रभवतः** अतो यदा अनपेक्षितः तदा अवतार्य२ निराकरणं स्थापनं वा कर्तव्यम्. कालस्तु जनक एवेति न तेन तन्निराकरणं, नियतस्योभयशक्तित्वाभावात्. तस्मादवश्यं वैषम्यं क्लिष्टकर्मत्वं च भक्ताद्यनुरोधेन कर्तव्यमिति ।।१०।।

भगवद्ध्यानमात्रेण भूमिष्ठानां पदार्थानां दैत्यांशवासितत्वात् तेषां सज्जीकरणे विलम्बाद् वैकुण्ठादेव साध्ये स्मृते स्वयमेव साधनमागतमित्याह एवं ध्यायतीति.

एवं ध्यायति गोविन्द आकाशात् सूर्यवर्चसौ।

रथावुपस्थितौ सद्यः ससूतौ सपरिच्छदौ।।११।।

सर्वे हि देवाः अधिकारन्यायेनापि भगवद्वशा इति ज्ञापयितुं **गोविन्द** इति. आकाशात् सर्वेषामलौकिकत्वज्ञापनाय. दृष्ट एवालौकिकज्ञानं भवतीति दर्शनार्थं सूर्यसङ्काशत्वमाह **सूर्यवर्चसा**विति, न हि सूर्यं कदाचिदुदितं न पश्यति. अनेन अक्लिष्टकर्मताप्युक्ता, स्वानां भयं च निवारितम्. अलौकिकतयागमनं३ दृष्ट्वापि

यदि युद्धार्थं यतन्ते तदा मृत्युं निश्चित्यैव यतन्त इति न भगवद्दोषः कश्चन. यथा धनुर्भङ्गादिसामर्थ्यप्रदर्शनं तथैतदपि.

१.प्रधानम् इति पाठः ह्मसम्पा. २.अवतीर्य इति पाठः ह्मसम्पा. ३.अलौकिकरथागमनम् इत्यपि पाठः ह्मसम्पा.

सद्य एवोपस्थिताविति सिद्धावेव समागतौ, नतु लक्ष्मीवत् रुक्मिण्यादिभावेनोत्पत्तिरपेक्षते. यद्यप्यलौकिकरथस्य न सूताद्यपेक्षा तथापि तदभावे शोभार्थं वा सूतः कर्तव्य इति प्राकृते स्थापिते तदनुरोधाननुरोधाभ्यां कार्याभावः, अतः **ससूतौ.** युद्धादिसामग्री कवचादिर्ध्वजादिश्च परिच्छदशब्देनोच्यते ।।११।।

सायुध एव रथमारोहतीति पृथगायुधानामागमनमाह

आयुधानि च दिव्यानि पुराणानि यदृच्छया।

दृष्ट्वा तानि हृषीकेशः सङ्कर्षणमथाब्रवीत्।।१२।।

आयुधानि चेति धनुःखड्गादीनि **दिव्यानि** शार्ङ्गप्रभृतीनि. भिन्नान्याकृतिमन्ति निषेधति **पुराणानी**ति. केनचिन्नानीय दत्तानि किन्तु यदृच्छया स्वयमेवागतानि. एवं सामग्रीं दृष्ट्वा कार्यषट्के भूभारहरणस्योपस्थितत्वात् तदर्थमेव बलभद्रस्यागतत्वाद् बलभद्रं प्रत्याह **दृष्ट्वा तानी**ति. यद्युक्तं न करिष्यति तथाप्यवतारान्यथानुपपत्या तथैव प्रेरयिष्यामीत्यभिप्राय इत्याह हृषीकेश इति, सर्वेन्द्रियप्रेरकस्तथैव प्रेरयिष्यतीति. **सङ्कर्षणः** सम्यक् भारमाकृष्य दूरीकर्तुं समर्थः ।।१२।।

अथ विचारव्यतिरेकेण निर्धारितमेवाह पश्यार्येति.

पश्यार्य व्यसनं प्राप्तं यदूनां त्वावतां प्रभो।

एष ते रथ आयातो दयितान्यायुधानि च।।१३।।

एकान्ते स्थितावुभौ अतो यथा लोके परिज्ञानं न भवति तथा शनैर्वचनानि त्रिभिः. **आर्ये**ति सम्बोधनं कृतानुकरणत्वाभावाद् वक्तव्यत्वज्ञापकम्. त्वत्तएव अवनं येषां ते **त्वावन्तः** अतो रक्ष्याणां **व्यसनं प्राप्तमिति** तन्निराकरणमवश्यं कर्तव्यम्. रक्षाप्यवश्यं कर्तव्येत्याह यदूनामिति. अप्रतीकार्यं दुःखं **व्यसनमि**त्युच्यते. यद्यपि पूर्वमेव विचारः कर्तव्यः तन्न

पश्यार्येत्यत्र **वचनानि त्रिभिरि**ति ‘‘दृष्ट्वा तानी’’त्यर्धमादाय श्लोकत्रयं ज्ञेयम्. अतएव तदाभासे ‘‘प्रत्याहे’’ति भगवद्वाक्यत्वमेवोक्तम्. **कृतानुकरणे**ति. अनुकरणं नास्ति किन्तु वस्तुतएव त्वं महान्, तथाच कृतमनुकरणं येन तादृशत्वाभावादित्यर्थः ।।१३।।

कृतमित्यनौचित्यमपि ज्ञापयन्नाह **प्राप्तमि**ति. सामर्थ्यं तु वर्तत इत्याह **प्रभो** इति. अवताराणां गुणव्यवधानात् साधनानि बोधयति **एष ते रथ आयात** इति, भवदीय एवायं रथ इति साधने सन्देहाभावः. (दयितानि) प्रियाणि च मुसलादीनि **आयुधानि, च**कारादपेक्षितं सर्वम् ।।१३।।

भूभारहरणं तस्यैव मुख्यमिति तमेव बोधयति.

यानमास्थाय जह्येतद् व्यसनात् स्वान् समुद्धर।

एतदर्थं हि नौ जन्म साधूनामीश शर्मकृत्।।१४।।

त्रयोविंशत्यनीकाख्यं भूमेर्भारमपाकुरु ।

यानमास्थायेति, रथमास्थाय एतद्बलं जहि, रथारोहणे सर्वा शक्तिः प्रादुर्भविष्यतीति. विलम्बाभावायाह **व्यसनात् स्वान् समुद्धरे**ति. आवश्यकत्वं स्पष्टम्. कार्यस्याप्यावश्यकतामाह **एतदर्थं हि नौ जन्मे**ति, आवयोर्जन्म एतदर्थम्. युक्तश्चायमर्थः, भूम्या प्रार्थितमिति, अन्यथा जन्मैव न स्यात्. सर्वत्रानुस्यूतं प्रयोजनमाह **साधूनां शर्मकृदि**ति, साधूनां सुखमस्माद्भवतीति सर्वैरेव प्रकारैः ते सुखिनो भवन्तीति महतः आविर्भूतस्यैतदेव कृत्यम्. **ईशे**ति सामर्थ्यम्, अन्यथोपेक्षादोषो भविष्यतीति भावः. परिमितमेवेति प्रयासाभावायाह **त्रयोविंशत्यनीकाख्यमि**ति. **अनीक**शब्देनाक्षौहिणी; अल्पसङ्ख्याशब्दनिर्देशः अनायासेन निराकरणार्थः, त्रयोविंशत्यनी**कान्याख्या** नाममात्रं यस्य, वस्तुतस्तु न किञ्चित्. तथापि निराकर्तव्यमेवेत्याह **भूमेर्भारमिति।**।१४।।

प्रकटतया कथने राजा निर्गच्छेत्, स्नेहाद्वसुदेवादयः प्रतिबन्धं कुर्युः, अत एकान्ते तथा सम्मन्त्य युद्धार्थं प्रवृत्तावित्याह **एवं सम्मन्त्ये**ति.

एवं सम्मन्त्य दाशार्हौ दंशितौ रथिनौ पुरात्।।१५।।

निर्जग्मतुः स्वायुधाढ्यौ बलेनाल्पीयसावृतौ ।

शङ्खं दध्मौ विनिर्गत्य हरिर्दारुकसारथिः ।।१६।।

ततोऽभूत्परसैन्यानां हृदि वित्रासवेपथुः ।

यतो **दाशार्हौ** सेवकप्रियौ. **दंशितौ** पूर्वं बद्धकवचौ ततो रथिनौ ततः पुरान्निर्जग्मतुः **ततः सुष्ठु आयुधाढ्यौ आयुधं गृहीत्वा युद्धार्थं प्रवृत्तौ. तावता पूर्वं** राजाज्ञाभावात् विचाराभावाच्च न सर्वं बलमेकीभूतम्,

अतो**ऽल्पेनैव बलेनावृतौ** जातौ. तत्राप्यङ्गवैकल्यं प्रत्ययार्थः. आदौ पाञ्चजन्यं वादितवानित्याह सैनिकानामुद्योगोत्साहनिवृत्यर्थं, ''यस्य ध्वनिर्दानवदर्पहन्ता'' इति. अन्तःप्रवेशाभावाय बहि**र्निर्गत्य शङ्खं दध्मौ.** यतो **हरिः,** अन्यथा पुरस्थानां शङ्का स्यात्. **दारुकः सारथिर्यस्ये**ति सङ्कर्षणांश एवात्र विशेषाकारेण प्रवृत्त इति ज्ञापयितुम्. तृतीयप्रकरणे तस्याप्युपयोगः सूचनीयः, यथा द्वितीये अनिरुद्धे सान्त्वनम्. अग्रे आयुधान्तराणामपि कार्यं भविष्यतीति ज्ञापयितुं कृतस्य नादस्य फलमाह **ततोऽभूदि**तिह्व शत्रुभूतानां **सैन्यानां** भाविमरणमदूरे प्रतिभातमिति **हृदि विशेषेण त्रासो** भयं जातं तेन कम्पश्च, शरीरेऽप्यर्थात् ।।१६।।

एवं ज्ञात्वा चतुरो जरासन्धः भगवन्तं युद्धान्निवर्तयितुं किञ्चिदुक्तवानित्याह **तावाहे**ति.

तावाह मागधो वीक्ष्य हे कृष्ण पुरुषाधम।।१७।।

न त्वया योद्धुमिच्छामि बालकेन विलज्जया ।

गुप्तेन हि त्वयाऽमन्द न योत्स्ये याहि बन्धुहन्।।१८।।

ननु सदुत्तरेणैव भगवता सह युद्धमनुचितमिति चेद्वदेत् तदा भगवान् युद्धं न कुर्यात् स्वकार्यं च भवेत्; तत्परित्यज्य किमिति विषममुक्तवानित्याशङ्कायामाह **मागध** इति, देशदोषात्तथा बुद्धिः. **तौ वीक्ष्याहे**ति तेजः स्वानुभावेन ज्ञात्वेत्येतदर्थम्. आदौ भगवता सह युद्धं न मन्यते, तदाह हे **कृष्णे**ति. त्रिधा सम्बोधनं करोति आनन्दचित्सद्रूपैःह्व **कृष्ण** आनन्दः पुरुषश्चिद्रूपः अधो माती**त्यधमः** प्रपञ्चः सद्रूपः. न हि सदानन्दरूपेण पुरुषार्थरूपेणात्मना स्वोपकारिणा कश्चिद्युद्धमभिकाङ्क्षते अत आह **न त्वया योद्धुमिच्छामी**ति. किञ्च **बालकेने**ति, बालानामपि कं सुखं यस्मात्. बाले बाले को वा, न हि ब्रह्माण्डकोटिविग्रहेण कार्यपक्षेऽपि योद्धुं

शङ्खं दध्मावित्यत्र. तृतीयप्रकरणे इति साधनप्रकरणे इत्यर्थः. **द्वितीये** इति प्रमेयप्रकरणे इत्यर्थः. एतेन प्रमाणादिप्रकरणचतुष्टये प्रद्युम्नानिरुद्ध-संकर्षण-वासुदेवचरित्रमपि सूचितम् ।।१६।।

शक्यते. किञ्च **विलज्जये**ति. धाष्टर्च्येन यद्यपि युद्धं कर्तुं शक्यते, मरणेन मोक्षो भविष्यतीति, तथापि लोकलज्जयापि न युद्धमुचितम्, लोको हसिष्यति, स्वामिना सह युध्यतीति. अतो विशिष्टलज्जयापि न योत्स्ये. अन्यत्र स्वशक्तिं स्थापयसि चेत् तथापि युद्धं न करिष्यामीत्याह **गुप्तेन** हीति. **त्वया गुप्तः** केन वा हन्तुं शक्यते. पराजयपक्षे त्वत्तएव मरणमुचितम्, न त्वन्यस्माद्, अपकीर्तिरपि भवेदिति. अतो युक्तमेव त्वद्रक्षितेन सहायुद्धम्. किञ्च **अमन्**देति. अमो मोक्षः, न विद्यते मा माया यत्रेति. अमं ददातीत्यमन्द इति. न हि मोक्षदात्रा आराध्येन सह कश्चिद्युद्धमभिकाङ्क्षति. अतो **याहि** मोक्षं दातुम्. नन्वहं यादव एव न तु मोक्षदातेत्याशङ्क्याह **बन्धुहन्नि**ति, यदि यादवः स्यात् तर्हि बन्धून् कंसादीन् किं हन्यात्? अतो यादवमारकत्वाद् अस्मत्स्वाम्येव, नतु यादव इत्यर्थः. यदापाततः प्रतिभात्यन्यथा तत्प्रकरणविरुद्धत्वात् निन्दापरवचनमुपेक्षणीयमेव. भ्रामकाणि परं वचनानि ।।१७-१८।।

एवं भगवन्तमयुद्धार्थं प्रार्थयित्वा तेनैव बलभद्रोऽपि निवृत्तो भविष्यतीति तं युद्धायाह्वयति **त्वं त्वि**ति.

त्वं तु राम यदि श्रद्धा युध्यस्व धैर्यमुद्वह ।
हित्वा वा मच्छरैश्छिन्नं देहं स्वर्याहि मां जहि।।१९।।

तुशब्दः पूर्वप्राप्तार्थव्यावृत्यर्थः, अन्यथा वयः बन्धुमारणं च तुल्यमिति कथं रामं गृह्णीयात्? तेन यादवा एव तस्य मारणीया इति सत्वव्यवहितानां सुतरामावेशिनां देहोऽस्तीति यादवत्वं सिद्धमिति वसुदेववैरं तत्पुत्रे पातनीयमिति वसुदेवे युद्धप्रतिप्रसवः. तत्रापि **यदि श्रद्धे**त्याह. अयं हि वसुदेवानुकल्पत्वेन द्विष्टो भवति. तथा सति यदि पितरि श्रद्धा, क्षत्रियत्वेन युद्धे वा, तदा युध्यस्व. आवयोर्यद्यपि समानं बलं तथापि सेना महतीति तद् दृष्ट्वा कदाचिद् भीतो भवेद् अत आह **धैर्यमुद्वहे**ति. भगवद्व्यतिरिक्तानामन्यधर्मः प्रवर्तते इति अन्तर्बलमस्तीति धैर्यमस्त्येव. बहिरपि धैर्यं सम्पादयेत्याह उदिति. ततो यद् भविष्यति तदनिश्चयेनाह **हित्वे**ति, एकतरनिश्चये युद्धार्थं प्रवृत्तिरेव न स्यात्. अतो **मच्छरैः छिन्नं देहं हित्वा धैर्यमुद्** धैर्येण जातां मुदं स्वर्गलक्षणां वह. अथवा **मच्छरैः**

छिन्नं देहं हित्वेति ''सविशेषणे विधिनिषेधौ विशेषणमुपसङ्क्रामतः'' इति न्यायेन शरच्छादनं दूरीकृत्य मां **जहि.** अनेन प्रथममहमेव प्रहारं करिष्यामीति सूचितम् ।।१९।।

एवं बलभद्रं प्रति यत् स्वपौरुषं ख्यापितं तदयुक्तं मत्वा भगवान् निषेधति न वै शूरा इति.

।।श्रीभगवानुवाच।।

न वै शूरा विकत्थन्ते दर्शयन्त्येव पौरुषम्।

न गृह्णीमो वचो राजन्नातुरस्य मुमूर्षतः।।२०।।

ये हि **शूरास्ते** स्वख्यातिं **न** वदन्ति किन्तु **पौरुषमेव दर्शयन्ति.** यदप्युक्तं ''न त्वया योद्धुमिच्छामी''ति तत् तव वाक्यं **न गृह्णीमः.** अनेन तद्वाक्यमप्रमाणमित्युक्तं; न हीश्वरेणामतं प्रमाणं भवति. तेन हि शङ्काद्वयेन युद्धं त्यक्तंह्न मरणं भविष्यति, मोक्षे प्रतिबन्धो वा भविष्यतीति. तदुभयं न कर्तव्यम्, इदानीं न मारणीयः मोक्षश्च देय इति. अतएव भगवान् सर्वस्वदानं कारयित्वा मोक्षं दत्तवान्. अतो युक्तमुक्तं **न गृह्णीमो वच** इति. किञ्च हे **राजन्,** राज्ञां शूरक्षत्रियाणां युद्धएव मुक्तिः, ''द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः'' इति ब्राह्मणक्षत्रिययोः मोक्षप्रकारस्य प्रतिपादितत्वात्. तयोरेव च मोक्षोपदेशः ''यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदन'' इत्यत्र निरूपितः. अतो मद्रक्षितेनापि त्वया युद्धं कर्तव्यम्. अहं तु त्वया सह युद्धं न करिष्यामि, बलभद्र एव करिष्यति, बलं परं मारणीयमिति भावः. अयमुपदेशोऽग्रे कार्यार्थः, अन्यथा भीमेनापि न युध्येत्. किञ्च **आतुरस्य** वचनं न ग्राह्यं, स हि स्वापथ्यमेव याचते. अनेन याचितं देयमिति पक्षो निवारितः. किञ्च **मुमूर्षतः** मुमूर्षां प्राप्नुवतः, कृदन्तात्[१] षष्ठी. स हि मोक्षं दूरीकृत्य वृथा मरणं वाञ्छति. तादृशं नाङ्गीकर्तव्यम् ।।२०।।

एवमुपदिष्टः युद्धं स्वहितं मन्यमानः ससामग्रीको युद्धार्थमागत इत्याह.

---

१. तृजन्ताद् इत्यपि पाठः ह्नसम्पा.

।।श्रीशुक उवाच।।

जरासुतस्तावभिसृत्य माधवौ महाबलौघेन बलीयसावृणोत्।

ससैन्ययानध्वजवाजिसारथी सूर्यानलौ वायुरिवाभ्ररेणुभिः।।२१।।

जरासुत इति मातुः पुत्रोऽयम्. तत्रापि सा **जरा** सर्वानेव विरूपान् करोति, कथमेनं त्यक्ष्यतीति तत्रापि राक्षसी, तेन दुर्बुद्धिरप्ययं ज्ञापितः. अन्यथा तदुपदेशमेव गृहीत्वा मरणं निश्चित्य तेनैव सह किं युद्धं कुर्यात्? तौ कृष्णरामा**वभिसृत्य** सर्वतः संवेष्टयित्वा **महाबलौघेन आवृणोत्. माधवावि**ति मधुवंशोत्पन्नाविति भगवन्ताविति वा, धनं दास्यत इति वा, पित्रोः स्वबलं प्रदर्शनीयमिति वा. जेष्यामीति बुद्ध्या प्रवृत्त इति ज्ञापयितुं साधनाधिक्यमाह **बलीयसा महाबलौघेने**ति. **म**हत्त्वं स्वरूपेण, तादृशानां बहुत्व**मोघः** अन्तस्सारं **बलम्** इ्ह एवं गुणत्रयस्य विद्यमानत्वात् आवरणं कृतवान्. भगवत्सहायं सर्वमेव स्वार्थं गृहीतवानित्याह **ससैन्ये**तिह्व सैन्यसहितौ, यानसहितौ, तत्र ध्वजवाजिसारथिभिः सहितौ. अनेनैवमुक्तं भवतिह्व केचन सैन्ये लग्नाः, केचन रथे, केचन ध्वजयोः, केचनाश्वेषु, सूतयोरिति. एतयोरसम्भावितमावरणमिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **सूर्यानलावि**ति. न ह्यावरणं सूर्यं स्पृशति अग्निं वा, परं पश्यतां चक्षुःप्रतिरोधकमेव. वायुस्थानीयो जरासन्धः, अभ्राणि सूर्यावरकाणि, रेणवोऽग्नेः ।।२१।।

अतः स्वरूपे फलस्यायुक्तत्वाद् दृष्टौ तज्जातमित्याह सुपर्णतालध्वज**चिह्नितावि–**ति.

लेखः

जरासुत इत्यत्र. **धनं दास्यत इति** वेति, लक्ष्मीधवत्वादिति भावः. **पित्रोरि**ति, तदा **मा**पदेन एकदेशग्रहणेन माता तस्या **धवः** पितेत्यर्थः. भगवत्सहायमिति, सर्वमेव भगवद्बलं स्वाधीनं कृतवानित्यर्थः ।।२१।।

सुपर्णेत्यस्याभासे **स्वरूपे** इति, भगवत्स्वरूपे जरासन्धाभिलषितस्य विपरीतफलस्यायुक्तत्वात् सर्वेषां दृष्टौ तत्फलं जातमित्याह; स्त्रीणां दर्शनाभावाच्छोकोऽपि जातः, भगवति तु न कापि क्षतिः संपन्नेत्यर्थः.

सुपर्णतालध्वजचिह्नितौ रथावलक्षयन्त्यो हरिरामयोर्मृधे ।

स्त्रियः पुराट्टालकहर्म्यगोपुरं समाश्रिताः संमुमुहुः शुचार्पिताः।।२२।।

सुपर्णध्वजो भगवद्रथः **तालध्वजो** बलस्य. सेनामध्ये पतिताविति रेणुभिः विजातीयध्वजादिभिश्च व्यवधानाद् **अलक्षयन्तः** अपश्यन्तो जाताः. एको दुःखहर्ता अपरो रमयतीति सुखदाता; उभयोरत्यावश्यकत्वात् तददर्शने व्याकुलता उचितैव. स्त्रियश्च तत्र मुख्यतया द्रष्टुं समागता इति युद्धानभिज्ञत्वात् रसान्तरपरिग्रहे स्ववैयर्थ्यं सूचयन्त्यः शोकेनार्पिता जाता इत्याह **स्त्रिय** इति. **पुरस्य अट्टालकाः** अत्युच्चा भवन्ति, **हर्म्याणि** राज्ञां गृहाः, पुरद्वारं चात्युच्चम् ह्वएतानि **समाश्रित्यापि अलक्षयन्त्यः सम्यक् मुमुहुः** मूर्च्छां प्राप्तवत्यः. ततो जागरणे **शुचा चार्पिताः**. कृष्णो हि भगवान् स्त्रीणामेवार्थे अवतीर्ण इति तद्बाधकत्वेनैव सैन्यं मारितवान् न त्वन्यथेति स्वरूपविचारसिद्ध्यर्थमुक्तम्. अन्यथा सङ्कर्षणकार्ये भगवान् प्रविष्ट इति भवेत्, तच्चैकादशे न पुनरुक्तम् ।।२२।।

हरिः परानीकपयोमुचां मुहुः
शिलीमुखात्युल्बणवर्षपीडितम् ।
स्वसैन्यमालोक्य सुरासुरार्चितं
व्यस्फूर्जयच्छार्ङ्गशरासनोत्तमम्।।२३।।

अतः स्त्रीणां दुःखनिवृत्यर्थं भगवान् सैन्यं निहतवानित्याह हरिरिति. सूर्यस्थानीयो हि भगवान् तत्र मेघस्थानीयाः तदीयाः अतस्तेषां निराकरणमनायासेनैव भविष्यतीति निरूपयितुं तेषां सेनामनुवदति **परानीकपयोमुचामिति.** शत्रूणा**मनीकमेव पयोमुचः** मेघाः तेषां **शिलीमुखान्येवोल्बणवर्षः** तेन **पीडितं स्वसैन्यम्.** अनेन महाशूरा अपि अहन्यमाना अपि यथा वृष्टौ समागतायां सर्व एव भीताः पलायन्तेह्व न हि वृष्टिः कांश्चिन्मारयति

लेखः

सुपर्णेत्यत्र **रमयतीति**, यथैव भगवद्रमणं सम्भवति तथैव सम्पादयतीत्यर्थः. अतएव हेतुमण्णिजन्तमुक्तम्. **स्त्रियश्चेति**, अलक्षयन्तः सर्वेऽपि जाताः तत्र स्त्रियः शोकार्पिता अपि जाता इत्यर्थः ।।२२।।

मृता वा भवन्ति, केचन तथापि महाशूरा अपि राजानमपि परित्यज्य पलायन्तेह्न तथा अत्र जातमित्युपहासार्थं निरूपितम्. स्त्रीषु कृपा तेषु च हास्यरसमुत्पन्नमिति भावः. अत उभयोरपि हितचिकीर्षया स्वशार्ङ्गं गृहीतवानित्याह **सुरासुरार्चितम**िति. सुराणां हितम् असुराणां मोक्षं, द्वयं दास्यतीति ज्ञात्वा **शार्ङ्गं** धृतवान् **विशेषेणास्फूर्जयत्.** शार्ङ्गज्यानिनादः सुराणां चित्ते भयनिवर्तको भवतीति प्रथमं सन्देहनिवारणार्थमाश्वासनमुक्तवान्, ''यज्ज्यानिनादश्रवणात् सुराणां चेतांसि निर्मुक्तभयानि सद्यो भवन्ति'' इति वाक्यात्. **शार्ङ्गं** एव **शरासनेषु** भगवदीयेषु **उत्तमम्.** अनेनाशनिबाणवर्षमिति तस्य द्वितीयं माहात्म्यमुक्तम्. भगवतः अनेकान्यपि धनूंषि सन्तीति बोधितम्. **शरासन**पदेन देवतारूपत्वं प्रतिषिद्धम्, अन्यथा माहात्म्यमुक्तं न भवेत् ।।२३।।

गृह्णन्निषङ्गादथ संदधच्छरान् विकृष्य मुञ्चन् शितबाणपूगान्।

निघ्नन् रथान्कुञ्जरवाजिपत्तीर्निरन्तरं यद्वदलातचक्रम्।।२४।।

इदानीं भगवतो युद्धचातुर्यमाह **गृह्णन्निषङ्गाद**िति. अतितेजस्विनां स्वागमेऽपि स्वशक्तिस्तिष्ठतीति क्रियाशक्तेर्व्यापकता नित्यता चोक्ता भवति. **निषङ्गात् तूणीरात्** शरान् गृह्णन् अथ तदनन्तरं तस्य योजनाप्रकारेण योजितवान्. ततो **विकृष्य मुञ्चन्** ततः चतुरङ्गिणीं सेनां निघ्नन् जात इति प्रत्येकं वा सम्बन्धः. चतुर्धा भगवत्कृतिःह्न

स्थानात् प्रच्यावनं पूर्वं साधने योजनं तथा।

फलार्थं विनियोगश्च फलसिद्धिरिति क्रमात्।।(१८)।।

मोचनसमयेऽपि ग्रहणमावर्तते चेत् तदा क्रिया अपरिच्छिन्ना भवति

लेखः

हरिरित्यत्र **अनेन अशनी**ति, शार्ङ्गस्य शरासनोत्तमत्वकथनेनेत्यर्थः. **शार्ङ्ग**पदस्य तात्पर्यमाहुः **भगवत** इति ।।२३।।

गृह्णन्नित्यत्र **गृह्णन्नेव संदधत्, संदधदेव मुञ्चन्, मुञ्चन्नेव निघ्नन्** इति सर्वासां क्रियाणां वर्तमानतेत्याशयेनाहुः **व्यापकता नित्यता** चेति. तथा सति **अथ**पदमनर्थकं स्यादित्यत आहुः **निषङ्गाद**िति. **स्वयमपी**ति.

नान्यथेत्यत आह **निरन्तरम**िति; अन्तराभावो यथा भवति तथेति चतुर्णां विशेषणम्. तदसम्भावितं मत्वा दृष्टान्तमाह **यद्वदलातचक्रम**ितिह्न अलातचक्रं

परिभ्रममाणं सर्वत्र विद्यमानमिव मण्डलाकृति भाति, तद्वन्निरन्तरमिति सम्बन्धः. यद्यपि भगवतः क्रियाशक्तौ न सन्देहः तथापि स्वयमपि वक्ष्यति, लोके निरूपणे असम्भावना मा भवत्विति दृष्टान्तमप्याह. **निषङ्गादि**त्येकवचनेनाक्षयतूणीरता निरूपिता. अथेति भिन्नोपक्रमेण. अनेन शरेण एतावत् मारयिष्यामीति पूर्वं सङ्कल्पो निरूपितः तदैव च निघ्नन् जातः, अन्यथा काकतालीयवद् भगवत्प्रवृत्तिरपि स्यात् ततश्च न पराक्रमः सिध्येदिति ह्वएतावदथशब्देन निरूपितम्. **सन्दधत्** सम्यग् धनुषि योजयन्. **शराणि**त्यस्त्रव्यावृत्यर्थम्, अन्यथा देवताया एव सामर्थ्यं भवेत्. **शरानि**ति बहुवचनं सकृदपि बहूनां सन्धानं सूचयति. **विकृष्य मुञ्चन्नि**ति मानुषक्रियैवात्र व्यापृता भगवता, न त्वलौकिकं किञ्चित्प्रकाशितमिति ज्ञापितम्. **शितास्**तीक्ष्णाः ते च ते **बाणा**श्च तेषां पूगः समूहो येषु. एकस्मिन् बाणे भगवत्क्रिया व्यापृतेति भगवता स मुक्त इति परिच्छेदे निवृत्ते सहस्ररूपः स एव जात इति बाणस्यानन्तत्वे प्रतिपादिते तेन मोचितशरीराणामपि[1] अनन्तत्वं फलिष्यतीति तथोक्तम्. अन्यथा पुनरुक्तदोषः स्यात्, सन्धितानामेव विमोकस्य सिद्धत्वात्. **नितरां घ्नन्नि**ति सकृत् प्रहारेणैव प्राणवियोगः शरीरस्य शतधा खण्डाश्च प्रदर्शिताः. चतुरङ्गसेना सर्वैव मारिता इति ज्ञापयितुं गणनामाह **रथान् कुञ्जरान् वाजिनः पत्तयः**

लेखः

वक्ष्यतीति लृडादेशशत्रन्तात् सप्तम्यन्तम्. शुके सति **लोके** इत्याद्यग्रिमेणान्वयः. प्रथमपक्षे अथपदस्यार्थमाहुः **अथेती**ति. **ते च ते बाणाश्चे**ति. बाणाः शराग्रभागाः, बृहदारण्यके ''बाणवन्तौ सपत्नातिव्याधिनावि''त्यत्र तथा निरूपणात्. **तेन मोचितशराणामि**ति, बाणेन सह मोचितानां शराणामित्यर्थः. बाणस्यैव कार्यकारित्वेन मुख्यत्वाच्छराणां सहभावः. **संधितानामिति,** संधितानामेव विमोकः सिद्धो भवति; तत्र तु ततो मुक्तस्य बाणस्य सहस्रत्वमधिकं विवक्षितमतो न पुनरुक्तिरित्यर्थः ।।२४।।

१. मोचितशराणाम् इति लेखादिपाठाः ह्वसम्पा.

पदातयः. **पत्तीरिति** स्त्रीप्रयोगः एको बाणः एकां पत्तिमनेकां वा मारयतीति सूचयति, ''एकेभैकरथा अश्वा पत्तिः पञ्चपदातिके''ति. **पत्तीनि**ति वा पाठः ।।२४।।

शूराणां प्राणवियोगमात्रे न सामर्थ्यं सिध्यति, मर्मस्थानस्पर्शे अल्पप्रहारेणापि प्राणवियोगसम्भवाद्, अतो भगवतो क्रियाशक्तिं बोधयितुं बाणानां महत्कार्यमाह **निर्भिन्नकुम्भा** इति.

निर्भिन्नकुम्भाः करिणो निपेतुरनीकशोऽश्वाः शरवृक्णकन्धराः।

रथा हताश्वध्वजसूतनायकाः पदातयश्छिन्नभुजोरुकन्धराः।।२५।।

करिणो हस्तिनः **नितरां** खण्डशो **निर्भिन्नाः**. यद्यपि निर्भिन्नकुम्भाः करिण एव भवन्ति तथापि स्वतन्त्रः करो येषामिति षाष्टिहायनपरः करिशब्दः. **अनीकशः** समूहशः **अश्वा** एकैकेन **शरेण वृक्णाः**. कन्धरासु केशाः सन्तीति तत्र बाणप्रचारो न भविष्यतीति **कन्धर**पदम्. रथास्तु हता **अश्वा ध्वजाः सूता नायकाश्च** येषां तादृशा जाताः, नत्वेकमारणेन शिष्टं दैवान्मृतमिति. रथोऽपि अवयवशः वृक्णः इति ज्ञातव्यम्, अन्यथा **निपेतुरि**ति क्रियासम्बन्धो न स्यात्. अन्यथा 'जाता' इति क्रियान्तरं कल्प्यं प्रसज्येत. **पदातय**श्च **निपेतुः**. आघातेनापि पतन्तीति तेषां विशेषणमुच्यते छिन्नाः **भुजाः ऊरवः कन्धराश्**च येषाम्. उरुस्थूला वा कन्धरा, नाभेरधो बाणप्रहारस्य निषिद्धत्वात्. अनेन शिरच्छेदः अर्थादुक्तः ।।२५।।

एवं चतुरङ्गसेनामारणमुक्त्वा तस्याधिक्यं वक्तुं तेन जाता रुधिरनदीर्वर्णयति **संच्छिद्यमाने**ति सार्धाभ्याम्.

संछिद्यमानद्विपदेभवाजिनामङ्गप्रसूताः शतशोऽसृगापगाः।

भुजाहयः पूरुषशीर्षकच्छपा हतद्विपद्वीप हयग्रहाकुलाः।।२६।।

करोरुमीना नरकेशशैवला धनुस्तरङ्गायुधगुल्मसंकुलाः।

अच्छूरिकावर्तभयानका महामणिप्रवेकाभरणाश्मशर्कराः।।२७।।

प्रवर्तिता भीरुभयावहा मृधे मनस्विनां हर्षकरीः परस्परम्।

चतुरङ्गेषु त्रय एव रुधिरवन्तः, एकं दारुमयम्, अतस्त्रीन् गणयति. **द्विपदाः** मनुष्याः **इभाः** हस्तिनो **वाजिनश्**च, तेषामङ्गैः छिन्नैः **प्रसूताः शतशः असृगापगा** जाताः. अनेन मृतानां निर्भयत्वं सूचितम्ह्न अन्यथा भयेन रुधिरशोष एव स्यात्ह्न विजातीया अपि एकैकप्रकृतिका जाता इत्यपि. **अङ्ग**पदं तु तेषां हनने जाते [१]दैवकृतां रुधिरवृष्टिं व्यावर्तयति. प्रशब्देन मरणानन्तरमपि संस्कारेणापि भयाभावः सूच्यते. अन्योन्यं प्रवाहमेलनात् पूर्वं नामान्तरमप्यापन्नाः पश्चादनेकानि नामानि प्राप्नुवन्तीति **शस्**प्रत्ययः. **असृगापगा** रुधिरनद्यः. ननु नदीत्वं कुतः?

नहि प्रवाहमात्रेण नदीत्वं भवति, अन्यथा वर्षाकाले जगदेव नदी स्यादित्याशङ्क्य नदीसमानाकृतित्वसिद्ध्यर्थं वर्णयति **भुजाहय** इति. **भुजा एवाहयः** सर्पा यत्र, **पूरुषशीर्षाण्येव कच्छपा** यत्र ह्वएतत्सात्विकम्. **हता** ये **द्विपास्**तएव **द्वीप**प्रायाः, द्विर्गता आपो यत्रेति. तस्मिन् द्वीपे छिन्ना ये **हयाः** अश्वास्तएव हि **ग्रहा** ग्राहाः तै**राकुलाः**. द्वीपा एव तामसा नदीत्वख्यापकाः. तथापि तत्र प्रवाहेण गच्छतां हयावयवानामारोहावरोहौ द्वीपाधिक्यार्थमेव निरूपितौ, आगन्तुका एवैते नदीधर्माः न तु सहजा इति. साधारणान् वणर्यति **करोरुमीना** इति, कराएव उरु अधिका मीना यत्र. करा ऊरवश्च मीना इति वा. मध्यच्छेदे शिष्टो भागः ऊरुशब्देन ग्राह्यः, **उरु**शब्द एव वा. **नराणां** केशा एव शैवालानि शैवाला यत्र. **धनूंष्येव तरङ्गाः**. मीनाः सात्त्विकाः तरङ्गास्तामसाः इति त्रयं पूर्वेण वा. नरके शान्तास्त्रयः. **आयुधान्येव** तूणीरादीनि **गुल्माः** तैः **सङ्कुलाः**. अतएव धनुस्तरङ्गाश्च ताः आयुधगुल्मसङ्कुला इति कर्मधारयः. **अच्छूरिकान्येव आवर्ताः तैर्भयानकाः**. अच्छूरिकानि

लेखः

संछिद्यमानेत्यत्र. प्रशब्देनेति. शूराणां मरणानन्तरमपि संस्कारस्तिष्ठति यद्वशात्कबन्धोऽपि युध्यति; तदापि भयाभाव इत्यर्थः. **करोरुमी**ना इत्यत्र. नाभेरधः प्रहारोऽनुचितः इति पूर्वमुक्तत्वादूरुमात्रं भिन्नं न सम्भवतीत्यत आहुः **मध्यच्छेदे** इति. **त्रयं पूर्वेणोति**, ऊरुणा सह त्रयम्, तथाच नरके शान्तास्त्रयो जाता इत्यर्थः. **अतएवे**ति, धनुस्तरङ्गस्य त्रिकेऽप्रवेशादेव अग्रिमेण कर्मधारयः कृत इत्यर्थः ।।२६-२७।।

---

१. देवकृताम् इति पाठः.

चक्राणि चर्माणि वा ह्वअनेनातिगाम्भीर्यं नद्याः प्रदर्शितम्. **महामणिप्रवेका** महामण्युत्तमाः, तद्युक्ता**न्याभरणान्येव शर्करा** यासाम्. पुरातननदीस्थाने कदाचित्पतितं रुधिरं जलेन सहितं तथा जातमिति शङ्कां व्यावर्तयति प्रवर्तिता इति, नूतनतया **प्रवर्तिताः**. पूर्वस्माद्वैलक्षण्यमाह भीरुभयावहा इति, भीरूणामेव भयावहाः **मनस्विनां तु हर्षकरीः**. अन्येषां तु साधारणा यथावद्वर्णिताः. **परस्परमि**ति समयुद्धे, अन्याययुद्धे तु जयशीलानां प्रायेण हर्षो भवतीति नाश्चर्यमेतत् ।।२६-२७।।

एवं भगवत्कृतं सपर्यवसानं युद्धमुक्त्वा बलभद्रकृतमाह.

विनिघ्नतारीन्मुसलेन दुर्मदान्संकर्षणेनापरिमेयतेजसा।।२८।।

विनिघ्नतारीनिति. अरयः कथञ्चिद् हन्तव्याः. भगवतस्त्वरयो न सन्तीति बलभद्रे तदुक्तम्. हलेनाकृष्य **मुसलेन विनिघ्नता सङ्कर्षणेन** सह भगवान् गृह्णन् निषङ्गादित्यादि जात इति पूर्वेणैवान्वयः. अथवा **अरीन् विनिघ्नता सङ्कर्षणेन** कृत्वा **नद्यः प्रवर्तिता** इति. हनने हेतुः **दुर्मदानि**ति, दुष्टो मदो येषां उद्वृत्तिकरणरूपः. **'सङ्कर्षण'**पदेनैव तेषामाकर्षणं निरूपितम्. सामर्थ्ये हेतुमाह **अपरिमेयं तेजो** यस्येति. अन्तर्बलमस्त्येव, बहिस्तेजोऽपि कस्याप्येतावदिति मातुमशक्यम् ।।२८।।

एवमुक्तं युद्धमुपसंहरति बलमिति.

बलं तदङ्गार्णवदुर्गभैरवं दुरन्तपालं मगधेन्द्रपालितम् ।

क्षयं प्रणीतं वसुदेवपुत्रयोर्विक्रीडितं तज्जगदीशयोः परम्।।२९।।

शीघ्रमुपसंहारे ततोऽपि महत्वं भवतीति **बलमि**ति. **अङ्गै**रश्वादिभिः **अर्णव**रूपैः **दुर्गं भैरवं** भयानकं च. अनेन स्वरूपतो माहात्म्यमुक्तं बलस्य. **दुरन्ताः पाला** यस्येति बलस्य रक्षकाः. अङ्गे[१] समागताः राजानः **दुरन्ताः** न हि तेषामन्तं कश्चित्कर्तुं शक्तः. ततोऽपि माहात्म्यमाह **मगधेन्द्रपालितमि**ति,

---

लेखः

बलं तदित्यत्र **शीघ्रमि**ति, बलिष्ठस्यापि शीघ्रमुपसंहारे पूर्वस्मादप्यधिकं भगवतो महत्त्वं भवतीत्यर्थः ।।२९।।

१. सङ्गे, अङ्गेन, अङ्गे च इति पाठः ह्नसम्पा.

जरासन्धेन पालितम्. **इन्द्र**पदेन सर्वतो बलस्य[१] समृद्धता द्योतिता. एतादृशमपि क्षणमध्ये **क्षयं प्रणीतम्**. एतदपि **वसुदेवपुत्रयोः क्रीडितम्**. यद्यपि वसुदेवपुत्रत्वेन नाट्यं कृतम् ह्न तथा सति पुत्रत्वनिर्वाहार्थं प्रयासोऽपि बाललीलायामिव प्रकाशनीयः ह्न तथापि न प्रकाशितं किन्तु क्रीडयैव सर्वं मारितमिति. एवं करणे हेतुमाह **जगदीशयोरिति,** सर्वजगतएव ईश्वरयोः, नहि ईश्वरः सदैकरूपो भवतिह्न कदाचिदभिनयं करोतीति सर्वदा अभिनयमेव करिष्यति

(इति). **परमि**त्यनेन विशेषक्रीडायामप्यनादरः, ततोऽप्यल्पमिति सूचनार्थः ।।२९।।

ननु किमित्येषा कथा वर्णिता विशेषाकारेण; सामान्यत एवैतद्वक्तव्यमूह्व जरासन्धसमानीतसैन्यस्य बहुशो वधं कृतवानिति. अल्पे हि पौरुषत्वेन युद्धं वर्णनीयं न तु भगवतीति चेत्, सत्यम् इत्याह स्थित्युद्भवान्तमिति.

स्थित्युद्भवान्तं भुवनत्रयस्य यः समीहतेऽनन्तगुणः स्वलीलया ।

न तस्य चित्रं परपक्षनिग्रहस्तथापि मर्त्यानुविधस्य वर्ण्यते।।३०।।

यस्त्वनन्तः सर्वतः परिच्छेदरहितः स्वरूपविचारे क्रियमाणे. गुणविचारे त्वाह **अनन्तगुण** इति, अनन्ताः कोटिब्रह्माण्डेषु यावन्तः पदार्थाः तावद्गुणो भगवान्. ततोऽप्यधिक इति मुख्यः सिद्धान्तः. कांश्चिद्गुणान् प्रकटीकरोति. क्रियाविचारे त्वाह **भुवनत्रयस्य स्थित्युद्भवप्रलयं स्वस्य लीलामात्रेण समीहत** इति. तत्र कियदिदं बलम् अतः **तस्यैतन्न चित्रम्.** तथापि **तस्य परपक्षनिग्रहो वर्ण्यते** भक्तिस्थापनार्थम्. नन्वीश्वरे परपक्षनिग्रहव्यतिरेकेणापि महत्वादेव भक्तिर्भविष्यति, किं निग्रहवर्णनेनेत्याशङ्क्याह **मर्त्यानुविधस्ये**ति. भगवान् मर्त्यानुविधानं करोति. तथा सति कदाचिद्भक्तपक्षपातं न कुर्याद् अन्यधर्माभिनिवेशादिति. तत्रापि चेद् भक्तपक्षपातं कुर्यात् तदा निःसन्दिग्धं भक्तिमार्गः प्रवर्तेतेति. अत एव वर्ण्यते विशेषाकारेणेति ।।३०।।

एवं दूषणं परिहृत्य जरासन्धेन बलभद्रं प्रति यदुक्तं तद् बलभद्रः कृतवानित्याह.

१. वनस्य इति पाठः.

जग्राह विरथं रामो जरासन्धं महाबलम् ।

हतानीकावशिष्टासुं सिंह सिंहमिवौजसा।।३१।।

जग्राह विरथमिति, तस्य रथोऽपि छिन्नः, केवलं पदातिरवशिष्टः. यद्यपि शरीरेणापि **महाबलः** तथापि तं **जग्राह** विरथो हन्तव्यो न भवतीति बद्ध्वा गृहे नेय इति बन्धनार्थं गृहीतवान्. यतोऽयं **रामः** सर्वेषां रमणार्थे प्रवृत्तः. सः हन्तुमप्यशक्य इति तस्य नामाह **(जरासन्धमिति). महाबलमि**ति दैवं मानुषं च बलं तस्य निरूपितम्. तर्हि दैवगत्या गृहीत इति चेत् तत्राह **ओजसे**ति. तर्हि

पाशादिभिर्गृहीतो भविष्यतीति चेत् तत्राह **सिंहः सिंहमिवेतिह्न** हस्ताभ्यामेव निगृह्य स गृहीतः, न तु हलादिना आकृष्टः. तस्य मोचकाभावमाह **हतमनीकं यस्य, अवशिष्टा असवो यस्ये**ति ।।३१।।

ग्रहणानन्तरं परोपकारार्थमागतो न बन्धनीय इति बध्यमानं भगवान् निवारयामासेति आह **बध्यमानमि**ति.

बध्यमानं हतारातिं पाशैर्वारुणमानुषैः ।

वारयामास गोविन्दस्तेन कार्यचिकीर्षया।।३२।।

महतो बन्धनमनुचितमिति तं विशिनष्टि **हतारातिमि**ति, हताः अरातयो येन. अनेन शत्रुभूयस्त्वात् तेषां च दुष्टत्वात् तत्सुखं भविष्यतीत्यपि मोचने तदभावो हेतुरुक्तः. केवलबन्धनानि तत्र न समर्थानीति **पाशै**र्बद्धः, ते आकृष्टाः निग्रहहेतवो भवन्ति. तत्रापि **वारुणैर्मानुषैश्चह्न** जरादीनां मोचनाभावाय वारुणाः पाशाः, मनुष्याणामर्थे मानुषाः. एतादृशमपि स्वाधीनं जातं परमशत्रुं **वारमायास** बन्धनं न कर्तव्यमिति. ननु कथमेवं भूभारहर्ता तं मोचयतीति चेत्, तत्राह **गोविन्द** इति. सिंहावलोकनन्यायेन पूर्वलीलां स्मृतवान् अतस्तेनापि काचिल्लीला सेत्स्यतीति तं मोचितवान्. ननु किमिति

लेखः

बध्यमानमित्यत्र वीक्ष्येति शेषः. **अनेने**ति, जरासन्धस्य शत्रवो भूयांसः, एतद्बन्धने ते सुखिता भविष्यन्ति. तेऽपि दुष्टाः अतस्तेषां सुखाभावार्थं मोचनीय इत्यर्थः. **काचिल्लीला सेत्स्यती**ति, जरासन्धेन हेतुना द्वारिकालीला

दुष्टो मुच्यते? तत्राह **तेन कार्यचिकीर्षये**ति. निरोधो हि कर्तव्यः, एतदभावे सर्वे भगवत्परा राजसाः सात्त्विकाश्च न भविष्यन्तीति तदर्थमयं रक्षितो, अक्लिष्टकर्मत्वाय च ।।३२।।

ततो यज्जातं तदाह **स मुक्त** इति.

स मुक्तो लोकनाथाभ्यां व्रीडितो वीरसंमतः।

तपसे कृतसंकल्पो वारितः पथि राजभिः।।३३।।

अन्ये यादवाः पुनर्बन्धनं करिष्यन्तीत्याशङ्क्याह **लोकनाथाभ्यामि**ति, त्रैलोक्यनाथाभ्यां मुक्तं को वा बद्धुं शक्तः द्विवचनेन विभक्तसामर्थ्यं सर्वमेव मोचने

नियुक्तमिति सूचितम्. ननु तादृशः त्यक्तोऽपि म्रियेतेति कथं कार्यसिद्धिरिति चेत्? सत्यं, **व्रीडितः**. अत्र हेतुः **वीरसंमत** इति, वीरेषु अयमतिवीर इति संमतः. ततः मानुषपराक्रमस्य हतत्वाद् अलौकिकं पराक्रमं साधयितुं **तपसे कृतसङ्कल्पो** जातः. ततस्तपःकरणार्थं गच्छन् **पथि राजभिर्वारितः ये** राजानो भारभूताः. अनेन भगवच्चरित्रमलौकिकमित्युक्तम्ह्व येषामुपकारं करोति तैस्त्यक्तः येषां त्वपकारं करिष्यति तैर्गृहीत इति ।।३३।।

तेषां बोधने करणान्याह१ **वाक्यैरि**ति.

वाक्यैः पवित्रार्थपदैर्नयनैः प्राकृतैरपि ।

स्वकर्मबन्धनः प्राप्तो यदुभिस्ते पराभवः।।३४।।

त्रिविधा हि बोधकाः. तत्र सात्विकानां वचनं **पवित्रार्थपदैरि**ति, पवित्रार्थानि पदानि येषु वाक्येषु. **वाक्यैरि**ति त्रिष्वपि सम्बध्यते. **नयनैः**

प्राकृतैरपि. भगवानीश्वरः सर्वात्मा, तत्र पराजयो भाग्यमेवेति पवित्रार्थपदानि.

लेखः

सिद्ध्यति, महिष्यादिषु लीलाश्च भवन्ति; एतद्बन्धनस्थापने तु द्वारिकानिर्माणमेव न स्यादिति भावः. **एतदभावे** इति, पुरीनिर्माणाभावादिति भावः ।।३२।।

सत्यमिति, अङ्गीकृत्योत्तरं व्रीडां प्राप्तस्तथाप्यलौकिकोद्यमार्थं न मृत इत्यर्थः ।।३३।।

---

१. कारणानि इति पाठः.

नीतिवाक्यानि तु स्वदेशो न भवति, विचारश्च न कृतः; अकस्माद्युद्धे पलायनमुचितमेवेति राजसाः. अतो नीतिविरुद्धं न कर्तव्यमित्युपदेशपरैः. प्राकृतास्तु बहूनामेव महतामपि पराजयो जायत इति प्राकृतवचनैः बोधमुक्तवन्तः. एते त्रिविधा अपि दृष्टन्यायेनैवोक्तवन्तो, नादृष्टन्यायेन. अन्ये पुनरन्तरङ्गा अदृष्टप्रकारेण बोधयामासुरित्याह **स्वकर्मबन्धन** इति. त्वया हि बहवो जिताः तत्कर्मफलं च भोक्तव्यम् अन्यथा प्रकारान्तरेण दुष्टैः सह पराजयो भवेत्, यतः **स्वकर्मणा बन्धनं** यस्य तादृशः **पराभवः. अपि**शब्दात् सर्वे चतुर्धा व्यस्तैः

समस्तैश्च बोधयामासुरित्यर्थः. **यदुभिः** सह **पराभव** इति युक्तमेवैतत् यतो ज्येष्ठो यदुरित्यपि ज्ञापितम् ।।३४।।

ततो यज्जातं तदाह.

हतेषु सर्वानीकेषु नृपो बार्हद्रथस्तदा ।

उपेक्षितो भगवता मागधान्दुर्मना ययौ।।३५।।

हतेषु सर्वानीकेष्वपि, तथापि सर्वैः पुरस्कृत इति राजचिह्नानि प्राप्य स्वदेशान् गतः जरासन्धः. यतो **नृपः** दैवमानुषसहायः सूचितः. तदा बोधनानन्तरं दृष्टसामग्र्यां च सत्यां पश्चाद्गत इत्याह **तदे**ति. निकटे सम्भृतिं कृत्वा प्रगल्भवचनैः सह गच्छन् पुनर्भगवता निगृहीतो भविष्यति इत्याशङ्क्याह **उपेक्षितो भगवतेति.** भगवतः स्थाने यद्यप्युक्तं, यद्यपि भगवत्वाच्च जानाति तथापि तानि वाक्यान्यनादृत्योपेक्षामेव कृतवान्. भगवत्वादग्रिमकार्यमेव विचारयति न तु नीतिविरोधम्. उपेक्षया सुतरां दुर्मना जातः. तत्वे अवगतेऽपि मागधत्वान्न शरणमागतः. नापि तूष्णीं स्थास्यति. मागधत्वादेव **मागधान् ययौ** ।।३५।।

तस्य स्वगृहप्राप्तिमुक्त्वा भगवतोऽपि परमवैभवेन मथुराप्रवेशमाह **मुकुन्दोऽपी**ति पञ्चभिः.

मुकुन्दोऽप्यक्षतबलो निस्तीर्णारिबलार्णवः।

विकीर्यमाणः कुसुमैस्त्रिदशैरनुमोदितः।।३६।।

न क्षतं बलं यस्य एकोपि न हतः. यद्यपि मोक्षदाता; तानपि मारयित्वा मुक्तिं दद्याद् जरासन्धं वा मोचयेत्. न हि भगवान् जयहेतुः किन्तु मोक्षहेतुः. लीनाः केचन पुनरायास्यन्तीति शङ्काभावार्थमाह निस्तीर्णः नितरामुत्तीर्णः **अरिबलरूप एवार्णवो** येन. अर्णवो हि नान्यत्र समायाति. महत्वेन पौरुषं पुनरागमनाभावश्च निरूपितः. ततः **कुसुमैः विकीर्यमाणः त्रिदशैरनुमोदितो** जातः, अन्यथा अनन्तवधे तदधिष्ठातृदेवानां दुःखं भवेदित्याशङ्क्येत. देवार्थमेतत्कृतमित्यपि सूचितम्।।३६।।

ततो मानुषैरप्यनुमोदित इत्याह माथुरैरिति.

माथुरैरुपसंगम्य विज्वरैर्मुदितात्मभिः ।

उपगीयमानविजयःसूतमागधबन्दिभिः।।३७।।

शङ्ख दुन्दुभयो नेदुर्भेरीतूर्याण्यनेकशः ।

वीणावेणुमृदङ्गानि पुरं प्रविशति प्रभौ।।३८।।

दुर्गमुद्धाट्य सर्वे समागताः यतो **विज्वराः** मरणशङ्कारहिताः. ज्वरो हि समागत एव मरणशङ्कामुत्पादयति, तेषां स एव ज्वरः प्राप्त इति. कालदेहादिधर्मास्तु पूर्वमेव निवारिताः. किञ्च बहिर्बुद्ध्यापि मुदितात्मानो जाताः. ततः **सूतमागधबन्दिभिः उपगीयमानविजयो** जातः, शङ्ख दुन्दुभयश्च **नेदुः**. ततः शनैः गमनसूचनाय **वीणावेणुमृदङ्गान्य**पि वादितानि यतः **प्रभुः पुरं प्रविशती**ति. लौकिकमेतदिति सूचितम् ।।३७-३८।।

अतः पुरं वर्णयति सिक्तमार्गामिति द्वाभ्याम्.

सिक्तमार्गां हृष्टजनां पताकाभिरलङ्कृताम् ।

निर्घुष्टां ब्रह्मघोषेण कौतुकाबद्धतोरणाम्।।३९।।

विकीर्यमाणो नारीभिर्माल्यदध्यक्षताङ्कुरैः ।

निरीक्ष्यमाणः सस्नेहं प्रीत्युत्कण्ठितलोचनैः।।४०।।

सिक्ताः सर्वे **मार्गा यस्यां;** गन्धोदकैः सेकः. **हृष्टा जना** यस्याम्. **पताकाभिः** जयलेखाङ्किताभि**रलङ्कृतामि**ति. अधो मध्ये उपरि च शोभा

लेखः

मुकुन्दोऽपीत्यत्र. **मोक्षे हेतुरि**त्यस्यानन्तरं 'तथापि न कोपि हत' इति शेषो ज्ञेयः. **अन्यथे**ति, त्रिदशानुमोदनाकथने दुःखं भवेदिति शङ्का स्यादिति शेषः; इत्येवाशङ्क्य **इत्यपि सूचितमि**त्यन्वयः ।।३६।। निरूपिता. **नितरां घुष्टा ब्रह्मघोषेण** वेदपाठेनेति. प्रत्यागाशिषो मन्त्राः प्रवेशे पठनीया इति पुरप्रवेशे तदर्थमेव ब्राह्मणैः ब्रह्मघोषः पठितः. वैश्यानां विशेषचेष्टामाह **कौतुकैराबद्धानि तोरणानि यस्यामि**ति. सर्वाभिरेव **नारीभिः माल्यादिभिः विकीर्यमाणो** जातः, दध्यक्षताः विकीर्णाः, यवाङ्कुराश्च ह्वएवं तासां क्रिया भगवति निरूपिता त्रिविधा. ज्ञानमपि तथा निरूपयति **निरीक्ष्यमाण** इति. स्नेहो बन्धुभावेन प्रीतिः पुरुषभावेन उत्कण्ठा कामभावेनेति ह्वएवं त्रिस्वभावै**र्लोचनैर्निरीक्ष्यमाणो** जातः. स्नेहः पृथक् कृतो लौकिकदोषाभावाय ।।३९-४०।।

ततः प्राप्तधनस्य राजन्येव विनियोगं वदन् स्वस्य तदाज्ञया युद्धादिकरणं सूचयति, तद्दुःखाभावाय, आयोधनगतमिति.

आयोधनगतं वित्तमनन्तं वीरभूषणम् ।

यदुराजाय तत्सर्वमाहृतं प्रादिशत् प्रभुः।।४१।।

आयोधनं युद्धभूमिः, तत्र योधैरानीतं द्रव्यमाभरणादिप्रकारेण **अनन्तं** बह्वेव, बहवएव हताइति. अनन्तत्वे हेतुमाह **वीरभूषण**मिति. याव**दाहृतं तत्सर्वं यदुराजाय प्रादिशत्** प्रकर्षेण बोधितवान्. रक्षास्थापनादिकं तु स्वकृत्यमेवेति निवेदनमात्रं राज्ञे निरूपितम्. **प्रभु**त्वात् न सहगतानां यथेष्टं द्रव्यविनियोगः ।।४१।।

एवमेकप्रकारेण भगवतो जयं निरूप्य जयान्तरेष्वपीमं प्रकारमतिदिशति **एवं सप्तदशकृत्व** इति.

एवं सप्तदशकृत्वस्तावत्यक्षौहिणीबलः ।
युयुधे मागधो राजा यदुभिः कृष्णपालितैः।।४२।।
अक्षिण्वंस्तद्बलं सर्वं वृष्णयः कृष्णतेजसा ।
हतेषु स्वेष्वनीकेषु त्यक्तोऽयादरिभिर्नृपः ।।४३।।

अनेनापि सह सप्तदश. एकः सप्तदशधा आवृत्त इति सर्वसाम्यत्वाय

लेखः

आयोधनमित्यस्याभासे **तद्दुःखाभावायेति**, दुःखाभावसूचनायेत्यर्थः.

एवं सप्तदशकृत्व इत्यत्र. **एक** इति समर इति शेषः. **सर्वसाम्यत्वायेति**, सर्वैः साम्यं यस्य तादृशत्वाय युद्धस्येति शेषः ।।४२-४३।। **कृत्वसुच्**प्रत्ययः. देशदोषात् न विवेक उत्पद्यते इति मागध इत्युक्तम्. सम्पत्तिस्तु **राज**त्वात्. अन्यत्रापि भगवान् न स्वयं युयुधे, तथा सति लोकप्रतीत्या सर्वदा क्लेश एव भवेत्, किन्तु **कृष्ण**रक्षितैः **यदुभिः** सह युयुधे. अतएव च तद्बलमक्षिण्वन्. न केवलं रक्षार्थमेव भगवद्विनियोगः किन्तु निराकरणार्थमपीत्याह कृष्णतेजसेति. पुनः पुनः तस्यापि गमनं वाक्यैरधिकैरावेशेन चेति वक्तुमाह **हतेष्वि**ति. यतो **नृपः**; राज्ये हृते हि स निवृत्तो भवेत्, तद् भगवान् न करोतीति स न निवर्तत इत्यर्थः ।।४२-४३।।

ब्रह्माण्डे हि प्रजापतिरध्यक्षः, स कालात्मा यज्ञात्मा च. स सप्तदशो भवति, स पराजित एव. अतः परं प्रमाणरूपाः ब्राह्मणा अवशिष्यन्ते शिवश्च वेदरूपः; उभयबलमाश्रित्य अष्टादशे पर्याये समागमिष्यतीत्याह **अष्टादशम** इति.

अष्टादशमसंग्राम आगामिनि तदन्तरा ।
नारदप्रेषितो वीरो यवनः प्रत्यदृश्यत ।।४४।।

रुरोध मथुरामेत्य तिसृभिर्म्लेच्छकोटिभिः ।

त्रैलोक्ये चाप्रतिद्वन्द्वो वृष्णीन् श्रुत्वात्मसंमितान्।।४५।।

एवं पुराणान्तरे कथाह्न बहुधा सर्वैः सम्प्रार्थितोऽपि सप्तदशे पर्याये पराजितः तपस्तप्तुं गतः. तत्र समाराधितः शिवः. पश्चात् प्रसन्नेन शिवेन ब्राह्मणसमाराधनार्थं निरूपितः, ब्रह्मण्यः कृष्णो न ब्राह्मणवाक्यमन्यथा करिष्यतीति. ततः स्वनगरीं समागत्य ब्राह्मणानाहूय सिंहासने उपवेशितवान्. ततः प्रीतैर्ब्राह्मणैः पुनस्तस्मै सिंहासनं दत्वा वरोऽपि दत्तः ''शत्रुं जेष्यसी''ति ''अजेयश्च त्रैलोक्यस्य भविष्यसी''ति. एतज्ज्ञात्वा नारदः मध्ये कालयवनं च प्रेषितवान्, सोऽपि सर्वयादवनिराकरणार्थं प्रतिज्ञां चक्रे, स चेत् पश्चादागच्छेद् द्वारकां गच्छेदिति. तस्य तत्र निराकरणं मर्यादापालकेनाशक्यमिति उभयमेकहेलया निर्वहत्विति मध्ये देवगुह्यकर्ता नारदो यवनं प्रेषितवान्. स हि वृद्धगर्गस्य पुत्रः महायवनो ह्यप्रज आसीत्, तेन पुत्रार्थं प्रार्थितो वृद्धगर्गः तद्भार्यायां पुत्रमधात् ''अजेयश्च तव पुत्रो भविष्यती''त्याह. ततः कालान्तरे यदुसभायां स एव वृद्धगर्गो यदुभिरुपहसितः स्वपुत्रं प्रार्थितवान् यादवा मारणीया इति. एवं वैरे सिद्धे नारदस्तेषु प्रविष्ट एव सन्धिकालोऽयं, शीघ्रं गम्यतामिति तं प्रेषितवान्. तदाह **आगामिनि अष्टादशमे संग्रामे तदन्तरा नारदेन प्रेषितो यवनः वीर**त्वाद् युद्धरसाभिनिविष्टः **प्रत्यदृश्यत** प्रतिकूलतया समागतो दृष्टः. तस्य प्रतिकूलतामाह रुरोधेति, स्वयं समागत्य **म्लेच्छकोटिभिः मथुरां रुरोध.** तत्र कारणमाह **त्रैलोक्ये अप्रतिद्वन्द्वः** चकारादनुभावेनापि **वृष्णींश्च आत्मसम्मितान्** तुल्यान् **श्रुत्वा** नारदात् तदसहमानो रुरोधेति सम्बन्धः ।।४४-४५।।

तदा भगवान् तत्स्थानपरित्यागार्थं निरोधं चिन्तयामासेत्याह तं दृष्ट्वेति.

तं दृष्ट्वाचिन्तयत् कृष्णः संकर्षणसहायवान्।

इदं तु प्रकटचिन्तनम् अतो गूढाभिप्रायेणैव चिन्तयति. अभिप्रायस्तु स्थानात् परित्याजनीयाः ये निरोद्धव्याः; यथा बृहद्वनात् निष्कासिताः तथा मथुरातोऽपि निष्कासनीयाः. यदि देशान्तरं न गच्छेयुः तदा निरुद्धा एव न भवेयुः, लोके तथा दर्शनात्. अतो भगवान् एतान् अन्यत्र नेतुं विचारयति. तत्संमतिव्यतिरेकेण नयने मन्त्रभेदः स्यादिति मर्मज्ञेन बलभद्रेण सह मन्त्रयामास. यतोऽयं **कृष्णः** निरोधार्थमेव प्रवृत्तः. अन्यथा सदानन्दः तेषां न भवेद्, बहिश्चित्तत्वादिति. **सङ्कर्षण एव सहायो यस्येति** अतस्तेन सह चिन्तनम् ।।

चिन्तनवाक्यान्याह अहो इत्यादिसार्धैः त्रिभिः.

अहो यदूनां वृजिनं प्राप्तं ह्युभयतो महान्।।४६।।

यवनोऽयं निरुन्धेऽस्मानद्य तावन्महाबलः ।

मागधोऽप्यद्य वा श्वो वा परश्वो वागमिष्यति।।४७।।

आवयोर्युध्यतोरस्य यद्यागन्ता जरासुतः।

बन्धून् हनिष्यत्यथवा नेष्यते स्वपुरं बली ।।४८।।

तस्मादद्य विधास्यामो दुर्गं द्विपददुर्गमम् ।

तत्र ज्ञातीन् समाधाय यवनं घातयामहे ।।४९।।

अहो इत्याश्चर्ये, कथमयमकस्मादागत इति, कथं वा सन्धिकालं ज्ञातवानिति. **यदूनां वृजिनं** दुःख**मुभयतोऽपि प्राप्तमि**ति प्रतिज्ञा. तां निरूपयति **महान् यवनोऽयमद्य निरुन्ध** इति. अस्मानिति तैः सहाभेदः कार्यार्थं निरूपितः. स्वरूपतोऽपि **महान् महाबलश्च. अद्य महाबल** इति उभयोर्ब्राह्मणवाक्यं बलमिति सूचितम्, यावज्जरासन्धो नायाति तावदनेनैव निरुद्धा इति. तर्हि जरासन्धस्थाने अयमेव जातः, को विशेष इति चेत् तत्राह **मागध** इति, **मागधोऽप्यद्यै**वायास्यति. तर्हि तद्बुद्धिः प्रेरणीया यथाद्य नायास्यतीति चेत्, तत्राह श्वो वा समागमिष्यतीति. तर्ह्यन्तर्यामी वक्तव्यः श्वोऽपि नानेतव्यः तत्राह **परश्व** इति. तर्हि कालो वक्तव्य इत्याशङ्क्य त्र्यधिकपर्याये कोऽपि वक्तुं न युक्त इति वाशब्दं प्रयुक्तवान्; किमद्य श्वो वञ्चनेन आगमिष्यतीत्यत्र तु न सन्देहः अत उपाय एव कर्तव्य इत्यर्थः. तर्हि उभावपि मारणीयाविति चेत्, तत्राह **आवयोर्युध्यतोरि**ति. उभावजेयौ अतः प्रधानपरिहारेण केवलबलहनने विलम्बो भवतीति यवनेन सह **आवयोर्युध्यतोः** सतोः प्रक्रान्तस्य त्यागायोगात् यदि मध्ये जरासन्धः चतुरः समागच्छेत् तदा अस्मान् अन्यत्रासक्तान् विहाय बन्धून् वसुदेवादीन् **हनिष्यति स्वपुरं वा बद्धवा** नेष्यति; पश्चान्मोचनार्थं बहु कर्तव्यं पतेत्. मारयितुमशक्य एवेत्याह **बली**ति. एवं सति यत् कर्तव्यं तदाह तस्मादिति, **द्विपदानां** मनुष्यमात्रस्य **दुर्गमं दुर्गं विधास्याम** इति. नन्वेतावदलौकिकं यः करोति स तानेव कथमन्यथा न करोति, किमिति स्थानं त्याजयतीति चेत्, मैवम्, द्वारकादिनिर्माणे न काचिन्मर्यादा बाध्यते, अन्यत्र तु ब्राह्मणवाक्यानि बाध्यन्ते. एतदर्थमेव द्वारकानिर्माणमिति न तत्र ब्राह्मणवाक्यं प्रभविष्यति, सर्वत्राधिकप्रयत्नः साधारण्यं निराकरोतीति. अतएव पूर्वं बलीति पदम् अत्र च **द्विपदमि**ति. अतो ब्राह्मणा अपि द्विपदा एवेति तेषामपि स दुर्ग एव. पश्चान्निर्भये स्थाने **ज्ञातीन्**

वसुदेवादीन् **समाधाय यवनं घातयामहे,** तदा विलम्बो न बाधक इति. अन्यथा भगवत्यन्यत्र गते मुचुकुन्दगुहायां वसुदेवादयो भीताः खेदं प्राप्नुयुः ।।४६-४९।।

एवं निर्धारिते मन्त्रे यदासीत् तदाह इति संमन्त्र्येति.

इति संमन्त्र्य दाशार्हो दुर्गं द्वादशयोजनम् ।

अन्तःसमुद्रे नगरं कृष्णोऽद्भुतमचीकरत्।।५०।।

यतो **दाशार्हो** भक्तरक्षकः, अनेन क्लिष्टकरणदोषोऽपि परिहृतः. ननु कालादिभिरनिर्मितं कथं निर्मास्यति? तथा सति कालादयो वा कथं न प्रतिबन्धं करिष्यन्तीत्याशङ्क्याह तद्**दुर्गमेव** करिष्यति. जलादिदुर्गाः प्रसिद्धाः अतो नालौकिकं करिष्यति. किञ्च कालहितमपि करिष्यतीत्याह **द्वादशयोजनमिति. द्वादशात्मा** हि कालः प्रतिपक्षतया वा करिष्यति; अलौकिकत्वात् चतुरस्रं तत्. सर्वापेक्षया विशेषं वक्तुं तत्रत्यं गुणत्रयमाह अन्तःसमुद्र इति समुद्रमध्ये. न सा पृथिव्यां तिष्ठति किन्तु भूमिवत् नगर्यप्यन्तरिक्षे समुद्रमध्ये जलोपरि तिष्ठति, अन्यथा नीचे स्थिता भवेत्. तत्र वैलक्षण्यं सम्भविष्यतीति तन्निराकरणार्थं **नगरमि**ति. तत्रापि विशेषः **अद्भुतमि**ति. **कृष्ण** इति सदानन्दः, तेन कृतं स्थानं तत्प्रापकं भविष्यतीति ज्ञापितम्. **अचीकरदि**ति स्वयमेव चकार. विश्वकर्मणा कृतमित्येके, **त्वाष्ट्रमिति** पदात्. वस्तुतस्तु विश्वकर्मणो यावन्नैपुण्यं तावदत्र भगवतैव निर्मितमिति. स हि जले कर्तुं न शक्नुयात्. अन्यथा इतो भगवति क्रमेण षड्गुणेष्वपि गतेषु सप्तमे दिवसे तं न प्लावयेत् समुद्रः, विश्वकर्मणो विद्यमानत्वात्. अस्तु वा विश्वकर्मणा कारितमिति, अचीकरद् विश्वकर्मणेति करणं वा ।।५०।।

दृश्यते यत्र हि त्वाष्ट्रं विज्ञानं शिल्पनैपुणम् ।

रथ्याचत्वरवीथीभिर्यथावास्तु विनिर्मितम्।।५१।।

यत्र नगरे **त्वाष्ट्रं विज्ञानम**नेकचातुर्ययुक्तं **दृश्यते. शिल्पे नैपुण्यं यस्मात् विज्ञानादि**ति ज्ञानप्रमायां हेतुरुक्तः. किञ्च **रथ्याचत्वरवीथीभिः** सहितं **यथावास्तु** वास्तुशास्त्रसहितं **विशेषेण निर्मितं** चित्रादिरहितेऽपि सामान्यनिर्माणेऽपि वैशिष्ट्ययुक्तम्. दैविकं लौकिकं शास्त्रीयं च ज्ञानं तस्मिन् नगरनिर्माणे प्रतिष्ठितमिति वर्णनावधित्वं निरूपितम् ।।५१।।

दृश्यते इत्यत्र **वर्णनावधित्वमि**ति. वास्तुशास्त्रे यथा वर्णितं तादृशं निर्मितमित्युक्त्या शास्त्रवर्णनमवधिर्यस्य तादृशत्वं निर्माणस्य निरूपितम् ।।५१।।

विशेषतो वर्णयति.

सुरद्रुमलतोद्यान–विचित्रोपवनान्वितम् ।

हेमशृङ्गैर्दिविस्पृग्भिःस्फाटिकाट्टालगोपुरैः।।५२।।

सुरद्रुमाः पारिजातादयः ते **उद्यानेषु** यत्र. **उद्यानं** पुष्पप्रधानम् **उपवनं** फलप्रधानं ते**रन्वितमिति** सर्वत उभयेषां सम्बन्ध उक्तः. अन्तर्नगरे वैशिष्ट्यमाह **हेमशृङ्गैर्दिविस्पृग्भिरिति,** एकविंशतिगृहोपरि सुवर्णशृङ्गाणि सुवर्णकलशस्य परितः स्थापितानि अतएव दिवं स्पृशन्ति. तत्र निदानप्रस्तरानाह **स्फाटिके**ति, स्फाटिकैरेव निर्मिताः **अट्टालाः गोपुराणि** च ।।५२।।

राजतारकुटैः कोष्ठैर्हेमकुम्भैरलङ्कृतैः।

रत्नकूटैर्गृहैर्हैमैर्महामरकतस्थलैः।।५३।।

दुर्गत्वादन्नसङ्ग्रहार्थं **रजतैरारकूटैश्च** निर्मितानि **कोष्ठानि;** रजतारकूटशब्दादण्. **हेमकुम्भैश्च सर्वतः अलङ्कृतम्.** घृतदध्याद्यर्थं राजतानि कोष्ठानि, अन्नार्थं तु पैत्तलनिर्मितानि. सर्वधातूपलक्षण**मारकूटप**दम्, आद्यन्तयोः रजतसुवर्णयोरुपादानात्. उपरि शोभातिशयमुक्त्वा मध्ये शोभामाह **रत्नकूटैर्गृहैर्हैमैरि**ति. सर्वत्र गृहाः रत्ननिर्मितपदकवत् सौवर्णाः. भूमिश्च मरकतशिलाभिः निर्मितेत्याह **महामारकतानि स्थलानि येष्वि**ति ।।५३।।

वास्तोष्पतीनां च गृहैर्वलभीभिश्च निर्मितम्।

चातुर्वर्ण्यजनाकीर्णं यदुदेवगृहोल्लसत्।।५४।।

लेखः

अग्रे **ते उद्यानेषु यत्रे**ति. यत्र उद्यानेषु ते सन्ति. तथा च सुरद्रुमलतायुक्तान्युद्यानानि विचित्राण्युपवनानि च तैरन्वितमित्यर्थः. **एकविंश तिगृहोपरी–**ति. यथावास्तुइत्युक्तत्वात् तत्रोपर्युपर्येकविंशतिप्राकारपर्यन्तं गृहा निरूपिताः तथात्रापीति भावः. **दिवमि**ति, तच्छास्त्रोक्तत्वादत्राप्येवमुक्तम्.

निदानेति, यदुपर्यन्ये गृहा भवन्ति ते मूलकारणभूताः प्रस्तराः स्फटिकमया इत्यर्थः ।।५२।।

अनुपयुक्ता अपि धर्मसाधकाः कौतुकसाधकाश्च गृहाः सन्तीत्याह **वास्तोष्पतीनां** वास्तुदेवताधिपतीनामिन्द्रादीनाम्. वस्तून्यस्मिन्निति वास्तुदेवता भूमिः, तस्याः पतयः सर्वे लोकपालाः, चकाराद् दुर्गादीनामपि. अनेन मध्ये भगवतः परित आशापालानां गृहा इत्युक्तं भवति. **वलभीभिरि**ति सर्वत्र छजा(छादन)निर्माणम्, अनेनाग्रे निर्माणक्रिया कापि नापेक्षितेति सूचितम्. किञ्च **चातुर्वर्ण्यजनाकीर्णं** चातुर्वर्ण्यैजनैः पूर्वमेवाकीर्णम्. तेन ते भगवत्कृता एव जना निरूपिताः, अन्यथा इतो गतानां वन्द्यामिव पातो भवेत्. ते हीदानीमपि तिष्ठन्ति अतस्तत्सन्निधानेन सर्वदा विद्यमानत्वसाम्याद् भगवद्गृहमाह **यदुदेवगृहेण उल्लसदि**ति. मध्ये भगवद्गृहं चतुर्दिक्षु वर्णचतुष्टयानाम्. **आकीर्णमि**ति किर्मीरितत्वं निरूपितम् ।।५४।।

एवं भगवता स्थाने निर्मिते विशेषतो निर्माणे कृते पारिजातादीनामनन्यत्वप्रतिष्ठा गमिष्यतीति लोकपालाः सर्वे स्वस्वसमृद्धिं प्रेषितवन्त इत्याह **सुधर्मामि**ति त्रिभिः.

सुधर्मां पारिजातं च महेन्द्रः प्राहिणोद्धरेः।
यत्र चावस्थितो मर्त्यो मर्त्यधर्मैर्न युज्यते।।५५।।
श्यामैककर्णान् वरुणो हयान् शुक्लमनोजवान्।
अष्टौ निधिपतिः कोशाँलोकपालो निजोदयान्।।५६।।
यद्यद् भगवता दत्तमाधिपत्यं स्वसिद्धये।
सर्वं प्रत्यर्पयामासुर्हरौ भूमिगते नृप।।५७।।

यदग्रे पारिजातहरणं तन्मतान्तरभाषया निरूपितं, तदग्रे विस्तरेण वक्ष्यामः. **सुधर्मा** देवसभा, नवरत्ननिर्मितेव भूमिरूपा काचिद् देवता 'सुधर्मे'त्युच्यते, यत्रोपवेशनमात्रेणैव धर्मो धर्मफलं च भवतीति. चकारादन्येऽपि सुरद्रुमाः. इन्द्रः सिंहासनादिकं च प्रस्थापितवानिति उभयोर्माहात्म्यं वर्णयति यत्र

अग्रे **वर्णचतुष्टयानामि**ति, वर्णचतुष्टयमपि चतुर्दिक्षु अतो बहुवचनम् ॥५४॥

चेति. **यत्र** सुधर्मायां चकारात् पारिजाता(मर)धर्माश्च[१], अनेन समीपे विद्यमानः सर्वदा नियतमरणधर्मापि तैः स्वाभाविकैः **मर्त्यधर्मैः न युज्यते.** अनेन पूर्वदोषपरिहारोऽप्युक्तः, गुणास्तु **सुधर्मा**पदेनैवोक्ताः. अन्यामपि सम्भूतिमाह **श्यामैककर्णानि**ति, एकः कर्णः श्यामः दक्षिणः शिष्टः सर्वोऽपि कुन्दसन्निभः; उच्चैःश्रवस एतद्वैलक्षण्यम्. अयं स्वर्गः कर्म चेति उभयबोधनार्थं प्रवृत्तिशास्त्रस्थाने श्यामता निरूपिता. ते चाश्वाः सैन्धवा एवेति ज्ञापयितुं **वरुणेन** प्रस्थापितमित्युक्तम्. अन्यत्र वर्णान्तरसम्भावना स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थं **शुक्ला** इति. जव एव तेषां श्लाघ्य इति **शुक्ला**श्च ते **मनोजवा**श्चेत्युक्तम्. शुक्ले जवाभावमाशङ्क्य समास उक्तः. **निधिपति**त्वा**दष्टौ** निधीन् प्रेषितवानिति गम्यते. **अष्टौ लोकपालाश्च कोशान्** भण्डारवस्तूनि **निजस्य** स्वस्य स्वस्य अ**भ्युदयां**श्च. ननु स्वयमनेकसुकृतेन प्राप्तं भोगसाधनमधिकारज्ञापकं च किमिति दत्तवन्त इत्याकाङ्क्षायामाह **यद्यद् भगवता दत्तमि**ति. न हि तानि वस्तूनि स्वधर्मोपार्जितानि किन्तु भगवता दत्तानि. यतस्त**दाधिपत्यम्,** ईश्वरेणैव ह्याधिपत्यं दीयते. तथापि प्रतिदाने को हेतुरिति चेत्, तत्राह **स्वसिद्ध्य** इति, स्वस्य सिद्ध्ये. अधिकारो हीश्वरेच्छयैव भवति, सा च ज्ञातुमशक्येति यथा तन्नियतं भवति तथोपायः कर्तव्यः. तद् भगवति दान एवाक्षयं भवति. अतः स्वस्य धनस्य अधिकारस्य वा सिद्ध्ये सम्यङ्निष्पत्त्यर्थं **सर्वं प्रत्यर्पयामासुः.** ननु भगवता तत्कथं ग्राह्यमिति चेत्, तत्राह **हरौ भूमिगत** इति. भूमिरपि दत्ता ब्रह्मणे मनवे वा, पुनर्भक्तोद्धारार्थं स्वयमप्यागतः. तन्न्यायेन सर्वामपि समृद्धिं भक्तेभ्यो दातुं प्रदर्शयितुं वा अपेक्षेतेति प्रत्यर्पणमुचितम्. एतदभिज्ञानाय **नृपे**ति सम्बोधनम् ॥५५-५७॥

लेखः

श्यामैककर्णानित्यत्र **उच्चैःश्रवस** इति. स सर्वोऽपि कुन्दसन्निभः एतद्वैलक्षण्यमित्यर्थः. **अयमि**ति. एकः कर्णः प्रवृत्तिशास्त्ररूपः एको निवृत्तिशास्त्ररूपः. तत्रायं वामः प्रवृत्तिशास्त्ररूपः कर्णः स्वर्गरूपः तत्साधनकर्मरूपश्च. उभयोरपि दोषशङ्काकलुषितत्वाच्छ्यामत्वमित्यर्थः ॥५६॥

१. धर्मश्चेति पाठान्तरः ह्वसम्पा.

यदर्थमेतन्निर्माणं तदाह **तत्रे**ति.

तत्र योगप्रभावेण नीत्वा सर्वजनं हरिः।
प्रजापालेन रामेण कृष्णः समनुमन्त्रितः।।
निर्जगाम पुरद्वारात् पद्ममाली निरायुधः।।५८।।

।।इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः।।

अणिमादयो हि योगस्य सहजफलानि, इदं तु वक्ष्यमाणं योगस्यानुभावस्य फलंह्व यथास्थितान् शयानान् सर्वानेव तेषां दुःखनिराकरणार्थं तत्र द्वारकायां **नीत्वा** स्वयं पुनरागतः. तत्रत्यप्रजानां देशवासिनां दुःखनिवृत्त्यर्थं बलभद्रं निरूप्य **प्रजापालेन** अङ्गीकृते तेन प्रजापालने वस्तुतोऽपि **रामेण** रत्युत्पादकेन **कृष्णः** स्वयं सदानन्दः नातः परमत्र मथुरायां स्थेयमिति ज्ञापयन्निव साधनानुमतिं गृहीत्वा फलरूपः ततो निवृत्त इत्याह **निर्जगामे**ति. नितरां गमनं नित्यसन्निधिरूपेणापि ततो निर्गत इति ज्ञापयितुम्. नित्यक्रियारूपेण तु वर्तत इति न काप्यनुपपत्तिः. **पुरद्वारादि**ति निर्गमनं सर्वजनीनं भवत्विति. निर्गच्छता भगवता द्वयं ज्ञापितमिति विशेषणद्वयमाह **पद्ममाली निरायुध** इतिह्व ततः कीर्तिर्नीता रक्षा तु कृतेति. एवं निर्गमनस्य प्रयोजनमग्रे स्पष्टं भविष्यति ।।५८।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धे उत्तरार्धे प्रथमाध्यायविवरणम्।।

लेखः

निर्जगामेत्यत्र **रक्षा त्वि**ति. एतत्प्रकरणीयलीलायाः प्रद्युम्नचरित्रत्वाद् बन्धुरक्षार्थमायुधग्रहणम्. स्थानदानेन रक्षायास्तु कृतत्वान्निरायुधो निर्गतः. तथाच निरायुधत्वेन रक्षाकरणं ज्ञापितमित्यर्थः ।।५८।। प्रथमाध्यायव्याख्या समाप्ता।।

।।इति सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः।।

।।द्वितीयः स्कन्धादितो अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः।।

निग्रहं प्रथमेऽध्याये निरूप्य हरिणा कृतम्।
द्वितीयेऽनुग्रहं प्राह मुचुकुन्दाय यत्कृतम्।।(१)।।
तामसी हननाख्या हि राजसी नगरोद्यमा।
सात्त्विकी नयनाख्या च निर्गुणा निर्गमस्तथा।।(२)।।
निर्गुणस्य निमित्तत्वं न तु कर्तृत्वमीर्यते।
प्रबोधो मरणं चैव संवादश्च यथाक्रमात्।।(३)।।
स्तुतिश्च निर्गुणा प्रोक्ता तदग्रे हि फलिष्यति।
अतो निर्गुणलीलात्र द्वितीये विनिरूप्यते।।(४)।।
क्रिया भगवतो द्वेधा गुणेषु स्वे यतः स्थिता।।

पूर्वाध्यायान्ते तत्त्वान्१ परित्यज्य केवलं तं व्यामोहयितुं कीर्तिमयीं वनमालां बिभ्रत् निर्गत इत्युक्तम्. कालयवनस्य मुक्त्यर्थं नारदोपदेशं गृहीतवतः साक्षात्कारः, ततस्तदनुसरणं, ततो दृष्ट्या ज्ञानरूपेण ज्ञानाग्निना संघातनाशश्च

लेखः

द्वितीयेऽध्याये **निर्गुणस्ये**ति. निर्गुणस्वरूपस्य कर्तृत्वाभावान्निर्गमलीलाविष्टस्य स्वरूपस्य यवनवधे निमित्तत्वम्, नतु वधकर्तृत्वमित्यर्थः. अत्रापि लीलाचतुष्टयमित्याशयेनाहुः **प्रबोध** इति, मुचुकुन्दस्य जागरणं, यवनस्य **मरणं** मुचुकुन्देन भगवतः **संवादश्च** सात्त्विक-तामस-राजसा इत्यर्थः. तदग्रे हीति, निर्गुणस्वरूपेण मुचुकुन्दस्य दत्तं मोक्षलक्षणं फलं जन्मान्तरे फलिष्यतीत्यर्थः. अत इति. पूर्वाध्यायोक्ता निर्गुणलीला न फलपर्यवसायिनी अतोऽविशेषाल्लीलाचतुष्टयमपि तत्राध्यायार्थः; अत्र तु निर्गुणलीला मोक्षलक्षणं फलं फलिष्यति. **अतः** फलसम्बन्धादत्र **निर्गुणलीलै**वाध्यायार्थ इत्यर्थः. **गुणेष्विति**, **गुणेषु स्थिता** सगुणा **स्वे** स्वरूपे **स्थिता** निर्गुणेत्यर्थः (३-४).

तत्त्वानीति, चतुर्णामायुधानां तत्त्वरूपत्वात् 'निरायुध'पदेन तत्त्वपरित्याग उक्त इति भावः. एतदाशयेनैव निर्गमलीलाया निर्गुणत्वमुक्तमिति

---

१. तत्त्वानिति प्राचीनपुस्तकेषु पाठः, तत्त्वानीति लेखकारसंमत इति.

निरूप्यते, निर्गुणक्रियाया मोक्षपर्यवसानात्. परं तस्य काल एव मुक्तिरिति निरूपयितुं द्वादशभिर्निरूप्यते **तं विलोक्ये**ति.

।।श्रीशुक उवाच।।

तं विलोक्य विनिष्क्रान्तमुज्जिहानमिवोडुपम्।
दर्शनीयतमं श्यामं पीतकौशेयवाससम् ।।१।।

तं विलोक्य वासुदेवोऽयमिति निश्चित्य ''तं जिघृक्षुरन्वधावदि''ति षष्ठेन सम्बन्धः. तत्रादौ त्रिभिस्तद्दृष्टं रूपं वर्णयति पञ्चदशकलापूर्णमिव तावद्भिर्विशेषणैः. अतः प्रथमतः चन्द्रदृष्टान्तेनैव निरूपयति **विशेषेण निष्क्रान्तं** यथा उदयाद्रेः चन्द्रः, न तु राहोर्मुखात् नापि मेघेभ्यः. तथा भगवानपि न मारयितुं नापि भयमुत्पादयितुं, भयेन वेति तदाह उज्जिहानमिति, प्रथमदर्शनापेक्षया द्वितीयदर्शने अधिककान्तियुक्तः प्रतीयत इति. ननु विशेषकान्तिप्रदर्शनं किमर्थमित्याशङ्क्याह **उडुपमिवे**ति. चन्द्रो हि नक्षत्राणां रक्षकः; यदि तत्तन्नक्षत्रे न गच्छेद्, गत्वा वा तं न प्रकाशयेत् स्वरूपतः फलतश्च, तदा नक्षत्राणां वैयर्थ्यमेव स्यात्. तथा भगवान् नारदादीनां रक्षार्थं तदुपदिष्टेषु स्वानुभावं ख्यापयितुं प्रतिक्षणं रूपवैशिष्ट्यं प्रकाशितवानित्यर्थः. किञ्च तस्मिन् दृष्टे युद्धार्थं समागतानां क्रोधः कदाचिद् भवेत् ततश्च असन्मत्या मोक्षो न भवेदिति भगवान् स्वस्वरूपं सुन्दरत्वेनैव प्रकाशितवानित्याह **दर्शनीयतममि**ति. दर्शनीयोऽतिसुन्दरः; अत्याश्चर्यं हि परस्मै प्रदर्श्यते स्वस्यापि पुनः पुनर्द्रष्टव्यो भवति. **श्याममि**ति रसात्मकता निरूपिता. सर्ववेदयुक्तत्वमाह **पीतकौशेयवाससमि**ति. नग्नाद् न मुक्तिरिति वैदिकः सिद्धान्तः, ''आद्यन्तमध्ये बद्धो हि वेदेनामृतमश्नुत'' इति.

कच्छाशिखोपवीतानि बन्धनान्याह वेदतः।।(५)।।

लेखः

भावः. **परं तस्येति**, ''ये च प्रलम्बे''त्यत्र यवनस्य मुक्तिर्निरूपिता परन्तु कालरूपे एवेत्यर्थः.

तं **विलोक्ये**त्यत्र. **नारदादीनामि**ति वाक्यस्येति शेषः. उडुरक्षार्थं चन्द्र इव नारदादिवाक्यरक्षार्थं भगवानागतः अतस्तस्योडुषु गमनमिव भगवतो

पीतवर्णं कौशेयं वासो यस्येति वेदो यज्ञो देवाश्च पदत्रयेण परिगृहीताः. छन्दोमयं पीतमिति. कौशेयं क्षौमं, ''सौम्यं वै क्षौममि''ति श्रुतेः. सर्वदैवत्यं वास

इति च. अन्यथा 'पीताम्बरमि'त्येव ब्रूयात्. भगवदीयं हि न प्राकृतप्रकृतिकं भवतीति विशेषणवैयर्थ्यं च ।।१।।

एवं धर्मरूपतां निरूप्य अर्थरूपतामाह.

श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभामुक्तकन्धरम्।
पृथुदीर्घचतुर्बाहुं नवकञ्जारुणेक्षणम् ।।२।।

श्रीवत्सवक्षसमिति, श्रीवत्सो वक्षसि यस्येति. दक्षिणावर्तरोमरेखायां सुवर्णरेखावत्तेजोविशेषः **श्रीवत्स**शब्देनोच्यते. वक्षसि जीवः सन्निहितइति तत्रैव भगवता अर्थः स्थापितः सुतराम्. दक्षिणः स्तनो धर्मो भवतीति धर्मप्रतिष्ठित एवार्थो भगवता परिगृहीतः. अतएव तत्र जीवप्रतिष्ठामाह **भ्राजत्कौस्तुभेनामुक्ता कन्धरा यस्ये**ति. ''पुरुषः काममय'' इति कामस्तन्निरूपणेन निरूपितः. मोक्षस्तु स्वेनैव दीयत इति प्रसङ्गादन्यदानमपि चतुर्भुजत्वेन निरूपयति **पृथुदीर्घे**ति, पृथवो दीर्घाः चत्वारो भुजा यस्येति. कृपया ज्ञानमपि प्रयच्छतीति ज्ञापनार्थमाह **नवकञ्जारुणेक्षणमि**ति, नवकमलवदरुणे ईक्षणे यस्य. नूतनत्वेन कालाग्रासः, कञ्जत्वेन सात्त्विकता, अरुणत्वेन राजसता च ईक्षणस्य निरूपिता. तेन सरसा सदया ज्ञानदृष्टिर्भगवदीया भक्तिं साधयतीति पञ्चमोऽपि पुरुषार्थो निरूपितः ।।२।।

प्रार्थनावसर इति ख्यापयति नित्यप्रमुदितमिति.

नित्यप्रमुदितं श्रीमत्सुकपोलं शुचिस्मितम् ।
मुखारविन्दं बिभ्राणं स्फुरन्मकरकुण्डलम्।।३।।

एवं सर्वपुरुषार्थदातारं भगवन्तं निरूप्य मुखारविन्दमपि पञ्चभिर्विशेषणैः विशिष्टं पञ्चपर्वविद्यारूपं स्वतन्त्रभक्तिमार्गत्वेन निरूपयन्नाह **श्रीमदि**ति. **मुखारविन्दं बिभ्राणमि**ति भगवद्विशेषणं, स मार्गो भगवतैव स्थाप्यत इति ज्ञापयितुम्. तदपि श्रीयुक्तं भवति परमसुन्दरं भगवानिव. **सुष्ठू कपोले**

लेखः

नारदवाक्यानुगमनमिति भावः. **सौम्यं वै क्षौममि**ति, सौम्यं सोमलतासम्बन्धि यज्ञार्हमित्यर्थः ।।१।।

यस्येति प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रकारेणापि रसानुभवस्थानयुक्तम्. **शुचि** शुद्धं **स्मितं यस्मिन्नि**ति सेवनार्थमेव समीचीनं मोहं सम्पादयति नान्यथेति निरूपितम्. **स्फुरन्ती मकरसदृशे कुण्डले यस्ये**ति बहिर्निर्गमने ग्रासार्थं स्थापिताविव

मकरतुल्यौ वेदौ निरूपितौ. मोक्षदित्सया गच्छन् भगवन्मार्गं भक्तिमार्गं च स्थापयतीति निरूपितम् ।।३।।

एतादृशो भगवानेव भवतीति नारदशिक्षया ज्ञातवानित्याह **वासुदेवो ह्ययमि**ति.

वासुदेवो ह्ययमिति पुमान् श्रीवत्सलाञ्छनः।

चतुर्भुजोऽरविन्दाक्षो वनमाल्यतिसुन्दरः ।।४।।

सत्त्वे आविर्भूतः मोक्षदाता वा अयमेव वासुदेव इति निश्चयं कृतवान्. कथं निश्चय इत्याशङ्क्य असाधारणानि षड्गुणरूपाणि षड्विशेषणान्याह. **इती**ति निश्चयार्थः. यतः **पुमान्** न तु प्रकृतिः. दिव्यदृष्ट्या हि पश्यतीति सर्वजगतः प्राकृतत्वं भगवतः पुरुषत्वं च दृष्टवान्. अनेनैश्वर्यमपि निरूपितम्. ''विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणी''ति वाक्यात् तेषां पुरुषरूपत्वं न बाधकं प्रत्युत मूलस्य पुरुषत्वे तेषां पुरुषरूपत्वमुपपद्यत इति साधकत्वमेव. **श्रीवत्सो लाञ्छनं यस्ये**ति क्रियाशक्तिः पूर्णा वीर्यत्वेन निरूपिता, भगवत्येव सा यतः. ततो यशो निरूपयन् सर्वपुरुषार्थदातृत्वे तद् भवतीति **चतुर्भुज**त्वमाह.

लेखः

बहिर्निर्गमन इति. मुखस्य भक्तिरूपत्वेन भक्तिमार्गाद्बहिर्निर्गमने वेदग्रासः कालाधीनत्वं भवतीत्यर्थः. कपोलयोः प्रवृत्तिनिवृत्तित्वस्योक्तत्वात्तत्र स्थितयोः कुण्डलयोर्वेदत्वमुक्तम्. **भगवन्मार्गमि**ति, भगवत्त्वं ब्रह्मभावस्तत्साधकं मार्गं सांख्ययोगमार्गमित्यर्थः, कुण्डलयोः साङ्ख्ययोगरूपत्वादिति भावः. **भक्तिमार्गमिति,** मुखस्य भक्तिरूपत्वादिति भावः ।।३।।

ननु ''विष्णोस्त्वि''तिवाक्यादक्षरस्य पुरुषत्वं नतु पुरुषोत्तमस्येत्याशङ्क्याह **विष्णोस्त्वि**ति. **इति वाक्यात्तेषां** रूपाणां पुरुषत्वं पुरुषोत्तमस्य पुरुषत्वे **बाधकं न** किन्तु **मूलस्य** पुरुषोत्तमस्य पुरुषत्वात्तेषामपि पुरुषत्वं जातमिति साधकत्वमेव तस्येत्यर्थः ।।४।।

ततो दृष्ट्यैव तापहारकत्वं भक्तिप्रदत्वेन निरूपयन् श्रियं निरूपयति **अरविन्दाक्ष** इति. रविव्यतिरिक्तान् सर्वानेव द्यति खण्डयति महातेजस्विनमेव स्थापयतीति तादृशमक्षि निरूपयन् श्रियं भक्तिं च निरूपितवान्. **वनमालाम्** अन्तः प्रवेश्य ज्ञानवत्तिष्ठतीति ज्ञाननिरूपणेन पूर्णता निरूपिता. **अतिसुन्दरः**

सर्वथा कल्मषाभावाद्. देशपरित्याग एव हि वैराग्यमिति. अतः कारणात् वासुदेव इति निश्चयः ।।४।।

लक्षणैर्नारदप्रोक्तैर्नान्यो भवितुमर्हति ।

निरायुधश्चलन् पद्भ्यां योत्स्येऽनेन निरायुधः।।५।।

किञ्च **लक्षणैरि**ति, **नारदोक्तैः** वासुदेवा**दन्यो** भ**वितुं नार्हति**. पुराणान्तरादत्र कथानुसन्धेया. गतो हि नारदः कालयवनमाहह्न यादवाः त्वत्सदृशाः इति, परं कृष्णो रक्षकः, स च सर्वथा ज्ञातुमेवाशक्यः, कुतो जय्यः कथमशक्य इत्याकाङ्क्षायां नूतनान्यनेकानि रूपाणि सम्पादयतीत्युक्त्वा आह ''तं त्वं न ज्ञास्यसी''ति. ततो विशेषजिज्ञासायां लक्षणानि निरूपितवान्ह्न स एकाकी निरायुधः अयुध्यमानः सर्वाभरणभूषितः पदातिर्निर्गमिष्यतीति. तं यः सायुधो अश्वाद्यारूढोऽनुगच्छेत् तं पापं प्रसर्पेदिति. कालयवनस्यापि स्वपापादेव भयं नान्यत इति निरूपितम् अतोऽस्मिन्नारदोक्तलक्षणानि वर्तन्त इति वासुदेवश्च. तर्हि किं करिष्यसीत्याशङ्कायामाह **निरायुध** इति. यतोऽयं **निरायुधः पद्भ्यां** च **चलन्** गच्छति, अतोऽहमपि **निरायुध** एव गमिष्यामि **पद्भ्यामेव** च **चलन्**. ततो **योत्स्ये** मल्लप्रकारेण **अनेन** सह, युद्धार्थमेव यतः समागतमिति, अहमपि निरायुधः अयमपीति ।।५।।

इति निश्चित्य यवनः प्राद्रवन्तं पराङ्मुखम् ।

अन्वधावज्जिघृक्षुस्तं दुरापमपि योगिनाम्।।६।।

इतीति, एवं **निश्चित्य पराङ्मुखम**पि भगवन्तं प्राद्रवत्. नारदो हि हितप्रश्ने उक्तवान्ह्न यथा भगवान् करोति तथा कर्तव्यमिति, तदा ते जयः जीवनं च भविष्यतीति. तदनेनान्यथाबुद्धंह्न भगवान् पराङ्मुखः अयं भगवत्सम्मुखो भूत्वा सर्पणं कृतवानिति. वाक्याज्ञाने हेतुमाह **यवन** इति, जातिदोषात् न ज्ञातवानित्यर्थः. यदि गच्छति भगवति तूष्णीमयं तिष्ठेद् बलभद्रेण सह वा युद्धं कुर्यात् तदा जयो भवेदपि, भगवांश्च सम्मुखमागच्छेत्, तथागमने प्रयोजनाभावात्. अतः पराङ्मुखमपि भगवन्तं प्राद्रवन्तमपि **जिघृक्षुः** सन्स्वय**मन्वधावत्**. ननु जिघृक्षया गमनमुचितमेवेत्याशङ्क्याह **योगिनामपि दुरापमि**ति. अत्र प्रमाणं **तमि**ति, तथैव प्रसिद्धम् ।।६।।

हस्तप्राप्तमिवात्मानं हरिणा स पदे पदे ।

नीतो दर्शयता दुरं यवनेशोऽद्रिकन्दरम्।।७।।

ननु कियद्दूरं गत्वा अप्राप्तौ कथं न निवृत्त इति चेत्, तत्राह **हस्तप्राप्तमिवे**ति. **स** हि **हरिणा नीतः**. तर्हि वञ्चयतीति कथं न ज्ञातवान्? तत्राह **पदे पदे हस्तप्राप्तमात्मानं** भगवन्तं मन्यमान इति. हस्तमात्रगमनानन्तरं भगवान् प्राप्यत इति स जानन् गतः. नहि कश्चिद्धस्तमात्रादुदासीनो भवति, अत आकाङ्क्षा न निवृत्ता. यदा हि प्राणी क्रियया आत्मानं प्राप्स्यामीति मन्यते, स हि भ्रान्त[१] एव भवति. ननु भगवता वा किमर्थं नीत इति चेत्, तत्राह **हरिणे**ति. स हि हरिः; तस्याप्यविद्या हर्तव्या मुचुकुन्दस्य च निद्रेति. भगवान् हि यः स्वात्मानमनुसरति तन्नोपेक्षत इति पदे पदे तथा बुद्धिमुत्पादितवान्. तदाह **दर्शयते**ति, **पदे पदे आत्मानं हस्तप्राप्तं दर्शयता**. उभयत्रापीदं वाक्यं युज्यते. अतो गन्तुर्नेतुश्च इच्छाया अनिवृत्तत्वाद् दूरं नीतः. ततः **अद्रेः कन्दरा यत्र** तत्स्थानमपि नीतः. नन्वेतावत्यपि दूरे अप्राप्तिश्चेत् तदा नीतिशास्त्रविचारेणापि ''शिथिलाश्च सुबद्धाश्चे''ति न्यायेन कथं न निवृत्तः इति चेत्, तत्राह **यवनेश** इति, दुष्टानां स्वामी न नीतिज्ञः. मथुरातो दशयोजनान्ते धवलपुरमिति प्रसिद्धमिदानीम्, पूर्वं तु आसीत् सा मुचुकुन्दगुहा ।।७।।

क्रियया प्राप्त्यभावमाशङ्क्य, जपादिनेव वचनाद्, भगवान् प्राप्तव्य इति मत्वा, मध्ये वचनमप्युक्तवानित्याह पलायनं यदुकुल इति.

पलायनं यदुकुले जातस्य तव नोचितम् ।

इति क्षिपन्ननुगतो नैनं प्रापाहताशुभः ।।८।।

यदुर्हि धर्मात्मा, अन्यथा अस्मत्सदृशत्वेन कथं मुक्तो[२] भवेत्

---

१. महाभ्रान्त इति पाठः. २. कथम् उक्तो इति पाठान्तरः ह्नसम्पा.

तादृशवंशे **जातस्य** सर्वागम्यस्यापि अवतारधर्मानुसरणमुचितमिति **पलायनम**नुचितमित्यर्थः. ननु भगवान् कथमेतद्वाक्यं न गृहीतवान्? तत्राह इति **क्षिपन्ननुगत** इति, स हि न यथार्थतया वदति किन्तु तिरस्कारार्थं वदतीति. यदुकुले तस्य श्रद्धाभावात् किं तस्याग्रे यदुकुलप्रतिष्ठारक्षणेनेति युक्तमेव भगवतस्तद्वाक्यानङ्गीकरणम्. अतएव **नैनं प्राप**, अन्यथा भगवदनुगमने भगवान् प्राप्तः स्यात्. तेन वचनेन पापमपि जातमित्याह **अहताशुभ** इति; यतः अशुभमपि न निवृत्तम् अतो न प्राप. पूर्वाशुभमिति केचित्, तद्भगवद्दर्शनेनानुगमनेन च निवर्त्यत एवेत्युपेक्षणीयम्. **आहतः अशुभेने**ति वा, वाक्यजनितपापेन पृष्ठतस्ताडितः न भगवन्तं प्रापेत्यर्थ ।।८।।

भगवान् पुनर्वराहो हिरण्याक्षवाक्यमिव सर्वसमर्थोऽपि कार्यगौरवं मन्यमानोऽपि न निवृत्त इत्याह **एवं क्षिप्तोऽपी**ति.

एवं क्षिप्तोऽपि भगवान् प्राविशद् गिरिकन्दरम्।

सोऽपि प्रविष्टस्तत्रान्यं शयानं ददृशे नरम् ।।९।।

''वधानुकल्पः स्वद्रोहे भक्तद्रोहे[१] वधः स्मृत'' इति वधानुकल्पमेव कर्तुं **गिरिकन्दरं प्राविशत्**. एतावानेव भगवद्व्यापारः निर्गुणो हि फले निमित्तमिति ज्ञापयितुं निरूपितः. तद्भगवति फलितमित्याह **सोऽपि प्रविष्ट** इति, यदा **भगवान् गिरिकन्दरं प्राविशत्** तदा **सोऽपि प्रविष्टः**. प्रवेशानन्तरं तस्य भ्रमो जात इत्याह **तत्रान्यं शयानं नरं ददृश** इति, नरत्वमेव तत्र प्रतीतं नत्वन्यद्वैलक्षण्यम्. यद्यपि ससामग्रीकः शेते तथापि पूर्वमेव

लेखः

पलायनमित्यत्र न **निवृत्तमि**ति, वचनेन जायमानमशुभं भगवदनुगमनेन प्रतिबद्धमित्यर्थः. **आहत** इति, तदा ''उपसर्जनं पूर्वमि''त्यनेन पूर्वप्रयोगाच्छान्दसत्वान्न जात इति ज्ञेयम् ।।८।।

फले निमित्तमिति, निमित्तमेव नतु जनक इत्यर्थः. **तद्भगवती**ति, तद् भगवद्व्यापारनिमित्तकं वधरूपं फलं **भगवति** प्रविष्टे सति यवने **फलितमिति** हेतोर्यवनस्यापि प्रवेशमाहेत्यर्थः ।।९।।

---

१. भगवद्द्रोहे इति पाठः.

शयनार्थं सामग्रीं प्रेषयित्वा पश्चादागत्य शयनं कृतवानिति तस्य बुद्धिः ।।९।।

ननु भगवान् शयनार्थं चेदागतः तदा तवागमनमनुचितमिति सुतरामतिक्रमोऽनुचित इत्याशङ्क्य तस्य भ्रान्तस्याभिप्रायमाह **नन्वसावि**ति.

नन्वसौ दूरमानीय शेते मामिह साधुवत् ।

इति मत्वाच्युतं मूढस्तं पदा समताडयत्।।१०।।

स्वयमागच्छतु नाम, कथं नोक्तवान् ''शयनार्थं गच्छामी''ति ''युद्धं वा न करिष्यामी''ति? यो हि यमनुधावति तस्यानिषेधे ''अप्रतिषिद्धमनुमतं भवती''ति न्यायेन दूरे गत्वा युद्धं करिष्यतीत्यभिप्रायो भवति, निकटे ससहायो बलवान्

भवतीति. तस्मादेवं[1] भ्रमं जनयित्वा एताव**द्दूरमानीय** युद्धमप्यकृत्वा **साधुवत् शेते** यो हि वञ्चयति स न साधुः; असाधोरनिद्राणस्योत्थापनं न दोषायेति दुर्बुद्धिः शयानं भगवन्तं **मत्वा पदा समताडयत्,** पादयोर्व्यथा जनितेति, महांश्चातिक्रमो भवत्विति. शयानोद्बोधनं पादताडनम् अतिक्रमार्थमच्युतबुद्धिश्चेति त्रयो दोषाः. ननु महानयं महतश्चोपदेशं प्राप्य कथमेवं दुर्बुद्धिर्जात इति चेत्, तत्राह **मूढ** इति, स्वभावतो मूढः. **अच्युत** इति तद्बुद्ध्या ताडितत्वान्महतोऽपि पादप्रहारे न राज्ञः कश्चिदपकारो जात इति सूचितम् ।।१०।।

ततो यज्जातं तदाह **स उत्थाये**ति.

स उत्थाय चिरं सुप्तः शनैरुन्मील्य लोचने ।

दिशो विलोकयन्पार्श्वे तमद्राक्षीदवस्थितम्।।११।।

पादप्रहारेण **चिरं सुप्तोऽप्युत्थाय** सर्वा **दिशो विलोकयन् पार्श्वे तं** कालयवन**मद्राक्षीत्.** स तु प्रथमतः तत्प्रतिकूलां दिशं दृष्टवान्, ततः क्रमेण दृष्टिं प्रसारयन् द्वितीयपार्श्वे **अवस्थितमुत्थित**ं पश्चाद् ददृशे ।।११।।

ततः कोऽयमिति प्रश्नात्पूर्वमेव दर्शनमात्रेणैव स भस्मसाज्जात इत्याह **स तावत्तस्य रुष्टस्ये**ति.

स तावत्तस्य रुष्टस्य दृष्टिपातेन भारत।

---

१. तस्मादेनमिति पाठः.

देहजेनाग्निना दग्धो भस्मसादभवत्क्षणात्।।१२।।

निरपराधस्ताडितइति तस्य क्रोधः अतो **रुष्टस्य तस्य दृष्टिपातेन** निमित्तेन कालयवनदेहस्थित एवाग्निः काष्ठस्थितो वह्निः वह्निस्पर्शेनेव प्रादुर्भूतः. ततो **देहजेनैवाग्निना दग्धः** सन् **क्षणमात्रेणैव भस्मसादभवत्.** बहिःस्थितोऽग्निः दवानल इवाल्पमेव दहेत् पलायनं वा कुर्याद्; अन्तःस्थितोऽग्निरिति सर्वव्यापारं दूरीकृत्य भस्मसादेव कृतवान् ।।१२।।

प्रकृते भगवता यवनोऽयं यथाकथञ्चिन्मारित इति विवक्षितत्वाद्विशेषं न कथयिष्यतीत्याशङ्क्य सावधानं च शृणोतीति ख्यापयितुं राजा तं पृच्छति.

।।राजोवाच।।

को नाम स पुमान् ब्रह्मन् कस्य किंवीर्य एव च ।

कस्मादुहां गतः शिश्ये किंतेजो यवनार्दनः?।।१३।।

को नामेति प्रसिद्ध्या अज्ञानं वारयति. ''अन्यमि''(श्लो. ९)ति पुल्लिङ्गात् पुंस्त्वं ज्ञातमेव, अन्ये पञ्चार्था ज्ञातव्याःह्न

नामसम्बन्धरूपाणि निमित्तं शयने तथा।

दाहकत्वं दृष्टिमात्राद् ब्रह्मविज्ज्ञास्यते परः।।(६)।।

कस्य सम्बन्धी? **किंवीर्यं यस्य** (स), अन्यथा एकाकी सिंहादिसम्भाविते देशे कथं शयीत? **कस्माद्वा** हेतोः उत्तमस्थानेषु विद्यमानेषु **गुहां गतः** शेते? किं वा तस्य तेजः? किं तेजो यस्येति किंतेजाः. यतो **यवनार्दनो** जातः. अग्निसूर्यादीनामपि नैवंविधं तेजः सम्भवति. **यवन**पदेन तस्यापि महत्त्वमुक्तम्; विशेषतो वक्तव्यैवैषा कथेति ।।१३।।

एतदर्थमेव भगवानागत इति तस्य विशेषमाह **स इक्ष्वाकुकुल** इति सप्तभिः, भगवत्त्वमग्रे तस्य भविष्यतीति भगवत्कथैवैषेति ज्ञापयितुं च. अन्यथा भगवद्व्यतिरिक्तकथा न श्रोतव्येति श्रोतॄणां विरक्तिः स्यात्.

लेखः

को नामेत्यत्र **ब्रह्मविद् ज्ञास्यते** इति. **पर** उत्कृष्टो **ब्रह्मविदि**दं सर्वं **ज्ञास्यते** अतः **ब्रह्मन्नि**ति सम्बोधनमुक्तमिति शेषः (६).

।।श्रीशुक उवाच।।

स इक्ष्वाकुकुले जातो मांधातृतनयो महान् ।

मुचुकुन्द इति ख्यातो ब्रह्मण्यः सत्यसङ्गरः।।१४।।

इक्ष्वाकोः कुले जातः. मनोः पुत्राणां मध्ये मुख्य इक्ष्वाकुः. **मान्धाता** चायोनिजः केवलपुंसवनजलाज्जातः. अप्राकृतबीजजोऽपि स्वरूपतोऽपि **महान्;** कुलोत्कर्षः पितुरुत्कर्षः स्वरूपोत्कर्षश्च उक्तः. तस्य नामोत्कर्षमाह **मुचुकुन्द इति ख्यात** इति. तस्य वैदिकं सहजं च धर्ममाह **ब्रह्मण्यः सत्यसङ्गर** इति. ब्राह्मणानां हितश्चेत्सर्वोऽपि वैदिको धर्मः सेत्स्यति. सत्यः सङ्गरो युद्धं यस्य ।।१४।।

स याचितः सुरगणैरिन्द्राद्यैरात्मरक्षणे ।

असुरेभ्यः परित्रस्तैस्तद्रक्षां सोऽकरोच्चिरम्।।१५।।

एवं षड्गुणयुक्तइति **इन्द्राद्यैरात्मरक्षणे स याचितः**. अनेन भगवत्तुल्यतैव निरूपिता. स्वरूपतो लोकतः कार्यतश्च गुणानामुत्कर्षो निरूपितः. संसाराद् भीताः महापुरुषमिव प्रार्थितवन्तो भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह **असुरेभ्यः परित्रस्तै**रिति. ये हि देवानपि मारयन्ति तानपि मारयित्वा रक्षां कृतवानित्याह **तद्रक्षामि**ति. दैत्यानां पलायने पुनरागमनशङ्का भवतीति **चिर**कालं **रक्षामकरोत्** यावदिन्द्रादयोऽतिपुष्टाः. क्षत्रियस्यायमेव धर्मः यज्ञादेरप्यधिक उक्तः ।।१५।।

सा च रक्षा पर्यवसानपरा जातेति रक्षाया अवधित्वं निरूपयन्नाह **लब्ध्वा गुहमि**ति.

लब्ध्वा गुहं ते स्वःपालं मुचुकुन्दमथाब्रुवन् ।

राजन्विरमतां कृच्छ्राद् भवान्नः परिपालनात्।।१६।।

कार्तिकेयः चेदुत्पन्नः पश्चात् तारकादयो हताइति तस्य सेनापतित्वे जाते पश्चाद् विरामं प्रार्थयामासुः. अनेनास्य रजिन्यायेन[१] स्वार्थाभावः सूचितः. **अथ** स्वस्थाः सन्तः भिन्नप्रक्रमेण राजान**मब्रुवन्**. पूर्वं भीताः इदानीं सन्तुष्टा इति भिन्नप्रक्रमः. तेषां वाक्यान्याह **राजन्नि**ति. क्रियमाणमादौ व्यावर्तयन्ति **नोऽ**स्माकं **परिपालनरूपात् कृच्छ्रात् विरमतामि**ति. यद्यपि

---

१. नहुषानुजो रजिः (भाग. पुरा. ९।१७।१२-१४, वि.पुरा. ४।८।१।२). रयि इति मुद्रितः पाठः - सम्पा.

स्वर्गे स्थितः तथापि भोगाभावात् सर्वदा युद्धकरणाच्च क्लेश एव ।।१६।।

न केवलं देहक्लेशः अस्मत्परिपालने किन्तु सर्वस्वमपि तव नष्टमित्याहुः **नरलोकं परित्यज्ये**ति द्वाभ्यां, भोगो भोगसाधनानि च गतानीति.

नरलोकं परित्यज्य राज्यं च हतकण्टकम्।

अस्मान्पालयतो वीर कामास्ते सर्व उज्झिताः।।१७।।

सुता महिष्यो भवतो ज्ञातयोऽमात्यमन्त्रिणः।

प्रजाश्च तुल्यकालीना नाधुना सन्ति कालिताः।।१८।।

जन्मभूमिः सहजा च सर्वेषां सुखदा. अतो नरलोकपरित्यागोऽपि दुःखहेतुर्भवति, हतकण्टकं च राज्यमिति. शूरत्वाद् अज्येष्ठत्वेऽपि एतदधीनमेव

राज्यमित्यस्मिन्नेव भोगः प्रतिष्ठितः. एवं सर्वथाऽनिषिद्धं भोगं परित्यज्य **अस्मानेव पालयतः ते सर्व एव कामा उज्झिताः** त्वया सर्वेऽपि कामास्त्यक्ताः. तत्र हेतुः वीरेति, वीररसप्रधानः नान्यं कामं सुखत्वेन मन्यत इति. एतत्कीर्तनं महानुपकारः त्वयास्मासु कृत इति ज्ञापनार्थम्. दैहिका अपि निवृत्ता इत्याह **सुता महिष्य** इति. दिवसस्य स्वर्गे वर्षात्मकत्वात् तस्य कालाज्ञानम्, यथा ब्रह्मसभायां गतस्य रैवतस्य. अतो ज्ञापयन्ति ह्व **महिष्यः** स्त्रियः **ज्ञातयो** भ्रात्रादयः **अमात्याः** सेवकप्रभवः **मन्त्रिणश्च** ह्व एते राज्यसम्बन्धिन उभये **तुल्यकालीनाः. प्रजा** मित्राणि. अधुना ते तत्र न सन्ति यतः **कालिताः** कालेन भक्षिताः. अनेन तत्र गन्तव्यमिति शङ्का निवर्तिता ।।१८।।

तर्हि भवद्भिः कथं तेषां रक्षा न कृता, देवा ह्यायुषः प्रभवो भवन्तीत्याशङ्क्याह **कालो बलीयानि**ति.

कालो बलीयान् बलिनां भगवानीश्वरोऽव्ययः ।

प्रजाः कालयते क्रीडन्पशुपालो यथा पशून्।।१९।।

बलिनां वाय्वासन्यगुणानां मध्ये ततोऽपि बलीयान्. तत्र हेतुर्भगवानिति. ननु धर्मे क्रियमाणे अक्लिष्टकर्मा भगवान् कथमस्मदीयान् भक्षितवानित्याशङ्क्याह **ईश्वर** इति, नहीश्वरे नियमोऽस्ति. तर्हि भगवान् भक्तस्य कथमेवं कृतवानित्याशङ्क्याह **अव्यय** इति, अक्षरात्मा सः न तु पुरुषोत्तमात्मा. तेन न तस्य भक्तपक्षपातः. पक्षपातेऽपि अव्ययमेव पदं दास्यतीति पुत्रादीन् दूरीकृतवान्. तस्यायमेव स्वभाव इत्याह **क्रीडन्नपि प्रजाः कालयत** इति. स हि यतस्ततः विक्षिप्तान् स्वस्मिंश्चानयति, स्वगृहे रोधयति. तस्मिन् दोषबुद्धिर्भविष्यतीति दृष्टान्तमाहुः **पशुपालो यथा पशूनि**ति, बहिःस्थिताः पशवोऽपि व्याघ्रादिभिर्हन्यन्त इति. तथा कालोऽपि बहुकालं बहिःस्थिताः उत्पथा भविष्यन्तीति बहिर्न स्थापयति अतः अशक्यप्रतिकारात्ते गताः ।।१९।।

तस्य मनःसन्तोषार्थं **वरं वरये**त्याहुः.

वरं वरय भद्रं ते ऋते कैवल्यमात्मनः ।

एक एवेश्वरस्तस्य भगवान् विष्णुरव्ययः।।२०।।

ननु कालश्चेन्मामपि गृहीष्यति तदा किं वरेणेत्याशङ्क्य अप्रार्थितमपि कालाग्रासं तुभ्यं दास्याम इति सूचयन्त आहुः **भद्रं त** इति, ते भद्रमेव, न कालग्रासोऽनिच्छत इत्यर्थः. तर्हि कालजयानन्तरं मोक्षो दीयतामित्याशङ्क्याहुः

ऋते कैवल्यमि**ति. वयं हि संघातस्वामिनो देवास्तत्त्वांशा: अतोऽस्माकं** नात्मन्यधिकार:. **कैवल्यं चात्मन:,** देहादेस्तु कैवल्यम् अपुरुषार्थत्वादप्रार्थ्यम्. यद्यपि आधिदैविकाः चेत् सर्वे निवृत्ता भवेयु: तदा केवलता सिध्यतीति कैवल्यमपि देवाधीनमेव, प्राणिनां दु:खनिवृत्तिरभिप्रेता, न परमानन्दप्राप्ति:. ''आत्मलाभान्न परं विद्यत'' इत्यादिश्रुतिभिश्च सिद्धत्वाच्चात्मन: प्राप्ताप्राप्तविवेकेन स्मृतिन्यायेन कैवल्यमपि देवाधीनं भवति; तथापि भगवदाज्ञया प्रवृत्तिस्वभावा एवैते प्रवृत्तावेव यथाभिलषितं दातुं समर्था: न तु स्वतो निवृत्तौ, तथा सतीश्वरस्यापराधो भवेत्. भगवदानन्दो वा रूढ्या कैवल्यम् आनन्दाभिव्यक्तिर्वा. अत: कैवल्यव्यतिरिक्तं प्रार्थनीयम्. आत्मपदाच्चात्महितातिरिक्तं च प्रार्थनीयमिति सूचितम्. तर्हि कैवल्यसिद्धिः कथमित्याशङ्क्य तत्प्रभुं निर्दिशन्ति **एक एवे**ति, तस्यात्मकैवल्यस्य एकएव प्रभुः, सर्वं सर्वेभ्यो दत्वा आत्मार्थं तत्स्थापितवानिति. यतो **भगवान्** स्वत:सिद्धान्यैश्वर्यादीनीति. ननु तमस: परस्तात्पुरुषोत्तमो विद्यमान: अनधिकारित्वात् कथमात्मार्थे तत्स्थापितवान्? तथा सति कस्यापि मोक्षो न स्यादित्याशङ्क्याह विष्णुरिति, स एवात्र मोक्षं दातुं **विष्णुरि**ति प्रसिद्धः. ततो विष्णोर्भगवत्त्वमधिकाररूपत्वं भगवत्त्वं चेति द्वयमुक्तम्. तेन कालातिक्रमोऽपि भवतीति सूचयितुमाहु: **अव्यय** इति, स व्ययरहितः. अनेन तस्य निरपेक्षतापि सूचिता. अनेन पालनाधिकारेऽपि निवृत्तिमपि कारयिष्यतीति बोधितम्. तेन देवानां कैवल्यादाने तस्यच कैवल्यदाने हेतुरप्युक्त:. अनुक्तमप्यत्रापेक्षितमर्थादुक्तं ज्ञातव्यम् ।।२०।।

एवमुक्त: स वै देवानभिवन्द्य महायशाः ।
अशयिष्ट गुहाविष्टो निद्रया देवदत्तया।।२१।।

तत्र स विष्णुः कथं प्राप्तव्य इत्याशमायांह्व सोऽवतरिष्यति मोक्षमेव दातुं, तदा तस्य अनुवृत्तौ तदाज्ञाकरणे वा मुक्तिर्भविष्यतीति प्रतिवचने, कदा अवतरिष्यतीति पुनर्जिज्ञासायाम् अष्टविंशतितमे युगे अवतरिष्यतीत्यभिज्ञाय तावत्पर्यन्तं तूष्णींस्थितौ कामादय: क्षुत्पिपासादयश्च बाधका भविष्यन्तीति, समाधावप्येतद्दु:खमिति, सुषुप्तिसमाध्यो: तुल्यश्चानन्दानुभवइति, फलदाता विष्णुरेवेति योगादीनामप्रयोजकत्वात्, प्रयत्नाधिक्येन क्लेशसम्भवाच्च ह्वसुषुप्तिमेव प्रार्थयामास. ततो देवाः स्वकीयां निद्रां ददुः. ते ह्यस्वप्ना: अर्थात्सुषुप्तिरेव भवतीति वरत्वेन निद्रां प्राप्य, तत्र विघ्नकर्ता दर्शनमात्रेणैव

भस्मसाद् भविष्यतीत्यपि वरं प्राप्य, अष्टाविंशतियुगपर्यन्तं निद्रां कृतवानित्याह **अशयिष्टेति, गुहायां** शीतवाताद्युपद्रवाभावात् **तत्राविष्टः अशयिष्ट** निद्रां कृतवान् ।।२१।।

एवं प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रस्तुतमाह यवन इति.

यवने भस्मसान्नीते भगवान् सात्वतर्षभः ।

आत्मानं दर्शयामास मुचुकुन्दाय धीमते ।।२२।।

देवानामभिवन्दनं, तत्प्रत्याशया स्थितत्वं, भगवन्माहात्म्यश्रवणेन श्रद्धा चेति गुणत्रयं तस्य दृष्ट्वा, भक्तहितमपि प्रसङ्गात् तत्कृतं ज्ञात्वा, **यवने भस्मासान्नीते, भगवान्** सर्वज्ञः सर्वसमर्थश्च **सात्वतानामृषभः** स्वामी. तादृशाय चेत् कृपां न कुर्यात् तदा भक्तानां दुःखमपि भवेदिति भक्तहितकारित्वं स्वतन्त्रत्वं चावलम्बितवानित्याशयेनाह **सात्वतर्षभ** इति. तत्र प्रथमं हितचर्यामाह **आत्मानं दर्शयामासे**ति. ननु प्राकृताय सर्वसाधनं परित्यज्य निद्राणाय

लेखः

वरं वरयेत्यत्र तर्हीति. एतस्यैव विवरणं **काले**ति ।।२०।।

कथमात्मानं दर्शितवानित्याशङ्क्याह **मुचुकुन्दाये**ति. सर्वत्र **उ**कारः दोषाभावसूचकः, **म**कारः पुरुष आनन्दः. मुद् वा परमानन्दः. **चु**शब्देन निर्दुष्टं चैतन्यम्. **कु**शब्देन निर्दुष्टः सदंशः. सच्चिदानन्दरूपं पूर्वं ज्ञानादिद्वारा लोकेभ्यो दत्तवानिति तादृशाय स्वरूपं प्रदर्शनीयमेव. ज्ञापनं नापेक्ष्यत इति विरुद्धं वा न मंस्यत इत्यत आह **धीमत** इति, स हि बुद्धिमान्. पूर्वोपदेशमपि स्मरतीत्यपि सूचितम् ।।२२।।

ततो यज्जातं तदाह **तमालोक्ये**ति चतुर्भिः.

तमालोक्य घनश्यामं पीतकौशेयवाससम् ।

श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभेन विराजितम् ।।२३।।

तमालोक्य पर्यपृच्छद्दिति चतुर्थेन सम्बन्धः. तस्य कालातिक्रमेण मोक्षसिद्ध्यर्थं भगवन्तं वर्णयति त्रयोदशधा तावद्भिर्विशेषणैः **घनश्याममि**त्यादिभिः. केवलरसात्मकत्वे दुःखसहितसुखं न पुरुषार्थत्वायेति घनश्यामता निरूपिता. मेघवत् श्यामः, स हि तापहारको भवति क्रियाफलदाता आप्यायकश्च. एवं गुणत्रयसहितो रसः भगवान् फलरूपो निर्दिष्टः. संसारं निवर्तयन्

कर्म च सफलं कुर्वन् परमानन्ददाता. **पीतकौशेयवाससमि**ति व्याख्यातम्. एवं प्रमेयप्रमाणरूपं निरूप्य तेनैव मोक्षधर्मौ सूचयित्वा अर्थकामावाह **श्रीवत्सयुक्तं वक्षो यस्य भ्राजत्कौस्तुभेन विराजित**श्च ।।२३।।

एवं चतुर्विधपुरुषार्थरूपं निरूप्य तद्दातृत्वमप्याह **चतुर्भुजमि**ति, सेवमानेभ्यः तान् प्रयच्छतीति.

चतुर्भुजं रोचमानं वैजयक्त्या च मालया।

चारुप्रसन्नवदनं स्फुरन्मकरकुण्डलम्।।२४।।

प्रथमतः प्रवृत्तिसिद्ध्यर्थं कीर्तेरुपयोगमाह **वैजयक्त्या मालया रोचमानमि**ति. कीर्त्या रुच्युत्पादकः. **वैजयन्ती**पदेन कीर्तेः सानुभावत्वमुक्तम्. एवं सोपपत्तिकं सर्वपुरुषार्थदातृत्वं निरूप्य भक्तिदातृत्वमाह **चारु प्रसन्नं**

लेखः

तमालोक्येत्यत्र. अक्त्यविशेषणे ‘उदार’पदसूचितं मोक्षपर्यवसायित्वं त्रयोदशः प्रकारः ।।२३।।

वदनं यस्य. अत्रापि चारुत्वं मनोहरत्वं, प्रसादः फलसाधकः; साधनफलसहिता भक्तिरत्र निरूपिता. **स्फुरन्मकरकुण्डलमि**ति पूर्ववत्तत्र प्रवृत्तिनिवृत्तिशास्त्रे अङ्गभूते निरूपिते ।।२४।।

एवं शास्त्रीयोत्कर्षमुक्त्वा लोकोत्कर्षमाह **प्रेक्षणीयं त्रिलोकस्ये**ति.

प्रेक्षणीयं त्रिलोकस्य सानुरागस्मितेक्षणम्।

अपीच्यवयसं मत्तमृगेन्द्रोदारविक्रमम्।।२५।।

लोको हि दृष्टमेव मन्यते. लौकिकः : **त्रिलोकस्या**पि स एव **प्रेक्षणीय** इति नान्यः केनचित् स्वीकर्तव्यः. तेषां दृष्ट्या प्रवृत्तौ फलसिद्धिमाह **सानुरागस्मितेक्षणमि**ति, अनुरागपूर्वकं स्मितपूर्वकमीक्षणं यस्येति. अनुरागेति सफलं काम्यं कर्म, **स्मितमि**त्यल्पमोहा भक्तिः, **ईक्षणं** ज्ञानं; तेन त्रितयमपि भगवान् प्रयच्छतीति सूचितम्. पुरुषाणामेवं साधनफलान्युक्त्वा स्त्रीणामाह **अपीच्यवयसमि**ति ह्रद्व प्रियः स्त्रीणामपीच्य इति परमप्रीतिविषयं वयो यस्य. तेन तासां प्रवृत्तिरुक्ता. फलमाह **मत्तमृगेन्द्रोदारविक्रममि**ति. **मत्तो** यो **मृगेन्द्रः** सिंहः. न हि सिहाक्रान्तं सिंहगृहं कश्चित्प्रवेष्टुमर्हति. न केवलं सम्बन्धमात्रेण पाति

किन्तु **उदार**ः यथेष्टं मनःपूर्तिपर्यन्तं **विक्रमः** पराक्रमः तासामभीष्टो यस्य. उदारत्वात् मोक्षपर्यवसायित्वमपि सूचितम् ।।२५।।

एवं वैदिकलौकिकैः सर्वैरेव विशेषेण मृग्यः भगवानेकएव फलसाधनरूप इति तादृशं दृष्ट्वा प्रतिपत्त्यर्थं[१] संवादेन परिचयं कृत्वा पश्चाद्भजनीय इति प्रथमतः पृच्छति **पर्यपृच्छद्**िति.

पर्यपृच्छन्महाबुद्धिस्तेजसा तस्य धर्षितः।

शमितः शनकै राजा दुर्धर्षमिव तेजसा।।२६।।

नन्वेवंभावः कथं वर्ण्यते, अज्ञात्वैव लौकिकन्यायेन कथं न पृष्टवानित्याशङ्क्याह **महाबुद्धिरि**ति, महती तस्य बुद्धिरतिचतुरः. एतदर्थमेव सुषुप्तिं साधयित्वा स्थितः. किञ्च **तेजसा तस्य धर्षितः** भगवत्तेजसा पराहतः. स ह्यात्मानं जानाति इन्द्रादिभ्योऽप्यधिकतेजस्विनं; स चेत् तस्य तेजसा तिरस्कृतः तदा कथं (न) जानीयादयं पुरुषोत्तम इति तस्मात्

---

१. प्रपत्त्यर्थम् इति मुद्रितः पाठः, प्रवृत्त्यर्थम् इत्यपि पाठान्तरः ह्नसम्पा.

परिचयार्थं प्रश्नः. ननु प्रश्नोऽपि धाष्ट्र्यकरः कथं पुरुषोत्तमे सम्भवतीत्याशङ्क्याह **शतिः शनकैरिति**. प्रश्नेऽपि शमां प्राप्तवानेव तथापि समागतो भगवानित्यल्पं धाष्ट्र्यमवलम्ब्य शनैरपृच्छत्. किञ्च **राजा** नीतिमपि जानाति. महांश्च राजसगुणोऽपि तस्य धाष्ट्र्ये सहाय इति केचित्. **तेजसा दुर्धर्षमिवे**ति, भगवन्तं दृष्ट्वा राजत्वेऽपि तत्तेजसा दुर्धर्ष इति शनैरेवोक्तवान् विज्ञापनापूर्वकम्. आयुधानि सेवकाः सामग्री च न दृष्टेति स्वयमपि राजेति इवेत्युक्तम्. अन्यथा पादयोरेव पतेत्. भगवान् वा तथा सन्देहविषयमात्मानं प्रकाशितवान् इतीवशब्दः ।।२६।।

प्रश्नमाह **को भवानि**ति अष्टभिः. प्रश्ने हेतून् वदति, अन्यथा कृत्रिमत्वमाशङ्क्येतेति. स्ववृत्तान्तमपि कथयति भगवतोऽपि स्ववृत्तान्तकथनार्थम्. अष्टैश्वर्यं भगवति सिद्धम्. तथा सति विशेषाज्ञाने प्रतिपत्तिरयुक्तेति स्वयं च फलार्थी न भवतीत्यष्टभिः प्रश्नः.

।।मुचुकुन्द उवाच।।

को भवानिह संप्राप्तो विपिने गिरिगह्वरे।

पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्यां विचरस्युरुकण्टके।।२७।।

प्रश्नत्रयं निरूपयति स्वरूपक्रियाप्रकाराणां तत्र विरोधख्यापनार्थम्. एतादृशं रूपं सहजं भवत्येव[१], कृत्रिममन्येषामपि भवतीति **को भवानि**ति स्वरूपप्रश्नः.

लेखः

को भवानित्यत्र प्रश्नहेतूनिति स्वरूपक्रियाप्रकारहेतूनित्यर्थः. **अन्यथे**ति, हेतुज्ञानाभावे चतुर्भुजादिरूपस्य कृत्रिमत्वं शमेत, अन्य एव कश्चिदेवं रूपं सम्पाद्य समागत इति स्यादित्यर्थः. **तथा सती**ति, अष्टैश्वर्ये भगवति सिद्धे सति अयं भगवानेव कृत्रिमो वेति विशेषज्ञानाभावे तस्य [२]प्रपत्तिरयुक्ता. **स्वयं च** भगवान् **फलार्थी न** मुचुकुन्दात् किञ्चिद् याचयितुं नागतः, अतः कृत्रिमत्वमपि न सम्भवतीत्युत्कटकोटिकः संशयः. तथाच प्रश्नस्याष्टविधैश्वर्यविशेषज्ञानार्थकत्वा**दष्टभिः प्रश्न** इत्यर्थः ॥२७॥

---

१. भवेदित्येव, भगवतीति पाठद्वयम्. भवतीति सप्तम्यन्तः मूलपाठ इति प्रतिभाति. २. प्रतिपत्तिरिति मूलपाठः, प्रपत्तिरिति टीकाकारसंमतः.

अस्तु वा विशेषः; एतादृशे **विपिने** अरण्ये तत्रापि **गिरि**सम्बन्धेन **गह्वरे** स्थाने कथं **सम्प्राप्त** इति क्रियाप्रयोजनः प्रश्नः. **पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्यामि**ति प्रकारे प्रश्नः. इयं हि भूमिरसंस्कृतेति **उरूणि कण्टकानि** भवन्ति. पलाशपत्रादपि कोमलाभ्यां पद्भ्यां तादृशस्थाने विचलनं महत्कार्यव्यतिरेकेण न भवतीति किं तादृशं महत्कार्यमिति प्रकारप्रयोजनप्रश्नः ॥२७॥

तर्केण जानीहीत्याशमायां तर्कानाह किंस्वित्तेजस्विनामिति द्वयेन.

किं स्वित्तेजस्विनां तेजो भगवांस्त्वं विभावसुः ।
सूर्यः सोमो महेन्द्रो वा लोकपालोऽपरोऽपि वा ॥२८॥
मन्ये त्वां देवदेवानां त्रयाणां पुरुषर्षभम् ।
यद्बाधसे गुहाध्वान्तं प्रदीपः प्रभया यथा (/स्वया) ॥२९॥

आदावहमेव[१](!?) वितर्के, सर्वेषामेव **तेजस्विनां तेजः** एकीभूतमेतदिति. अथवा यत्पूर्वं कारणत्वेन तेजः सृष्टं ''तत्तेजोऽसृजते''ति तद्वा **तेजो भगवान्.** जगत्कारणत्वात् तस्य भगवत्त्वं, तेनाप्यापः सृष्टा इति. अथवा **त्वं विभावसुरग्निः** मूर्तीभूतः. सर्वस्यापि तेजसः एकीभावे कारणाज्ञानात् द्वितीयः पक्षः. ततो

मूलभूतस्य अत्रागमनासम्भवात् तदधिष्ठातृदेवताप्रश्नः. एवमाधिभौतिकादिभेदेन विकल्पत्रयं, त्रितयमप्येतत् [2]राजसमिति. सात्त्विकं त्रितयमाह **सूर्यः सोमो महेन्द्रो वे**ति. एकएव सूर्यो देवतेति ''सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्चे''ति ''ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायण'' इति च सूर्यो भवितुमर्हति, चतुर्भुजत्वदर्शनात्. ततोऽपि शीतरश्मिरमृतमयः सुन्दर इति सोमः. ततोऽप्यैश्चर्यदर्शनात् महेन्द्रो भविष्यसि. एवं सात्त्विकभेदानुक्त्वा मनुष्याकृतिमिव पश्यन् तृतीयं गुणं कल्पयन्निव तत्रोत्तमं सम्भावनया निरूपयति **अपरो वा लोकपाल** इति. (अग्नि) वायुवरुणादीनामन्यतमः. ते हि लोकरक्षार्थं परिभ्रमन्ति. वेत्यस्य पक्षस्यानादरे. एवं कार्यकारणरूपाणि सम्भावयित्वा तान् पूर्वपक्षे निधाय परमकारणरूपं पुरुषोत्तमं तं सम्भावयति **मन्ये त्वामि**ति. **देवानामपि देवानां** ब्रह्मविष्णुशिवानां मध्ये **पुरुषर्षभं** विष्णुं त्वां मन्ये.

---

१. एवमिति पाठः. २. राजसराजसमिति पाठः.

तेषां वा पुरुषर्षभः. तेषां पुरुषः स्वराट् नारायणः, तस्याप्यृषभः पुरुषोत्तम इति वा. श्रद्धयैवं कल्पयतीत्याशङ्क्य तत्र साधिकामन्यथानुपपत्तिमाह **यद्बाधस** इति. गुहान्धकारः न केनापि दूरीकृतः, उत्पत्तिशिष्टः सः. यो हि व्यवधायकं न मन्यते तेन दूरीकर्तुं शक्यः. अतः पूर्वोक्तानां भगवत्तेजःसहितानामपि नात्र पराक्रमः. मूर्तीभूतानां तु बहुधा समागतानां गुहाध्वान्तनिराकरणं न दृष्टमिति य एवास्माभिर्न दृष्टः पूर्वं स भगवान् भवितुमर्हतीति निश्चीयते. किञ्च प्रदीप्तोऽप्यग्निः भगवत्सहितोऽप्येवंविधप्रभायुक्तो न भवति. एकैव हि तत्र भगवच्छक्तिः. दीपे तु शक्तिद्वयम्. अतएव कारीषाद्दारुमयाच्च दीपस्य प्रभा महती, स्नेहाग्नि-स्थानाग्निसंयोगैः, ''वर्तिका अग्निस्थानं अग्नेस्तूषाधानमि''-ति श्रुतेः. ''एतद्वा अग्नेस्तेजो यद् घृतमि''ति घृतमपि तथा, अग्निश्च तत्र संयुक्त इति. अतस्तस्य प्रभा कलिकामात्रस्यापि सर्वगृहव्यापिनी भवति. तथा भवत्तेजः गुहाभ्यन्तरस्थानं यत्कदापि न दृष्टं तद्दर्शयतीति पुरुषोत्तम एव भवितुमर्हसि. उत्कृष्टप्रभा व्यवहार्या दृष्टान्तत्वेनाभिमतेति दीपो दृष्टान्तः. अथवा त्वमेव **प्रकृष्टो दीपः** यतः स्वया **प्रभया ध्वान्तं बाधस** इति. अदृष्टपूर्वत्वेन पुरुषोत्तमत्वसिद्धिः ॥२८-२९॥

लेखः

मन्ये त्वामित्यत्र **यो हि व्यवधायकमि**ति, सूर्यादीनां तेजो भित्त्यादिव्यवधाने प्रतिबद्धं भवतीत्यर्थः. **भगवत्सहितोऽपी**ति. यज्ञात्मको भगवानग्नौ तिष्ठति, अतएव यज्ञपुरुषस्य ततः प्रादुर्भाव उक्तः. तथा च भगवद्युक्तोऽपीत्यर्थः. **एकैवे**ति तेजएवेत्यर्थः. **शक्तिद्वयमि**ति तेजः प्रभा चेत्यर्थः. **कारीषादि**ति, कारीषं[1] ज्वाल्यते दारु च ज्वाल्यते, उभयविधादपि प्रकाशकादित्यर्थः. **दीपस्ये**ति वार्तिकामयस्येत्यर्थः. **अतस्तस्ये**ति, शक्तिद्वयस्य विद्यमानत्वादित्यर्थः. **प्रभया स्वये**ति पाठपक्षे आहुः **अथवे**ति ।।२९।।

---

१. गोमयं वर्तुलाकृतिज्वलनसाधनं कारीषम्.

तर्हि ज्ञात्वा कथं प्रश्न इति चेत्, तत्राह **शुश्रूषतामि**ति.

शुश्रूषतामव्यलीकमस्माकं नरपुङ्गव।

स्वजन्म कर्म गोत्रं वा कथ्यतां यदि रोचते।।३०।।

व्यलीकं सन्देहः, तद्रहितं यथा भवति तथा [1]श्रोतुमिच्छा अस्माकम्. असमानत्वान्न सम्भाष्यस्त्वमित्याशङ्क्याह **नरपुङ्गवे**ति, नराकृतिर्दृश्यत इति संव्यवहार्या नरा इति वयमपि संव्यवहार्याः. नराकृतित्वं च सहेतुकं प्रतिभातीति विशेषान् पृच्छति **स्वजन्म कर्म गोत्रं** वेति. **स्वस्य जन्म** किंरूपं ? कथं प्रादुर्भूत इति कारणप्रश्नः. **कर्मे**ति प्रयोजनप्रश्नः. **गोत्रमि**ति कस्मिन्वंशे प्रादुर्भाव इति वंशप्रश्नः. वेति अन्यदपि वक्तव्यमित्यभिप्रायसूचकम्. एवं गुणत्रयस्वभावमिव पृष्ट्वा स्वस्य नियोजकत्वाभावायाह **कथ्यतां यदि रोचत** इति ।।३०।।

नरत्वेऽपि तुल्याएव सम्भाष्या इत्याशङ्क्य स्वजन्मकर्मगोत्राणि निरूपयति त्रिभिः.

वयं च पुरुषव्याघ्र ऐक्ष्वाकाः क्षत्रबन्धवः।

मुचुकुन्द इति ख्यातो यौवनाश्वात्मजः प्रभो।।३१।।

चिरप्रजागरश्रान्तो निद्रयोपहतेन्द्रियः।

शयेऽस्मिन् विजने कामं केनाप्युत्थापितोऽधुना।।३२।।

सोऽपि भस्मीकृतो नूनमात्मीयेनैव पाप्मना।

अनन्तरं भवान् श्रीमांल्लक्षितोऽमित्रशासनः ।।३३।।

वयं चेति **च**कारोऽर्थविशेषे. वयमपि नात्यन्तं हीना असम्भाष्याः किन्त्वैक्ष्वाकाः इक्ष्वाकुषु जनपदेषु आविर्भूताः. ''जनपदशब्दाद्...'' इति 'अञ्', ''दांडिनायने''ति निपातनादुकारलोपः. अतो देशेन कुलेन च प्रसिद्धिरुक्ता. **पुरुषव्याघ्रे**ति पुरुषश्रेष्ठो मन्यत इति लौकिकन्यायेनापि विश्वासार्थमुक्तम्. **क्षत्रबन्धव** इति गर्वपरिहार:. पितृपितामहयोः स्वस्य च नामाह **मुचुकुन्द इति ख्यात** इति. प्रसिद्धिरपि सत्कीर्तिमत्त्वेन निरूपिता. युवनाश्वः पितामह:, **यौवनाश्वो** मान्धाता पिता, **तस्यात्मज** इत्यौरसः. **प्रभो** इति सम्बोधनं नियन्तरि अन्यथाकथनाभावाय. तादृशस्यात्रागमने हेतुं

---

१. करोतु इतीति पाठः.

वदन् स्वपौरुषमपि ख्यापयति **चिरप्रजागर** इति, बहुकालं देवरक्षार्थं चिरप्रजागरो जात:. ततः श्रमोऽपि जात:, ततो **निद्रयोपहतानीन्द्रियाणि** च जातानि. अतो निद्रोपभोगार्थं **विजनेऽस्मिन्** स्थाने **शये,** यथा न केनापि उत्थाप्येत. अयं देवदत्तनिद्रया शयनं करोमीति न कथयति, तथा सति ध्यानतप:प्रभृति सर्वं परित्यज्य तामस्यवस्था किमित्यङ्गीकृतेत्युपालभ्य: स्यात्. तदर्थं स्वखेदमेव वर्णयति. अत: **कामं** यथेष्टं **शये**. अत्रापि कश्चिदागत्योत्थानं कारितवानित्याह **केनाप्युत्थापितोऽधुने**ति. स्वापराधशाक्त्यर्थं तदज्ञानकथनम्. तस्य च दण्डो मया न कृत: किन्तु स्वपापेनैव जात इत्याह **सोऽपि भस्मीकृत** इति, **आत्मीयेनैव** स्वकृतेनैव पापेन ''शयानं न प्रबोधयेदि''ति निषेधोल्लङ्घनेन भस्मीकृतः. **नूनमि**ति नात्र कोऽप्यस्मदपराध इति निरूपितम्. त**दनन्तरमेव** त्वद्दर्शनं जातमित्यतोऽपि हेतोः न ममापराधः, अन्यथा तव दर्शनं न स्यात्. एतदर्थमेव पुनर्भगवन्तं वर्णयति **श्रीमानि**ति, सर्वसौन्दर्ययुक्त: लक्ष्मीवांश्च. **अमित्रशासन** इति शत्रुमारकस्त्वमेवेति त्वयैवायं प्रायेण मारितः ।।३१-३३।।

तर्हि यथैतावन्निर्णीतं तथा जन्मकर्माण्यपि योगबलेनैव कथं न निर्णीयन्त इत्याशङ्क्याह **तेजसा** तेऽविषह्येणेति.

तेजसा तेऽविषह्येण भूरि द्रष्टुं न शक्नुमः ।

हतौजसो महाभाग माननीयोऽसि देहिनाम् ।।३४।।

अविषह्येण निकटेऽपि स्थातुमशक्येन **ते तेजसा भूरि** पुनः पुनः **द्रष्टुमपि न शक्नुमः** तस्य निदानजिज्ञासा दूरापास्तेति. अन्तर्दृष्ट्या द्रष्टव्यमित्याशङ्क्याह **हतौजस** इति, हे महाभाग ते तेजसैव हतं ओजः मनःशक्तिर्येषाम् अतो दूरापास्तैव योगेन चिन्तनकथा. अन्यज्ज्ञातमस्तु न वा, द्वयं ज्ञायत इत्याह हे **महाभाग देहिनां** च त्वं **माननीय** इति. त्रैलोक्यादधिकं भाग्यं दृश्यते. अतएव देहग्रहणमात्रेणैव अवश्यमिष्टमपेक्षितमिति सर्वेष्टपूरकः त्वं सर्वेषामेव माननीयः पूज्य सेव्यश्चेत्यर्थः ।।३४।।

एवं तस्य विज्ञापितमाकर्ण्य तदर्थमेव समागत इति तत्रोत्तरमुक्तवानित्याह **एवं सम्भाषित** इति.

एवं सम्भाषितो राज्ञा भगवान् भूतभावनः ।

प्रत्याह प्रहसन् वाण्या मेघनादगभीरया ।।३५ ।।

सम्यग् भाषितः राज्ञेति सोऽपि महान्, राजप्रश्ने चावश्यमुत्तरं देयमिति निरूपितम्. **भगवांश्**च निरूपितएव उत्तरे तस्य कृतार्थता भविष्यतीति जानाति अतस्तथोत्तरं दत्तवान्. यद्यपि प्रकारान्तरेणापि तदुद्धारं कर्तुं शक्तः तथापि तत्कृपयापि तथोक्तवानित्याह **भूतभावन** इति. प्रहसन्निति विशेषेण मोहितवान्. तर्ह्यहितकारी स्यादित्याशङ्क्याह **मेघनादगभीरये**ति, मेघनादादपि अधिकगम्भीरया सर्वथा तापनाशिकया ।।३५।।

भगवद्वाक्यान्याह **जन्मे**ति अर्धाधिकाष्टभिः, तदुक्तं भगवानर्थमेव फलं तस्य दास्यामीति ज्ञापितवानिति.

।। श्रीभगवानुवाच ।।

जन्मकर्माभिधानानि सन्ति मेऽङ्ग सहस्रशः ।

न शक्यन्तेऽनुसंख्यातुमनन्तत्वान्मयापि हि ।।३६ ।।

आदौ यत्नेन पृष्टं ''जन्मकर्माभिधानानि वदे''ति, तत्र कानि वक्तव्यानीत्याकाङ्क्षामिव वदन् आदौ जन्मनाम् असङ्ख्यातत्वमाह मे **जन्मकर्माभिधानानि सहस्रशः सन्ती**ति. नन्विदानीन्तनेषु पृष्टेषु किमिति व्यधिकरणमुत्तरं दत्तवान्? [१]ततश्चायं प्रतारकएव, न भगवानिति शमा च स्यादिति चेत्, सत्यं भगवान् प्रथमतः स्वरूपे ज्ञाते जन्मकर्माभिधानानि ज्ञातव्यानीति मन्यते. अतः स्वरूपं वदन् स्वभावं ख्यापयितुं जन्मान्याह. ब्रह्मेति स्वरूपं वक्तव्यम्. तस्य कथं जन्मेत्याकाङ्क्षायां भक्तिप्रतिपादकोऽपि स भवतीति

भक्तिसिद्ध्यर्थं कर्माणि करिष्यन् भक्तिपरिपालनार्थं कर्माणि च करिष्यन् बहून्येवावतरणानि[२] करोतीति वक्तव्यम्. तस्मिन्ननुक्ते तस्य

लेखः

जन्मकर्मेत्यत्र **अर्धमेवे**ति. अष्टभिः कृतस्य प्रश्नस्याष्टभिरुत्तरं जातं; दानप्रतिपादक एकः श्लोकोऽतः परमपेक्षितः, तत्रार्ध एवोक्त इत्यर्थः. **स्वभावमि**ति अनन्तरूपेण भवनमित्यर्थः. **जन्मान्याहे**ति, जन्मनां बहुत्वमाहेत्यर्थः ।।३६।।

१. प्रतारणीय एव भगवानिति पाठः. २. अवताराणीति पाठः.

बोधनार्थमुक्तमप्यनुक्तं स्याद् अतः सुष्टूक्तं **मे जन्मकर्माभिधानानि सहस्रशः सन्ती**ति. अङ्गेत्यप्रतारणाय सम्बोधनम्. **सन्ती**त्यनेन सर्वेषामेव विद्यमानता निरूपिता. सर्वद्वीपेषु विद्यमानानां वा सहस्रत्वमुच्यते. तर्हि भक्तिसाधकत्वात्तानि कथयेत्याशङ्क्याह **न शक्यन्तेऽनुसंख्यातुमि**ति, आनुपूर्व्येण संख्यातुं मयापि न शक्यन्ते ।।३६।।

तदेवासङ्ख्यातत्वेनोपपादयति अज्ञानव्यावृत्त्यर्थं क्वचिद्रजांसीति.

क्वचिद्रजांसि विममे पार्थिवान्युरुजन्मभिः।

गुणकर्माभिधानानि न मे जन्मानि कर्हिचित् ।।३७।।

कदाचित् **पार्थिवान्यपि रजांसि** कश्चिद् **विममे** अहं वा. **उरुजन्मभिरपि** विमानं सम्भवत्यन्यस्य. यद्येकएव ब्रह्मपर्यायेण सर्वेषु ब्रह्माण्डेष्ववतरति तदा तत्रत्यानां परमाणूनां सृज्योपयोगित्वेन गणनां करोति, अन्यथा अव्यवस्था स्यात्. ततश्च ब्रह्मणा गणयितुं शक्याः. मयापि सृष्ट्यादौ ज्ञानपूर्वकं सृजामीति गणितुं शक्याएव. **क्वचिदि**ति, सृष्टिविशेषे **गुणकर्माभिधानानि** मदीयानि तु कदाचिदपि गणयितुमशक्यानि. एकस्मिन् जन्मनि कोटिशः कर्माणि नामानि च भवन्ति. एकस्मिन् दिवसे ब्रह्माण्डकोटिषु द्वीपादिदेशविशेषेषु कोटिशो जन्मानि भवन्ति. अतः अपरिमितत्वाद् जन्मादीनां परिगणनाभावो युक्तः ।।३७।।

बहुभिर्मिलितैर्गणना भविष्यतीत्याशङ्क्याह **कालत्रयोपपन्नानी**ति.

कालत्रयोपपन्नानि जन्मकर्माणि मे नृप।

अनुक्रमन्तो नैवान्तं गच्छन्ति परमर्षयः ।।३८।।

भूतान्येव बहूनि वर्तन्ते भविष्याणि च. म इति ब्रह्मणः. जीवो हि परिच्छिन्नः; एकदा एकस्मिन् देशे एकं देहं गृह्णाति स देहः शतवर्षाणि तिष्ठति. भगवतस्तु देहाभावात् स्वरूपं यथासुखं प्रदर्शयतीति एकस्मिन्नपि क्षणे बहुभिर्बहुधा दृश्यत इति अनेकरूपाणि भवन्ति. चलने च मायाजवनिकायाः स्थलान्तरे उद्गमस्य भिन्नत्वात् चलनमात्रेणैवानेकानि रूपाणि भवन्ति. स ह्याकाशशरीरः सर्वतः पाणिपादान्तत्वेन मूर्त्यानक्त्याद् अनन्तरूपत्वं युक्तमेव. अत आह भगवान् **कालत्रयोपपन्नानि** मदीयानि **अनुक्रमन्तः**[१] आनुपूर्व्येण गणनां कुर्वाणाः **अन्तं न गच्छन्ती**ति. **नृपे**ति सम्बोधनं महत्त्वेन वञ्चनाभावाय. तत्रापि कालत्रयस्य योग्यानीति कर्मणामानन्त्यम्. कालत्रयस्य उपमर्दनसमर्थानि नामानीति कालत्रये उपपन्नान्यनन्तान्येव ।।३८।।

एवं त्रिभिः स्वस्य ब्रह्मत्वं निरूप्य धर्माणामपि ब्रह्मत्वेनानन्त्यमुक्त्वा अवक्तव्यत्वमुपपाद्य तथापि राजकृपया राज्ञो दुर्ज्ञेयमपि वक्ष्यामीत्यभिप्रायेणाह तथापीति.

तथाप्यद्यतनान्यङ्ग शृणुष्व गदतो मम।
विज्ञापितो विरञ्च्येन पुराहं धर्मगुप्तये।।
भूमेर्भारायमाणानामसुराणां क्षयाय च।।३९।।

अद्यतनानि जन्मकर्माभिधानानि **शृणुष्व.** यद्यपि त्वां प्रति न वक्ष्यामि तथापि मे गदतः सतः त्वया सावधानतया श्रोतव्यम्. आदौ जन्महेतुमाह, स एव पृष्ट इति. **पुरा विरञ्च्येन विज्ञापितः** ब्रह्मणा प्रार्थितः सन् धर्मरक्षा कर्तव्येति **भूमेर्भारायमणानामसुराणां क्षयार्थं** च. अनेन द्वयं गृहीतंह्न भूमिभारहरणमसुराणां क्षयश्चेति. चकाराद् भक्तिसिद्ध्यर्थं च ।।३९।।

अवतीर्णो यदुकुले गृह आनकदुन्दुभेः।
वदन्ति वासुदेवेति वसुदेवसुतं हि माम्।।४०।।

यदुकुले इति गोत्रमुक्तम्, **आनकदुन्दुभेर्गृह** इति विशेषोऽप्युक्तः. नामाह **वदन्ति वासुदेवे**ति. सन्त्येव बहूनि नामानि, एकस्यापि नाम्नः बहून्येव निर्वचनानि सन्ति, तथापि एकं नाम एकप्रकारनिर्वचनं लोका वदन्ति. **वासुदेवे**ति नाम **वसुदेवसुतमि**ति निर्वचनम्. हीति युक्तश्चायमर्थः यतो **मां वदन्ति** मया च तथा कृतमिति ।।४०।।

कर्माण्याह **कालनेमिर्हत** इति.

कालनेमिर्हत: कंस: प्रलम्बाद्याश्च सद्द्विषः।

अयं च यवनो दग्धो राजंस्ते तिग्मचक्षुषा।।४१।।

कंसो मातुल इति तस्य हननं निषिद्धमिति पूर्वं स **कालनेमि:** स्थित इत्युक्तम्. प्रलम्बादयोऽपि हताः यतस्ते **सद्द्विषः**. अनेन सद्रक्षार्थं

---

१. अनुक्रमिष्यन्त इति पाठः.

प्रलम्बादयो हताः, न तु तेषां हनने स्वतन्त्रं कार्यमस्तीति भावः. प्रकृतकृत्यं द्विरूपमाह **अयमि**ति. तत्र **यवनः ते तिग्मचक्षुषा** बाणप्रायेण करणेन मयैव **दग्धः**. **चकार:** कर्तृसमुच्चयार्थः. **राजन्नि**ति सम्बोधनं तथैव सम्मत्यर्थम् ।।४१।।

द्वितीयं भक्तिलक्षणं धर्मलक्षणं वा प्रयोजनमाह **सोऽहमि**ति.

सोऽहं तवानुग्रहार्थं गुहामेतामुपागत:।

प्रार्थित: प्रचुरं पूर्वं त्वयाहं भक्तवत्सल:।।४२।।

अनेकार्थेऽवतीर्णो यतोऽहं अतस्तवाप्यनुग्रहः कर्तव्यइति **एतां गुहामुपागतः**. अन्यथा प्रकारान्तरेण भ्रममुत्पाद्य कालयवनएव अत्रानीतः स्यात्, ततश्च स्वयमेव स भस्मीभवेत्. अतस्त्वदर्थमेवास्मिन् सकण्टके[१] देशेऽपि समागतः. तत्र हेतुः **प्रार्थित: प्रचुरं पूर्वमि**ति, बहुवारं पूर्वजन्मसु त्वयाऽहं प्रार्थितः. अनेन यत्सामर्थ्यं त्वयीदानीमुपलभ्यते तत् केवलं मदनुभावेनेत्यपि ज्ञापितम्. तथापि स्वक्लेशेनाप्यागमने स्वस्यासाधारणं धर्ममाह **भक्तवत्सल** इति, अहं स्वभावतो भक्तवत्सलः ।।४२।।

आगतस्य प्रयोजनमाह **वरान् वृणीष्वे**ति.

वरान्वृणीष्व राजर्षे सर्वान्कामान् ददामि ते।

मां प्रपन्नोऽजन: कश्चिन्न भूयोऽर्हति शोचितुम्।।४३।।

ये **वरणीया:** तवाभीष्टाः तान् बहूनपि **वृणीष्व**. यतस्त्वं **राजर्षि:** राजा च ऋषिश्च, राजधर्मं वैदिकं च धर्मं कृतवानिति. अहं पुनः ते अस्मिन् जन्मनि **सर्वानेव कामान्** दास्यामि, न तु मोक्षमिति भावः. तर्हि किं वरेणेत्याशङ्क्याह **मां प्रपन्न** इति, यस्तु शरणागतः स **भूय: शोचितुं नार्हति**. यस्मिन् जन्मनि प्रपद्यते तस्मिन् जन्मनि कश्चिच्छोचितुमर्हति, न सर्वः. अतः सर्वेषां शोकः प्रपत्तिमात्रेण निवर्तते, **अजनश्च** भवति.

अयं च यवन इत्यस्याभासे **द्विरूपमा**हेति, धर्मरक्षारूपं भूभारहरणरूपं चेत्यर्थः ।।४१।।

---

१. संकटके इति पाठः.

जनश्चेत् मदिच्छया, तथापि भूयः शोचितुं नार्हति. एष विकल्पः राज्ञ एवार्थे. अतः कामितं सर्वमेव दास्यामि, मुक्तिमपि एकजन्मव्यवधानेनेति भावः ।।४३।।

एवं वचनेन यदर्थं स्वयं स्थितः स एवायमिति निश्चित्य स्तोत्रं कर्तुमियेषेत्याह **इत्युक्त** इति.

।।श्रीशुक उवाच।।

इत्युक्तस्तं प्रणम्याह मुचुकुन्दो मुदान्वितः।

ज्ञात्वा नारायणं देवं गर्गवाक्यमनुस्मरन्।।४४।।

भगवता वरं प्रार्थ**येत्युक्तः** स्तुत्वैव वरः प्रार्थनीय इति **तं प्रणम्य** स्तुति**माह.** यतोऽयं **मुचुकुन्दः** प्रसिद्धः, **मुदा** चान्त**रन्वितो** जातः. भगवद्वाक्येन सन्तोषोऽप्येका भगवत्स्तुतिः. तदा **गर्गवाक्यमनुस्मरन्** भगवद्वाक्येन तस्यापि स्मरणे जाते नारायणोऽयमिति निश्चित्य स्तोत्रं कृतवान्. अनेन नारायणः पुरुषएव ज्ञातः, न तु पुरुषोत्तमः. अथवाः पुरुषमेव पुरुषोत्तमं मन्यते; भगवद्वाक्यं गर्गवाक्यस्मारकत्वेन जातमिति न फलसिद्धिः. अनेनैवाभिप्रायेण भगवतापि ''कामान् ददामी''त्युक्तम् ।।४४।।

भगवन्तं स्तौति त्रयोदशभिः **विमोहित** इति, अत्र द्वादशधा कालो निरूप्यते तदतिक्रमार्थं च एकेन भगवत्प्रपत्तिरिति. तत्र कालेन सर्वे व्यामोहिता इति प्रथमं तामसराजससात्त्विकान् मुग्धान् गणयति त्रिभिः. तत्राप्याद्येन तामसमोहो निरूप्यते.

।।मुचुकुन्द उवाच।।

विमोहितोऽयं जन ईशमायया त्वदीयया त्वां न भजत्यनर्थदृक्।

सुखाय दुःखप्रभवेषु सज्जते गृहेषु योषित्पुरुषश्च वञ्चितः।।४५।।

अयं जनः त्वदीयया मायया विशेषेण मोहितः. ननु कालेनैव मोहितोऽस्तु, किं भगवन्मायाविमोहनेनेत्यत आह **ईशे**ति, भवानेवेशः. तेन

कालरूपो भूत्वा तान् विमोहयसीत्युक्तं भवति, अन्येनैतावत्कर्तुं न शक्यत इति. न ह्यन्य: भगवद्भजनं निवारयितुं शक्नोति, (यतः) अपराधी स्यात्. अन्ये व्यामोहा: कालकृता भवन्तु नाम, भगवदभजनहेतु: कालो भगवानेव. तदाह य**तस्त्वां न भजती**ति. ननु परमानन्दे कथं विचारकाणामप्रवृत्तिरिति चेत्, तत्राह **अनर्थदृगि**ति, अनर्थएव दृष्टिर्यस्य. यद्धि पश्यति तज्जानाति, उभयं चेत्पश्येत् तारतम्यं च जानीयात्. अयं त्वनर्थमेव पश्यति. ननु सर्वोऽपि दुःखान्निवर्तते सुखार्थे प्रवर्तते, सुखदुःखे चात्मानुभववेद्ये, अत: कथमनर्थदर्शनमिति चेत्, तत्राह **सुखाय दुःखप्रभवेषु सज्जत** इति. प्रवृत्तिस्तु स्वसमानप्रकारज्ञानजन्यैव, परं तज्ज्ञानं भ्रान्तं, तेन फले विपर्यय:ह्व यद्दुःखस्थानं यतो दुःखमेवोत्पद्यते तत्र सुखं भविष्यतीति. यत: प्रवर्तते तत्राप्यासज्जते. तत्स्थानं निर्दिशति **गृहेष्वि**ति. दुःखप्रभवत्वमुपपत्त्योपपादयति **योषित्पुरुषश्चे**ति. गृहे हि द्वयमेवास्ति; द्वयमप्यन्योन्यतः सुखापेक्षम्. यद्येकस्मिन् सुखं भवेत् तत्रापि पुष्कलं तदा ह्यन्यस्मै प्रयच्छेत्. इतरेतराश्रयं कार्यं च न सिध्यत्येव. अतस्तयोर्दुःखमेव सहजं, तदनुवृत्तौ दुःखमेव भवेत्; न हि नद्यामग्निः प्राप्यते. नन्वनुभूयते सुखं कथमिति चेत्, तत्राह वञ्चित इति, केनचिद्वञ्चित: सुखं मन्यते. न हि युक्तिबाधितं प्रमाणबाधितं च क्वचित्सुखं भवति. अनुभवस्तु भ्रान्तानुभवतुल्यः. अतो लौकिके युक्तिबाधितं न प्रमाणं, वैदिके श्रुतिरेव प्रमाणमिति अन्योन्यसुखापेक्षित्वेन प्रवृत्तेः सुखाभावस्तत्र सिद्धः. ''पुन्नाम्नो नरकात् त्रायत'' इतिवाक्यात् पुरुषशब्देन नरक उच्यते. योषिच्छब्देन च सुतरां नरकं, ''शालावृकाणां हृदयान्येता'' इति ''स सोमो नातिष्ठेते''त्यादिश्रुतिभिः स्त्रीणां निन्दाश्रवणात्. ''प्रजापतिरमृतमानन्द इत्युपस्थ'' इति उपासनार्थं निरूपितं, लोकप्रतिपन्नं दृष्टान्तीकर्तुं वा. आविर्भूते वा रसे तद् भवति. गृहत्वादेव परिच्छिन्नत्वान्न रसाविर्भावः. उभयो: परिगणनाया: कृतत्वात्तत्रेतराभाव: सिद्धः. यत उभयो: सुखं भवेत्. चकारात्तदपत्यानि च. ते च व्याघ्रवत्ताभ्यामेव सुखेप्सवः. अतो युक्तिप्रमाणाभ्यां बाधादन्योन्यप्रवृत्तौ वञ्चितएव. समुदाये च तां निराकर्तुं **वञ्चित** इत्येकवचनम् ।।४५।।

लेखः

विमोहितोऽयमित्यत्र **स्वसमाने**ति, गृहेऽपि सुखसमान एव प्रकार इत्याकारकज्ञानजन्येत्यर्थः ।।४५।।

एवं गृहासक्तस्य तामसस्य वञ्चनामुक्त्वा शास्त्रादिरतस्यापि विवेकिनोऽपि राजसस्य वञ्चितत्वमाह **लब्ध्वा जनो दुर्लभमिति**.

लब्ध्वा जनो दुर्लभमत्र मानुषं कथञ्चिदव्यङ्गमयत्नतोऽनघ।
पादारविन्दं न भजत्यसन्मतिर्गृहान्धकूपे पतितो यथा पशुः।।४६।।

विवेकसहितं **मानुषमपि** देहं प्राप्य **कथञ्चि**न्महता कष्टेन, **अव्यङ्गं** सर्वाङ्गसहितं सर्वेन्द्रियसहितं सर्वबुद्धिसहितं च महता शास्त्रप्रयासेन, जनत्वात्सर्वदा जायमानः विशिष्टं कदाचिदेव प्राप्नोतीति, तादृशमपि प्राप्य भगवन्तं न **भजती**ति **असन्मतिरेव,** प्राप्तसामग्र्या अन्यथा उपयोगाभावात्. इन्द्रियाणामुपयोगोऽनुपयोगश्च पूर्वं निरूपितः. ''बिले बतोरुक्रमविक्रमान्ये'' ''सा वाग् यया तस्य गुणान् गृणीत'' इति च. अतो भगवत्पादारविन्दाभजने असन्मतिरेव भवति. असन्मतित्वाद्वा अभजनम्. अतएव **गृहान्धकूपे** पतति. उपर्युद्गमाभावात् तत्र च पदार्थदर्शनाभावाद् अन्धकूपत्वम्. विवेकी कूपेऽपि पतितः कदाचिदुपायेनोद्गच्छति, तदपि नास्तीति दृष्टान्तमाह **यथा पशुरि**ति. पशुश्च तत्र व्याकुलोऽपि भवति यतोऽधिकमेव दुःखं प्राप्नोति निर्गमनोपायं च न वेद ।।४६।।

एवं राजसानां दूषणमुक्त्वा सात्त्विकानामपि स्वदृष्टान्तेन दूषणमाह **ममैष काल** इति.

ममैष कालोऽजित निष्फलो गतो राज्यश्रियोन्नद्धमदस्य भूपतेः।
मर्त्यात्मबुद्धेः सुतदारकोशभूष्वासज्जमानस्य दुरन्तचिन्तया।।४७।।

एष इति पूर्वमनुभूतः स सर्वोऽपि शोकेन पुरएव अवतिष्ठते. अजितेति सम्बोधनम्. न कालेन भवान् जितः, वयं तु जिता इति स्वदुःखनिवेदनमप्युक्तम्. कालो हि पुरुषस्य पुरुषार्थसाधने हेतुर्भवति, तदभावे **निष्फलएव गतः**. ननु विवेकयुक्तो भवान् कथमेवं वदतीत्याशङ्क्याह **राज्यश्रियोन्नद्धमदस्येति,** राज्यश्रिया परमोन्मादजनिकया उन्नद्धो मदो यस्य. ननु राज्यश्रियाः मदजनकत्वे को हेतुः? तत्राह **भूपतेरि**ति. सर्वे हि दोषा भूमौ भवन्ति, न स्वर्गे नापि पाताले; तस्याश्च पतिः तद्दोषेण दूषितएव भवति. अतो दोषसम्बन्धात् सज्वरस्यान्नभोजनमिव श्रियापि बुद्धिनाशएव भवति. किञ्च **मर्त्यात्मबुद्धेरिति,**

मर्त्ये मरणधर्मके शरीरे आत्मबुद्धिर्यस्य. पापं तु भूपतित्वजनितमल्पम्, आत्मनोऽन्यथाज्ञानं तु महत्पापं, ''योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते किं

तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणे''तिवाक्यात्. नित्यं चात्मानं बुद्ध्या मारयतीति **मर्त्य**पदेन वधदोषोऽपि सूचितः. किञ्च **सुतदारकोशभूषु आसमन्तात्सज्जमानो**ऽपि जातः. ममतामपि भवदीयेषु[1] अकृत्वा पुत्रादिषु चतुर्षु कृतवान्, तत्राप्यासक्तिम्, तत्रापि तेषां तत्सम्बन्धेनात्मनश्च सहस्रचिन्तायुक्त: तदीयान् पोषयिष्यामि, [2]तच्छत्रून्मारयिष्यामीत्यादि **दुरन्ता चिन्ता**, यस्या [3]अन्तोऽग्रिमफलं नरकपात इति. एवं त्रिदोषेण अहमपि मग्नः ह्व आयुषो निष्फलता, मर्त्यात्मबुद्धिः, पुत्रादिष्वासक्तिश्चेति. एकैकमप्यनर्थायेति न्यायेन चतुष्टयमुक्तम् ।।४७।।

एवं त्रिविधानामपि मोहमुक्त्वा विशेषत: स्वस्य परमं दोषत्रयमाह **कलेवरेऽस्मिन्नि**ति त्रिभिः.

कलेवरेऽस्मिन्घटकुड्यसंनिभे निरूढमानो नरदेव इत्यहम्।

वृतो रथेभाश्वपदात्यनीकपैर्गां पर्यटंस्त्वाऽगणयन्सुदुर्मदः।।४८।।

कालेन ग्रासोऽत्र निरूप्यते. तत्र कालस्य दोषाभावाय स्वदोषं निमित्तत्वेन निरूपयति **कलेवर** इति. **अस्मिन् कलेवरे** शरीरे **निरूढमान:** सन् **सुदुर्मदो** भूत्वा **त्वामगणयन्** जातोऽस्मि, तदा **त्वमन्तको** भूत्वा **अभिपद्यस** इति द्वयो: सम्बन्धः. भगवतो ग्रासे षट् दोषा: अस्मदीया निमित्तभूताः. आदौ **कलेवरं कले** कलने कालभक्षणे **वरमु**त्कृष्टं; कालः प्रथमतस्तदेव भक्षयति मृत्पाषाणादिभ्यः. अतएव प्रस्तरादय: चिरस्थायिन: कलेवरमाशुतरविनाशि. न हि कालस्य भक्ष्ये तत्त्वेनैव[4] (भक्ष्यत्वेनैव) कृते स्वस्याभिमानः सुखदायी भवति. किञ्च **अस्मिन्नि**ति शयान: स्वकीयो देह: प्रदर्शित: असंस्कृतो

लेखः

कलेवरेऽस्मिन्नित्यस्याभासात्पूर्वं **चतुष्टयमि**ति, वक्ष्यमाणं दोषत्रयं चतुर्थो दोषो ज्ञेयः. **दोषत्रयमाहे**ति, मानं मदं भगवदवगणनां चाहेत्यर्थः. व्याख्याने **स्वदोषमि**ति अवगणनाया मुख्यदोषत्वादेकवचनम् ।।४८-५०।।

---

१. भगवदीयेष्विति पाठः. २. मच्छत्रूनिति पाठः. ३. यतोऽग्रिमेति पाठः. ४. भक्षितत्वेनैव इति पाठान्तरः ह्वसम्पा.

मृतप्रायः. अनेन स्वतोऽपि दोष उक्तः. परिच्छेदाचेतनत्वे निरूपयति. यथा **घटः** जलानयनार्थमुपयुज्यते तच्च जलमन्यत्र विनियुज्यते, तथा कर्माणि सम्पाद्यन्ते पुनस्तानि यत्र क्वचिद्विनियुज्यन्त इति तादृशस्य केवलं कर्मसाधनभूतस्य आत्मतया स्वीकारः अत्यन्तं कुमतिफलम्. किञ्च **कुड्यसन्निभं** भवेत्[१]. कुड्ये गृहे यथा कश्चित्तिष्ठति तथा कियत्कालस्थित्यर्थं भगवता कृतम्. एवमधिकरणत्वेन करणत्वेन आत्मनो भेदे प्रतीयमानेऽपि पुनस्तत्र **निरूढमानः नितरां रूढो मानोऽ**भिमानोऽहमेवेति यस्य. अयमेकः पञ्चपर्वात्मको महान् दोषः. द्वितीयमाह **नरदेवे**ति. नरत्वमेव सन्दिग्धं, कुतोऽमेध्यभाण्डस्य देवत्वम्? नराणां देवः पूज्यो राजा. **इती**ति निश्चयार्थे. **अहमि**त्यनुभवः प्रमाणम्. अतोऽत्र पर्वत्रयं निरूपितम्. तृतीयं दोषमाह **वृत** इति, रथादिभिश्चतुर्भिः सेनाङ्गैः सहितं **यदनीकं** सेना तेषां रक्षकैः सेनापतिभिः वेष्टितः. ते हि दुष्टाः घातुकाः. तैः सहित इति दुःसङ्गो निरूपितः. भूभाररूपं चतुर्थं दोषमाह **गां पर्यटन्नि**ति. नतु भूमौ कश्चन पुरुषार्थः साध्यते किन्तु भूमिमेव परितः अटते. महान्तं दोषमाह पञ्चमं **त्वामगणयन्नि**ति. यदधीनं सर्वं सएव न गण्यत इति **सुष्ठु दुष्टो मदो यस्ये**ति स्वाज्ञानमपि ।।४८।।

एवं षड्भिर्दोषैर्व्याप्तं कालो भक्षयतीत्याह प्रमत्तमिति.

प्रमत्तमुच्चैरितिकृत्यचिन्तया प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम्।
त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकः।।४९।।
पुरा रथैर्हेमपरिष्कृतैश्चरन्मतङ्गजैर्वा नरदेवसंज्ञितः ।
स एव कालेन दुरत्ययेन वै कलेवरो विट्कृमिभस्मसंज्ञितः।।५०।।

एते षट् दोषाः सहजाः. ते च मिलिताः शीघ्रं फलपर्यवसायित्रिदोषमुत्पादयन्तीति निरूप्यतेह्न **उच्चैरितिकृत्यचिन्तया** प्रमादः **प्रवृद्धो लोभः विषयलालसे**ति. तुल्यत्वाभावाय भगवतो दोषत्रयाभावश्च निरूप्यतेह्न **अप्रमत्तः, क्षुल्लेलिहानः** लोभरहितः, विषयलालसारहितत्वाय **सहसाभिपद्यस** इति. यो हि विषयलालसः स कार्ये शिथिलप्रयत्नो भवति, भोगाभिनिवेशात् क्रियाभोगयोर्विरोधात्. तस्य दोषाभावाय दृष्टान्तः प्रमत्तः असावधानः स्वार्थे.

---

१. चैतदिति पाठः.

तत्र यद्यप्यज्ञानमपि हेतुः तथापि दोषान्तरमप्याह **उच्चैरितिकृत्यचिन्तये**ति, इत्येतावन्निश्चयेन कर्तव्यमिति एवं वा कर्तव्यमिति. उच्चैरिति सर्वापेक्षया इदमेवावश्यकम्. तत्रापि यदि कार्यमुपस्थितं भवेत् तदा दोषो वा न भवेत्, तदपि नास्तीत्याह **चिन्तये**ति चिन्तामात्रमेव. अनेनान्तःकरणं तत्रैव व्यापृतमिति भगवता आत्मार्थमन्तःस्थापितं बहिर्विनियुक्तमिति महानेवापराधो निरूपितः. अयमसिद्धार्थसाधनरूप इति सिद्धार्थे भिन्नं दोषमाह **प्रकर्षेण वृद्धो लोभो यस्ये**ति. उपभोगार्थं हि तस्य सम्पादनं, तदपि कृत्वा स्थापयत्येव, नोपभुङ्क्ते. किञ्च भुक्त्वापि तद्गतवैरस्यं ज्ञात्वापि पुनर्लालसो भवति. विषं यान्तीति विषयाः. विषं हि मारकं मृत्युमुखं, तत्र स्वयं गच्छन्तः स्वभक्तमपि नयन्ति. एकोऽपि नयेत् किं पुनर्बहव इति बहुवचनम्. यद्यपि भगवत इतिकृत्यचिन्ता वर्तते, अन्यथा न मारयेत्, तथापि न प्रमत्तः. अतएव हेतुर्वर्तत इति साध्यप्राप्तौ निषेधः. **सहसे**ति यदैव दोषत्रयोद्भवः तदैव प्रतीकारकरणात्. पूर्वमेव क्वापि पलायनाभावाय **अभी**ति. कालस्य रूपम् अहिरिति. **आखुश्**च लीलाकर्ता, अन्यस्य भक्ष्यरूपं शरीरं गृहीत्वा सर्वदा सर्वापकाराय व्यापृतो भवति. ननु राज्ञोऽयं धर्मः परिपालनं कर्तव्यं, तदर्थं शत्रवश्च मारणीयाः, तदर्थं चतुरङ्गबलसङ्ग्रहः, प्राणिनां हितार्थे धनग्रहणं, कर्मफलभोगार्थं च विषयलालसेति गुणभूता एवैते किमिति दोषत्वेन गण्यन्ते इत्याशङ्क्याह **पुरा रथैरि**ति. सत्यमेवं भवेत् यद्ययं देहो देवो भवेत्. पूर्वं रथादिभिः चरन्नपि राजत्वेन सम्मानितोऽपि **कलेवरो** देहो **विट्कृमिभस्मसंज्ञामेव** लभते. मृतदेहस्य त्रिधा विनियोगः ह्व काकादिभिर्भक्षिते विट्, शीर्णे सत् कृमयो वा भवन्ति, दाहे भस्म वा भवति; तामसराजससात्त्विकभावा निरूपिताः. अतः पर्यवसाने दुष्टत्वात् वृथाभिमानो दोषायैवेत्यर्थः ।।४९-५०।।

एवं फलतः दोषानुक्त्वा क्रियातोऽपि त्रैविध्यमाह **निर्जित्य दिक्चक्रमि**ति त्रिभिः.

निर्जित्य दिक्चक्रमभूतविग्रहो वरासनस्थः समराजवन्दितः।
गृहेषु मैथुन्यपरेषु योषितां क्रीडामृगः पूरुष ईश ईयते।।५१।।

राजधर्माणां तामसत्वं, कर्मणां राजसत्वं, सत्सङ्गस्य[१] सात्त्विकत्वमिति विविच्य कर्मस्वरूपकथने वस्तुविवेको निरूपितो भवति. साधनप्रतिपादकाश्चैते त्रयः. तत्र राजत्वस्य स्त्रीसेवकत्वं भवति इत्यधोगतिः फलत्वेन निरूपिता. साधारणानां स्त्री दास्यमपि करोति, राज्ञां तु तत्सम्भावनाभावात् स्वयमेव दासो

भवतीति तुल्यगतिरपि नास्तीत्युक्तम्. आदौ **दिक्चक्रं** सप्तद्वीपवतीं भूमिं **निर्जित्य** वशीकृत्य महता प्रयासेन तत्साधयित्वा ततोऽपि महता कालेन **अभूतविग्रहो** भवति, न भूतः भवनयोग्यो विग्रहो यस्येति. ततः स्वस्थो भूत्वा **वरासनस्थो** भवति. ततः **समराजभिः वन्दितः**. एवं चतुर्धाप्युत्कर्षं प्राप्य चतुर्धापकर्षं प्राप्नोतीत्याह **गृहेष्विति. योषितां गृहेषु** बहुषु, एको बहुषु दासो भवतीति वैयग्र्यम्. **मैथुन्यपरेष्वि**ति आन्तरोऽपि व्ययः. **क्रीडामृग** इति बाह्यसर्वनिवेदनम्. **मृग** इति विद्यमानादप्यधिकपदार्थसाधकत्वमिति परलोकनाशश्च. स्वयं **पुरुषः** सर्वसमर्थः. **ईशे**ति निवेदनार्थं सम्बोधनम्. **ईयत** इति प्रमाणं नात्र तिरोहितं किञ्चिदित्यर्थः ।।५१।।

एवं लौकिकवैयर्थ्यमुक्त्वा वैदिकवैयर्थ्यमाह **करोति कर्माणी**ति.

करोति कर्माणि तपस्सु निष्ठितो निवृत्तभोगस्तदपेक्षयाददत्।

पुनश्च भूयेयमहं स्वराडिति प्रवृद्धतर्षो न सुखाय कल्पते।।५२।।

यस्तु राज्यं प्राप्य विषयभोगं करोति सोऽधमएव, ततोऽप्यधमो यस्तपः करोति, तत्रापि यत्तपः काम्यं, पुनस्तादृशमेव राज्यं सम्पादयति. प्राप्तं राज्यं न समीचीनं क्षयिष्ण्विति हि स प्रवर्तते. यदपि तेन कर्मणा साध्यं तदपि तादृशमेवेति प्राप्तं परित्यज्य कष्टेनापि तादृशं साधयन् भ्रान्त एव. नानाविधानि च **कर्माणि करोति, तपस्सु नितरां स्थितः** सन् तदर्थं **निवृत्तभोग**श्च. ननु ततोऽप्यधिकापेक्षया उत्कर्षापेक्षया वा करोतीति चेत्, तत्राह **तदपेक्षये**ति. ततोऽधिकस्याश्रुतत्वाददृष्टत्वात् च रसएव न

लेखः

निर्जित्येत्यत्र मृग इतीति. मृगयत इति मृगः, अधिकमन्वेषतीत्यर्थः ।।५१।।
इति द्वितीयाध्यायव्याख्या।।

---

१. तत्सङ्गस्येति पाठः.

जायते अतस्तदर्थमेव करोतीत्याह **तदपेक्षया** [१]**तदेवाददद**िति. सकृद्भ्रान्तस्य द्वितीयपर्याये भ्रमो निवर्तिष्यत इत्याशङ्क्याह **पुनश्च** [२]**भूयेयमि**ति, वारंवारमपि राज्यं प्राप्य तदेव भूयेयमिति कामनाया नियतत्वात् **न सुखाय कल्पते**. ननु सजातीयोत्कर्षः सर्वेषामेवापेक्षितइति तस्यैव कथमादानमिति चेत्, **स्वराडि**ति.

ब्रह्माण्डाधिपत्यमपि कामयन् **प्रवृद्धतर्ष**एव भवति. नहि तृष्णायां विद्यमानायां सुखमस्ति, आकाङ्क्षाया दुःखात्मकत्वात्. अत उत्कृष्टमपि वाञ्छन् सुखोपभोगार्थं न समर्थो भवतीत्यर्थः ।।५२।।

एवं कर्मफलं निन्दित्वा कामनाभावं स्तोतुं सात्त्विकस्य कर्मणः ग्राह्यत्वेन स्तुतिमाह **भवापवर्ग** इति.

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः।

सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते मतिः।।५३।।

यदा भगवदिच्छया **भवापवर्गो भवेत्** तदा ससाधनेच्छायां[३] **जनस्य सत्समागमो भवेत्.** सद्भिः सह सम्यगागमः बोध्यबोधकभावसम्बन्धः. भ्रमत इति नानाविधयोनिषु भ्रमणजनितक्लेशः भगवत्कृपायां हेतुरुक्तः. अथवा भवापवर्गस्थानानि कानिचिज्जन्मानि सन्ति, योगिकुले महतां कुले वा जन्मानि. तत्रापि गतस्य न स्वतएव मुक्तिः किन्तु सत्सङ्गादेव. शरीरसन्ताने सत्सङ्गसमानकालीनएव देहः **अपवर्ग**शब्दार्थ इति मानुषदेहवत् तन्निरूप्यते. तद् व्याख्यास्यते ''दुर्लभो मानुषो देह'' इत्यत्र. अतएव तर्ह्येव सत्समागम इत्याह तर्हीति, योग्यतायां वा. अच्युतेति सम्बोधनात् तदीयानां सतामभावेन न विलम्ब४ इत्युक्तम्. तस्य च सङ्गस्य दृष्टद्वारैव पुरुषार्थपर्यवसायित्वं वदन् आह सत्सङ्गमो यर्हीति, यर्हि **सत्सङ्गमः तदैव त्वयि मतिर्जायते.** भगवानक्लिष्टकर्मेति न स्वार्थं कञ्चित् प्रवर्तयति. कालकर्मादयश्च बाधकाएव. अतो भक्तव्यतिरेकेण न कोऽपि भगवन्मतिं सम्पादयति. तेषां तत्सम्पादनमावश्यकमित्यत्र हेतुमाह **सद्गतावि**ति, सतां सएव गतिरिति. ते साध्यत्वेन साधनत्वेन फलत्वेन च भगवन्तमेव जानन्तीति तत्सन्निधिमात्रेणैव भगवति मतिर्भवति. ततः किं स्यादत आह **परावरेश** इति. **परे** कालादयः

---

१. आदधदिति. २. अत्र विकरणव्यत्ययेन श्यन्. ३. साधनसहितायां बुभुत्सायामित्यर्थः. ४. विलम्बाभाव इति पाठः.

अवरे कर्मादयः, तेषां फलदाने सएव नियामक इति सर्वमेव फलं ततो भवतीत्यर्थः ।।५३।।

अनेन अस्माकं सर्वाणि साधनानि सिद्धानीत्युक्तं भवति साधनार्थं प्रवृत्त्यभावश्च सूचितः. अतो गर्गवाक्यप्रामाण्यादपि कृपा विधेयेत्यभिप्राय: साधनप्रकरणे निरूपितः. फलं निरूपयति त्रिभि: **मन्य** इति.

मन्ये ममानुग्रह ईश ते कृतो राज्यानुबन्धापगमो यदृच्छया।

यः प्रार्थ्यते साधुभिरेकचर्यया वनं विवक्षद्भिरखण्डभूमिपैः।।५४।।

फलं हि त्रिविधंह्न राज्यं कामा:[१] भगवांश्चेति. तत्र द्वयं निषेधति. तत्रापि राज्यस्य दोषरूपत्वं स्वानुभवसिद्धमिति दैवाज्जातां तन्निवृत्तिमभिनन्दति **मन्य** इति. सर्वस्य कारणं स भगवानेवेति ते त्वया **कृत: राज्यानुबन्धापगम:** स्वतएव राज्यसम्बन्धनिवृत्ति: **ममानुग्रहएव** अयं भगवता कृत इत्यहं **मन्ये**. यदृच्छयेति कारणाभावेनैव जात इति भगवत्कृतएव. भगवांश्च हितार्थमेव करोतीति निर्धारः. ननु राज्यस्य इष्टसाधनस्य निवृत्ति: कथं फलम्? अनिष्टानुबन्धित्वं तु स्वदोषात्, न तु स्वतएव राज्यमनिष्टहेतुः. अन्नमिव ज्वरितस्यैव तदनिष्टजनकं, तथोद्धतस्यैव स्वभावतामसस्यानिष्टजनकमिति चेत्, तत्राह **य: प्रार्थ्यत** इति. साधवोऽपि राज्यं यतस्त्यजन्ति अतो ज्ञायते राज्यं स्वभावदुष्टमिति. अन्यथा सतां तेषां भगवद्भजनसाधनमपि राज्यं भवतीति तत्परित्यागेच्छा न स्यात्. किञ्च **प्रार्थ्यते स:**. साधूनां कर्मसाध्योऽपि न भवति, अतोऽशक्यप्रतीकारः, अत एतदर्थं भगवानेव प्रार्थ्यते. प्रार्थनापि न केवलं मानसी वाचनिकी वा किन्तु कायिकीत्याह एकचर्ययेति. एकाकिचरणपूर्वकं वनं विवक्षद्भि: प्रार्थ्यते. सर्वं परित्यज्य एकाकी भूत्वा वनं प्रविशन्नपि राज्याद् बिभेति, विद्यमाने सम्बन्धे शत्रव: परलोकाधिकारिणो वा पीडयिष्यन्तीति. अल्पं राज्यमिति हीनतुल्यत्वात् कदाचित्परित्यागमाशङ्क्याह **अखण्डभूमिपैरि**ति, अखण्डां भुवं पान्तीति सप्तद्वीपाधिपतयः. अत: सम्बन्धनिवृत्तिर्ममाभीष्टमेव ।।५४।।

कामनान्तरं व्यावर्तयति **न कामयेऽन्यमि**ति.

---

१. कामादयः इत्यपि पाठः ह्नसम्पा.

न कामयेऽन्यत् तव पादसेवनादकिञ्चनप्रार्थ्यतमाद् वरं विभो।

आराध्य कस्त्वां ह्यपवर्गदं हरे वृणीत आर्यो वरमात्मबन्धम्।।५५।।

एकं कामये **यत्तव पादसेवनम्** एतत्साधकं च, **अन्यत्तु** एतद्व्यतिरिक्तम् एतदसाधकं वा **न कामये**. ननु को विशेष:? एकं शास्त्रस्तुतम् अपरं च

लोकप्रतीतिसिद्धम् अत उभयोस्तुल्यत्वाद् अत्याग्रहेणान्यनिषेधे को हेतुरिति चेत्, तत्राह **अकिञ्चनप्रार्थ्यतमाद्**इति. धनिनां कदाचिद् धनस्य विद्यमानत्वाद् अन्याकाङ्क्षापि भवति; अकिञ्चनानां तु उभयाभावात् लौकिकत्वाद् धनापेक्षायाश्च नियतत्वात् तत्परित्यज्य यत्केवलं चरणसेवैव प्रार्थ्यते. तत्रापि परमेष्टत्वेन दीयमानमप्यन्यद् अगृहीत्वा असाध्यमपि प्रार्थयन्त इति प्रार्थ्यतमत्वम्. क्लेशेनाप्रार्थितत्वं वारयति वरमिति. दातुरसामर्थ्यादपि तथात्वं वारयति **विभो** इति. ननु ते भ्रान्ता भवन्तु, तेषां तथा वा रुचिः, तथापि विषये को दोष इति चेत्, तत्राह **आराध्य कस्त्वामि**ति. **त्वामाराध्य को वा वरं वृणीत** कर्मवशादागतम् अनभिप्रेतमप्यनुभूयते, भगवन्तं तु आराध्य दुर्लभमेव प्रार्थनीयम्. तत्रापि विरुद्धं कथं प्रार्थनीयमित्युभयथा विरोधमाह **अपवर्गदं** भवन्त**मात्मबन्धनं वरमि**ति. यो हि यं सेवते स तत्सम्बन्धं लोकयोः प्राप्नोति. तत्र मोक्षात्मा भगवान् अन्यत्संसारात्मकमिति. ननु तर्हि मोक्षो ज्ञानं वा प्रार्थनीयं स्यात् नतु पादसेवनमिति चेत्, सत्यं, ज्ञानं हि कैवल्यमेव साधयति. मोक्षोऽपि कैवल्यरूपश्चेत् तथापि न पुरुषार्थः. भगवत्प्राप्तिरूपश्चेत् तदा एकरसतामापन्नो भगवानेव भवतीति अस्य पृथगनुभवो न स्यात्. अतः परमानन्दः सन् योऽनुभूयते तदेकं चरणोपासनमेव. असाधनं साध्यं न सिध्यतीति साधनत्वेन वा प्रार्थनमित्येके ।।५५।।

अत उत्कृष्टप्रार्थनार्थं प्रथमतः शरणं गच्छामीत्याह तस्माद्विसृज्येति.

तस्माद्विसृज्याशिष ईश सर्वतो रजस्तमःसत्त्वगुणानुबन्धनाः।

निरञ्जनं निर्गुणमद्वयं परं त्वां ज्ञप्तिमात्रं पुरुषं(/शरणं) व्रजाम्यहम्।।५६।।

हे **ईश** समर्थ, **सर्वतः** अन्तर्बहिः सर्वं **विसृज्य त्वां ज्ञप्तिमात्रं शरणं व्रजामि**. सर्वेषां परित्यागार्थं त्रिगुणत्वमाह **रजस्तमःसत्त्वगुणानुबन्धना** इति. रजःप्रभृतीनां बन्धकत्वाय गुणानुबन्धत्वमुक्तम्. अनिच्छतोऽपि बन्धहेतव इति तत्सम्बन्धमात्रेण तथात्वाय अनुपदप्रयोगः. ननु भगवानपि स्मार्तानां मते सोपाधिक इति तत्रापि रजःप्राप्तिरेवेत्याशङ्क्याह **निरञ्जनमिति**. अञ्जनमुपाधिः प्रकृत्यादिः, तद्रहितो निरुपाधिः. ततः किमत आह **निर्गुणमि**ति, सोपाधिक एव सगुणो भवति नतु निरुपाधिक इति. ननु भगवान् पूर्वं केवल एव स्वभोगार्थं स्वेच्छया प्रकृतिं गुणांश्चोत्पादितवान् अतः कथं त्वदर्थेऽपि तन्न करिष्यतीत्याशङ्क्याह **अद्वयमि**ति. द्वयरहितो भेदरहितः. यो हि भेदार्थं यतते तं प्रति तथा सम्पादयति, अहं तु न तथेति मां प्रति न सम्पादयिष्यतीति भावः. स स्वतन्त्र इति वक्तुमाह **परमि**ति. अन्यशङ्कां वारयति **त्वामि**ति. ननु तथापि त्वं

गुणमय इति त्वदधिकारानुसारेण तथैव करिष्यतीति चेत्, तत्राह **ज्ञप्तिमात्रमि**ति. तादृशस्य शरणागमनं न सम्भवतीति **पुरुष**रूपतामाह. **शरणमि**ति पाठे अर्थात् पुरुषरूपमेवेति **'त्वां'**पदात् ज्ञातव्यम्. **'पुरुष'**पदे तु **त्वां व्रजामी**त्यर्थात् शरणमिति ज्ञातव्यम् ।।५६।।

एवं शरणागतः स्वरक्षां प्रार्थयते चिरमिहेति.

चिरमिह वृजिनार्तस्तप्यमानोऽनुतापै–

रवितृषषडमित्रो लब्धशान्तिः कथञ्चित्।

शरणद समुपेतस्त्वत्पदाब्जं परात्मन्

अभयमृतमशोकं पाहि मापन्नमीश।।५७।।

सङ्घातात्पीडितः असमर्थः तत्पीडापरिहाराय रक्षां प्रार्थयते, नत्वन्यस्मात्. तदर्थ बाधकानि गणयति. **चिरं वृजिनैर्दुःखैरार्तः, अनुतापैस्तप्यमानो**ऽपि जातः. अनुतापा नियता आध्यात्मिकादयः. अग्रेऽपि तापजनकान् दोषानाह **अवितृषषडमित्र** इति. पूर्वत्र प्रवाहे तु षडिन्द्रियाण्यमित्राणि न वितृष्णाणि तस्मात् शत्रुभिः पीडितः. ते भक्षयिष्यन्तीति शङ्कया प्रार्थना. नन्विन्द्रियोपरत्यभावे व्यर्थं सर्वमिति चेत्, रक्षितोऽपि यदीन्द्रियहितमेव कुर्यात् तदा किं रक्षयेत्यत आह **लब्धशान्तिरि**ति. **कथञ्चि**दन्तःकरणमुपरतमित्यर्थः. त्वं च **शरणप्रदः** अहं च **सम्यगुपेतः,** तत्रापि **त्वत्पदाब्ज**सेवकत्वेन. **परात्मन्नि**ति जीवानां स्वामी भगवानिति शरणगमनं नायुक्तमिति भावः. गुणत्रयपीडितस्य पीडानिवारकं भगवति गुणत्रयमाह **अभयमृतमशोकमि**ति. सत्त्वगुणाभावाद् भयाभावः, अतएवान्यं च पालयितुं शक्तः. ऋतत्वात् रजसो अभावः, रजःसम्बन्धेन शुद्धं भवतीति ऋतता युक्तैव. **अशोकमि**ति, तमसा शोकः. **आपन्नमि**ति रक्षायां[१] हेतुः. **ईशे**ति सामर्थ्यम् ।।५७।।

ततो भगवान्, वृथा शयनं कृतवानिति तं तपसि प्रवर्तयितुं मर्यादारक्षार्थं च, प्रार्थितदानमाह **सार्वभौमे**ति षड्भिः.

।।श्रीभगवानुवाच।।

सार्वभौम महाभाग मतिस्ते विमलोर्जिता।

वरैः प्रलोभितस्यापि न कामैर्विहता यतः।।५८।।

सार्वभौमत्वेन तस्य भाग्याभिनन्दनमुक्तम्. **महाभागे**ति अग्रिमसिद्ध्यर्थं च भाग्यमुक्तम्. **तव मतिर्विमला ऊर्जिता** च. सांसारिकधर्मनिवृत्त्या विमलत्वं

भगवत्परत्वेन ऊर्जिततत्वं चेति. भगवदाज्ञोल्लङ्घने भगवान् कथं सन्तुष्ट इत्याशङ्कां निवारयितुमाह **वरैः प्रलोभितस्यापी**ति. ''सर्वान् कामान् ददामी''ति यदुक्तं तत्केवलं लोभप्रदर्शनार्थं, तेषु तव रुचिरस्ति न वेति. तदिदानीमवगतं नास्तीति, **यतः कामैर्न विहता** बुद्धिः. अतएव विमलत्वमूर्जिततत्वमिति सम्बन्धः ।।५८।।

ननु स्वामिना कथमेवं प्रलोभ्यते, तत्राह **प्रलोभित** इति.

प्रलोभितो वरैर्यत्त्वमप्रमादाय विद्धि तत्।

न धीर्मय्येकभक्तानामाशीर्भिर्भिद्यते क्वचित्।।५९।।

यदपि वरैस्त्वं प्रलोभितः, तदप्यप्रमादायैव, भगवदीयस्य कदाचिदिच्छा स्यात्, विषया न दृष्टा इति. तदन्यदत्तैर्विषयैः स्वाभाविकैर्वा इष्टं न भवतीति मयैव दीयन्ते, ततो विषयभोगः प्रमादाभावश्च सिध्यति. विद्धीति नात्र सन्देहो विधेयः. हेत्वन्तरमप्याह **न धीर्मय्येकभक्तानामि**ति. **एकभक्ताः** एकस्यैव भक्ताः, न मार्गान्तरप्रेप्सवः किन्तु भक्ता एवेति वा. **आशीर्भि**र्वरप्राप्ताभिः, तत्रापि भगवतः सकाशात्. **क्वचिदि**त्यस्य पक्षस्याव्यभिचार उक्तः ।।५९।।

---

१. रक्षार्थं वा इत्यपि पाठः ह्नसम्पा.

एवं भोगमोक्षावविरुद्धौ भगवन्मार्गएव नत्वन्यत्रेति वदन् पक्षान्तरं दूषयति **युञ्जानानामि**ति.

युञ्जानानामभक्तानां प्राणायामादिभिर्मनः।

अक्षीणवासनं राजन्दृश्यते क्वचिदुत्थितम्।।६०।।

भक्तिमार्गव्यतिरेकेण केवलाना**मभक्तानां प्राणायामादिभिर्मनो युञ्जानानां** मनोनिरोधार्थं यतमानानां क्वचिदुत्थितं दृश्यते, यथा सौभरिप्रभृतीनाम्. तत्र हेतुः **अक्षीणवासनमि**ति. **राजन्नि**ति सम्बोधनं वासनाक्षयाभावानुभवार्थम्. भक्त्या तु वासना क्षीयते. तत्र अलौकिकप्रकारं वारयितुं कामा दीयन्ते, तदुपद्रवाभावश्च सम्पाद्यत इति भगवता भक्तिमार्गः स्तुतः ।।६०।।

एवं स्तुत्वा तन्मार्गे प्रविष्टस्य भयाभावः सिद्धएवेति वदन् कामविहारं बोधयति **विचरस्वे**ति.

विचरस्व महीं कामं मय्यावेशितमानसः।

अस्त्वेव नित्यदा तुभ्यं भक्तिर्मय्यनपायिनी।।६१।।

यतो महांस्त्वमतोऽन्यथा विहारः स्वतएव निवृत्तः. किञ्च **मय्यावेशितमानसः सन् विचरस्व** कीदृशी जगति भगवल्लीलेति जिज्ञासुरिव. चरणसेवामेव प्रार्थये नान्यदिति यदुक्तं तत्राह **अस्त्वेवेति**. अत्र भक्तिदानं नापेक्ष्यते, त्वयि भक्तिः सहजैवास्ति. उत्कर्षोऽपि[१] भक्तेः सहजएव इत्याह **अनपायिनीति नित्यदेति च;** देशकालवस्तुपरिच्छेदा निवारिताः. अपायः स्वतो देशतश्च. यद्यपि कालनिषेधोऽप्यायाति तथापि निषेधमात्रपरत्वाभावाय निमित्तभूतः कालः तव भक्तेरनुगुण इति ज्ञापनार्थं **नित्यदे**त्युक्तम्. तुभ्यमिति सम्प्रदानत्वेनैव पूर्वं दानं सूचितम्. **मय्यनपायिनी**ति वा, मद्विषयिणी मत्कृपया वा. अग्रेऽपि न निवर्तिष्यत इति वरदानम् ।।६१।।

ननु सायुज्यं कुतो न दीयत इत्याशङ्क्याह.

---

१. उदयोऽपि इत्यपि पाठः ह्नसम्पा.

क्षात्रधर्मस्थितो जन्तून्व्यवधीर्मृगयादिभिः।
समाहितस्तत्तपसा जह्यघं मदपाश्रयः।।६२।।

क्षात्रधर्मस्थित इति. क्षत्रियाणां धर्मः जातिप्रयुक्तो घोरो द्विविधःह्न युद्धे भ्रातरमपि हन्यात्, पापर्द्धौ पलायमानानपि मृगान् हन्यात्. अतस्तस्य दोषस्य परिहारः कर्तव्यः. **जन्तूनि**ति तेषामपराधाभावः सूचितः. **आदि**शब्देन भ्रममुत्पाद्य मारणं, वागुरादिना वा. तस्य निराकरणोपायमाह **समाहित** इति, जितेन्द्रियान्तःकरणः सन् **तत्** पापं **तपसा जहि**. ननु तपस्यपि पापं श्रूयते, कियान्वार्थः स्वपरद्रुहा धर्मेण, ‘‘मां चैवान्तःशरीरस्थमि’’त्यादिवाक्यैः, तत्राह **मदपाश्रय** इति. मामेवाश्रित्य तपःकरणे अन्तर्मत्क्लेशजननाभावात् न तपोदोषो भविष्यतीति भावः ।।६२।।

ततो यद् भाव्यं तदाह **जन्मन्यनन्तर** इति.

जन्मन्यनन्तरे राजन् सर्वभूतसुहृत्तमः।
भूत्वा द्विजवरस्त्वं वै मामुपैष्यसि केवलम्।।६३।।

।।इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः।।

अनन्तरे जन्मनि त्वं द्विजवरो भविष्यसि, उत्कृष्टकुले जन्म प्राप्स्यसि. तत्रापि **सर्वभूतसुहृत्तमो** भविष्यसि, न तु प्रवृत्तिपर:. तत: **केवलं मामुपैष्यसि.** अन्यथा पुरुषेषु कालरूपे वा लयो भवेत् लीलासहिते, ततो लीलार्थं पुनरागमने आगमनमपि स्यात्. केवले पुरुषोत्तमे तु आगमनशङ्काभाव:. अस्य च प्रमाणे श्रद्धा महती स्थितेति पुष्टिमार्गे न योजितवान्. मर्यादायां ब्राह्मणस्यैव मुक्ति: तत्रापि कैवल्यमिति "ये यथा मां प्रपद्यन्त" इति सिद्धान्तान्न कोऽपि दोषः ।।६३।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे द्वितीयाध्यायविवरणम्।।

।।इति अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः।।

।।तृतीयो स्कन्धादितो एकोनपञ्चाशत्तमोध्यायः।।

पुरुषानुग्रहं पूर्वमुक्त्वा भगवता कृतम्।
स्त्रीषु तं विस्तरेणाह रूपत्रयविभेदतः।।(१)।।
अनुग्रहः कालतुल्यस्ततो द्वादशधोदितः।
तत्र मुख्या तु लक्ष्मीः स्यात्तस्यां त्रेधा हरेः कृपा।।(२)।।
मानसेनाथ कायेन वेदेनेति निरूप्यते।
गान्धर्वो मानसः प्रोक्तो दूरत्वाद्वचनाभिधा।।(३)।।
कृष्णानुग्रहयुक्तानां कृतार्थत्वे ततः परम्।
स्त्रीणां मुक्तिर्निरूप्येति मुचुकुन्दतपःकथा।।(४)।।
प्रसङ्गात्तामसानां हि वधो देवहिताय हि।
पलायनं लीलयैव सोऽप्यनुग्रह ईर्यते।।(५)।।
सात्त्विके राजसे चैव तामसे च हरेः कृपा।
इति दर्शयितुं राज्ञो[१] वृत्तं लक्ष्म्याः शिवस्य च।।(६)।।

तृतीयेऽध्याये अनुग्रहनिरूपणप्रस्तावैः[२] मुचुकुन्दस्य शिवस्य लक्ष्म्याश्च

लेखः

तृतीयेऽध्याये **रूपत्रये**ति, रुक्मिणी-जाम्बवती-सत्यभामेतिरूपत्रये अनुग्रहः साधनप्रकरणे निरूपित इत्यर्थः (१).

अनुग्रह इति, मुचुकुन्दे कृतो**ऽनुग्रहः काल**सापेक्षो, नतु कालमतिक्रम्य कृत**स्ततो** हेतोर्मुचुकुन्देन **द्वादश**श्लोकैः प्रार्थ्यत्वे**नोदितः**, त्रयोदशे श्लोके तु शरणगमनकथनेन स्वरक्षा प्रार्थिता; नानुग्रहः प्रार्थित इति भावः. तत्रेति स्त्रीष्वित्यर्थः. **वेदेने**ति वाचेत्यर्थः. मानसे गान्धर्वविवाहे ''श्रुत्वा गुणानि''तिवाक्यकथने हेतुमाहुः **दूरत्वाद्**इति (२-३).

लक्ष्म्याः शिवस्य चेत्यत्र क्रमो न विवक्षित इति ज्ञेयम्. **राज्ञः** मुचुकुन्दस्येत्यर्थः. जरासन्धात्पलायनं शिववरदानाद् अतः शिवहितमेव पलायनमिति भावः (६).

---

१. राज्ञे इति पाठः. २. प्रस्तावे इति पाठः.

हितं कृतवानिति निरूप्यते कायिक-वाचिक-मानसिकभेदेन. प्रथमं सात्त्विके भगवान् मुचुकुन्दे कृपां कृतवानिति तस्य भगवद्वाक्येन तपःकरणमुच्यते इत्थमिति चतुर्भिः.

।।श्रीशुक उवाच।।

इत्थं सोऽनुगृहीतोऽङ्ग कृष्णेनेक्ष्वाकुनन्दनः।
तं परिक्रम्य संनम्य निश्चक्राम गुहामुखात्।।१।।

एवंप्रकारेण भगवता **अनुगृहीतः** मुचुकुन्दः तपोनिमित्तं गुहातो निर्गतः. भगवदनुग्रहव्यतिरेकेण भगवद्वाक्ये श्रद्धा न भवतीति भगवदनुग्रहः कारणत्वेनोच्यते. **इक्ष्वाकुनन्दन** इति, इक्ष्वाकुरत्यन्तं भक्त इति तद्वंश्योऽयमिति कृपाया हेतुत्वेनोक्तम्. तत**स्तं** भगवन्तं कृष्णं **परिक्रम्य** प्रदक्षिणीकृत्य, ततः **सम्यङ् नत्वा** साष्टाङ्गं प्रणम्य पूर्वमेव शयनस्थानात् गुहामुखे प्रकाशयुक्ते स्थित इति ततोऽपि **निश्चक्राम** ।।१।।

ततस्तपः क्वचित् कर्तव्यमिति विचार्य, भारतखण्डएव चतुर्युगधर्माणां प्रवृत्तिरिति विरुद्धकालयुक्ते देशे तपो न कर्तव्यमिति वर्षान्तरं गन्तुम् उत्तरदेशं गत इत्याह **स** वीक्ष्येति.

स वीक्ष्य क्षुल्लकान् मर्त्यान् पशून्वीरुद्वनस्पतीन्।
मत्वा कलियुगं प्राप्तं जगाम दिशमुत्तराम्।।२।।

स हि सत्ययुगे शयनं कर्तुं प्रवृत्तः कलियुगे उत्थितः. यदैव भगवता मथुरा त्यक्ता तदैव कलिः प्रवृत्त इति मुख्यः सिद्धान्तः. पञ्चविंशे वर्षे कलिरायास्यतीत्येव विनिश्चित्य भरतखण्डं परित्यज्य समुद्रमध्ये द्वारकां कृतवान्. ततो भगवति तत्र गते कलिः सम्यक् प्रविष्टः. कालाभिमानिनी देवता तु भगवति स्वस्थानं गते समायास्यति. अयं विचारो द्वादशे कर्तव्यः. कलिस्त्विदानीं प्रविष्टः. सन्ध्यासमयोऽयं वा. मध्यकालएव अग्रे निर्णय इति कालस्य प्रवृत्तौ नियतं हेतुं दृष्टवानित्याह **स** मुचुकुन्दः **क्षुल्लकान्** अल्पप्रमाणान् कालेन ह्रासं प्राप्तान् मर्त्यान् मनुष्यान्. अनेन तेषां मरणमपि शीघ्रं कालेनेति सूचितम्. **वीरुधः** लतागुल्मादीन् **वनस्पतीन्** वृक्षानपि चतुर्विधानल्पायुःप्रमाणाभ्यां ह्रासयुक्तान् विलोक्य, कलेरेवायं धर्म इति

[1]असाधारणत्वाद्विनिश्चित्य **उत्तरां दिशं जगाम** ।।२।।

ततो विधानपूर्वकमिमं देशमतिक्रम्य गत इत्याह तपःश्रद्धायुत इति.

तपःश्रद्धायुतो धीरो निःसङ्गो मुक्तसंशयः।

समाधाय मनः कृष्णे प्राविशद् गन्धमादनम्।।३।।

तपः सर्वेन्द्रियनिग्रहः, **श्रद्धा** च भगवद्वाक्ये, ताभ्यां **युतः** दृष्ट्वापि विषयान् विघ्नत्वेन प्राप्तान् वा न व्यामुग्धः किन्तु धीरएव जातः. ततो गच्छन् राजेति यं कञ्चिदनुवर्तमानमपि परित्यज्य **निःसङ्ग**एव सन् शरीररक्षादौ **मुक्तसंशयः** इतस्ततो दर्शनाद्यर्थं विक्षिप्तमपि **मनः कृष्णे समाधाय गन्धमादनपर्वतं प्राविशत्**. गरुडगङ्गातः उत्तरे भागे बदरिकाश्रमपर्यन्तं सर्वोऽपि पर्वतो गन्धमादनः ।।३।।

बदर्याश्रममासाद्य नरनारायणालयम्।

सर्वद्वन्द्वसहः शान्तस्तपसाराधयद्धरिम्।।४।।

ततस्तत्रापि **बदर्याश्रममासाद्य,** यत्र **नरनारायणयोरालयं,** तत्र शीतादिबाधा महतीति तन्निवृत्त्यर्थं यत्नकरणे तपो न युज्यत इति तदर्थमाह **सर्वद्वन्द्वसह** इति. अन्तरपि **शान्तः तपसा हरिमाराधयत्**. हरिपदेन यथैव तस्य तपसा आराधनं सिध्यति तथैव कृतवानिति लक्ष्यते ।।४।।

एवं तस्य व्यवस्थामुक्त्वा भगवतोऽपि द्वारकायां गमनमाह **भगवानि**ति दशभिः.

भगवान् पुनराव्रज्य पुरीं यवनवेष्टिताम्।

हत्वा म्लेच्छबलं निन्ये तदीयं द्वारकां धनम्।।५।।

मध्ये तामसस्य शिवस्य ब्राह्मणानां वाक्यं कृतवानिति निरूप्यते. यवनवधानन्तरं **भगवान्** पुनर्मथुरा**माव्रज्य यवनैर्वेष्टितां** दृष्ट्वा, मथुरानिमित्तं **म्लेच्छबलं हत्वा, तदीयं धनं** हतानां मुकुटादिरूपं **द्वारकां निन्ये** ।।५।।

नीयमाने धने गोभिर्नृभिश्चाच्युतचोदितैः।

आजगाम जरासन्धस्त्रयोविंशत्यनीकपः।।६।।

नीयमाने इति. वृथैव धनं न परित्याज्यमिति राज्ञे देयमिति यवनधनं

---

१. साधारणत्वादिति पाठः.

च न ग्राह्यमित्युभयं साधयितुं किञ्चिद्दूरं गृहीत्वा गतवानित्यर्थः. तत्कटकस्था एव वाहकाः पदातयो बलीवर्दाश्च. ते सर्वे भगवता प्रेरिताः जरासन्धस्य सुखार्थम्. जये हि किञ्चित्प्राप्यत इति तस्मै दानार्थं नीतवन्तः. एतस्मिन्समये भगवदिच्छयैव समागतो **जरासन्धः त्रयोविंशत्य**क्षौहिणीयुतः. अधिकानयने सर्वोऽपि प्राकृतः क्षीणो भवेदिति प्रकृतिं परित्यज्य प्राकृतं सर्वमेव गृहीत्वा समायातीति ख्यापनार्थं सर्वत्र त्रयोविंशत्यक्षौहिण्य उच्यन्ते ।।६।।

विलोक्य वेगरभसं रिपुसैन्यस्य माधवौ।

मनुष्यचेष्टामापन्नो राजन् दुद्रुवतुर्द्रुतम्।।७।।

ते च सर्वे लब्धवराः, पूर्वापेक्षयापि वेगवन्त इति. देवानां वाक्यं परिपालनीयं मनुष्यैरिति **मनुष्यचेष्टामापन्नौ.** मनुष्यभावस्वीकारे हि ब्राह्मणवाक्यं शिववाक्यं च माननीयं भवति. भागवते चास्याकथनं लोकव्यामोहनार्थम्. **राजन्नि**ति स्नेहेन सम्बोधनं भ्रमानुत्पादनार्थम्. द्रुतं यथा भवति तथा **दुद्रुवतुः** पलायितवन्तौ ।।७।।

विहाय वित्तं प्रचुरमभीतौ भीरुभीतवत्।

पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्यां चेरतुर्बहुयोजनम्।।८।।

विहायेति. भारवाहकास्तु गन्तुमसमर्था इति तान् **विहायैव प्रचुरमपि वित्तं विहाय अभीताव**प्येतौ भीतेभ्योऽपि भीताविव रथाश्वादिकमपि यवनवधात्प्राप्तं विसृज्य **पद्भ्यामेव** भूमिसुखार्थं **पद्मपलाशतुल्याभ्यां बहुयोजनं चेरतुः** चित्रकूटमार्गेण गतौ ।।८।।

ततो मागधोऽपि भगवल्लीलामज्ञात्वा वरेण दृप्तः पृष्ठतोऽन्वगमदित्याह **पलायमानावि**ति.

पलायमानौ तौ दृष्ट्वा मागधः प्रहसन् बली।

अन्वधावद् रथानीकैरीशयोरप्रमाणवित्।।९।।

तौ रामकृष्णौ. ननु बहुवारं धृत्वा मुक्तः तयोर्बलं जानन्नपि कथं तत्सङ्गे गत इति चेत्, तत्राह **मागध** इति, देशदोषेण नष्टमतिरित्यर्थः. ततः **प्रहसन् बलसहितः** सेनासहितः **अन्वधावत्. रथानीकैः** सहेति ये शीघ्रगामिनो रथास्तानारुह्य तादृशैः सह गत इत्यर्थः. अनेन रथानां सेनायाश्च महान् क्लेशो निरूपितः. स क्लेशः सार्थको भविष्यतीत्याशङ्क्याह **ईशयोरप्रमाणविदि**ति. कृष्णरामयोः प्रमाणं सामर्थ्यमादरणीयत्वं वा. तौ हि ब्राह्मणादिवाक्यं प्रमाणीकृत्य भगवान् गच्छति न त्वशक्तः सन् इति भगवत्प्रमाणं न ज्ञातवान्. **ईशयोरि**ति पूर्णा

शक्तिर्विभक्तेति एकस्याप्यनङ्गीकारे विप्रादीनां वाक्यमप्रमाणं भवेदिति उभाभ्यां तत्प्रमाणीकृतमित्यर्थः ।।९।।

प्रद्रुत्य दूरं संश्रान्तौ तुङ्गमारुहतां गिरिम्।

प्रवर्षणाख्यं भगवान्नित्यदा यत्र वर्षति।।१०।।

ततो रामकृष्णौ पर्वतेन प्रार्थितवरौ तत्प्रियार्थं **तुङ्गं गिरिमारुहताम्.** स हि पर्वतः सर्वदा शीतेन व्याप्तः भगवन्तं शीतनिवृत्त्यर्थं विज्ञापयामास. तत्र हि न कदाचिदपि सूर्याग्निसम्बन्धः. मेघानां तत्प्रियं स्थानम् अतो मेघाच्छन्नएव तिष्ठतीति न सूर्यसम्बन्धः. **वर्षती**ति नाग्निसम्बन्धः. ततो भगवान् पूर्वं तस्मै वरं दत्तवान्ह्न अहमागत्य ते शीतं निवारयिष्यामीति. ततो भगवतः अद्भुतकर्मत्वं प्रतिपादयितुं श्रान्तिमुक्त्वा पर्वतारोहणं वदति प्रदुत्येति. न हि कश्चिद्दूरं प्रद्रुत्य तुङ्गं गिरिमारोहति; उच्चारोहणं ह्यश्रान्तमपि श्रमयति. भगवतः सहस्रोपायानां विद्यमानत्वात् निलीय स्थित्यर्थं किं पर्वतारोहणमुच्चस्थानमपेक्षते? प्रत्युत उच्चस्थितं सर्वोऽपि पश्यति. अतोऽत्र भगवतः अद्भुतलीलां कथयन् विरोधप्रकारेण कथयति. दूरं प्रद्रुत्य धावनं कृत्वा **सम्यक् श्रान्तौ** जातौ. नहीशयोः शीघ्रगमनं श्रमो वा सम्भवति, तत्रापि **तुङ्गम**त्युच्चं **गिरिम् आरुहतां** गुप्ततया. तत्रारोहणप्रयोजनमाह[१] **प्रवर्षणाख्यमि**ति, प्रकर्षेण वर्षणं यत्रेति. रूढिभ्रमव्युदासाय स्वयमेव योगं प्रदर्शयति **भगवान् नित्यदा यत्र वर्षती**ति. तत्र हि सर्वदा भगवान् वर्षति. मेघा हि कदाचित् क्वचिद्वर्षन्ति, तेषामधिष्ठातृरूपो भगवान् विष्णुःह्न ''पर्वतानामधिपतिरि''ति श्रुतेःह्न स्वयमेव तत्र वर्षति, अन्यथा लोके वृष्टिप्रवृत्तिर्न स्यात् ।।१०।।

ततो भ्रान्तस्य जरासन्धस्य कृत्यमाह गिराविति.

गिरौ निलीनावाज्ञाय नाधिगम्य पदं नृप।

---

१. प्रकारमिति पाठः.

ददाह गिरिमेधोभिः समन्तादग्निमुत्सृजन्।।११।।

पर्वतारोहणे कैश्चिद् दृष्टएव, तत्रापि अग्रे न गत इत्यत्र विचारमपि कृतवानित्याह नाधिगम्येति. ततः पर्वतादग्रे **पदं** गमनचिह्नं **नाधिगम्य** अप्राप्य. दाहे भगवता हेतुः सम्पादितः स सत्यएव जात इति वक्तुं तस्य **निलीनावि**ति ज्ञानमुत्पादितम्. ततो दाहार्थमेव तथा प्रयत्नः कृत इति सत्यसङ्कल्पस्य भगवत

इच्छया **गिरिमेधोभिर्ददाह** सर्वत्र वृक्षान् छित्त्वा परितस्तृणादिना दाहं कारितवान् ।।११।।

ततो भगवान् पर्वतप्रार्थितं विधाय ततोऽग्रे गत इत्याह तत उत्पत्येति.

तत उत्पत्य तरसा दह्यमानतटादुभौ।

दशैकयोजनोत्तुङ्गात् निपेततुरधो भुवि।।१२।।

तरसा शीघ्रमेव, यावदग्निः प्रज्वलति, भगवति विद्यमाने अग्निः पर्वतं न दहेदिति, न तु दाहभयात्. **दह्यमानाः तटाः यस्य**. सर्वत्र दाहे उद्भूते **उभौ** पूर्णशक्तिर्भगवान् **दशैकयोजनोत्तुङ्गा**दिति, एकादशयोजनं स उत्तुङ्गः तत **उभा**वपि **अधः** पर्वतस्य प्रस्तरभागमपि परित्यज्य भूभागे **निपेततुः**. केचित्तु अतिदाहे पुनः पर्वतप्रार्थनायां तं भूमौ नेतुम् उपर्युत्थाय पादपीडनेन तं भूमौ प्रवेशयन्नेव स्वयं दूरे गत इत्याहुः ।।१२।।

अलक्ष्यमाणौ रिपुणा सानुगेन यदूत्तमौ।

स्वपुरं पुनरायातौ समुद्रपरिखां नृप।।१३।।

ततः पुनरपि तस्य प्रवृत्तिः स्यादिति पूर्वमपि स्वेच्छयैव स प्रवृत्त इति ज्ञापयन् **तेनालक्ष्यमाणावेव** द्वारकां गतौ. तत्र न भगवता कश्चनाधिकः प्रयत्नः कृतःह्न स मा पश्यत्वितिह्न किन्तु स्वदोषेणैव स न दृष्टवानिति ख्यापयितुमाह रिपुणेति, दुष्टबुद्ध्यैव न दृष्टवान्. तत्सम्बन्धादन्यैरपि न दृष्टमिति **सानुगेने**त्युक्तम्. ननु कार्यस्य सर्वस्यापि कृतत्वात् श्वेतद्वीपादावेव कुतो न गतौ, द्वारकागमने को हेतुरिति चेत्, तत्राह **यदूत्तमावि**ति. अन्यथा यदुकुले अवतारं न कुर्याद् अतो यादवहितार्थं **स्वपुरं** यातौ. पुनरायातावित्यनेन पूर्वमुभावपि स्वयं गत्वा तान् स्थापितवन्ताविति विज्ञायते. तस्य भिन्नद्वीपत्वं कलिप्रवेशाभावाय निरूपयन्नाह **समुद्रपरिखामि**ति, समुद्रएव परिखा यस्येति विस्तारोऽप्यनेन सूचितः. **नृपे**त्यप्रतारणाय सम्बोधनम् ।।१३।।

तस्य च दुर्बुद्धिमाह **सोऽपी**ति.

सोऽपि दग्धाविति मृषा मन्वानो बलकेशवौ।

बलमाकृष्य सुमहन्मगधान्मागधो ययौ।।१४।।

शब्ददोषपरिहाराय **दग्धि**शब्दः सप्तम्यन्तो ग्राह्यः; जरासन्धोऽपि दग्धिमध्ये प्रविष्टः. यथा भगवान् द्वारकायां प्रविष्टः तथा **सोऽपि दग्धिं** प्रविष्टः परमसन्तापेन सन्तप्त इत्यर्थः. एतदपि ज्ञानकृतमेव, तस्य न क्रियया दाहो जात इति. अन्यथाग्रे

पाण्डवानां यशो न स्यात्. **इति मृषा मन्वानः बलकेशवावा**लक्ष्य. बलत्वाद् ब्रह्मेशयोरप्यधिपतित्वाच्च तादृशौ न तथाभूता**विति मृषा मन्वानो** वा. अथवा स तु दग्धएव अतः परं पाण्डवकीर्त्यर्थं मृषाभूतः सकलितः सीतावत्. ततो मृषा जरासन्धः बलत्वं केशवत्वं च मन्वानः सर्वांशेनापि नाशो भविष्यतीति विज्ञाय स्वस्य बलं सेना**माकृष्य मगधानेव ययौ.** ननु स्वयं किल दग्धः किं बलदाहेनेत्यत आह **सुमह**दि**ति. सत्त्वेन महत्त्वेन च तद् भगवदधिष्ठानमिति तत्स्थापनार्थं ततो भगवतः अपगमनार्थं च, **मगधानेव** देशान् **ययौ.** यतः सोऽपि **मागधः** देशदोषमात्रेणावशिष्टः. **मत्वा तौ बलकेशवावि**ति पाठे स एवार्थः ।।१४।।

एवं तामसस्य रुद्रादेः वाक्यपरिपालनं निग्रहं वा विधाय स्त्रीणामुद्धारार्थे कृपया विवाहादिकं कृतवानिति वक्तुं ज्येष्ठस्य बलभद्रस्य विवाहमाह **आनर्ताधिपतिरि**ति.

आनर्ताधिपतिः श्रीमान् रैवतो रेवतीं सुताम्।
ब्रह्मणा चोदितः प्रादाद् बलायेति पुरोदितम्।।१५।।

आनर्तदेशः द्वारकानिकटदेशः, **तस्याधिपतिः रैवतः श्रीमानि**ति अमृत एव. **रेवतीना**मा तस्य कन्या. स हि पूर्वं ब्रह्माणं प्रष्टुं गतः, ततो ब्रह्मवाक्यात् कनिष्ठायापि रामाय दत्तवान् इति पुरा नवमस्कन्धे निरूपितम्. अस्य विचारस्तत्रैव कृतः ।।१५।।

भगवतो विवाहमाह **भगवानपी**ति.

भगवानपि गोविन्द उपयेमे कुरूद्वह।
वैदर्भीं भीष्मकसुतां श्रियो मात्रां स्वयंवरे।।१६।।

ननु स्वतःसिद्धलक्ष्मीकस्य निरिन्द्रियस्य प्रयोजनाभावात् किं विवाहेनेत्याशङ्क्य परिहरतिह्न यद्यपि **भगवान्** तथापि **गोविन्द** इति इन्द्रादिभिरिन्द्रत्वेनाभिषिक्त इति तेषां वाक्यसिद्ध्यर्थ**मुपयेमे** विवाहं कृतवान्, न तु गोपिकावत्परिग्रहमात्रम्. **कुरूद्वहे**ति सम्बोधनं भगवत्स्वरूपज्ञानाय. ननु तथापि कर्मणा उत्पादिता कर्मफलरूपा तादृशकर्मकर्त्रैव विवाह्येति कथं भगवता विवाहः कृत इति चेत्, तत्राह **वैदर्भीमि**ति, विदर्भदेशे सोत्पन्ना अतो न कर्मजनिता. किञ्च **भीष्मकस्य सुताह्न भीष्मं** भयानकं कं सुखं यस्येति प्रलयकर्ता महादेव एवावतीर्णः, तस्य च सुता सीता पूर्वजन्मन्यपि महादेवकन्यैव, सैवेदानीं

भीष्मकाज्जाता. अतो विवाहः कर्तव्य एव. किञ्च **श्रियो मात्रामि**ति, सा हि लक्ष्म्याः मात्रा भवति अंशः, नहि तामन्यो ग्रहीतुं शक्तः. सा ह्यवतरति यथा यथा भगवानवतरति, ''राघवत्वेऽभवत्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनी''त्यादिवाक्यात्. तत्रापि **स्वयंवरे** यदा सर्वएव राजान आहूताः तदा भगवानप्याहूतः. यदा तया भगवान् वृतः ततस्तदिच्छया विवाहं कृतवान् ।।१६।।

किञ्च

प्रमथ्य तरसा राज्ञः शाल्वादींश्चैद्यपक्षगान्।

पश्यतां सर्वलोकानां तार्क्ष्यपुत्रः सुधामिव।।१७।।

प्रमथ्य तरसा राज्ञ इति, सर्वानेव शिशुपालादीन् **प्रमथ्य** मारयित्वा जयप्राप्तामिव तां नीतवान्. **शाल्वादयो**ऽतिविरोधिनो बलिष्ठाश्च. तैः सह युद्धे विशेषहेतुमाह **चैद्यपक्षगानि**ति. स्वयंवरेऽपि शिशुपालाय यथा भविष्यति तथा कर्तव्यमिति रुक्मिवाक्यात् विवाहकर्तेव शिशुपालः समागतः. अतस्तद्धितार्थमपि शाल्वादयः प्रवृत्ताः. मुख्यो भगवद्विरोधी शिशुपालः,

---

लेखः

प्रमथ्येत्यस्याभासे **किञ्चे**ति. गान्धर्वत्वं स्वयं वरणादुक्तं, राक्षसत्वमप्यस्तीति समुच्चयः ।।१७।।

अन्येऽपि विरोधिनः यथाकथञ्चिद् भगवद्विरोधं सम्पादयितुं तत्पक्षपातिनो जाता इति. किञ्च प्रद्युम्नादयोऽप्युत्पाद्याः अतः कामः सङ्कटे वर्तत इति तदुत्पत्त्यर्थमप्युपयेम इत्याह **पश्यतां सर्वलोकानामि**ति. यथा मातुरापन्निवृत्त्यर्थं गरुडः अयुक्तेभ्योऽप्यमृतं दातुं प्रवृत्तः तथा भगवानपि कामस्य दुःखनिवारणार्थं वैदर्भीम् अयुक्तामपि स्वयं गृहीतवान्, मारितवांश्चान्यान्. यद्ययुक्तमेतद्भवेत् तदा लोकाः साक्षिण इति तान् प्रमाणीकरोति. एवं सर्वप्रकारेण भगवतो विवाहो निरूपितः ।।१७।।

तत्र राजा विवाहे पौरुषं श्रोतुं विशेषं पृच्छति **भगवान् भीष्मकसुतामि**ति.

।।राजोवाच।।

भगवान् भीष्मकसुतां रुक्मिणीं रुचिराननाम्।

राक्षसेन विधानेन उपयेम इति श्रुतम्।।१८।।

भगवतो विवाहः बहुधा पुराणेषु श्रुतः. ततो राजा स्वयंवरविवाहात् प्रकारान्तरेण श्रुतवान्, तत्र च पौरुषमधिकमिति तद्भवति वा नवेति सन्देहनिवृत्त्यर्थं पृच्छति. **भगवत्त्वा**न्नाज्ञानम्. **भीष्मकसुतामि**ति पितुरपि बलिष्ठता. **रुक्मिणीमि**ति भगवतो मुख्यभार्येति प्रसिद्धा. ततश्च ''गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतावि''ति प्रथमो विवाहो धर्म्यः कर्तव्यः अतो धर्मित्वार्थं राक्षसएव विवाहः भगवता कृत इति सएव त्वया वक्तव्य इत्याह **राक्षसेन विधानेने**ति. **रुचिराननामि**ति तस्या मुग्धभावो निरूपितः; ततश्च राक्षसे विवाहे सा कथमनुगुणा अभीतागतेत्यपि सन्देहः. ''प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यत'' इति '**विधि**'शब्दः परस्वहरणलक्षण-दोषव्यावृत्त्यर्थः, यथा विवाहः दाने अदुष्टः एवं हरणेऽपि क्षत्रियस्येति ज्ञापनार्थः. **श्रुतमि**ति [१]प्रमाणमुपन्यस्तम् ।।१८।।

अतस्तत्र प्रकारं पृच्छति भगवन् श्रोतुमिच्छामीति.

भगवन् श्रोतुमिच्छामि कृष्णस्यामिततेजसः।
यथा मागधशाल्वादीन् जित्वैकः पुरमभ्यगात्।।१९।।

अनेनाग्रे वक्ष्यमाणा कथा अध्यायत्रयात्मिका न समाधिभाषेति सूचितम्,

---

१. पुराणमित्यपि पाठः ह्वसम्पा.

अन्यत्र श्रुतमेव कल्पान्तरीयमपि योगानुभावेन वक्तव्यमिति प्रश्नात्. अन्यथा स्वतन्त्रवक्तुः किं पूर्वश्रुतप्रकारकथनेनेति. अतः श्रोतुरनुरोधात् कल्पान्तरीयमपि गान्धर्व-राक्षस-वैधभेदेन त्रिधा त्रिभिरध्यायैर्वक्ष्यति. तेनात्र प्राप्तं दूषणत्रयं परिहृतं भविष्यतिह्व भगवान् कपटेन गत्वा अदत्तां हृतवानिति, तस्या भ्रातुर्मुण्डनं कृतवानिति, बलभद्रेण बोधित इति रुक्मिण्याश्च लज्जाभावेनापरिचितभगवत्प्रार्थनेति. एवं सति रसात्मको विवाहो न भवेद्; भक्तिरसो हि शृङ्गारादीनामुपमर्दकः अतः समाधिभाषाविवाहः स्वयंवरएव, अन्यस्तु मतान्तरीय इति निश्चयः. ननु अप्रस्तुतं किमिति वक्ष्यतीति चेत्, तत्राह **श्रोतुमिच्छामी**ति, इच्छा पूरणीयेति तदर्थं वक्ष्यति. किञ्च इयमपि कथा **कृष्णस्य, अमितं तेजो यस्ये**ति पराक्रमाधिक्याच्च तद्वक्तव्यम्. क्षत्रियाणां हि क्षात्रप्रकारेण निरूपितं भगवच्चरित्रं मनोहारि भवति, तदाह **यथा**

मागधशाल्वादीनिति. मागधोऽपि जयं प्राप्त इति स निरूप्यते, शाल्वः सात्त्विको महांश्च. एवं जयेन स्वभावेन च महान्तौ आदिभूतौ येषामिति जयशीलवीरजयो भगवत्कृतः श्रोतव्य इति निरूपितम्. तत्रा**प्येक**एव स्वयं तान् **जित्वा** स्वयं कुशलेन **पुरं** द्वारका**मभ्यगाद**िति. तदप्येकस्मिन्कल्पे, तत्सर्वथा विरुद्धं मन्वानः शुको नोक्तवान्, तदा तु भगवानपि समाहूतो गतः. वरणात्पूर्वमेव बलात्तां हृत्वा सर्वान् विनिर्जित्य एकाकी स्वयं गृहं गत इति कथा भवति. तत्र यद्यपि पौरुषं महत् तथाप्यत्यन्तं क्लिष्टकर्मत्वं भवतीति तन्नोक्तवान्. तामसकल्पे हि तथा कथा. अतएव शिशुपालो वक्ष्यति ''समुद्रं दुर्गमाश्रित्य बाधन्त'' इति. अक्लिष्टकर्मत्वं च वक्तव्यम् अतो यावता तदुपयुज्यते तावद्वक्तव्यमिति राक्षसो विवाह उक्तः नत्वेकाकिहरणम्. अनेनैवं ख्यापितमृह्व [१]पृष्टमयुक्तं चेत् न वक्तव्यमिति ।।१९।।

लेखः

भगवन्नित्यत्र तेनात्रेति, एतस्य मतान्तरत्वकथनेनात्र समाधिभाषायामिदं दूषणत्रयं नास्तीत्यर्थः ।।१९।।

१. दृष्टमिति पाठः.

ननु कथा भगवतो महती वक्तव्या, ततश्च अत्यावश्यककथैव श्रोतव्येति चेत्, तत्राह **ब्रह्मन् कृष्णकथा** इति.

ब्रह्मन् कृष्णकथाः पुण्या माध्वीर्लोकमलापहाः।

को नु तृप्येत शृण्वानः श्रुतज्ञो(/रसज्ञो) नित्यनूतनाः।।२०।।

ब्रह्मन्निति ज्ञानमुक्तम्. **कृष्णकथा**त्वात् कीर्तने श्रवणेऽपि वैराग्याभाव उक्तः. किञ्च प्राणिनो हि धर्मार्थकाममोक्षेप्सवः, तत्र कृष्णकथाश्चतुर्णां प्रतिरूपा इत्याह. पुण्या इति धर्मरूपाः. **माध्वीरि**ति कामरूपाः. लोकानां मलं दारिद्र्यवत् कश्मलरूपं हरन्तीति **लोकमलापहाः**. एवं त्रिवर्गरूपा इति तदभीप्सुः **को नु तृप्येत नु** इति वितर्के, न कोऽप्यत्र विरक्त इति भावः. तर्हि कथं सर्वे न प्रवर्तन्त इति चेत्, तत्राह शृण्वान इति. सकृच्छ्रुत्वापि निवर्तन्त इति चेत्, **श्रुतज्ञ** इति. वर्तमानप्रयोगेण निरन्तरश्रवणे प्राप्तेऽपि श्रवणरसिकोऽत्र मुख्य इति श्रुतं जानाति

रसिकत्वेनेति श्रुतज्ञ उक्तः. **रसज्ञ** इति पाठे तु स्पष्ट एव. किञ्च नित्यनूतना: अयातयामा: कालग्रासरहिता:, तेन मोक्षरूपा अपीत्युक्तम् ।।२०।।

एवं राज्ञ: श्रवणौत्सुक्यं दृष्ट्वा स्वयोगबलेनैव दृष्टमिति अन्यत: श्रुतत्वमनुक्त्वापि कथामेवारभते **राजासीद**िति.

।।श्रीशुक उवाच।।

राजासीद् भीष्मको नाम विदर्भाधिपतिर्महान्।

तस्य पञ्चाभवन्पुत्रा: कन्यैका च वरानना।।२१।।

आसीदित्येषा पुरावृत्तकथेति निरूपितम्. **भीष्मक** इति नाम प्रसिद्धेऽर्थे. तस्यान्यत्र स्थित्यभावाय तुल्यधर्मा: सर्वे त एवेति निर्दिशति **विदर्भाधिपतिर**िति. **महान**िति, महत्त्वेन सत्यादयो गुणा: एकचत्वारिंशदतिदिष्टाः. अयमर्थः

लेखः

राजासीदित्यत्र **तस्यान्यत्रे**ति. भीष्मकस्य महादेवावतारत्वेन कर्मासम्बन्धित्वादन्यत्र स्थितिमाशङ्क्य तदभावाय तत्संसर्गिण: सर्वेऽपि तुल्यधर्मा विदर्भदेशीयत्वात्कर्मासम्बन्धिन इति **विदर्भाधिपतिपदेनोक्तमित्यर्थः. अयमर्थ** इति. पूर्वं समाधिभाषाविवाहेऽपि 'वैदर्भी'पदेन कर्मासम्बन्धस्तत्पितुरुक्त एव, पूर्वस्माद्विशिष्टः. ''अभ्रातृमती न विवाह्ये''ति तदर्थं भगवत: पञ्चपर्वाऽविद्याया: पञ्च देवा: मायाकार्यरूपाः लक्ष्म्या अप्यग्रे उत्पन्ना इति तान् निरूपयति **तस्य पञ्चाभवन्पुत्रा** इति. ''मायया मे विनिर्मिता'' इति ''रमापि रूपं वव्रे द्वितीयमिव यत्प्रवदन्ति मायामि''ति लक्ष्म्या मायारूपत्वात् मायाकार्यत्वाच्चाविद्याया: तत्सहिता माया तत्र प्रादुर्भूता. अतएव सा जीवमेव व्याप्नोतीति मायामपि जीवपरां कर्तुं रुक्मी विचारितवान्. अत एव रुक्मिण्या रुक्मिप्रभृतिषु पक्षपातः, भगवत्कृते अपरितोषश्च; स्वरूपाज्ञाने निराकृते पश्चान्निरोधः फलिष्यतीति. भगवदीयेषु तस्य प्रतिष्ठाभावाय मुण्डितवान्. **तस्य** भीष्मकस्य **पञ्च पुत्रा अभवन्, एका च कन्या. वरानने**ति लोके सौन्दर्यं प्रशस्तमिति सौन्दर्यं मुग्धभावं च निरूपयन्नाह. दया च मुग्धभावे निरूपिता ।।२१।।

तान् नामतो निर्दिशति **रुक्म्यग्रज** इति.

रुक्म्यग्रजो रुक्मरथो रुक्मबाहुरनन्तरः।

रुक्मकेशो रुक्ममाली रुक्मिण्येषां स्वसा सती।।२२।।

कलेः स्थानं पञ्चात्मकं सुवर्णमिति तन्नामानः सर्वएव. अतएवाग्रे भगवान् वक्ष्यति ''तस्मात्प्रायेण न ह्याढ्या मां भजन्ती''ति. **अग्रजो** ज्येष्ठः **रुक्मी** सुवर्णसदृशः, वस्तुतो नाम तथा योगं नापेक्षते. **रुक्मरथ** इति द्वितीयः. **रुक्मबा**हुस्तृतीयः. **अनन्तर** इति त्रयाणामेकप्रकृतिकत्वम्. अन्येषां रुक्मिणीसहितानां भिन्नप्रकृतिकत्वमिति त्रयाणां निरूपणानन्तरमुक्तम् **अनन्तरमि**ति सर्वत्र सम्बध्यते. **रुक्मकेश**श्चतुर्थः. **रुक्ममाली** पञ्चमः. एतेषां योगानुसारेणाप्यर्थः स्वयमूह्यः. **एषां स्वसा** एकमातृका प्रियभगिनी च **रुक्मिणी.** यथैते दुष्टाः तथा सापि भविष्यतीत्याशङ्क्याह **सती**ति ।।२२।।

एवं तस्या उत्पत्तिमुक्त्वा तस्यां भगवतः भगवति तस्याश्च गान्धर्वं

लेखः

महत्त्वरूपोऽर्थोऽत्र तस्माद्विशिष्ट उक्त इत्यर्थः. अग्रे **दया चे**ति. ''दयाया भगिनी मूर्तिरि''ति वाक्याद् भ्रातृनिरूपणे तद्भगिनीत्वेन दयारूपत्वं च निरूपितमित्यर्थः ।।२१।।

विवाहं वक्तुं स्नेहं निरूपयति द्वाभ्याम् **सोपश्रुत्ये**ति.

सोपश्रुत्य मुकुन्दस्य रूपवीर्ययशश्श्रियः।

गृहागतैर्गीयमानास्तं मेने सदृशं पतिम्।।२३।।

तां बुद्धिलक्षणौदार्यरूपशीलगुणान्विताम्।

कृष्णश्च सदृशीं भार्यां समुद्वोढुं मनो दधे।।२४।।

सा रुक्मिणी **मुकुन्दस्य** मोक्षदातुः स्वस्यापि पुनर्जन्मनिवृत्त्यर्थं भगवद्गुणानेव शृणोति. कन्याया अपेक्षितं **रूपं, वीर्यं** क्षत्रियाणां, विद्यास्थानीयं **यशः,** कुलस्थानीया **श्रीः** लक्ष्मीः शोभा च; तेन धनसमृद्धिः सर्वसमृद्धिश्च सूचिता. एवं वरे योग्यानि पञ्च रूपाण्यप्युक्तानि. अन्तःपुरस्थायाः कन्यायाः कुत एतावच्छ्रवणमित्याशङ्क्याह **गृहागतैर्गीयमाना** इति. य एव ब्राह्मणाः, विद्ययोपजीविनो वा, साधवो, वृद्धाः सर्वत्राप्रतिहतगतयः तैः गीयमानाः श्रुत्वा तमेव भगवन्तम् आत्मनः **सदृशं पतिं मेने.** भगवानपि **तां सदृशीं भार्यां मेने,** तत **उद्वोढुमपि मनो दधे.** तस्या अपि पञ्च गुणाः; एकविकलापि न ग्राह्या भवति. आदौ **बुद्धिम**ती अपेक्ष्यते, अन्यथा गृहं विनश्येत्. स्त्री**लक्षणरहि**ता तु सामुद्रशास्त्रविरोधिनी भाग्यरहितैव भवति. **औदार्या**भावे लुब्धा सर्वमेव पुरुषार्थं

नाशयेत्. रूपाभावे व्यर्थो विवाहः. **शीला**भावे अधर्मं जनयेत्. अतः एते पञ्चापि **गुणा**ः लोके प्रसिद्धिमापन्नाः यस्यां भवन्ति सा विवाह्या. **अन्वयः** अव्यभिचारिसम्बन्धः. **कृष्णश्चे**ति चकारः सादृश्यार्थं, भगवानपि तादृश इत्याह. अतएव **सदृशी. सम्यगुद्वाहः** आहूय कन्यादानरूपः, स हि शोभाकरो भवति ।।२३-२४।।

तन्न जातमित्याह **बन्धूनामिच्छतां दातुमि**ति.

बन्धूनामिच्छतां दातुं कृष्णाय भगिनीं नृप।

ततो निवार्य कृष्णद्विड् रुक्मी चैद्यममन्यत।।२५।।

बान्धवाः पित्रादयः कुलसम्बन्धिनः **दातुमिच्छतां सताम्.** यतः **कृष्णः** सदानन्दः, अन्ये गुणाः फलसाधकाः अयं तु साक्षादेव फलरूप इति. तत्र **रुक्मी** वरत्वेन भगवन्तं निवार्य चैद्यं शिशुपाल**मेवामन्यत.** स्वरूपाज्ञानेन हि स्वकार्यं साधनीयम्. तत्र पूर्वजन्मनि सीतार्थमेव रावणोहतः; तस्यामभिनिविष्टचित्तएव प्राणान् जहौ. अतो लोकविचारेण तस्मै देयेति, भवति भगिनीत्वादस्य प्राबल्यम्. **नृपेति** सम्बोधनं राज्ञे राजकन्या देयेति तस्याभिप्रायस्त्वया ज्ञायत एवेत्येतदर्थम्. **ततो** हेतोः कृष्णाद्वा **निवार्य,** यतः **कृष्णद्विट्,** न हि तस्य स्वरूपनाशको भगवान् हितो भवति. अतः शत्रूणां मध्ये मुख्य इति चैद्यएव वरत्वेन स्वीकृतः. अनेन सर्वेषामेव तत्र सम्मतिरपि जातेति सूचितम्, राजा कुलीनः सोऽपि महानिति ।।२५।।

तद् रुक्मिण्या अनभिप्रेतमिति स्वात्मानं भगवद्गामिनं कर्तुमियेषेत्याह **तदवेत्येति.**

तदवेत्यासितापाङ्गी वैदर्भी दुर्मना भृशम्।

विचिन्त्याप्तं द्विजं कञ्चित्कृष्णाय प्राहिणोद् द्रुतम्।।२६।।

आदौ तन्निश्चित्य **भृशं दुर्मना** जाता. नन्वग्रे भगवत्प्रापकाणि कर्माणि कृत्वा भगवन्तं प्राप्स्यति, किमित्युद्वेग इति चेत्, तत्राह **वैदर्भी**ति, नास्यां कर्माण्युत्पद्यन्त इति. किञ्च **असितापाङ्गी** परमसुन्दरी, परमसुन्दरएव युक्ता भवति न तु जीवे कुरूपे. अतः आदौ **दुर्मना** भूत्वा पश्चादुपायचिन्तायां मित्रेणैवैतत्कार्यं कर्तव्यमिति विचार्य, सर्वस्य मित्रं गौर्ब्राह्मणो देवश्चेति तत्रापि गौरज्ञा साधारणी च नात्यन्तं भगवत्पक्षपातिनी अतो ब्राह्मणएव आप्तोऽस्मिन्

कार्ये भवतीति **विचिन्त्य, कञ्चिदाप्तं द्विजं** गूढार्थसाधकं द्रुतं शीघ्रमेव **कृष्णाय प्राहिणोद्,** अर्थात् सन्देशानुक्त्वा पत्रिकां वा दत्वा ।।२६।।

तस्य बहिःकार्यमाह **द्वारकां स समभ्येत्ये**त्यादिदशभिः, स हि निर्गुणं सगुणं च कार्यं कृतवानिति.

द्वारकां स समभ्येत्य प्रतीहारैः प्रवेशितः।

अपश्यदाद्यं पुरुषमासीनं काञ्चनासने।।२७।।

स शीघ्रमेव **द्वारकां समभ्येत्य** पूर्वमेव भगवदुक्तैः **प्रतीहारैरन्तः** कृष्णसन्निधौ **प्रवेशितः**. कार्यं साधयितुमागतः मध्ये स्वपुरुषार्थमपि साधितवानित्याह अपश्यदिति. ननु दर्शनमवान्तरकार्यमेव कुतो न भवेत्? तत्राह **आद्यं पुरुषमि**ति. सर्वस्यापि पतिदर्शनं पुरुषार्थः, तत्रापि परमः पतिः भगवान्; सर्वे प्रकृतिरूपा इति पूर्वमवोचाम. तादृशो भगवान् कार्यार्थं समागतः व्यग्रएव भविष्यतीति कथं कार्यद्वयमपि सिध्येदित्याशङ्क्याह **काञ्चनासने आसीनमिति,** उपविष्टत्वादव्यग्रता, सुवर्णासने चोपविष्ट इति विषयपरिग्रहः; तेन कार्यद्वयसिद्धिरिति भावः ।।२७।।

ततस्तस्य सन्माननामाह **दृष्ट्वा ब्रह्मण्यदेव** इति.

दृष्ट्वा ब्रह्मण्यदेवस्तमवरुह्य निजासनात्।

उपवेश्यार्हयाञ्चक्रे(/अर्हयामास) यथात्मानं दिवौकसः।।२८।।

प्रश्नानन्तरं सन्माननायां स्त्री निमित्तं भवेद्, आर्षज्ञानेन पूजायामपि कृत्रिमत्वसम्भावना स्यात्, ततश्च तद्दोषनिवृत्तिः(/त्त्यर्थं) धर्मान्तरमेवाह **ब्रह्मण्यदेव** इति. ब्रह्मण्यश्चासौ देवश्चेति ब्राह्मणानां हितः समर्थश्च. अतो ब्राह्मणस्य; अवरुह्य, देवस्येव पूजां कृतवान्. तं प्रकारमाह **निजासनादवरुह्य** तत्र **ब्राह्मणमुपवेश्य अर्हयामास.** प्रकारविशेषजिज्ञासायां स्वधर्ममतिदिशति **दिवौकसो** देवा **यथा** भगवन्तमिति. भगवति गृहमागते इन्द्रः स्वासने भगवन्तमुपवेश्य यावती स्वसमृद्धिः तया सर्वयैव पूजयति. एवं भगवानपि सर्वसमृद्ध्या पूजितवान् ।।२८।।

ततस्तस्य राज्ये प्रायेण धर्मो नास्तीति स्वदर्शनफलं तस्य ज्ञानमुपदिशतीत्याह **तं भुक्तवन्तमि**ति.

तं भुक्तवन्तं विश्रान्तमुपगम्य सतां गतिः।

पाणिनाभिमृशन् पादावव्यग्रस्तमपृच्छत।।२९।।

भोजनपर्यन्तं सर्वे उपचाराः कृताः. ब्राह्मणो हि मुख्यो भोजनप्रियः. ततो भोजनश्रमापनोदनादनन्तरम् **उपगम्य** निकटे गत्वा. नन्वेवं ब्राह्मणमात्रे किमिति करोतीत्याशङ्क्याह **सतां गतिरि**ति, लोकशिक्षार्थमेवं करोतीत्यर्थः. ततः **पाणिना पादावभिमृशन्** रुक्मिण्यामासक्तिरस्ति ततो व्यग्रः प्रश्नं करिष्यतीत्याशङ्क्य **अव्यग्रस्तमपृच्छतेत्याह** ।।२९।।

ज्ञानमुपदिशति **कच्चिद् द्विजवरे**ति पञ्चभिः; चतुर्भिस्तस्य एकेन तद्राज्ञः.

।।श्रीभगवानुवाच।।

कच्चिद् द्विजवरश्रेष्ठ धर्मस्ते वृद्धसंमतः।

वर्तते नातिकृच्छ्रेण सन्तुष्टमनसः सदाः।।३०।।

चत्वारः पुरुषार्था ब्राह्मणस्य. राज्ञः अर्थकामौ नियतौ, मोक्षो नास्त्येव, धर्मः सन्दिग्धः अतः सएव पृच्छ्यते. आदौ तस्य धर्मं पृच्छति **कच्चिद् द्विजवरश्रेष्ठ** इति. द्विजवराणां मध्ये श्रोत्रियाणां मैत्री क्रियत इति श्रेष्ठत्वम् अतः सर्वेषां मित्रभूतत्वात् तथा सम्बोधनम्. यद्यप्ययं धर्मो वर्तत एव तथापि **वृद्धसम्मतोऽपि** परम्परया समागतः श्रौतः स्मार्तः **वर्तते कच्चित्?** किञ्च स्वपरपीडया क्रियमाणः शुद्धो धर्मो न भवतीति उत्तरकाण्डानुरोधमप्यङ्गीकृत्याह **नातिकृच्छ्रेणेति,** अतिकृच्छ्रेण धर्मोऽपि धर्मो न भवतीति. तत्रापि शुद्धमनसएव धर्मो भवति, ब्राह्मणानां मनःशुद्धिः सन्तोषएवेति तं पृच्छति **सदा सन्तुष्टमनस** इति, सदा सन्तुष्टं मनो यस्य ।।३०।।

अर्थं पृच्छति **सन्तुष्टो यर्हि वर्तेते**ति.

सन्तुष्टो यर्हि वर्तेत ब्राह्मणो येन केनचित्।

अहीयमानः स्वधर्मात् स ह्यस्याखिलकामधुक्।।३१।।

सन्तोषएव ब्राह्मणानां धनं कामधेनुः, नतु लोकप्रसिद्धं धनम्. **येन केनचिदि**ति, कर्मवशादवश्यं जीवनार्थं प्राप्यत एव. किञ्च तावता चेत् **सन्तुष्टः** कर्मफलदाता सन्तुष्टो भवतीति, असन्तोषेऽपि क्रियमाणे नाधिकं प्रयच्छति असन्तुष्टश्च भवतीति तत्सन्तोषार्थं **स्वधर्मादहीयमानः** सर्वमेव स्वधर्मं कुर्वन् यर्हि वर्तेत. अनेनेयं स्थितिर्दुर्लभेति सूचितम्. सएव सन्तोषः **अस्य अखिलानेव कामान् दोग्धि** ।।३१।।

कामं पृच्छति **असन्तुष्ट** इति.

असन्तुष्टोऽसकृत्क्लेशान् आप्नोत्यपि सुरेश्वरः।

अकिञ्चनोऽपि सन्तुष्टः शेते सर्वाङ्गविज्वरः।।३२।।

कामो हि ब्राह्मणानां बाधकः, तदभावकामएव पुरुषार्थरूपः. एवम्भावे हेतुमाह **असन्तुष्टः असकृदेव क्लेशान्प्राप्नोति**. विषयाभावादिति चेत्, तत्राह **सुरेश्वरोऽपी**ति. इन्द्रो हि परमैश्वर्यं प्राप्तवान्, कामे परमा काष्ठा; तादृशोऽपि यद्यसन्तुष्टः क्लेशानेव प्राप्नोति. अत्रानुभवः प्रमाणं, श्रुतिश्च ''प्रजापत आशया वै श्राम्यसी''ति. अन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्यभिचारं वदन् व्यतिरेकेऽनुभवमाह **अकिञ्चनोऽपी**ति. किमपि माऽस्तु, सन्तुष्टश्चेदत्यन्तं सुखी.कथमित्याकाङ्क्षायां हेतुमाह शेत इति. सुखात्मिका हि निद्रा. उभयवादिसिद्धो हेतुर्वक्तव्यः. तत्र सन्तुष्टः शेते, नासन्तुष्टः प्राप्यापि राज्यम्. जागरणेऽपि हेतुमाह **सर्वाङ्गे विगतो ज्वरो यस्येति**. असन्तोषे चिन्ता भवति, चिन्तायां सर्वाङ्गे तापः प्रसिद्धः ।।३२।।

अनेनैव ब्राह्मणानां सहजमोक्षो भवतीति कैमुत्यन्यायेनाह **विप्रान् स्वलाभसन्तुष्टानि**ति.

विप्रान् स्वलाभसन्तुष्टान् साधून् भूतसुहृत्तमान्।
निरहङ्कारिणः शान्तान् नमस्ये शिरसासकृत्।।३३।।

मोक्षे आत्मलाभो ज्ञानात्मको विशेषः, **साधून्** सदाचारान्, **भूतसुहृत्तमानि**ति ब्राह्मणानां सहज आन्तरो धर्मः सर्वसौहार्दम्, अहङ्काराभावश्चाधिकः, शान्तिर्बुद्धेः ह्वएवं पञ्चधर्मयुक्तानहं शिरसा नमस्ये गुरुत्वेन मानयामि व्यवहारे. किञ्चित्पठित्वा तथा करोतीति पक्षं वारयति **असकृदि**ति, सर्वदैवमित्यर्थः. यत्र मोक्षदाता एवं मन्यते तत्र मोक्षे कः सन्देह इत्यर्थः. विशेषेण पूरका इति षड्गुणा वा भगवत्तुल्यत्वाय निरूपिताः. ऐश्वर्ये तु न नियमेन विशेषपूरकत्वं सर्वत्र, वीर्ये न स्वलाभः, यशसि न समा दृक्, श्रिया न सर्वथा भूतसौहृदम्, ज्ञाने क्वचिदहङ्कारोऽपि, वैराग्ये विक्षेपोऽपि क्वचित्सम्भवतीति षण्णामप्युत्तमत्वात् स्वतएव भगवत्त्वं च सिद्धमिति **नमस्य** इत्यविरुद्धम् ।।३३।।

तद्राज्ञः कुशलं पृच्छति **कच्चिद् वः कुशलमि**ति.

कच्चिद् वः कुशलं ब्रह्मन् राजतो यस्य हि प्रजाः।
सुखं वसन्ति विषये पाल्यमानाः स मे प्रियः।।३४।।

वो युष्माकं **राजतः कुशलं कच्चित्? ब्रह्मन्नि**ति अपकारेऽपि स्वतस्तूष्णींभावाय, अति**क्रमे** नाशाय वा. करोति चेद्राजा सुखं किं तस्य

स्यादित्याशङ्क्य तादृशस्य फलमाह **यस्य हि प्रजाः सुखं वसन्ति** तेन परि**पाल्यमानाः स मम प्रियो** भवति. अनेन सर्वमेव तस्य हितं सिध्यतीत्युक्तं भवति ।।३४।।

एवं कुशलं पृष्ट्वा प्रस्तुते त्वदुक्तं करिष्यामीत्यभिप्रायेण तत्सान्त्वनमाह **यतस्त्वमागत** इति.

यतस्त्वमागतो दुर्गं निस्तीर्येह यदिच्छया।

सर्वं नो ब्रूह्यगुह्यं चेत् किं कार्यं करवाम ते।।३५।।

दुर्गं सर्वमेवातिक्रम्य यस्माद्धेतोः **त्वमागतः, तच्चेदगुह्यं** तदा **सर्वं ब्रूहि.** किञ्चित्कार्यं साधनीयमिति **चेत्, तत्किं कार्यमि**ति प्रश्नः. सर्वस्यापि जगतो मोक्षो देय इति चेत्, तत्राह **ते कार्यं करवामे**ति. तव सर्वं कार्यं करिष्यामः नान्यस्येति ।।३५।।

एवं पृष्टः (ब्राह्मणः) स्वाभिप्रायं निवेदयति एवं सम्पृष्टेति.

एवं सम्पृष्टसम्प्रश्नो ब्राह्मणः परमेष्ठिना।

लीलागृहीतदेहेन तस्मै सर्वमवर्णयत्।।३६।।

एवं सम्पृष्टाः सम्प्रश्नाः यस्मै. ब्राह्मण इति निष्कपटः. **परमेष्ठिना च,** ब्रह्मणोऽपि पिता. तादृशः कथमत्रागत इत्याशङ्क्याह **लीलागृहीतदेहेने**ति, लीलया गृहीतः प्रदर्शितो देहाकारो येन. अतो ज्ञाततत्त्वायैव **तस्मै सर्वमेव** वृत्तान्त**मवर्णयत्** ''बन्धूनामिच्छतां दातुमि''त्यादि ।।३६।।

शिष्टं सर्वमुक्त्वा रुक्मिणीवाक्यानि स्वतः पत्रिकातो वा निरूपयति **श्रुत्वा गुणानि**ति सप्तभिः. षड्गुणाः भगवांश्च एते चेत् प्रार्थ्यन्ते तदा निष्प्रत्यूहं कार्यं भवतीति सप्तभिर्विज्ञापना. आदौ भगवन्तं धर्मिणं विज्ञापयति **श्रुत्वा गुणानि**ति.

।।श्रीरुक्मिण्युवाच।।

श्रुत्वा गुणान्भुवनसुन्दर शृण्वतां ते निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम्।

रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे।।३७।।

त्वयि चित्तं विशतीति मनोवृत्तिं निरूपयति. आत्मा तु त्वदीय एव. इन्द्रियाणि चेदन्यपराणि भवेयुः, अन्तःकरणं शरीरं वा, तदा सर्वनाश इति विनिश्चित्येन्द्रियाणां त्वत्परत्वे मनोऽपि त्वत्परं जातमिति शरीरमपि त्वत्परं

कर्तव्यमिति ममोद्योग इति प्रघट्टकार्थः. क्रमेणगुणानिरूप्यन्ते. भगवदैश्चर्यं चैतदिति सूचितम्. गुणद्वारा स्वतोऽपि चित्तवशीकरणमैश्वर्यादप्यैश्वर्यम्. भगवदीयानां कान्तिगुणस्वरूपाणां माहात्म्यं निरूप्यते हे **भुवनसुन्दर** भुवनेष्वेक एव सुन्दरः. अनेन कान्त्याधिक्येन स्त्रीणां स्वतश्चित्तवृत्तिरुक्ता. ते गुणान् **शृण्वतां कर्णविवरैरन्तर्निर्विश्य अङ्गतापं हरतां** सतां, **रूपं** च **दृशिमतामखिलार्थलाभं यतः,** अत**स्त्वयि मे चित्तमाविशति.** बहिरिन्द्रियद्वयमेव नियामकम् अन्तरिन्द्रियस्य श्रोत्रं चक्षुश्च. श्रुतावपि ''अक्षण्वन्तः कर्णवन्त'' इत्यत्र तथैव निरूपितम्. उभयेषामुपकारं त्वद्गुणाः त्वद्रूपं च करोति. तत्रैकमान्तरं तापं हरति एकं च बहिः सर्वपुरुषार्थान् प्रयच्छति. श्रवणमात्रेऽपि क्रियमाणे प्रयत्नं विनापि त्वद्गुणाः स्वतएव अन्तर्निविष्टाः. तेषामपि निवेशने प्रतिबन्धाभावायाह **कर्णविवरै**रिति. अपावृतानि कर्णरन्ध्राण्यपेक्ष्यन्ते, अन्यथा न प्रविशन्तीत्येतावत्पुरुषकर्तव्यमुपदिष्टम्. अतःपातालविवरवत्प्रसिद्धैः अन्त**र्निर्विश्य अङ्गानां तापं हरन्ति** गुणाः. **अङ्गे**ति सम्बोधनं वा आत्मत्वेन. रूपं च ये दृशिमन्तः दर्शनयुक्ता, येषां चक्षुःकार्यमस्ति. रूपभेदविद इति प्रथमा कक्षा, सर्वात्मना दृश्यगुणपरिज्ञानम् अन्तिमा. तेषां **दृशां** चक्षुषाम् **अखिलार्थानां लाभो यस्मात्.** चतुर्विधपुरुषार्थाः चक्षुषां सिध्यन्तिह्य चक्षुषः सूर्यभावो मोक्षः, रूपपानं कामः, रूपग्रहणमर्थः, तत्रावगाहनं धर्म इति. फलवतामेषां फलान्यप्यूह्यानि. तत्रापि पुरुषार्था न सम्पादनीयाः किन्त्वकस्मादुपलब्धा निधयइव प्राप्यन्ते. यत्रैवं इन्द्रियाणामुपकारं त्वद्धर्माः कुर्वन्ति तत्र चित्तमपि ममापि तथा भविष्यतीति त्वयि निर्विशति. चित्तस्य हि द्वयं प्रतिबन्धकंह्य लोको वेदश्च. तत्र लोकमतिक्रम्य प्रवर्तत इत्याह **अपत्रपमि**ति, अपगता त्रपा यस्मात्. लज्जा हि लोके नियामिका ।।३७।।

वैदिकं दोषं परिहरति **का त्वेति**.

लेखः

श्रुत्वा गुणानित्यत्र **हरतां सतामि**ति गुणानामिति शेषः. तथाच मूले हरत इति द्वितीयाबहुवचनान्तं गुणविशेषणं ज्ञेयम् ।।३७।।

का त्वा मुकुन्द महती कुलशीलरूप–
विद्यावयोद्रविणधामभिरात्मतुल्यम्।

धीरा पतिं कुलवती न वृणीत कन्या

काले नृसिंह नरलोकमनोभिरामम्।।३८।।

वेदोऽपि लोकानुसारी भवतीति हि विज्ञायते, अतो लोके यदविरुद्धं सर्वथा व्यवहारे अविगीतं तद् वेदेऽप्यविरुद्धमिति. एतादृशोऽर्थः मयैव कृत इति चेत् तदा विरुद्धो भवेत् किन्तु सर्वैरेव क्रियत इतीममर्थं व्यतिरेकेण साधयते. **का वा कन्या त्वां न वृणीत?** सर्वस्यापि यद्यपि मोक्षोऽभिप्रेत: तथापि स्त्रीयोनिरतिदुष्टेति तत्परित्यागार्थं स्त्रिया अत्यर्थमपेक्षितः. नन्वस्ति लोके मोक्षसाधनमिति चेत्, तत्राह **महती**ति, महत्त्वं प्राप्ता न सर्वं परित्यक्तुं शक्नोति यथातिबद्धा. अतस्तस्या गृहएव चेन्मोक्षदाता भवति तदैव मोक्ष: सिध्येत्. किञ्च धर्मार्थकामार्थमपि त्वमेव भजनीय इत्याह **कुले**ति. सप्तधर्मा: समा ययो: तयोरेव विवाह: विवादश्चेति. **कुलं** तुल्यमपेक्ष्यते, तत्सोमवंशित्वादावयोस्तुल्यम्. तथा **रूपमपि**ह्न मदर्थमेव रूपं गृहीतमिति मद्योग्यमेव भवितुर्हति तव रूपम्, अहमपि त्वदर्थमेव रूपं गृह्णामीति ममापि तथा. **वय**श्च योग्यमेव. गृहमत्र पितृगृहम्; प्रसिद्धस्य पुत्रः प्रसिद्धस्य कन्येति चतुष्टयं निर्विवादम्. लोकप्रतीत्या **द्रविण**मपि तुल्यम्. **विद्या** [1]समानेति चिद्रूपेति वा विद्यायामपि तुल्यता. महती श्रद्धा भगवति वर्तत इति ''यो यच्छ्रद्धः स एव स'' इति ऐक्यादनुरोधाद्वा. **शीलम**पि तुल्यम्. शीलं स्वभाव: शान्तोग्रादि: आचारो वा, उभयमप्यत्र बाह्याभ्यन्तरं ग्राह्यम्. ननु भगवान् शान्त: विलम्बेन च कार्यं करोति, माया तु सत्वरेति वैधर्म्यस्य विद्यमानत्वात् कथं तुल्यतेति चेत्, तत्राह **धीरे**ति, मयापि धैर्यमवलम्बनीयं भगवत्कार्यानुरोधेनेति. ननु भगवति भजने न तुल्या गुणा अपेक्ष्यन्ते किन्तु भगवदुत्कर्षं ज्ञात्वैव प्रवर्तत इति किमिति तुल्यत्वं निरूप्यत इति चेत्, तत्राह **पतिमि**ति, पतित्वेन स्वीकारे तुल्यता वक्तव्या, अन्यथा दासीत्वं भवेत्. नन्वस्तु, को दोष इति चेत्, तत्राह **कुलवती**ति,

---

१. विद्या मातेत्यपि पाठः ह्नसम्पा.

कुलस्थास्तथा सति खेदं प्राप्नुयुरिति भाव:. किञ्च कन्येति. अवश्यं कन्यया वरणीय: कश्चित्पतित्वेन. अवरणे स्वयं न गृह्णीयात्, मुख्यविनियोगार्थमन्याधीनां वा कुर्यात्. किञ्च उपपत्तौ सत्यां तत्परित्यागे कारणाभाव इत्याह **काले नृसिंहे**ति, अवसरे तत्परित्यज्य अन्योच्छिष्टा भूत्वा पश्चाद् भगवदर्थं यत्ने क्रियमाणे असमञ्जसं स्यात्. अयोग्यत्वाशक्यत्वे तु न स्त इत्याह **नृसिंहे**ति, नरत्वाद् योग्यत्वं

सिंहत्वात् समर्थत्वमिति. किञ्च **नरलोके मनसोऽयमेवाभिरामः.** अतो वरणे अभिरामएव वरणीय इति योग्यत्वाद्यविचारेणापि त्वमेव वरणीय इत्यर्थः ।।३८।।

एवं योग्यतां निरूप्य विज्ञापनामाह

तन्मे भवान् खलु वृतः पतिरङ्ग जायाम्

आत्मार्पितश्च भवतोऽत्र विभो विधेहि।

मा वीरभागमभिमर्शतु चैद्य आराद्

गोमायुवन्मृगपतेर्बलिमम्बुजाक्ष।।३९।।

तन्मे भवान् खलु वृत इति. अत्रापि गृहे सर्वदा मयोच्यते ''कृष्ण एव पतिर्मम नान्य'' इति. एतत्सर्वेऽपि जानन्ति तथापि बलात्प्रवर्तन्त इति खलुपदार्थः. किञ्च पूर्वमपि लक्ष्मीस्वयंवरे अमृतमथने मया भवानेव वृतः सैवाहमिति भावः. उपाध्यन्तरं निवारयन्त्याह **पति**रिति. एवं स्वकृतमुक्त्वा भगवन्तं प्रार्थयते **जायां विधेही**ति. **अङ्गे**ति स्नेहसम्बोधनम्, अन्यथा धाष्टर्यमनुचितं स्यात्. **अङ्गस्य वा जायां विधेहि,** अन्यथा भगवान् सर्वपतिरिति प्रकारान्तरेण वा जायात्वं स्यात्. **जाया**पदेन यावानर्थः स सर्वोऽपि विधेयः. ननु भगवान् भगवच्छास्त्रविरुद्धमर्थं न गृह्णातीति कथं त्वां ग्रहीष्यतीति चेत्, तत्राह **आत्मार्पितश्चे**ति, **आत्मा** मदीयः संघातः तुभ्यं समर्पितः अतो यथेष्टविनियोगे न कापि चिन्ता. **च**कारात् सर्वमेवास्मत्सम्बन्धि समर्पितमिति सर्वत्रैव तव कामचारः, अतस्तदपेक्षा तत्प्रतिबन्धो१ वा न घटत इत्युक्तं भवति. **भवतएव** आत्मा अतो भवते समर्पित इति नालौकिकं किञ्चिद् अङ्गीकृते. शीघ्रमागमनार्थं बाधकमाह **मा वीरभागमि**ति. वीरस्यैव भागोऽहम्. शौर्येणैव लक्ष्मीः प्राप्यत इति

---

१. तेषां प्रतिबन्धो वा इत्यपि पाठः ह्लसम्पा.

नैव[१] दत्ता अन्यस्य भवति. अतएव य शूरः सएव राज्यमुपभुङ्क्ते. तथा सति चैद्यस्य अशूरत्वाद् भोगाभावेऽपि केवलं काकवत्स्पर्शो भवेत् तदा महतोऽपि भोगाभावाज्जन्मवैयर्थ्यम्. अनेन महती आपदा उपस्थितेति न क्वापि वाक्ये दूषणं मन्तव्यमिति भावः. **आराद्** दूरादपि अभिमानेनापीत्यर्थः. दानानन्तरं हरणे अभिमानोऽपि भवेत्, वाग्दानं तु ''अनृतं वै वाचा वदती''ति श्रुतेरप्रमाणमेव. अन्यथा पुण्यपापव्यवस्थायां वाङ्मनसोः अप्रामाण्यं न स्यात्. एतदर्थमेव श्रुतिः प्राह ''वाङ्मनसयोरनृतत्वमि''ति. ननु स जानाति मदीया त्वमिति, त्वया वा

वक्तव्यः, ततः कथं स्प्रक्ष्यतीत्याशङ्क्याह गोमायुवदिति. त्वदनागमने मृतप्रायां मृतां वा दैवकल्पितं स्वभागं ज्ञात्वा स्प्रक्ष्यतीति भावः. नन्वेवमस्तु, को दोष इति चेत्, तत्राह **मृगपतेरि**ति. मरणे यद्यपि नानुपपत्तिः तथापि तदनन्तरं स्पर्शे महदनौचित्यमूह्म न हि सिंहाय तद्भक्तैः निवेदितं शृगालो भक्षयितुमर्हति. **अम्बुजाक्षे**ति दृष्ट्यैव तापनाशकत्वमुक्तम्. तेन वरण(मरण)मप्ययुक्तमिति भावः ।।३९।।

एवं दृष्टसामग्र्या भगवत्प्रार्थनामुक्त्वा स्वस्य सर्वेणापि धर्मेण शपथमपि वदन्ती प्रार्थयते पूर्तेति.

पूर्तेष्ट-दत्त-नियम-व्रत-देव-विप्र-
गुर्वर्चनादिभिरलं भगवान्परेशः।
आराधितो यदि गदाग्रज एत्य पाणिं
गृह्णातु मे न दमघोषसुतादयोऽन्ये।।४०।।

बाल्ये खातादिकं कर्तुं शक्यत इति इष्टात् **पूर्वं** निर्देशः. पूर्तं खातादि, **इष्टं** यागादि, **दत्तं** तुलापुरुषदानादि, **नियमाः** परित्यागरूपाः, **व्रतानि** ग्रहणरूपाणि, **देवानां विप्राणां गुरूणां वार्चनानि.** एवमष्टविधान्युद्दिश्य काण्डत्रयमपि संगृह्य स्मार्तपौराणिकान् धर्मान् आदिशब्देन संगृह्णाति. एवं सर्वैरेव धर्मैः **भगवानेव चेदाराधितः** न तु कामनार्थं किञ्चिदपि विनियुक्तं, तदा भगवान् **स्वयमेत्य पाणिं गृह्णातु.** केवलएव आराधित इति न **दमघोषसुतादयः** स्पर्शमप्यर्हन्ति. **गदाग्रज** इति विषयप्रियत्वमुक्तम्. तस्मिन्

---

१. तेनैवेति पाठः.

समागते कंसे हते पश्चाद्गद उत्पन्न इति भगवदाविर्भावानन्तरमपि तेन पित्रादेर्वंशः कारित इति वंशकरणे तस्येच्छा सूचिता. अतएव एत्य स्वयमागत्य पाणिं गृह्णातु इति स्वकृतधर्मेषु भारारोपः. ननु ''मद्भक्तपूजाभ्यधिके''ति भगवद्भक्तानां वा ग्रहणे को दोष इति चेत्, तत्राह **अन्य** इति, ते भगवत्प्रतिपक्षाः. अन्यथा तु दासीदासभावेनापि भजनं भवतीति नात्यन्तमाग्रहो भवेत्. अन्यथा अपघातमरणे यमादयो वा मा गृह्णन्त्विति अन्यनिषेधः ।।४०।।

उद्वाहमात्रं प्रार्थयित्वा प्रकारमपि प्रार्थयते श्वो भाविनीति.

श्वो भाविनि त्वमजितोद्वहने विदर्भान्

गुप्तः समेत्य पृतनापतिभिः परीतः

निर्मथ्य चैद्यमगधेशबलं प्रसह्य

मां राक्षसेन विधिनोद्वह वीर्यशुल्काम्।।४१।।

स्पष्टतया समागमने कदाचित् ते गोपनं कुर्युः, लग्नात् पूर्वमेव वा शिशुपालाय प्रेषयेयुः, अविधानेन वा दद्युरिति. अतो यथा तेषु परिज्ञानं न भवति तथैवागत्य नेया, अन्यथा उपक्रमावधि फलपर्यंन्तं मध्ये कालविलम्बे शरीरपातोऽपि भवेदिति तथा प्रार्थना. देशेऽपि न पूर्वमागन्तव्यमित्याह **श्वो भाविनि उद्वाहे.** प्रथमतस्त्वमेकाकी **गुप्तः समा**गत्य **पृतना**श्च भिन्नतया समानीय. तत्रापि पृतना यादवरूपैव, न तु विजातीया आनेयाः, अन्यथा मन्त्रभेदः स्यात्. पश्चात्पुरप्रवेशे तैः **परीतः,** अन्यथा स्वस्य चिन्ता स्यादिति. यद्यपि **त्वमजितः.** अथवा अजितत्वादेव पक्षान्तराभावात् **चैद्यमगधेशयोर्बलं निर्मथ्य** मध्ये प्रतिबन्धकत्वेन स्थितमपसार्य, तदर्थं **प्रसह्य** बलात्कारमपि कृत्वा, **मामुद्वह.** नन्वेवं सति कामार्थं भक्त्यर्थं वा विवाहो भवेत्, न धर्मार्थमित्याशङ्क्याह **राक्षसेन विधिने**ति, क्षत्रियस्य सएव धर्मः. गान्धर्वस्तु पूर्वमुक्तएव ''तन्मे भवान्खलु वृत'' इत्यनेन. अतो मद्विवाहे उभयं भविष्यतीति भावः. ननु एवं हरणे परस्वादानं भवेदित्याशङ्क्याह **वीर्यशुल्कामि**ति, न हि मूल्ये दत्ते परस्वादानमस्ति. क्षत्रियाणां वीर्यमेव सर्वत्र शुल्कम्. पराक्रमं कृत्वा मारयित्वा य एव हरति तस्यैव तदिति क्षत्रियधर्मानुसारेण हरणे न परस्वादानमित्यर्थः ।।४१।।

बाधशङ्कया प्रकारमुपदिश्य तत्रापि स्फुरितं बाधकमनूद्य परिहरति **अन्तःपुरान्तरचरामि**ति.

अन्तःपुरान्तरचरामनिहत्य बन्धूं-

स्त्वामुद्वहे कथमिति प्रवदाम्युपायम्।

पूर्वेद्युरस्ति महती कुलदेवियात्रा

यस्यां बहिर्नववधूर्गिरिशामुपेयात्।।४२।।

बन्धूननिहत्य अन्तःपुरमध्ये चरणयोग्यां **त्वां कथमुद्वह** इति चेत् (शङ्कसे), तदापि सन्ति बहव उपायाः. तथाप्यविरुद्ध उच्यत इत्याह **प्रकर्षेण उपायं वदामी**ति. केनचिद् व्याजेन स्वयं बहिरागच्छेद्, भगवान्वा वेशं कृत्वा गच्छेद्, आकर्षणं वा कुर्याद्, बुद्धिं वा प्रेरयेद् अन्यथा सर्वेषाम् ह्नसर्वेष्वपि पक्षेषु क्लिष्टं भवेत्, पराक्रमश्च न भवेत्. तस्मादन्यदकृत्वा गौरीपूजनार्थमेव गताया हरणं

कर्तव्यमिति प्रार्थना. तत्र गमनमावश्यकमित्याह **पूर्वेद्युः** विवाहत्पूर्वदिवसे **महती यात्रा** वर्तते. सा अनुल्लङ्घनीया ततः. **कुलदेवतायाः महती**त्यनेन दूरे गमनमुक्तम्. किमतो यद्येवमिति चेत्, तत्राह **यस्यां बहिर्नववधूरिति. नववधूः** नूतना वधूः, संरक्ष्यापि लोकप्रसिद्ध्यर्थं भोगात्पूर्वं भोगयोग्या नववधूर्भवति, **सा गिरिशां** पार्वतीं द्रष्टु**मुपेयादि**ति विधिः. स्वयमपि गिरीणामीशभूतेति अकारान्तात् टाप्. ''नित्यं सञ्ज्ञाछन्दसोरि''ति वा डाप्. ततो बहिः स्थिता ततएव नेयेति भावः. अतो विवाहदिवस एव द्वारकायां विवाहो भविष्यतीति न ज्योतिःशास्त्रस्याप्यप्रामाण्यम् ।।४२।।

एवं स्वरूपप्रकारप्रार्थनां कृत्वा तदकरणे बाधकमाह यस्याङ्घ्रिपङ्कजेति.

यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजःस्नपनं महान्तो
वाञ्छन्त्युमापतिरिवात्मतमोपहत्यै।
यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं
जह्यामसून्व्रतकृशा शतजन्मभिः स्यात्।।४३।।

यर्हि प्रसादं न लभेय तर्हि **जह्यामसून्**. ननु कोऽयं निर्बन्ध इति चेद्, उत्तमफलत्वादित्याह **यस्य** भगवतः **अङ्घ्रिपङ्कजस्य रजसा स्नानं महान्तोऽपि वाच्छन्ति.** तत्र निदर्शन**मुमाप**तिः, स हि केवलं रजसा स्नानमलभमानः रजोयुक्तचरणोदकेन स्नानं करोतीति. उमापतिपदेन उमयापि वृतः शिवः, तस्यापि सएवाभिप्रेत इति तदेवोत्तमं फलम्. किञ्च **आत्मतमोपहत्यै** आत्मनस्तमोगुणो गच्छत्विति. अहमपि माया त्रिगुणात्मिका, तत्रापि रुक्मिप्रभृतिभिः सह अवतीर्णेति तमःप्रधानैव. ततश्चैतत्तमश्चेन्न दूरीक्रियते तदा पुनर्निकृष्टजन्म भविष्यतीति तदर्थं प्रयत्नोऽवश्यं कर्तव्यः. तत्रायमुपायः सुगम उत्तमश्च. एतदभावे तु शरीरं वा त्यक्ष्यामि, अयं संसर्गो गच्छतीति. किञ्च **व्रतेन कृशा** सती उत्तरोत्तरजन्मसु **शतजन्मभिः** अयमर्थः कदाचित् **स्यात्,** ''स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिरि''ति वाक्यात्. **अम्बुजाक्षे**ति सम्बोधनं दृष्ट्यैव तापहारकः कथमेवं करिष्यतीति बोधनार्थम् ।।४३।।

एवं रुक्मिणीवाक्यान्युक्त्वा उपसंहरति **इत्येत** इति.

।।ब्राह्मण उवाच।।

इत्येते गुह्यसन्देशा यदुदेव मयाहृताः ।
विमृश्य कर्तुं यच्चात्र क्रियतां तदनन्तरम्।।४४।।

।।इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे एकोनपञ्चाशत्तमोध्यायः।।

गोप्या एते सन्देशाः. **यदुदेवेति** सम्बोधनात् विवाहः कर्तव्य इति सूचितम्. मयैवाहृता इति सुतरां गोप्यत्वम्. कदाचिदेतत्पत्रम् अन्यस्य कापट्याद् भवेदिति शङ्का स्यात्, तदर्थमाह एत**द्विमृश्य कर्तुं यच्चात्र** सिध्यति तत् **क्रियताम्.** चकाराद् यद् वक्तव्यं तदुच्यतामिति विमर्शानन्तरं कर्तव्यम्. अथवा त**दनन्तरमेव** कर्तव्यम्. ''किं कार्यं करवामे''त्यस्यैतदेवोत्तरमित्यर्थः ।।४४।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे तृतीयोऽध्यायः।।

लेखः

यस्याङ्घ्रीत्यत्र **स्वधर्मनिष्ठ** इति. भगवत्पत्नीत्वमपि विरञ्च्यतैव, अक्षररूपत्वादिति भावः ।।४३।।

।।इति एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।

।।चतुर्थः स्कन्धादितः पञ्चाशत्तमो अध्यायः।।

शतार्धे वा चतुर्थे वा भगवान् भार्ययार्थितम्।
विप्रार्थितं च कृतवानिति सम्यङ् निरूप्यते।।(१)।।
प्रसह्य कन्याहरणमुद्योगावधि वर्ण्यते।
कायवाङ्मनसामत्र ह्यैकमत्यं निरूप्यते।।(२)।।

पूर्वाध्यायान्ते यत्कर्तव्यं यद्वा वक्तव्यं तदुच्यतां क्रियतामिति ब्राह्मणविज्ञापना निरूपिता. ततो भगवान् तत्सन्तोषार्थं स्वमानसं वाक्यं च निरूपयितुमारम्भं कृतवानित्याह.

।।श्रीशुक उवाच।।

वैदर्भ्याः स तु सन्देशं निशम्य यदुनन्दनः।
प्रगृह्य पाणिना पाणिं प्रहसन्निदमब्रवीत्।।१।।

वैदर्भ्या इति. सा ह्यत्यन्तं कुलीना भक्तिप्रधाना. यदुरपि भक्तिप्रधानः. तुशब्दः शङ्कानिवृत्त्यर्थः. नात्र शङ्का सम्भवति यतोऽहमपि जात इति वक्ष्यति. सन्देशश्चावश्यं श्रोतव्यः. इदं श्रवणं विचारपूर्वकं सादरं[1] च. ततो ब्राह्मणः गुह्यकर्तेति तेन सह मैत्रीमिव कर्तुं **पाणिना पाणिं प्रगृह्य** भार्यासम्बन्ध्ययमिति औदासीन्यं परित्यज्य **प्रहसन्निदं** वक्ष्यमाण**मब्रवीत्** ।।१।।

आदौ स्वमनोवार्तामाह तथाहमपि तच्चित इति.

।।श्रीभगवानुवाच।।

तथाहमपि तच्चित्तो निद्रां च न लभे निशि।
वेदाहं रुक्मिणा द्वेषान्ममोद्वाहो निवारितः।।२।।

यथा सा मच्चित्ता एवमहमपि तच्चित्तः. अनेन सर्वाणि तस्या वाक्यानि मद्वाक्यसदृशानीति निरूपितम्. विशेषमप्याह निद्रां चेति, रात्रावावश्यकी निद्रा, सापि चिन्तया न जातेति. भार्येच्छया वा. नन्वेवं चिन्तायां किं

लेखः

चतुर्थे कारिकायाम् **उद्योगावधीति**, उद्योगः पूर्वावधिरित्यर्थः (२).

---

१. सामिति पाठः.

कारणमित्याकाङ्क्षायामाह वेदाहमिति. नात्र किञ्चित्सन्दिग्धं यतोऽहं वेद. सर्वगुणसम्पत्तावपि केवलं द्वेषात् **रुक्मिणा** एकेन **ममोद्वाहः** आहूय कन्यादानलक्षणः प्रयत्नेन[१] **निवारितः** ।।२।।

एवं प्रामाण्यं मानसं चोक्त्वा प्रतिजानीते.

तामानयिष्य उन्मथ्य राजन्यापसदान्मृधे।

मत्परामनवद्याङ्गीमेधसोऽग्निशिखामिव।।३।।

तामानयिष्य इति, भार्येति निश्चित्य न नाम गृह्णाति. प्रतिबन्धकानामल्पत्वायाह **राजन्यापसदान्** राजन्येषु अधमान् अपगता सद् सभा येभ्य इति. क्षत्रियगोष्ठ्यां परिगणनारहिताः अधमाः. ते ह्यतिक्षुद्रा इति न मारणमपेक्ष्यते किन्तु उन्मथनमेव कर्तव्यम्. अलौकिकद्वारा निवारयति मृध इति, युद्धे एव **तानुन्मथ्य** आनयिष्यामीति[२] भावः. एवं करणे हेतूनाह **मत्परामि**ति, ''अहं भक्तपराधीन'' इति भक्तिमार्गानुसारेणापि तामानयिष्ये. **अनवद्याङ्गीमि**ति निर्दुष्टत्वादपि, निर्दुष्टं हि भगवान् गृह्णातीति. **अङ्ग**पदेन वाक्येन दोषो निरूपितः, यतः सा दत्ता. इयं धर्मोपयोगिनी भविष्यतीति राक्षसविवाहं करिष्यामीत्याह **एधसोऽग्निशिखामिवे**ति. दारुणि ज्वलन्ती अग्निशिखा नात्यन्तं प्रकाशमेति. सैव चेत् वर्तिसहिता भवेत् तदा दीपरूपा अतिप्रकाशते. तथा तां प्रकाशयुक्तां करिष्यामीत्यर्थः ।।३।।

एवं वाचनिकमुक्त्वा कायिकार्थं प्रयत्नमाह.

।।श्रीशुक उवाच।।

उद्वाहर्क्षं च विज्ञाय रुक्मिण्या मधुसूदनः।

रथः संयुज्यतामाशु दारुकेत्याह सारथिम्।।४।।

उद्वाहर्क्षमिति, विवाहे नक्षत्रमेव मुख्यमिति, भार्याप्रधानमिति; चन्द्रं ग्रहांश्चानुगुणान् परित्यज्य नक्षत्राणां मुख्यता निरूपिता. विवाहनक्षत्रं ब्राह्मणमुखादेव **विज्ञाय रथः संयुज्यतामि**त्याह. सम्यक् योगो युद्धार्थः.

लेखः

तामानयिष्य इत्यस्याभासे **प्रामाण्यमि**ति, भगवद्वाक्यसादृश्यनिरूपणेन रुक्मिणीवाक्यानां प्रामाण्यमुक्तमित्यर्थः. **मानसमि**ति, मनोवार्तामित्यर्थः ।।३।।

१. प्रयत्नः. २. मारयिष्यामीति तामानेष्यामीति वा पाठः.

तत्र हेतुः **रुक्मिण्या** इति, रुक्मिणो भगिनीति. सेनासङ्ग्रहाभावे स्वत एव सामर्थ्यमाह **मधुसूदन** इति. **आशु संयुज्यताम्,** अनेन समयः सन्निहित इति ज्ञापितम्. **दारुके**ति सम्बोधनम्. वैकुण्ठादागतस्य चातुर्यं भयाभावश्च प्रदर्शितः।।४।।

शीघ्रमेव दारुककृतिमाह **स चाश्वैरि**ति.

स चाश्वैः सैन्य–सुग्रीव–मेघपुष्प–बलाहकैः।

युक्तं रथमुपानीय तस्थौ प्राञ्जलिरग्रतः ।।५।।

यद्यपि भगवतो बहवश्चाश्वाः रथाश्च बहवः तथापि 'सारथि'पदप्रयोगाद् गरुडध्वजएव रथो गृहीतः. तादृशोऽपि सैन्यादीनेव चतुरोऽश्वान् योजितवान्. तेषामन्वर्थानि नामानि. तत्राद्यः **सैन्यरू**प एव, असङ्ख्यातसैन्येन यावत्कार्यं तावदनेनैव भवतीति. द्वितीयः **सुग्रीवः**, यथा वानराधिपतिः सीतासमानयने रामकार्यसाधकः तादृशोऽयमिति **सुग्रीव** इति शोभना ग्रीवा यस्येति नास्य कदाचिदपि परावृत्तिः सूचिता. **मेघपुष्प**स्तृतीयः, वृष्टिवत् सर्वानेव व्याप्य पततीति. **बलाहक**श्चतुर्थः, स मेघवत्पक्षिवद्वा क्षणमध्ये समायात्यपगच्छति च. एवं तै**र्युक्तं** सम्यग्योजितं **रथमुपानीय** यावद्विनियोगं कृत्वा स्वकृतं ज्ञापयन्निव **अग्रतः प्राञ्जलिस्तत्थौ** ।।६।।

एवं ब्राह्मणाय स्ववाक्यसामर्थ्यं प्रदर्शितम्. ततः कुण्डिनपुरं गत इत्याह **आरुह्ये**ति.

आरुह्य स्यन्दनं शौरिर्द्विजमारोप्य तूर्णगैः।

आनर्तादेकरात्रेण विदर्भानगमद्धयैः।।६।।

स्यन्दनमिति वेगगामिनम्. **शौरिरि**ति पितामहनाम्ना व्यपदेशः अलौकिक–सामर्थ्यप्रकाशनाभावार्थः. तमपि **द्विजं तत्रैवारोप्य एकरात्रेणैव** स्वदेशात्तं देशं प्रविष्टः, यथा मध्यदेशेषु न परिज्ञानं भवति. अन्यथा तत्रत्यैर्ज्ञापने रुक्मी ब्राह्मणाय भगिन्यै वा अपकारं कुर्यात्, तथैव च रुक्मिण्या प्रार्थितः ।।६।।

लेखः

आरुह्येत्यत्र ब्राह्मणायेति, ब्राह्मणस्य तत्राभावेऽपि तद्गृहे उपद्रवं कुर्यादित्यर्थ ।।२।।

भगवतो नगरप्रवेशं वक्तुं नगरवर्णनार्थं भ्रमाद्राज्ञः प्रवृत्तिं निमित्तत्वेनाह.

राजा स कुण्डिनपतिः पुत्रस्नेहवशं गतः।

शिशुपालाय स्वां कन्यां दास्यन् कर्माण्यकारयत्।।७।।

राजा स कुण्डिनपतिरिति. **राज**त्वाद्भीष्मकत्वात्. **कुण्डिनमि**ति अल्पवत् नगरनाम निरूपितम्. **तत्पति**त्वाच्च. **पुत्रस्नेहवश**त्वाच्च **शिशुपालाय** शिशुं बालबुद्धिमेव पालयतीति दुर्बुद्धये **कन्यां** दातुं **कर्माणि** पुरसंस्काररूपाणि सेवकै**रकारयत्.** अनेन देशे भगवद्गमनेऽपि न तेषां विपरीतशङ्का कापि जातेति निरूपितम् ।।७।।

भगवत्प्रवेशार्थं पुरीं वर्णयति द्वाभ्याम्.

पुरं सम्मृष्टसंसिक्त-मार्गरथ्याचतुष्पथम्।

चित्रध्वजपताकाभिस्तोरणैः समलङ्कृतम्।।८।।

स्रग्गन्धमाल्याभरणैर्विरजाम्बरभूषणैः।

जुष्टं स्त्रीपुरुषैः श्रीमद्गृहैरगरुधूपितैः।।९।।

पुरमिति. प्रथमतः **सम्यक् मृष्टं** रजोनिवारणेनोज्ज्वलीकृतम्. ततः **संसिक्तं** चन्दनादिभिः. **मार्गा** राजमार्गाः **रथ्या** हट्टस्थिता **चतुष्पथं** सर्वतो मार्गाः, तेषु संसिक्तमित्यर्थः. एवमधः शोभा निरूपिता. उपरिशोभामाह **चित्रध्वजेति,** त्रिविधैरपि **सम्यगलङ्कृतम्.** मध्ये अलङ्करणमाह **स्रग्गन्धे**ति. **स्त्रीपुरुषैः गृहैश्च जुष्टमि**ति, अनेन तस्मिन् नगरे केवला व्यावर्तिताः. ये सुतराममङ्गलरूपाः तेऽपि भूषिता इत्याह **स्रग्गन्धमाल्याभरणै**र्युक्ताः, स्रग्गन्धमाल्यानामेवाभरणानि येष्विति. **विरजानि अम्बराणि भूषणानि च येष्विति. श्रीमद्गृहैरि**ति गृहे सर्वसम्पत्तिर्निरूपिता. **अगरुधूपितैरि**ति विशेषसम्पत्तिः विवाहोत्सवप्रयुक्तिश्च निरूपिता ।।८-९।।

एवं लौकिकसमृद्धिमुक्त्वा वैदिकार्थसमृद्धिमाह.

पितॄन् देवान् समभ्यर्च्य विप्रांश्च विधिवन्नृपः।

भोजयित्वा यथान्यायं वाचयामास मङ्गलम्।।१०।।

पितॄन्देवान्समभ्यर्च्येति, पितरो देवाश्च नान्दीमुखदेवताः सम्यक् पूजिताः, अन्यथा प्रथमतएव कन्याहरणे विवाहो विगुणः स्यात्. अतः कर्तव्यं

कृतमिति वक्तव्यम्. **विप्रांश्च सम्यगभ्यर्च्य** पुण्याहवाचने. **विधिवदि**ति तेभ्यो वस्त्रालङ्करणादिदानेन. नृप इति सामर्थ्यम्. तेषां सन्तोष: भोजनप्रधान इति **भोजयित्वा यथान्यायमित्युक्तम्.** नान्दीमुखे विधानपूर्वकं भोजयित्वा सुमङ्गलं पुण्याहवाचनम् ।।१०।।

यदर्थं भगवानागत: तां देयत्वेन भूषितां चक्रुरित्याह.

सुस्नातां सुदतीं कन्यां कृतकौतुकमङ्गलाम्।

अहतांशुकयुग्मेन भूषितां भूषणोत्तमै:।।११।।

सुस्नातामिति मङ्गलस्नानं कारितवन्त:. ततो दन्तसंस्कारमपि; शुभ्रदन्ता न द्रष्टव्येति केषाञ्चिद्देशाचार:. कन्यामित्यदत्ताम्. प्रायेण सूचितएव शिशुपाल:. वाङ्निश्चयोऽप्यग्रएव भविष्यति. दाक्षिणात्यास्त इति विवाहपूर्वक्षणएव कन्यावरणम्. **कृतं कौतुकरूपं मङ्गलं यस्यां** हरिद्रया कपोलयो: रेखादिनिर्माणम्. तद्विवाहएव भवति, नान्यदा. वस्त्रमपि तादृशमेव परिधापितवन्त इत्याह **अहतांशुकयुग्मेन भूषितामि**ति. **अहतं** तन्तूत्तारितम् अच्छिन्नम्. नूतनमिति केचित्, तेषां मते पाषाणे प्रहार: न हतत्वं सम्पादयतीति. अनुपभुक्तमित्यन्ये. अंशुकं पट्टवस्त्रम्; एकं परिधापितम् अपरं प्रावृतमिति. **भूषणैरपि भूषिताम्.** ''सत्कृत्यालङ्कृतां कन्यां यो ददाति स कूकुद'' इति कूकुदत्वार्थमलङ्करणमुक्तम्. कू द्यावापृथिव्यौ कु कुत्सिते यस्या:. रोदसीदानापेक्षयापि तादृक् कन्यादानं विशिष्टमिति द्योतितम् ।।११।।

तस्यां विवाहदेवतासान्निध्यमाह **चक्रुरि**ति.

चक्रु: सामर्ग्यजुर्मन्त्रैर्बद्ध्वा रक्षां द्विजोत्तमा:।

पुरोहितोऽथर्वविद्वै जुहाव ग्रहशान्तये।।१२।।

वेदत्रयमन्त्रै: रक्षासूत्रं बद्ध्वा द्विजोत्तमा मन्त्रद्रष्टार: ऋषय: भगवदर्थमेव यथा कोऽपि न स्पृशति दृष्टादृष्टप्रकारेण तथा रक्षां चक्रु:. देवा हि द्विविधा:ह्व केचन हुताद: अन्ये अहुताद:. तत्र वाचनादिना ये अहुताद: ते प्रीणिता:. होमेनान्येषां प्रीतिमाह **पुरोहितोऽथर्वविदि**ति. होमे पुरोहितो

लेख:

सुस्नातामित्यत्र दन्तसंस्कारमिति ताम्बूलादिभक्षणमित्यर्थ: ।।११।।

मुख्यः. स हि हितमेव विचारयति. अथर्वणवेदे नक्षत्रकल्पः शान्तिकल्पश्चोक्तः. अतोऽथर्ववित् शान्तिं जानाति. ये कन्यायाः भगवन्तं त्याजयित्वा नीचसम्बन्धं कारयितुमुद्युक्ताः तेषां ग्रहाणां शान्त्यर्थं **जुहाव**. अन्यथा ग्रहैर्वा प्रतिबन्धो भवेत्. भगवांश्च नालौकिकं प्रकटीकरोति ।।१२।।

दानेन सर्वदोषनिवृत्तिरिति दानान्यपि कृतवानित्याह हिरण्येति.

हिरण्यरूप्यवासांसि तिलांश्च गुडमिश्रितान्।

प्रादाद्धेनूश्च विप्रेभ्यो राजा विधिविदां वरः।।१३।।

हिरण्यं सुवर्णं, तत् सार्वकामिकमग्निदैवत्यम्. **रूप्यं** सोमदैवत्यम्. **वास**श्च सर्वदैवतमिति. गन्धर्वदैवतं वा. तेन त्रयो भागिनः कन्यायां व्यावर्तिता. तिलमोदकदानं तु सर्वदोषहरमिति **गुडमिश्रितान् तिलां**श्च ददौ. चकारात् केवलानपि. कन्यायाः सर्वसमृद्ध्यर्थं **धेनूश्च प्रादात् विप्रेभ्य**श्च. तएव हि विशेषेण पूरकाः. **राजा** समृद्धः. विधानेन दत्तं फलपर्यवसायि भवतीति तदर्थमाह **विधिविदां** मध्ये श्रेष्ठ इति ।।१३।।

एवं पुरं कन्यां च निर्दुष्टतया निरूप्य मध्ये निराकार्याणां वृत्तान्तमाह षड्भिः, भगवद्धर्मैरेव तेषां निराकरणार्थम्.

एवं चेदिपती राजा दमघोषः सुताय वै।

कारयामास मन्त्रज्ञैः सर्वमभ्युदयोचितम्।।१४।।

प्रथमं विवाहः संस्कार इति पित्रैव तस्य संस्काराः क्रियन्त इति निरूपयति. यथा रुक्मिण्याः तत्पित्रा कृतम् **एवं चेदिपतिरपि दमघोषः सुताय** शिशुपालाय विवाहो भविष्यतीति वै निश्चयेन **कारयामास**. तस्यापि सामर्थ्यं **राजे**ति. **दमघोष** इति दमस्य शान्तेः घोषएव, नतु तस्य दमः. न हि अदान्तेन कृतं सफलं भवति. अक्षरव्यत्यासो वा, मदघोष इत्यर्थः,

---

लेखः

हिरण्यमित्यत्र. **अग्निदैवत्यमि**ति ब्राह्मणादेराकृतिगणत्वाद् दैवत्यमिति ष्यञ्. तथाचाग्नौ दैवत्यं यस्येति विग्रहः. **सर्वदैवतमि**ति. दैवतानि पुंसि वेत्यनुशासनाद् दैवतशब्दो देवतापर्यायः. तथाच सर्वाणि दैवतानि यस्येति विग्रहः ।।१३।।

सिंहवत्. अत उन्मादाद् भगवन्तमविचार्य तथा कृतवान्. **अभ्युदये उचितमेव,** नत्वभ्युदयम् ।।१४।।

एतादृशस्य उन्मत्तसेनायुक्तस्य पुरं प्रति गमनमाह.

मदच्युद्भिर्गजानीकैः स्यन्दनैर्हेममालिभिः।

पत्त्यश्वसंकुलैः सैन्यैः परीतः कुण्डिनं ययौ।।१५।।

मदच्युद्भिरिति षष्टिहायनैः मत्तगजैः सह. गजानामनीकरूपत्वार्थं तथोक्तम्. सुवर्णमालायुक्तानि च स्यन्दनानि भटाः अश्वाश्च ह्वएवं चतुरङ्गसेनायुक्तः युद्धार्थमेव कुण्डिनपुरं ययौ, न तु विवाहार्थम्, अन्यथा विवाहसामग्रीमपि नयेत् ।।१५।।

तस्याग्रे निराकरणार्थमादौ सन्माननामाह तं वै विदर्भाधिपतिरिति.

तं वै विदर्भाधिपतिः समभ्येत्याभिपूज्य च।

निवेशयामास मुदा कल्पिते वाधिवेशने।।१६।।

विदर्भदेशस्याधिपतिः विशेषानभिज्ञः **तं** निश्चयेन **समभ्येत्याग्रे** गत्वा **अभिपूज्य** गृहागताय यथा पूजा विधेया. चकारात् विशेषाभावं च कृत्वा **मुदा** हर्षेण **कल्पिते अधिवेशने,** नतु सहजे उत्कृष्टे. **आ** ईषत्कल्पिते वा अकल्पिते वा वाटिकादौ स्थापितवान् ।।१६।।

तत्रैव सर्वे दुरात्मान एकीभूता इत्याह तत्र शाल्व इति.

तत्र शाल्वो जरासन्धो दन्तवक्त्रो विदूरथः।

आजग्मुश्चैद्यपक्षीयाः पौण्ड्रकाद्याः सहस्रशः।।१७।।

कृष्णरामद्विषो यत्ताः कन्यां चैद्याय साधितुम्।

यद्यागत्य हरेत् कृष्णो रामाद्यैर्यदुभिस्सह।।१८।।

योत्स्यामः संहतास्तेन इतिनिश्चितमानसाः।

आजग्मुर्भूभुजः सर्वे समर्थबलवाहनाः।।१९।।

विदूरथः दन्तवक्त्रभ्राता. चत्वारो मुख्या गणिताः. अन्येऽपि **चैद्यपक्षीयाः** आययुः. **पौण्ड्रकाद्याश्च** मिथ्यावासुदेवादयोऽपि तत्रैव निविष्टाः. तेषामेकत्र स्थितौ एकं धर्ममाह **कृष्णरामद्विष** इति. नहि तेषामागमने किञ्चिदन्यत्कृत्यमस्ति. एकाकिनो वयमसमर्थाः, केनचिन्मिषेण भगवान् जेतव्य इति, चैद्ये

स्वोपकारं च ख्यापयितुमरिमित्रन्यायेन समागता इत्याह. **यत्ता**: सन्तः कन्यां **चैद्याय साधितुं** समागताः. नन्वाहूय कन्या दीयते, कः सन्देह इति चेत्, तत्राह **यद्यागत्ये**ति. तेषां हृदये भगवान् तथैव ज्ञापितवान्ह्न कृष्णो हि स्त्रीणां हितकर्तेति **रामाद्यैर्यदुभिः** सहागतः **यदि** हरेत् तदा **योत्स्याम**एव, नत्वन्यत् सामर्थ्यमस्तीति भावः. **इत्येवं निश्चितं मानसं येषाम्**. अतएव **सर्वे समर्थबलवाहनाः सन्तः आजग्मुः**. भूभुज इति तेषां सा सम्पत्तिः सहजा ।।१७-१९।।

एषा वार्ता सर्वजनीना जातेति ज्ञापयितुं बलभद्रादयो भगवता अनुक्ता अपि समागता इत्याह **श्रुत्वैतदि**ति द्वाभ्याम्.

श्रुत्वैतद् भगवान् रामो विपक्षीयबलोद्यमम्।
कृष्णं चैकं गतं हर्तुं कन्यां कलहशङ्कितः।।२०।।
बलेन महता सार्धं भ्रातृस्नेहपरिप्लुतः।
त्वरितः कुण्डिनं प्रागाद् गजाश्वरथपत्तिभिः।।२१।।

श्रुतस्य सत्यत्वाय **भगवानि**ति. **राम** इति साधनरूपः. विपक्षीयाः विपक्षस्य शिशुपालस्य सम्बन्धिनः, तेषां **बलस्योद्यमं श्रुत्वा**. एक एव च भगवान् **कन्यां हर्तुं गत इति कलहे शङ्कां प्राप्तः** कलहो भविष्यतीति निश्चित्य **महता बलेन सार्धं त्वरितः कुण्डिनं ययौ**. ननु भगवति कः सन्देहो भवेत्, किमिति गत इत्याशङ्क्याह **भ्रातृस्नेहेन परिप्लुत** इति, लौकिकदृष्ट्या स्नेहेन च गत इत्यर्थः ।।२०-२१।।

एवं सर्वसंविधानमुक्त्वा अत्यन्ताकाङ्क्षायामेव भगवान् समायातीति रुक्मिण्याः आकाङ्क्षां निरूपयति **भीष्मकन्ये**ति सप्तभिः सार्धैः.

भीष्मकन्या वरारोहा काङ्क्षन्त्यागमनं हरेः।
प्रत्यापत्तिमपश्यन्ती द्विजस्याचिन्तयत्तदा।।२२।।

भीष्मकन्येति न स्वातन्त्र्येण स्थातुं शक्नोति. स हि पिता भयानकः, कन्या चास्वतन्त्रा, कन्यात्वादेव लोकाविगानम्. **वरारोहे**ति भोगयोग्यावस्था निरूपिता. तेन दानसमनन्तरमेव सर्वनाशः सूचितः. अतोऽतिदुःखिता उपायान्तरमलभमाना हरेरेव सर्वदुःखहर्तुः **आगमनं काङ्क्षन्ती** जाता. ततः स्वस्य **प्रत्यापत्तिमपश्यन्ती तदा द्विजस्य**, द्विजमचिन्तयत्. **द्विजस्य** वा **प्रत्यापत्तिम्. प्रत्यापत्ति**र्नाम

स्थानात्प्रच्युतस्य पुनः स्वस्थानागमनम्. स्वयमपि भगवतः सकाशात् प्रच्युता पुनर्भगवत्प्राप्तिमलभमाना प्रापकं द्विजमेवाचिन्तयत् ।।२२।।

तस्याश्चिन्तामाह **अहो** इति सार्धैस्त्रिभिः, गुणेभ्योऽप्यधिकेति ख्यापयितुम्.

अहो त्रियामान्तरित उद्वाहो मेऽल्पराधसः।
नागच्छत्यरविन्दाक्षो नाहं वेद्म्यत्र कारणम्।।
सोऽपि नावर्ततेऽद्यापि मत्सन्देशहरो द्विजः।।२३।।
अपि मय्यनवद्यात्मा दृष्ट्वा किञ्चिज्जुगुप्सितम्।
मत्पाणिग्रहणे नूनं नायाति हि कृतोद्यमः।।२४।।

त्रियामा रात्रिः, तयैव**ान्तरित उद्वाहः;** एकैव रात्रिर्मध्ये वर्तत इत्यर्थः. त्रियामात्वेनाल्पकालता सूचिता अतोऽग्रिमदिवसे महाप्रलयएवेति चिन्ता. **अल्पराधस** इति अल्पसिद्धियुक्तायाः. भाग्यसिद्धिश्चेत् महती भवेत् तदा शीघ्रमेवेष्टसिद्धिः; सन्देहादल्पवचनम्. चिन्तायां द्वितीयां कोटिमाह **नागच्छत्यरविन्दाक्ष** इति, दृष्ट्यैव तापनाशकः. **अत्र कारणमहं न वेद्मि.** नन्वागमनसमयो न जातः, किमिति चिन्त्यत इति चेत्, तत्राह सोऽपि **नावर्तत** इति. आगच्छतीति ज्ञाते चिन्ता न भवेद्, आगमनकालश्च सन्निहितः. तत एकतरनिश्चये अस्वास्थ्यं वा उत्पाद्यं भवति येन श्वो विवाहो न भवेत्. अपिशब्दादन्यो वा भगवता प्रेषितः स्यात्तेनापि वा. **अद्यापी**ति सन्निहितः समयः. ननु ब्राह्मणाः क्वचित्तपः करिष्यन्ति, को नियमस्तेषामागमन इति चेत्, तत्राह **मत्सन्देशहर** इति, सन्देशं यो नयति. तत्रापि **द्विजः** सत्यवादी, द्वितीयं जन्म सत्यार्थमेवेति. तत्र स्वयमेव हेतुं कल्पयति, अपीति सम्भावनायाम्. भगवा**ननवद्यात्मा किञ्चिद्** भ्रातृपक्षपातलक्षणं **जुगुप्सितं दृष्ट्वा,** तत्कारणभूतं पूर्वजन्मस्थितं वा. मत्पाणिग्रहणे प्रथमत उद्यमं कृत्वापि ब्राह्मणमपि स्थापयित्वा सङ्गे१ नेष्यामीति पश्चान्नागतः, ततो ब्राह्मणोऽपि शीघ्रमागन्तुमसमर्थः नागत इति. तदाह **मत्पाणिग्रहणे कृतोद्यमोऽपि**

---

१. समये इति पाठः.

नूनं नायाति ।।२३-२४।।

ननु सदुष्टा अपि केचन परिगृह्यन्ते, न हि सर्वथा निर्दुष्टा भवन्ति; तथा सति कस्यापि परिग्रहो न स्याद् इति चेत्, सत्यम्. तत्र अदृष्टादिकं प्रेरकं सम्पद्यते. मम तु तस्याप्यभाव इत्याह **दुर्भगाया** इति.

दुर्भगाया न मे धाता नानुकूलो महेश्वरः।

देवी वा विमुखा गौरी रुद्राणी गिरिशा सती।।२५।।

पतिस्तु कृष्णएव. अनागमने यथाकथञ्चित् भ्रान्तापि भूत्वा तत्र गमिष्यामि. यतो१ ब्रह्मा पतित्वेन भगवन्तमेव विचारितवान्. परं दुर्भगा भविष्यामि. अतो दुर्भगात्वसम्पादकभाग्यस्य विद्यमानत्वाद् **धातापि नानुकूलो** जातः. आनुकूल्ये तु इदानीमेव भगवानागच्छेत्. अतो दुर्भगात्वमपि न भवेत्. ननु सौभाग्यं शिवाधीनं पार्वत्यधीनं वा, तत्राह **नानुकूलो महेश्वर** इति. देवतारूपा दुर्गा वा विमुखा अनाराधनात्. सा हि गौरी गुरोः पत्नी, गुरुरुपदिशति तच्छक्तिर्भाग्यं सम्पादयतीति. तमेव सम्बन्धं प्रकयटति **रुद्राणी**ति. रुद्रो हि गुरुः, स्वयमपि **गिरिशा. सती**ति पातिव्रत्यबलमपि तस्याः सूचितम् ।।२५।।

एवं चिन्तया कियति काले अतीते चिन्ताधिक्ये उत्पत्स्यमाने मध्ये तद्विघातकं शकुनं जातमित्याह **एवं चिन्तयती**ति.

एवं चिन्तयती बाला गोविन्दहृतमानसा।

न्यमीलयत कालज्ञा नेत्रे चाश्रुकलाकुले।।२६।।

बाला मुग्धा तत्रापि **गोविन्देन हृतमानसा** विह्वला सती रोदने प्रादुर्भूते कृतमङ्गलायाः तदनुचितमिति **अश्रुकलाकुले नेत्रे अमीलयत्.** नन्वेतादृशेऽर्थे रोदनमुचितं, तत्कथं निमीलनमिति चेत्, तत्राह **कालज्ञे**ति, सा ह्ययं शुभकाल इति जानाति ग्रहानुगुण्याद्, अतो भगवानेवायास्यतीति निश्चित्य तथा कृतवतीत्यर्थः ।।२६।।

किञ्च न केवलं कालज्ञानेनैव तूष्णीं स्थिता किन्त्ववयवस्फुरणेन शकुनमपि प्राप्तवतीत्याह **एवं वध्वा** इति.

---

१. अत इति पाठः.

एवं वध्वाः प्रतीक्षन्त्या गोविन्दागमनं नृप।

वाम ऊरुर्भुजो नेत्रमस्फुरन्प्रियभाषिणः।।२७।।

वधूर्विवाहसमयस्था, सर्वतो रक्षायुक्ता वा. **गोविन्दागमनं प्रतीक्षन्त्याः**. **वाम ऊरुर्भुज** इति, **वामे ऊरुः भुजः नेत्रं चास्फुरन्.** वामे अङ्गे ऊर्वादित्रयस्फुरणं स्त्रीणां शुभसूचकम्. **प्रियभाषिण** इति त्रयाणां विशेषणं; शुभसूचका इत्यर्थः. अन्यतरस्यामिति नपुंस(कै)कशेषो न भवति. अथवा **प्रियभाषिणः** सम्बन्धीनि एतानीति प्रियं श्रोष्यामीति भावः ।।२७।।

ततस्तदनन्तरमेव ब्राह्मणः समागत इत्याह **अथे**ति.

अथ कृष्णविनिर्दिष्टः स एव द्विजसत्तमः।

अन्तःपुरचरीं देवीं राजपुत्रीं ददर्श ह।।२८।।

तस्य तत्समयएव समागमनं काकतालीयं चेत् तदा भगवदर्थमेव तस्या आकाङ्क्षा निरूपितेति न स्यात्. अतस्तद्व्यावृत्त्यर्थं भगवानेव तस्मिन्समये ''ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे'' इतिवाक्यात् प्रेषितवानित्याह **कृष्णविनिर्दिष्ट** इति. तद्विनिश्चयादुभयविधादपि विशेषेण समागत इति भिन्नप्रक्रमोऽप्यथशब्दः, भगवतैव तथा कृत इति ज्ञापनार्थः. **द्विजसत्तम** इति अत्यन्तमन्तरङ्गो भगवद्भक्तः, अतस्तेन सर्वतापनिवृत्तिर्युक्तैव. द्विजएव मित्रं, तत्रापि सन्देशहारी विशिष्टः, तत्रापि तत्र गतो भगवत्सख्यं प्राप्तः **सत्तमो** भवति. अतए**वान्तःपुरचरीमपि राजपुत्रीमपि** स्वयमेव ददर्श. भगवच्चिन्तनाद्देवतैव तदावेशनाज्जाता. यथा ब्राह्मणे धर्मत्रयं तथा तस्यामपि आध्यात्मिकादिधर्मत्रयं वक्तुं विशेषणत्रयम्. हेत्याश्चर्ये ।।२८।।

ततो यज्जातं तदाह **सा तमि**ति.

सा तं प्रहृष्टवदनमव्यग्रात्मगतिं सती।

आलक्ष्य लक्षणाभिज्ञा समपृच्छ्च्छुचिस्मिता।।२९।।

कुत्र मानसचिन्तनं कुत्र पदार्थोपस्थितिरिति तादृशं दुर्लभमिव **सा तं** दृष्ट्वा **समपृच्छत्.** नन्विङ्गितज्ञानेनैव कथं न निश्चयः, तत्राह **प्रहृष्टवदन**मिति. ब्राह्मणे धर्मद्वयं दृष्ट्वा विवाहस्वीकारः समागमनं च लक्षितवती. मुखहर्षात् स्वीकारः, शनैरागमनात् कर्तव्यान्तराभावसूचकं समागमनमिति. तस्या अपि लक्षणज्ञाने हेतुद्वयमाह **सती लक्षणाभिज्ञे**ति, पातिव्रत्यधर्मेण शास्त्रानुसारेणापि ज्ञानम्. तर्कितम् एतन्न प्रमितमिति प्रमानिरूपणार्थे **आलक्ष्यापि समपृच्छत्. शुद्धं स्मितमि**ति हर्षात् मन्दहासः. स च ब्राह्मणं प्रति शुद्धएव. अथवा इष्टपूरणात् लौकिकवत् स्मितं भविष्यतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं शुद्धता निरूपिता ।।२९।।

ततो ब्राह्मणस्य वचनद्वयमाह **तस्या आवेदय**दिति.

तस्या आवेदयत् प्राप्तं सरामं यदुनन्दनम्।

उक्तं च सत्यवचनमात्मोपनयनं प्रति।।३०।।

प्राप्तं भगवन्त**मावेदयत्**. अन्यार्थमप्यागमनं सम्भवतीति तन्निवृत्त्यर्थम् **उक्तं च आवेदयत्**. **सराममि**ति कलहेऽपि शङ्काभावाय तन्मनोरथपूर्त्यै च. **यदुनन्दनमि**ति तथा करणे भक्तकृपालुत्वं हेतुरुक्तःह्न यो हि पितुराज्ञोल्लङ्घनकर्तारं भक्तत्वाद् यदुमानन्दयति तेनैव भावेन त्वामप्यानन्दयति. ''स्त्रिषु नर्मविवाहे चे''ति वाक्यात् कदाचिदसत्यमपि वदेत्, तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **सत्यवचनमि**ति. चकारात् स्वाभिप्रायनिवेदनमपि यद् भगवता कृतं तदप्युक्तवान्. न केवलमुद्वाहार्थं किन्तु **उपनयनं प्रति** समीपे नेष्यामीति यथाभिलषित१सिद्धिः. **उपगमनपदेऽपि** स एवार्थः ।।३०।।

ततः पूर्णमनोरथा तस्मै वरं दत्तवतीत्याह **तमागतमि**ति.

तमागतं समाज्ञाय वैदर्भी हृष्टमानसा।

न पश्यन्ती ब्राह्मणाय प्रियमन्यन्ननाम सा।।३१।।

भगवति समागते स्वयं भगवदीयैवेति सर्वं भगवते समर्पितमिति वैदर्भीत्वादेव न कर्म ब्राह्मणस्य सफलं करिष्यति. **हृष्टमानसे**ति स्वार्थं

लेखः

तमागतमित्यत्र **वैदर्भीत्वादे**वेति. **ब्राह्मणस्य कर्म** तत्फलपश्वादिदानेन **सफलं करिष्यतीति न, वैदर्भीत्वात्** कर्मसम्बन्धाभावेन कर्मफलत्वेन पश्वादिकं न दास्यतीत्यर्थः. **स्वार्थमिति,** हृष्टमानसत्वेनान्यापेक्षाभावात् स्वार्थमभ्युदयादिकं किञ्चिन्न प्रार्थितवती येन तदल्पं किञ्चिदाशीर्वादेन दत्वा तद्दक्षिणात्वेन

---

१. अभिलपित- इति मु.पाठः. ह्नसम्पा.

न किञ्चित्प्रार्थितवती, येन किञ्चिद्दत्वापि तुष्टो भवेत्. मोक्षदातारमपि यो दत्तवान् तस्मै किं देयमिति वैभवमपि न देयमित्याह **ब्राह्मणा**येति. अत **एवान्यत्प्रियं** नास्तीति **सा ननाम**. 'नमोनम' इत्येतावत्सदुपशिक्षितमिति, यत्र न कोऽपि प्रतीकारः तत्र नमस्कार इति. भगवांश्च ब्रह्मण्यदेव इति ब्राह्मणनमस्कारो

भगवद्भार्याया युक्तएव. अनेन देयाभावे सर्वत्रैवमेव कर्तव्यमिति साधनं निरूपितम् ।।३१।।

भगवान् नगरमध्ये समागतः, ब्राह्मणोऽन्तःपुरे. ततस्समागतयोः विवाहात्पूर्वकर्तव्यं वक्तव्यमितिह्न पितुरदाने हरणं वा युक्तमिति, प्रसह्य हरणेऽपि मातापित्रोर्दानमावश्यकमिति, अन्यथा न धर्म्यः स्यादिति पितुर्दानार्थं गोप्यार्थं च ह्नतादृशीं कथामाह **प्राप्तौ श्रुत्वेति** त्रिभिः.

प्राप्तौ श्रुत्वा स्वदुहितुरुद्वाहप्रेक्षणोत्सुकौ।

अभ्ययात्तूर्यघोषेण रामकृष्णौ समर्हणैः।।३२।।

स्वदुहितुरुद्वाहप्रेक्षणे सम्बन्धित्वा**दुत्सुकौ** समागताविति लोके भ्रममुत्पाद्य स्वयं दातुमेवागतः. **स्वदुहितुः** एतौ **प्राप्तौ** प्रकर्षेणाप्तौ, एकः पतिरपरो भावुक इति, एकस्तूद्वाहोत्सुकः अपरः प्रेक्षणोत्सुक इति. अत एव अनाकारितावप्यागतौ. लोकेऽप्युत्सुकानां नाकारणम्. तथाप्यग्रिमकृत्यं कर्तव्यमिति **तूर्यघोषेण समर्हणैः** सह **आभि**मुख्येन गतः. शिशुपाले तु ''तं वै विदर्भाधिपतिरि''ति अग्रे गमनम्. ततः आभिमुख्येन सम्मुखमागतस्य यादृशी पूजा, यथाकथञ्चित्स्थापनमिति, तथा अग्रे सर्वेषामेव वक्ष्यति ।।३२।।

मधुपर्कमुपानीय वासांसि विरजानि सः।

उपायनान्यभीष्टानि विधिवत्समपूजयत्।।३३।।

मध्ये तु भगवतो विशेषाकारेण यथा वराय क्रियतेह्न गमन

लेखः

द्रव्यप्राप्तिनिश्चयाद् ब्राह्मणस्तुष्टो भवेत्. भगवदानयनपक्षे तु तादृशदातुर्दक्षिणात्वेन किं देयं भवेदित्यर्थः. **वैभवमपी**ति, ग्रामाद्याधिपत्यं वैभवम्. तत् ''नराणां च नराधिपमि''तिवाक्याद् भगवद्विभूतित्वेन कथञ्चिद्देयं भवेत्, परं ब्राह्मणत्वात्तदपि नापेक्षत इत्यर्थः ।।३१।।

एव वाद्यसहितः वरपूजार्थं सम्पादितद्रव्यैः सह, ततो **मधुपर्का**नयनं, ततो **विरजानि वासांसि**. **विरजानी**ति शोभार्थं[1] दानव्यतिरेक उक्तः. अन्येभ्यस्तु स्वख्यापनार्थं राजसगुणाद् दीयत इति वस्त्राण्यविरजान्येव भवन्ति. नूतनानि तु प्रक्षालितानि सर्वेभ्य एव दीयन्ते इति विशेषणं व्यर्थं स्यात्. अथवा कन्यां दातुम्

आदौ अखण्डानि शुद्धान्येव वस्त्राणि दत्तवान्. यदप्यग्रे देयं तदपि दत्तवानित्याह **उपायनानी**ति, **अभीष्टानि** वरवध्वोः. **विधिवदि**ति यथाविवाहविधि ।।३३।।

ततो निवेशनं श्रीमदुपकल्प्य महामतिः।

ससैन्ययोः सानुगयोरातिथ्यं विदधे यथा।।३४।।

ततो निवेशनमपि यथा जामात्रे दीयते तादृशं **श्रीमदि**ति. **उप** समीपएव **कल्पयित्वा,** यथा भगवान् निकटएव रुक्मिणीसहितो भवतीति. ननु कथमेवं ज्ञातवान्? तत्राह **महामतिरि**ति. ततो वरयात्रिकाणां भोजनमपि दत्तवानित्याह **ससैन्ययोरि**ति. सैन्यमसहभोजि, अनुगास्तु सहभोजिन इति. **आतिथ्यं** प्रत्येकं धर्मबुद्ध्या आवश्यकबुद्ध्या वा ।।३४।।

तदनन्तरं तदर्थमन्येषामपि पूजां कृतवानित्याह एवं राजेति.

एवं राजा समेतानां यथारूपं यथावयः।

यथाबलं यथावित्तं सर्वैः कामैः समर्हयत्।।३५।।

यादृशे रूपे यादृशानि वस्त्राणि, यादृशं वयः तादृशवेशसम्पादकं, यावच्च बलं सेना तावत्संभृत्याधिक्यं, यावच्च स्वस्य वित्तम् ह्यएवं यथायोग्यं चतुर्धा पूजयामास ।।३५।।

राजपत्न्या अभिरुचिरस्ति नवेति सन्देहे, तन्निराकरणार्थं सामान्यतः स्त्रीणामभीष्टता निरूप्यते **कृष्णमागतमि**ति त्रिभिः, कायिक-वाचिक-मानसिकानुवृत्तिभेदात्. तत्र कायिकमाह

लेखः

मधुपर्कमुपानीयेत्यत्र **शोभार्थमि**ति. विरजत्वेन रजःसम्बन्धाभावात् सात्त्विकभावेन शोभार्थं भगवते समर्पितानीत्यर्थः ।।३३।।

---

१. शोभार्थकदानाद् वैलक्षण्यमित्यर्थः.

कृष्णमागतमाकर्ण्य विदर्भपुरवासिनः।

आगत्य नेत्राञ्जलिभिः पपुस्तन्मुखपङ्कजम्।।३६।।

कृष्णं स्वभावतएव स्त्रीप्रियं तद्गृहेऽपि गत्वा द्रष्टव्यं; स्वगृहे समागतं कथं न पश्येदिति **विदर्भपुरवासिनः** सर्वएव **समागत्य नेत्राञ्जलिभिस्तन्मुखपङ्कजं पपुः** ।।३६।।

तेषां वाक्यमाह **अस्यैवे**ति.

अस्यैव भार्या भवितुं रुक्मिण्यर्हति नापरा।

असावप्यनवद्यात्मा भैष्म्याः समुचितः पतिः।।३७।।

कोऽपि कस्मैचित् प्रयच्छतु, **भार्या त्वस्यैव भवितुमर्ह**ति. अनेन स्वरूपयोग्यता निरूपिता. योग्यं योग्येन सम्बध्यत इति तेषामभिप्रायः. ननु दत्तेयमन्यस्मै, अन्या भगवते तथा सति देयेत्याशङ्क्याह **नापरे**ति, अन्या तु न योग्यैव; न हि लक्ष्मीव्यतिरिक्ता भगवद्योग्या भवति. लोकश्च प्रमाणमिति यथा दैवी वाक् तथा वदति. अयमपि रुक्मिण्या एवार्हति यतः **अनवद्यात्मा** पुरुषोत्तमत्वात् निरवद्यरूपः. सा हि निर्दुष्टमेव पतिं मन्यते. भगवानीश्वरत्वेन सर्वेषामेवोचितः, **पतित्वेन** त्वस्या **एवोचित**ः यत इयं भक्तिप्रधाना ।।३७।।

एवं वाचनिकमुक्त्वा बाधकमत्र प्रवृत्तमित्याशङ्क्य तन्निवारणार्थं भगवन्तं प्रार्थयन्ति **किञ्चिदिति**.

किञ्चित्सुचरितं यन्नस्तेन तुष्टस्त्रिलोककृत्।

अनुगृह्णातु गृह्णातु वैदर्भ्याः पाणिमच्युतः।।३८।।

एवं प्रेमकलाबद्धा वदन्ति स्म पुरौकसः।

यद्यस्माकं **किञ्चित्सुचरि**तमस्ति **तेना**दौ भगवान् **तुष्टो** भवतु. **ततस्त्रिलोककर्ता** स एवेति अन्येषामपेक्षाभावात् स्वयमेवानुगृह्णात्वस्मान्. अनुग्रहानन्तरं यत्कर्तव्यं तदाहुः **गृह्णातु वैदर्भ्याः पाणिमिति**. अत्र एवमेवेति

लेखः

अस्यैवेत्यत्र **इयं भक्तिप्रधाने**ति, भीष्मकस्य महादेवत्वेन भक्तिप्रधानत्वाद् भैष्म्या अपि तथात्वमित्यर्थः ।।३७।।

निर्बन्धहेतुमाह **अच्युत** इति, आदौ भर्ता स्वरूपतो धर्मतश्च्युतिरहितो मृग्यते, तथा भोगेऽपि. एवं तेषां प्रेमातिशयमुक्त्वा सर्वसम्मतौ मातुरपि सम्मतिर्जातेत्यभिप्रायेणोपसंहरतिह्न **एवं प्रेमकलाबद्धाः**

नानाविधस्नेहप्रकारैर्वशीकृताः **वदन्ति.** स्मेति प्रसिद्धिः प्रमाणत्वेनोक्ता. पुरवासित्वान्न मुखमुद्रणं केनापि शक्यम् ।।३८ १/२।।

एवं सर्वामेव हरणे संभृतिमुक्त्वा पूजार्थं तस्या बहिर्निर्गमनमाह **कन्या** चेति.

कन्या चान्तःपुरात् प्रागाद् भटैर्गुप्ताम्बिकालयम्।।३९।।

यथा पुरवासिभिः स्वसर्वकर्मसमर्पणेन रुक्मिणीविवाहार्थं भगवान् प्रार्थितः एवं रुक्मिण्यपि ''भगवान् गृह्णात्वि''ति महादेवं प्रार्थयितुं निर्गतेति चकारार्थः. **अन्तःपुराद**िति, गुप्तस्थानात् प्रकटस्थाने निर्गता, यथा बन्धुपीडामकृत्वा भगवान् विश्रामतया गृह्णाति. **प्रकर्षेणागाद**िति मनःसन्तोषः प्रदर्शितः. भटैर्गुप्तेति यथा तावदन्यो न स्पृशति. **अम्बिकालयम**िति. स्त्री देवता, गृहे स्त्रिय एवाध्यक्षा इति, तत्र पुरुषसम्बन्धाभावो निरूपितः. **अम्बिका**पदेन मातृत्वं चोक्तम् ।।३९।।

रथस्थाया ग्रहणं रथान्तरे स्थितस्य दुष्करं भवतीति पद्भ्यामेव निर्गतेत्याह **पद्भ्याम**िति.

पद्भ्यां विनिर्ययौ द्रष्टुं भवान्याः पादपल्लवम्।
सा चानुध्यायती सम्यङ् मुकुन्दचरणाम्बुजम्।।४०।।

भवान्याः पादपल्लवमिति लोके तद्भक्तत्वं स्वस्य ख्यापयति. अभिप्रेतार्थस्त्वन्यएव. तमेवान्तर्गतमाह **सा चानुध्यायती**ति. तत्सम्बन्धिन्यः स्त्रियः **सा च मुकुन्दचरणाम्बुजमेव अनुध्यायती** जाता. **मुकुन्दस्य** मोक्षदातुरेव **चरणाम्बुजम्,** अनेन विशेषतो भगवदाकाङ्क्षायां हेतुरुक्तः

लेखः

पद्भ्यां विनिर्ययावित्यत्र अन्य एवेति, मुकुन्दचरणाम्बुजदर्शनमेवेत्यर्थः. आहेति ध्यानकथनेनेति शेषः. तद्ध्यानकथनेन तद्दर्शनस्य आन्तरभिप्रेतत्वमुक्तमित्यर्थः ।।४०।।

पितृगृहेऽपि बन्धनम् अन्यत्रापि अवरोधएव स्थितिरिति मुकुन्दावरोधस्य मोक्षरूपत्वात् तन्न हेयम् ।।४०।।

एवं कायमनोव्यापारौ निरूप्य वाचि व्यापाराभावमाह **यतवाग**िति.

यतवाङ्मातृभिः सार्धं सखीभिः परिवारिता।

गुप्ता राजभटैः शूरैः सन्नद्धैरुद्यतायुधैः।।४१।।

मातृभिः सार्धमिति, भगवतो मनसि यथा अनौचित्यं न भवति तदर्थमेवं कृतवती. **सखीभिश्च परिवारिता** अनुमत्यर्थं हरणे पश्चात्तापाभावार्थं शोभार्थं च. बहिर्भटैर्गुप्ता, शूरैरित्यन्तःसामर्थ्यम्. **सन्नद्धैरुद्यतायुधैरिति** स्वरक्षापरपीडार्थं साधनसम्पत्तिः. एवमावरणचतुष्टयं तस्या निरूपितं सर्वतो दोषाभावाय ।।४१।।

मृदङ्गशङ्खपणवास्तूर्यभेर्यश्च जघ्निरे।

नानोपहारबलिभिर्वारमुख्याः सहस्रशः।।४२।।

स्रग्गन्धवस्त्राभरणैर्द्विजपत्न्यः स्वलंकृताः।

(गायन्तश्च स्तुवन्तश्च गायका वाद्यवादकाः।)[१]

परिवार्य वधूं जग्मुः सूतमागधबन्दिनः।।४३।।

ततो मङ्गलवाद्यानामपि वादनम्, शुभनिमित्तं शकुनमपि जातमित्याह **नानोपहारबलिभिरिति. वारमुख्याश्च परिवार्य वधूं जग्मुरिति** सम्बन्धः. **नानोपहाराः** भवान्यर्थे फलादयः, **बलिः** पूजासाधनानि ह्येतानि सङ्गे गतानीति पृथक् सहार्थतृतीयया ज्ञातव्यम्. वारमुख्यास्तु भिन्नाः; वराणां समूहो वारं; वारं मुख्यं यासामिति प्रत्यहं बहवो वराः वेश्यानामेव भवन्तीति. **सहस्रश** इति तासामुत्सवो निरूपितः, नित्यनूतनो भगवान् द्रष्टव्य इति. ब्राह्मणस्त्रियोऽप्याचारादाशीर्दानार्थं भगवदिच्छया सहैव गताः. विशेषतः पूजा तासां कर्तव्येति पूर्वमेव तासां पूजां निरूपयति **स्रग्गन्धवस्त्राभरणैरि**ति,

---

लेखः

यतवागित्यत्र **आवरणचतुष्टयमि**ति. भटत्वं शूरत्वं सन्नद्धत्वमुद्यतायुधत्वं तेषां निरूपितम्. तथाच चतुर्विधैः कृतान्यावरणानि चत्वारीत्यर्थः ।।४१।।

१. विगीतेयं पङ्क्तिः भाति – सम्पा.

चतुर्विधैरप्यलङ्कृताः. अन्योऽपि महानुत्सवो जात इत्याह **वधूं परिवार्येति.** दर्शनार्थं लाभार्थं च गमनमुक्तम्. **सूता**दयो विद्योपजीविन उक्ताः ।।४२-४३।।

आसाद्य देवसदनं धौतपादकराम्बुजा ।

उपस्पृश्य शुचिः शान्ता प्रविवेशाम्बिकान्तिकम्।।४४।।

ततो भगवान् मर्यादां स्थापयितुं पूजानन्तरमेव नेष्यामीति तूष्णीं स्थितः. तदा सा **देवसदनमासाद्य** निकटे गत्वा प्रक्षालितपाणिपादा आचम्य अन्तर्बहिः शुद्धियुक्ता सती. उद्वेगादीनां सम्भावितत्वात् तन्निषेधार्थमाह **शान्ते**ति. अन्तःशान्तियुक्ता फलं प्राप्नोतीति **अम्बिकान्तिकं प्रविवेश** पूजार्थम्. अत एव भगवतो[१] लौकिकसौन्दर्यकथनार्थं भाषाभेदा निरूपिताः ।।४४।।

तां वै प्रवयसो बालां विधिज्ञा विप्रयोषितः।

भवानीं वन्दयाञ्चक्रुर्भवपत्नीं भवान्विताम्।।४५।।

ततो या **विधिज्ञा** ब्राह्मणस्त्रियो वृद्धाः **भवानीं वन्दयाञ्चक्रुः**. **'भवानी'**शब्दः प्राप्तपुरुषसम्बन्धायाः सञ्ज्ञामात्रम्. तेन विशेषं ख्यापयितुं **भवपत्नीमि**त्युक्तम्. अथवा इयं न महादेवस्य भोगस्त्री, तथा सति वरदातृत्वं न स्यादिति **भवपत्नीमि**त्युक्तं, यज्ञसंयोगएव पत्युर्नो भवतीति. तत्रापि **भवान्विता**. उद्भवात्मको हि सः सम्पूर्णो भवति, स्त्रिया सहितस्यैव सम्पूर्णत्वात् ।।४५।।

तदानीमेव च[२] भवानीनमस्कारे भगवदिच्छया मन्त्रः स्फुरित इति तं निरूपयति **नमस्ये त्वेति**.

नमस्ये त्वाऽम्बिकेऽभीक्ष्णं स्वसन्तानयुतां शिवम्।

भूयात् पतिर्मे भगवान् कृष्णस्तदनुमोदताम्।।४६।।

स्वसन्तानयुतां गणपत्यादिसहिताम्. **शिवमपि नमस्ये**. मन्त्रएव

लेखः

उपस्पृश्येत्यत्र अतएवेति. यतः समाधिभाषायां फलमन्तःशान्त्यैव, नतु लौकिकसौन्दर्यादिना, अतएव तत्कथनार्थं तत्र तत्र भिन्नैव भाषा निरूपितेत्यर्थः ।।४४।।

१. भागवते इति मु.पाठः - सम्पा. २. मु.पाठे नोपलभ्यते ह्यसम्पा.

प्रार्थनामाह **भूयात्पतिर्मे भगवान्कृष्ण** इति. **तदेतदनुमोदतां** शिवः भवानी च. अथवा **कृष्णो** वा **अनुमोदतां,** न तु कोपं करोतु, अन्यदेवतानमस्कारं वा अनौचित्येन न स्वीकरोतु. लोकप्रतीतिस्तुह्य **भूयान्मे पतिरि**ति भिन्नं तत्कृष्णः

अनुमोदतामिति च भिन्नम्. अन्यथा महादेवः स्वसदृशमेव कुर्यात्, तच्चान्येषामफलम्. अतः कृष्णानुमोदनं सर्वत्र वक्तव्यम् ।।४६।।

न केवलमयं नमस्कारएव मन्त्रः किन्त्वनेन मन्त्रेण सर्वामेव[1] पूजां कृतवतीत्याह **अद्भिरि**रिति.

अद्भिर्गन्धाक्षतैर्धूपै–र्वासःस्रङ्माल्यभूषणैः।

नानोपहारबलिभिः प्रदीपावलिभिः पृथक्।।४७।।

विप्रस्त्रियः पतिमतीस्तथा तैः समपूजयत्।

लवणापूपताम्बूल–कण्ठसूत्रफलेक्षुभिः।।४८।।

पाद्यार्घ्याचमनस्नानैः, ततः गन्धाक्षतैर्धूपैः, ततः पूर्वं **वासःस्रङ्माल्यभूषणैः**. पश्चान्निरूपणमार्द्रे देहे परिधापितानां पश्चात्त्यागार्थम्. ''अनलङ्कृता क्षणमपि न तिष्ठेदि''ति अक्षतानामलङ्करणं पश्चात्. पुनः **प्रदीपावलिभिरि**ति नानाविधारात्रिकाणि निरूपितानि. **पृथगि**ति अग्रे पूर्वत्रापि सम्बध्यते; महादेवे भवान्यां च, तथा प्रत्येकं ब्राह्मणस्त्रीषु. अन्यथा विष्णवे दास्यति शिवः पूजितः सपरिकरः. ब्रह्मा त्ववशिष्येतेति अतस्तत्प्रीत्यर्थं **विप्रस्त्रियोऽ**पि पृथक् पृथक् वस्त्रादिभिः पूजिताः. किञ्च विवाहे विशेषप्रकारमाह **लवणे**ति. मङ्गलद्रव्याण्येतानि षट्, रसात्मकानि च. **कण्ठसूत्रं** नालसूत्रं, **फलानि**

लेखः

अद्भिरित्यत्र ततः **पूर्वमि**ति, गन्धाक्षतेभ्यः पूर्वमित्यर्थः. **पश्चादि**ति. आर्द्रे देहे सम्बद्धानि वासांस्यार्द्राणि भवन्ति, अतो धूपादिना आर्द्रतां दूरीकृत्य पश्चात् तान्युत्तार्य पुनरन्यानि परिधापितानीत्यर्थः. **अक्षतानामि**ति सम्बन्धविवक्षया करणे षष्ठी, अक्षतानां साधकतमत्वाभावज्ञापनाय. स्नानानन्तरमार्द्रतां दूरीकृत्याभरणपरिधापनं यावद् भवति तावदक्षतैरेवालङ्करणं कृतमित्यर्थः ।।४७–४८।।

---

१. सर्वामपि इत्यपि पाठः –सम्पा.

नानाविधानि, इक्षवश्च खण्डशः कृताः. एकत्रैव षण्णां दानम् ।।४७–४८।।

तस्यै स्त्रियस्ताः प्रददुः शेषा युयुजुराशिषः।

ताभ्यो देव्यै नमश्चक्रे शेषां च जगृहे वधूः।।४९।।

ताश्च स्त्रियः तस्यै ददुः (दधुः). सभर्तृकायै एव दीयते, अत एवैतल्लोके विवाहानन्तरं दानं प्रसिद्धम्. तदत्र न भविष्यतीति मातृकर्तव्यत्वाच्च मन्त्रवदेतदपि स्फुरितमिति प्रथमतएव दत्तवत्यः. अथवा गुप्तएव भगवान् समागतः, भवानीशिवाभ्यां भगवते रुक्मिणी दत्ता, प्रार्थनायाः सफलत्वाय. एतद् अग्रिमदानकथनात् निरूप्यते. तया ताभ्यो दत्ताः, **तस्यै च ताः प्रददुः, शेषा अपि ददुः, आशिषोऽपि युयुजुः**. शेषा अपि ये लवणादयो दत्ताः तेषामंशाः प्रतिदीयन्ते. एवं विधानमुक्त्वा कर्मपूर्त्यर्थं नमस्कारमाह **ताभ्यो देव्यै नमश्चक्र** इति. **शेषां** ताभिर्दत्तां **जगृहे** स्वग्रन्थौ स्थापितवती. एवं सर्वोऽपि विवाहोत्सवो वैधो निरूपितः. अत्र दिनत्रयं व्रतं तदपि जातमिति मन्तव्यम् ।।४९।।

मुनिव्रतमथ त्यक्त्वा निश्चक्रामाम्बिकालयात्।
प्रगृह्य पाणिना भृत्यां रत्नमुद्रोपशोभिना।।५०।।

अथ मौनं त्यक्त्वा सखीभिः सह यद्वक्तव्यं तदुक्त्वा **अम्बिकालयान्निश्चक्राम.** नितरां गमनं शीघ्रं भगवत्प्राप्त्यर्थम्. सख्यः अन्याश्च स्त्रियः व्यावर्तिताः. एका या भृत्या अन्तरङ्गा तां **प्रगृह्य,** भगवद्भावेन विकला भविष्यामीति. बाह्ये तु भूमिं न पश्यतीत्यवश्यं तदीया ग्राह्या प्रदर्शिका. **रत्नसहितमुद्रोपशोभितत्वं** भगवता स्वमुद्रा दत्तेति ख्यापयितुम्. पूर्वावतारमुद्रां वा सूचयतिह्न यद्यहं न गमिष्यामि, पूर्ववदेव गतिर्भविष्यतीति ।।५०।।

ततोऽग्रे कस्यापि दर्शनं न भविष्यतीति विवाहसमये दर्शनं न दूषणमिति सर्वे दृष्टवन्त इत्याह तामिति.

तां देवमायामिव वीरमोहिनीं सुमध्यमां कुण्डलमण्डिताननाम्।
श्यामां नितम्बार्पितरत्नमेखलां व्यञ्जत्स्तनीं कुन्तलशङ्कितेक्षणाम्।।५१।।

यथा भगवान् रङ्गप्रवेशे बहुभिर्बहुधा दृष्टः एवमियमपि देवमायेव

वीरैर्दृष्टेत्याह **देवमायामिवेति,** देवस्य भगवतो मायाया व्यामोहिकैषा शक्तिरागतेति सर्वैरेव निश्चितेति. तत्रापि वीरान् व्यामोहयति, अन्यथा स्वयं गत्वा न म्रियेरन्. तां वर्णयति षोडशलक्षणाम्. द्वात्रिंशल्लक्षणो भगवान्, षोडशलक्षणा सेति प्रसिद्धिः. एकं सम्बन्धादसाधारणसामर्थ्यम्, अपरं शौर्यादिनिराकरणं, तृतीयं व्यामोहकत्वम्. चतुर्थं **सुष्ठु मध्यं यस्या** इति, लम्बिकावद् अमृतसम्बन्धार्थं

अल्पमध्यत्वं निरूपणीयम्. अतएव न कस्यापि रससम्बन्धः. **स हि रसः** पुरुषेण भोक्तव्यः जिह्वयैव. **तदभावात्** स्वस्थितोऽपि मक्षिकासम्बन्ध इव रसोऽपगच्छतीति दुःखमेव लोके फलति. **कुण्डलाभ्यां मण्डितमाननं यस्यामिति** उपरि रसोपभोगस्थानस्य शोभा प्रदर्शिता, रसप्रदर्शके कुण्डले इति. वयोऽप्याह **श्यामा**मिति, षोडशवार्षिकी. **नितम्बे अर्पिता रत्नमेखला यस्या** इति रसाविर्भावकप्रस्तावे मुख्यस्थानेऽपि रसप्रकाशो निरूपितः. मध्ये रसाभिव्यक्तिमाह **व्यञ्जत्स्तनी**मिति. एवं पञ्चधर्मा रसात्मका

लेखः

तां देवमायामित्यत्र. लम्बिकावदिति सप्तम्यर्थे वतिः, लम्बिकायोगे सूक्ष्मां जिह्वां विधाय ब्रह्मरन्ध्रस्थममृतं योगिभिर्भुज्यते. यथा[१] सूक्ष्मजिह्वाभावे तदमृतं भोक्तुं न शक्यते तथा सूक्ष्ममध्याभावे एवंप्रकारकभगवद्रसोऽपि भोक्तुं न शक्यते. तत्र जिह्वाया इवात्र मध्यस्य करणतेति भावः. **अत** एवेति, सूक्ष्ममध्याभावादेव भगवद्रससम्बन्धो योग्यतारहितस्य न जायते इत्यर्थः. दृष्टान्तं विशदयन्ति **सही**ति. हि यतः स ब्रह्मरन्ध्रस्थो रसः पुरुषेण सूक्ष्मजिह्वयैव भोक्तव्यः. तादृशरसभोगे सूक्ष्मजिह्वैव करणमित्येवकारः. तथात्रापि सूक्ष्ममध्यमेव करणमिति भावः. **तदभावात्** तादृशजिह्वाभावात् **स्वस्य** ब्रह्मरन्ध्रे **स्थितोऽपि रसो** देहनाशे**ऽपगच्छति,** नतु कदापि भोक्तुं शक्यते. यथा मक्षिकासम्बन्धात्पूर्वं भुक्तमप्यन्नं वान्तं भवति तथा मर्त्यदेहसम्बन्धात् स रसोऽप्यपगच्छतीत्यपगमनमात्रे दृष्टान्तः. तथाच यथा तादृशजिह्वाभावात् सर्वैः स रसो भोक्तुं न शक्यते अतो दुःखमेव फलति, तथा तादृशमध्याभावात् सर्वैर्भगवद्रसोऽपि भोक्तुं न शक्यते, अतो दुःखमेव लोके फलतीति सम्पूर्णार्थः ।।५१।।

१. अन्यथेति पाठः.

निरूपिताः. पोषकान् सप्तधर्मानाह **कुन्तलैः शङ्किते ईक्षणे यस्या** इति. लक्षणद्वयमत्र निरूपितंह्न कुन्तलानि चपला च दृष्टिरिति ।।५१।।

शुचिस्मितां बिम्बफलाधरद्युति–शोणायमानद्विजकुन्दकुड्मलाम्।
पदा चलन्तीं कलहंसगामिनीं सिञ्जत्कलानूपुरधामशोभिना।।५२।।

मन्दहासोऽपि दोषाभावाय शुचिरूपः. श्वेतदन्तत्वं न रसाविर्भावकमिति विवाहानन्तरं च दन्तसंस्कार इति कृत्रिमसंस्काराभावेऽपि सहजैरेव धर्मैस्तथा जातमित्याहह्न **बिम्बफलवत्** यत् लोहितमधरोष्ठं तस्य **द्युतिभिः** कान्तिभिः **शोणायमाना ये द्विजाः तएव कुन्दकुड्मलानि यस्याः**. रञ्जकद्रव्यसम्बन्धापेक्षया कान्त्या राग उत्तमः. पदा चलन्तीमिति एकविधं लक्षणं, पद्भ्यां चलनं पुरुषस्य एकेन पदा चलनं स्त्रिया इति. तत्रापि गतिः फलरूपा अफला चेति द्विधा. अयं विवेकः स्फुटलक्षणेनैव भवतीति तस्या गमनं निरूपयति **कलहंसवद्गच्छतीति. सिञ्जन्त्यः कलाः** अन्तःस्थिताः सूक्ष्माः कणिकाः तद्युक्ते **नूपुरे तयोर्धाम** तेजः तेन **शोभायमाना शोभिना** वा ।।५२।।

नन्वेतादृश्या दर्शने यदि वीराणां रस उत्पद्यते तदा दोषः स्याद्, अनुत्पत्तौ विषयस्योत्तमता न स्यादित्युभयतः पाशा रज्जुः, तत्परिहारार्थं वीराणां द्वेधा विनियोगमाह **विलोक्येति**.

विलोक्य वीरा मुमुहुः समागता
यशस्विनस्तत्कृतहृच्छयार्दिताः ।
यां वीक्ष्य ते नृपतयस्तदुदारहास–
व्रीडावलोकहृतचेतस उज्झितास्त्राः ।।५३।।

आदौ तां **विलोक्य वीरा मुमुहुः** मोहं प्राप्ताः. **समागता** इति समागमनफलमुक्तम्, मूर्च्छायामपि सुषुप्ताविव किञ्चित्सुखमिति, ''मुग्धेऽर्धसम्पत्तिरि''ति न्यायाच्च. **यशस्विन** इति तेषां पुण्यमपि सूचितम्. अभिलाषामप्याह **तत्कृतेन हृच्छयेन अर्दिता** इति. एवं चतुर्भिर्धर्मैः तावत्फलं प्राप्तवन्त इति विषयोत्कर्षो निरूपितः. दोषाभावायाह **यां वीक्ष्येति,** यावत्तेषां रसदृष्टिर्भवेत् तन्मध्ये निपतिताएव ते. तत्रापि हेतवःह्न **ते** हि भगवद्विमुखाः. तत्रापि **नृपतयः** अभिमानिनः जरासन्धादयः. तेषां बलमुत्साहशक्तिश्च रसानुभवार्थे हेतुभूतं तस्या भावैर्हृतमित्याहह्न **तस्या उदारो यो हासः,** सर्वरसदानसमर्थश्च **व्रीडावलोकश्च, व्रीडा च अवलोकश्चेति वा,** त्रिविधैरपि भावैः, हृतचेतसो जाताः, त्रिविधं हि चित्तमिति. तदभावे युद्धाभावाद्[१] **उज्झितास्त्रा जाताः** ।।५३।।

पेतुः क्षितौ गजरथाश्वगता विमूढा
यात्राच्छलेन हरयेऽर्पयतीं स्वशोभाम्।

सैवं शनैश्चलयती पदपद्मकोशौ

प्राप्तिं तदा भगवतः प्रसमीक्षमाणा।।५४।।

ततः **क्षितौ पेतुः**. पतितानां पुनरुत्थानाभावायोच्चानि स्थानान्याह **गजरथाश्वगता** इति. यद् भगवता कर्तव्यं तदनयैव कृतमिति निरूपणार्थमेतदुक्तम्. **विमूढा** इति पातज्ञानाभावोऽपि. नन्वेषा दुर्गेव प्रचण्डेति चेत्, तत्राह **यात्राच्छलेनेति. हरये स्वशोभामर्पयन्तीं** प्रसङ्गादेतज्जातम्. सा तु स्वदुःखहरणार्थं स्वशोभामाविर्भाव्य भगवते प्रयच्छति. तत्र प्रसङ्गात् सा शोभा स्वयं ग्राह्येति अयोग्यमिच्छन्तः पतिताः, न तु रुक्मिण्या पातिताः. नन्वेषा यात्रां कृत्वैव गच्छति, कथं भगवते शोभां प्रयच्छतीति चेत्, तत्राहह्व यतः शोभा स्वकीया स्वयं त्वन्यदीया अतः स्वदाने स्वापेक्षाभावेऽपि स्वकीयं देयमेवेति. अतएव तस्या भगवदन्वेषणमाह सैवमिति. शीघ्रगमने[२] रथारोहणं भविष्यतीति **शनैः पदपद्मकोशौ चलयती** जाता, चालयती. कोशत्वान्मुकुलितत्वमुक्तम्. अनेन कियद्दूरचलनेन पादयोर्व्यथा जातेति ज्ञापयन्तीव मुकुलितपादौ स्थापयतीति गम्यते. तथा व्याजकरणे हेतुः **तदैव** तस्मिन् क्षणएव **भगवतः प्राप्तिं प्रसमीक्षमाणा** ।।५४।।

कन्याया राजदर्शनमपि कर्तव्यं वैलक्षण्यज्ञापनायेति तद् भगवदर्थं जातमित्याह.

---

१. चित्ताभावादित्यपि पाठः. २. सत्त्वरं रथारोहणं कर्तव्यं भवेदिति शनै इति आशयः –सम्पा.

उत्सार्य वामकरजैरलकानपाङ्गैः

प्राप्तान् समैक्षत नृपान् ददृशेऽच्युतं सा

तां राजकन्यां रथमारुरुक्षतीं

जहार कृष्णो द्विषतां समीक्षताम्।।५५।।

उत्सार्य वामहस्तनखैरलकान् अपाङ्गैः प्राप्तान् नृपान् समैक्षत. ततः यदर्थं तान् दृष्टवती **तमच्युतं ददर्श.** नन्वपूर्वदर्शने कथं परिज्ञानमिति चेत्, तत्राह **अच्युतं से**ति, उभयोर्ज्ञापकमेकैको धर्मः. सा हि चित्रे भगवन्तं दृष्टवती स्वप्नभ्रमेषु च, अतो रूपं दृष्टपूर्वम्. भगवानप्यच्युतः सर्वत्रानुस्यूतः, नतु चित्रादिष्वन्यः अत्रान्य इति, सर्वत्रैव भगवतः अच्युतत्वात्. ततोऽग्रे दृष्टिर्न गतेति तमेव

विलोकयन्ती यदा स्थिता तदा सर्वैः रथारोहणार्थं नियुज्यमाना जाता. तन्मध्ये भगवान् **जहारे**त्याह **तां राजकन्यामि**ति. **तामि**ति कृतात्मनिवेदनाम्, राजकन्याया हरणं च युक्तमिति, रथारोहे पुनः सारथ्यादेः मारणं कर्तव्यमिति यदैव रथारोहणेच्छुर्जाता तदैव जहार. तदा हि सर्वसमूहः अपगतो भवति. तत्र प्रतिबन्धकानां साक्षित्वं जातमित्याह **द्विषतां समीक्षतामि**ति, कृष्णस्य हि स्त्रियः. हरणं हस्तेन ग्रहणम्, उत्तोलनमिति यावत् ।।५५।।

रथं समारोप्य सुपर्णलक्षणं राजन्यचक्रं परिभूय माधवः।

ततो ययौ रामपुरोगमैः शनैः सृगालमध्यादिव भागहृद्धरिः।।५६।।

ततो रथं समारोप्य ययावित्यग्रेण सम्बन्धः. उपस्थितरथपरित्यागाय सुपर्णलक्षणमिति. तत्र वेष्टका **राजन्याः** सन्ति परित**श्चक्र**रूपेण स्थिताः; तत्सर्वं **परिभूय** पराभवं प्रापयित्वा. दृष्टबलमस्त्येव, अदृष्टमपि बलं तस्यैवेति ज्ञापयन्नाह **माधव** इति. लक्ष्मीपतिर्भगवान् इयं च लक्ष्मीः, अतो भार्येत्यस्याः परिपालने भगवतो धर्मो जातः. ते त्वनधिकारिणस्तदभिलाषिण इति तेषां पापमेव सिद्धम्. अतः पराभवो युक्त इत्यर्थः. तेषां पराभवे रक्षकाणामपि

लेखः

अच्युतं सेत्यत्र उभयोरिति. **अच्युत**त्वं भगवति, **सेति** पदोक्तं चित्रदर्शनं च तस्यामित्यर्थः ।।५५।।

युद्धं सम्भवतीति तेषां वधे अमङ्गलं च भवतीति तद्दोषं परिहरन्नाह **ततो ययावि**ति. **तत** इत्यव्ययनिर्देशः; तस्य स्थानस्याविकृतत्वाय न कोऽपि तत्र हत इत्यर्थः. तर्हि पुरमध्ये कियद्दूरे हननं भविष्यतीत्याशङ्क्याह **यया**विति. या प्रापण इति कुशलेनेष्टदेशपर्यन्तं गत इत्यर्थः. तदीयानां वा रामादीनामुपद्रवमाशङ्क्य तन्निषेधार्थमाह **रामपुरोगमैरि**ति. रामो हि साधनशक्तिः पुरोगमो येषामिति सर्वेषां साधनवत्त्वं रमणात्मकत्वादमारकत्वं च सूचितम्. सम्मर्देनापि तथात्वमाशङ्क्याह **शनैरि**ति. लोका हि नगरस्थाः त्रिचतुरान्विहाय समागता अपि लोकवदन्त्या कृष्णाय दत्ता रुक्मिणी, अतो भगवान् नयतीति सादरं प्रेक्षकाएव जाता इति **शनैरि**त्यनेन सूचितम्. ननु तत्रैव कथं सर्वसन्देहनिवृत्त्यर्थं भगवान् न स्थितः? श्वशुरादिभिः पश्चादभ्यनुज्ञातो गच्छेत्, किमिति निर्गत इत्याशङ्क्याह

सृगालमध्यादिति. भवेदेवं यदि तत्र सन्तो भवेयु:. ते हि **सृगाला** दुष्टचित्ता:, तन्मध्ये च स्वभागो न स्थापनीयः, अतिरिक्तभागएव सृगालानामिति. तत्रापि यदक्रूरमतिरिक्तं तत्साध्यानां, यत् क्रूरं तत् सृगालानामिति. यथा मथिताग्निः चषालादूर्ध्वं [१]यूपश्च साध्यानां [२]यतयश्च सृगालानामिति श्रौतो निर्णयः, [३]न तु स्वभागस्य. किञ्च लोकेऽपि तत् सृगालमध्ये न रक्षणीयमिति सिंहं दृष्टान्तीकरोति **हरि**रिति. यथा सिंहः स्वभागं हरति तथा भगवानपि **भागहृद्** जातः. **भागभृदि**ति पाठे भागं बिभर्तीति गृहीतस्य शुद्धएव स्थाने स्थापनमिति तत्र न स्थापितवान्, अन्यथा असुरगामि तद् भवेदिति ।।५६।।

ततो यज्जातं तदाह.

तं मानिनः स्वाभिभवं यशःक्षयं परैः जरासन्धवशा न सेहिरे।

अहो धिगस्मद्यश आत्तधन्वनां गोपैर्हृतं केसरिणां मृगैरिव।।५७।।

।।इति श्रीमद्भागवत–दशमस्कन्धे पञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।

तं मानिन इति अभिमानरक्षार्थमेव समागताः. तदुक्तं ''यद्यागत्य हरेत्कृष्ण'' इति. तज्जातमिति **स्वस्य अभिभवं** तिरस्कारं **यशसश्च क्षयं**

---

१. यूथ इति पाठः. २. मूतयः इति कदाचित् स्यात् –सम्पा. ३. 'न तु स्वभागस्ये'ति प्रभूणां पुस्तके लोपितम्.

दृष्ट्वा. तत्रापि **परैः** कृतं, नहि शत्रुकृतं सोढुं शक्यमिति. ते यदि विवाहेनापि नयेयुः तथापि सोढुमशक्याः, किमुत बलादिति. तत्रापि **जरासन्धवशाः** यैः पूर्वं जयोऽनुभूतः, अतो **न सेहिरे** असहमाना जाताः. जरासन्धवशत्वेन यशःक्षयासहनम्, मानित्वेन स्वाभिभवासहनमिति तत्रोभयविधं स्वनिन्दाप्रतिपादकं वाक्यमाह **अहो धिगि**ति. **आत्तधन्वनामस्माकं यशो धिगि**ति. यदि यशो भवेत् तदा यशसा भीताः नेतारो भवेयुः ह्यइति मानिनां वचनम्. जरासन्धप्रमुखानां वचनमाह **गोपैर्हृतमि**ति. गोपाला हि गां हरन्ति यस्य कस्यचित्, तत्रापि **केसरिणां हृतमि**ति महदाश्चर्यम्. केसरी हि गां भक्षयति, गोपालाः पालयन्ति, अतः कृतं युक्तमेव, परमत्याश्चर्यमिति तेषां प्रशंसा स्वपौरुषख्यापनं च. अनेनातःपरं प्रयत्नो न कर्तव्य इत्यपि सूचितम्. कर्तव्योऽपीति अत्र हेतुमाहुः **केसरिणां मृगैरिवे**ति. मृगा हि साधारणाः, केसरी मृगेन्द्रः, तत्रापि बहूनां

भागोऽयमिति दृष्टान्तोऽत्र वर्तत इति नात्यन्तमाश्चर्यमिति स्वमनःसमाधानमाहुः ।।५७।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे चतुर्थोऽध्यायः।।

लेखः

तं मानिन इत्यत्र. पदार्थः पदार्थेनैवान्वेतीति नियमस्य प्रायिकत्वाद् **आत्तधन्वनामि**ति पदं समासान्तर्गते**नास्मच्च**छब्देनान्वेति ।।५७।।

चतुर्थाध्यायव्याख्या समाप्ता।।

।।इति पञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।

।।पञ्चमः स्कन्धादितो एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।

यावन्निवर्तते चित्तं तदीयानां स्वभावतः।
तावदन्यस्य विषयो भगवांस्तं न मन्यते।।(१)।।
अतो विधिविवाहार्थं तन्निराकरणं पुरा।
त्रिविधानां निरूप्यं हि युद्धमुण्डनबोधनैः।।(२)।।
उदासीनाः स्वकीयाश्च स्वयं चेत्यत्र शत्रवः।
मध्यमं भगवत्कार्यमनुकल्पो यतस्तथा।।(३)।।
उत्तरार्धे पञ्चमे तु विवाहो वर्ण्यते हरेः।
रुक्मिण्या सर्वभावेन तद्दोषान् विनिवर्त्य हि।।(४)।।

पूर्वाध्यायान्ते स्वयशोनिन्दां कृतवन्त इत्युक्तम्. ततो यावच्छक्यं स्वपौरुषं सात्त्विकास्ते कृतवन्त इत्याह **इती**ति.

।।श्रीशुक उवाच।।

इति सर्वे सुसंरब्धा वाहानारुह्य दंशिताः।
स्वैः स्वैर्बलैः परिक्रान्ता अन्वीयुर्धृतकार्मुकाः।।१।।

सर्वे एव मिलिताः **सुसंरब्धाः** अल्पीयांसो भगवदीया इति स्वोद्यमः. भगवांश्च स्त्रीरक्षायां व्यापृत इति. अन्यथा सात्त्विकानां विचारपूर्वकं प्रवृत्तिर्न स्यात्. **सुष्ठु संरब्धाः** क्रोधेन परस्परवाक्यैर्वा. ततो **वाहान्** रथादीन् **दंशिताः** बद्धकवचाः सम्भूय. युद्धे एकस्यापि भङ्गे सर्वेषां भवेदिति **स्वैः स्वैर्बलैः** पृथगेव **परितः आक्रान्ताः** दूरादेव मारणार्थं **धृतकार्मुका** जाताः ।।१।।

लेखः

पञ्चमेऽध्याये कारिकायां युद्धेति. युद्धेन जरासन्धादीनां मुण्डनेन रुक्मिणः बोधनेन रुक्मिण्यज्ञानस्य च निवारणमित्यर्थः. **स्वयं चेति,** भगवत्कृतिमननुमोदमानः स्वात्मापि शत्रुरिति भावः (२-३).

इति सर्वे इत्यस्याभासे **सात्त्विका** इति. ‘‘भो भो पुरुषशार्दूले’’त्यनेन ज्ञानोपदेशस्य वक्ष्यमाणत्वात् ‘‘सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानमि’’ति तावदंशमादाय सात्त्विकत्वमिति भावः ।।१।।

एवं शत्रूणामुद्योगमुक्त्वा तत्प्रतीकारार्थं भगवदीयानामप्युद्योगमाह **तानापतत** इति.

तानापतत आलोक्य यादवानीकयूथपाः ।

तस्थुस्तत्सम्मुखा राजन् विस्फूर्ज्य स्वधनूंषि ते।।२।।

आ सर्वत**: पततः**. अत्र विद्यमानाः सर्वे **यादवानीकानां यूथपा** एव, न तु कश्चित्सेनारूपः साधारणो वा. अत**स्तत्सम्मुखा**एव तस्थुः. आत्मीयाश्चेन्महान्तः अल्पीयांसोऽपि भवन्ति तदापि जय इति बहूनामपि सम्मुखा जाताः. तानाकारयन्तइव **स्वधनूंषि विस्फूर्ज्य** ज्यानिनादं कृत्वा स्थिताः. यतस्ते रामादयः प्रसिद्धाः ।।२।।

ततः प्रथमे प्रथमतः युद्धार्थं प्रवृत्ता इत्याह अश्वपृष्ठ इति.

अश्वपृष्ठे गजस्कन्धे रथोपस्थे च कोविदाः ।

मुमुचुः शरवर्षाणि मेघा अद्रिष्वपो यथा।।३।।

यत्रैव प्रहारे न कस्यापि व्यथा तत्रैव तेषां शरपातो भवतीति ज्ञापनार्थम् **अश्वपृष्ठ** इति, चर्मादि व्यवधायकमस्तीति. तथा गजस्कन्धेऽपि, तथा **रथोपस्थे** अनुपविष्टभागे. **कोविदा** अपि. अथवा यत्रैव पीडा सम्भवति तत्रैव शरवृष्टिं कृतवन्तः यतः **कोविदाः**. चकारात् सारथिस्थानेऽपि. प्रतीकाराकरणेऽपि न कश्चित्तेषामपकारो जात इत्यत्र दृष्टान्तमाह **मेघा अद्रिष्वि**ति. न दीर्यत इत्यद्रिः. अन्यथा विदारे तदीयानामपकारात् विशेषणं व्यर्थं स्यात्. तत्रापि **मेघाः** साधारणाः, न तु नीलाः. तत्रा**प्यपः**, न तु धाराः ।।३।।

ततो रुक्मिण्या भयं जातं तद्भगवता निवारितमिति निरूप्यते, भगवान् भक्तार्थमेव सर्वं करोतीति ज्ञापनार्थम्. केवलं तेषां वधे रुक्मिण्या अप्यसम्मतौ स्वार्थमेव तत् [१]कृतवानिति क्लिष्टकर्मता स्यात्. ततो युद्धात्पूर्वं तदाह **पत्युर्बलमि**ति द्वाभ्याम्.

पत्युर्बलं शरासारैश्छन्नं वीक्ष्य सुमध्यमा ।

सव्रीडमैक्षत्तद्वक्त्रं भयविह्वललोचना।।।४।।

---

१. हृतवानिति पाठः.

प्रहस्य भगवानाह मा स्म भैर्वामलोचने ।

विनङ्क्ष्यत्यधुनेवैतत् तावकैः शात्रवं बलम्।।।५।।

शराणामासारैः धारासम्पातैः सम्यक् **छन्नम्**. पत्युर्भगवतो बलं **छन्नं वीक्ष्य तद्वक्त्रं सव्रीडमैक्षत. सुमध्यमे**ति विनियोगोऽन्यथा भविष्यतीति शङ्कया, शुद्धान्तःकरणा वा, राजसगुणे हि सति शौर्यादिकं भवतीति. एतदर्थमेव भगवदीयानां सहनम्. अपूर्वदर्शनमिति **सव्रीडमैक्षत.** वस्तुतः सभयं द्रष्टव्यं तथापि तावदयं पलायनमपि कर्तुं शक्त इति लज्जैव परं भवेदिति उभयथापि सव्रीडमैक्षत. ततः क्षणानन्तरं **भयेन विह्वले लोचने यस्याः** तादृश्यपि जाता. **तस्य** भगवतो **वक्त्रमैक्षत.** ततः सान्त्वनमाह **प्रहस्येति.** एवं हि कामः स्वयं स्वकीयवधं कामयत इति हासेनैव मोहने[१] तस्या भयादिकमपि निवारितम्. मनो देहश्च भगवते सन्देशार्थं प्रेषितवती, न तु वाणीम्, अन्यथा सैव रमेत. भगवानपि तथा वाणीमेवोक्तवान् यथायोग्यम्. भगवत्त्वादेव नाविश्वासः तथैव हृदये वा सम्पादितवान्. **मा स्म भैरि**त्याह, प्रसिद्धिरेव सर्वत्र वर्तते भगवदीयानां भयं नास्तीति. **वामलोचन** इति वक्रा दृष्टिर्न कर्तव्या. आहोस्वित् पुरुषमपि या जयति तस्याः किं भयमिति मनोहरदृष्टित्वादेव शुभं भविष्यति, त्वद्दृष्ट्या वा हता भविष्यन्तीति सम्बोधनम्. **अधुनैवे**ति निःसन्देहः. तामात्मत्वेन गृहीत्वाह त्यक्त्वा[२] गमनाभावाय **तावकैरि**ति. सर्वात्मकत्वविचारेऽपि उपपत्तिमाह **शात्रवं बलमि**ति. शत्रवो हन्तव्या एवेति ।।४-५।।

एवं भगवद्वाक्येनैव ते आज्ञप्ताएव सामर्थ्ययुक्ताएव शत्रुबलं दूरीकृतवन्त इत्याह **तेषामि**ति.

तेषां तद्विक्रमं वीरा गदसङ्कर्षणादयः ।

अमृष्यमाणा नाराचैर्जघ्नुर्हयगजान् रथान्।।६।।

तादृशं पराक्रमम् **अमृष्यमाणाः** सन्तः **जघ्नुः,** तादृशं पराक्रमं को वा शत्रुरुपेक्षेत? **गदःसङ्कर्षणश्च आदिभूतौ येषाम्.** एकः प्रविश्य मारयति, अपरस्त्वाकृष्य. इतो हीनः(महानः/अहीनः) कोऽपि नास्तीति तयोरादित्वम्.

---

१. मोहनेनैव इति पाठः. २. स्वीयानां रणत्यागाभावायेत्यर्थः.

नाराचैर्बाणविशेषैः. **हयगजान् रथानि**ति त्रिविधा हता इति गणिताः. न हि महद्भिः क्षुद्रा हन्यन्ते अतो न पत्तयः परिगणिताः ।।६।।

हननं फलपर्यवसायीति फलमाह त्रिभिः **पेतुरि**ति, वधो द्विविधः अवयविनः अवयवानां च ततः पलायनमिति.

पेतुः शिरांसि रथिनामश्विनां गजिनां भुवि।
सकुण्डलकिरीटानि सोष्णीषाणि च कोटिशः।।७।।
हस्ताः सासिगदेष्वासाः करभा ऊरवोऽङ्घ्रयः।
अश्वाश्वतरनागोष्ट्र-खरमर्त्यशिरांसि च।।८।।
हन्यमानबलानीका वृष्णिभिर्जयकाङ्क्षिभिः।
राजानो विमुखा जग्मुर्जरासन्धपुरःसराः।।९।।

रथिनां शिरांसि निकृत्तानि रथस्थानं परित्यज्य भुवि पेतुः. तथा अश्विनाम् अश्वसहितानां गजसहितानां वा. खड्गयुद्धे नैतदाश्चर्यम्, बाणयुद्धे तु भवतीति निरूपितम्. तेषामप्रयोजकत्वं निवारयति **सकुण्डलकिरीटानी**ति. उष्णीष-कुण्डल-किरीटानि त्रिविधानि. प्रायिकत्वं व्यावर्तयितुं कोटिश इत्युक्तम्. अवयवानाह **हस्ता** इति. **असियुक्ता गदायुक्ताः** दक्षिणाः, **इष्वासयुक्ताः** वामाः, **करभाः** शुण्डादण्डाः **ऊरवः अङ्घ्रयश्च**. सर्वेषामश्वादीनां शिरांसि **च भुवि पेतुरिति**सम्बन्धः. **नागा** हस्तिनः. षड्विधा अपि हता इत्यर्थः. चकाराद् ध्वजादीनामपि भूमिपातः. ततः पलायनमाह **हन्यमाने**ति, सर्वमेव **बलमनीकरूपं हन्यमानं येषाम्**. एते तु वृष्टिमेव कृतवन्तः नतु मारयन्ति, ते तु मारयन्ति. तत्र हेतुः **जयकाङ्क्षिभिरि**ति. कन्या तु प्राप्तैव, केवलं जय एवापेक्षित इति तेषामुद्योगः. ततो **राजानः** स्वदेशभोगेप्सवः किं वृथा मरणेनेति सर्वएव **विमुखाः** कुण्डिनपुरं **जग्मुः. जरासन्धः पुरःसरो येषाम्**. स हि पलायने कृताभ्यासः ।।७-९।।

शिशुपालं समभ्येत्य हृतदारमिवातुरम्।
नष्टत्विषं गतोत्साहं शुष्यद्वदनमब्रुवन्।।१०।।

भीष्मोऽत्र न वक्तव्य इति तस्यापकाराभावाच्च **शिशुपालं समभ्येत्य** अविवाहेऽपि जातविवाह इव खिद्यमानो जातः. ततो मर्तुकामं विषादिना आतुरं विचाररहितं **हृतदारं सम्यगभ्येत्य** निकटे सान्त्वनार्थं गत्वा, शुष्यद्वदनं म्रियमाणमिव शीघ्रं सान्त्वन**मब्रुवन्**. शिशुपालपरिज्ञाने मरणसाधनमेव ज्ञापकं नत्वन्यदित्याह **नष्टत्विषमि**ति. बहिःकान्त्यभावः अन्तरुत्साहाभावः. जरासन्धो हि अत्यन्तमभ्यस्तबोधनः ।।१०।।

सान्त्वनवाक्यान्याह **भो भो** इति षड्भिः, भगवद्गुणैरेव सान्त्वनं भवतीति. अनेन तस्यापि रुक्मिण्यामभिमानो निवर्तिष्यते इति निरूपितम्.

भो भोः पुरुषशार्दूल दौर्मनस्यमिदं त्यज ।

न प्रियाप्रिययो राजन्निष्ठा देहिषु दृश्यते।।११।।

आदौ स्वास्थ्यं सम्पादयति. भो भो इति मूर्च्छितप्रबोधनम्. स्तुत्या माहात्म्यं हृदये समायातीति **पुरुषशार्दूले**ति सम्बोधनम्. **इदं** विवाहाभावलक्षणम्. न हि त्वदीयं किञ्चिद्गतमस्ति, अप्राप्तवात्. जाते विवाहे प्रियं भवेदिति यदि तत्राह **न प्रियाप्रिययोरि**ति. **देहिषु** सर्वदा **प्रियं** वा कस्यचि**दप्रियं** वेति **निष्ठा** निर्धारो नास्ति. तत्र देहित्वमेव हेतुः, ''दिह उपचय'' इति यदोपचयः तदा प्रियम् अन्यदाऽप्रियमिति ।।११।।

हेत्वन्तराण्याह **यथा दारुमयी**ति.

यथा दारुमयी योषिन्नृत्यते कुहकेच्छया ।

एवमीश्वरतन्त्रोऽयमीहते सुखदुःखयोः।।१२।।

अलौकिको बोधनहेतुरयम्. **दारुमयी योषित्** विवृताङ्ग्यपि सभायां विरुद्धरसापि **कुहकस्य** वञ्चकस्य कस्याश्चिद्देवताया रूपं कृत्वा तां नर्तयित्वा स्वोदरभरणं करोति. एवमीश्वरेण सर्वोऽपि नर्त्यते स्वक्रीडार्थम्. अत ईश्वराधीनं एवायं लोकः भ्रमात् **सुखदुःखयोरीहते** सुखं भवतु, दुःखं मा भवत्विति. यथाकथञ्चित् प्रवृत्त्यर्थं भगवति दोषज्ञानाभावाय तथा बुद्धिमुत्पादयति ।।१२।।

एवं शास्त्रीयमुक्त्वा लौकिकं स्वकीयमाह **शौरेः सप्तदशाहमि**ति.

शौरेः सप्तदशाहं वै संयुगानि पराजितः।

त्रयोविंशतिभिः सैन्यैर्जिग्य एकमहं परम् ।।१३।।

सप्तदशदिवसेषु वै निश्चयेन **शौरेः** सम्बन्धि**संयुगानि पराजितः**.

द्विकर्मकोऽयं जिधातुः अत्र, संयुगेषु वा. **त्रयोविंशतिभिः सैन्यैर**क्षौहिणीभिः सहित इति साधनसहितोऽपि सकृज्जयं मन्यते. तेन द्वयमपि मयानुभूतमिति निष्ठाभावः प्रत्यक्षः ।।१३।।

अतएव मम शोको नास्तीत्याह तथापीति.

तथाप्यहं न शोचामि न प्रहृष्यामि कर्हिचित् ।

कालेन द्रव्ययुक्तेन जानन् विद्रावितं जगत्।।१४।।

कर्हिचित् तत्स्मरणेऽपि दुहित्रादिदर्शनेऽपि. सर्वदा हर्षविषादाभावे एकमनुसन्धेयमिति. तत्स्वनिर्धारितं तस्मा उपदिशति **कालेने**ति. यदि स्वसमानैः पराजयो जयो वा भवेत् तदा हर्षो विषादो वा कर्तव्यो भवेत्. कालस्तु तत्कर्ता, स सर्वेषामधिपतिः. किञ्च सोऽपि **द्रव्ययुक्त**एव शरीरादिसहितः विद्रावणं शरीरद्वारैव करोति, नत्वात्मनां स्वतः. तेन **च जगद्विद्रावितं जानन् न शोचामी**ति सम्बन्धः. **दैवयुक्तेने**ति पाठे कर्मवशात् सोऽपि तथा करोति, न तु तस्यापि कश्चन दोषोऽस्तीति भावः ।।१४।।

अस्तु कालान्तरवार्ता, इदानीमेव वयं सर्वे जिताः अतः पञ्चभिः सह दुःखं दुःखं न भवतीति न शोकः कर्तव्य इत्यभिप्रायेणाह **अधुनापी**ति.

अधुनापि वयं सर्वे वीरयूथपयूथपाः ।

पराजिताः फल्गुतन्त्रैर्यदुभिः कृष्णपालितैः।।१५।।

वयमिति श्लाघायां, सर्व एवेति सम्मत्यर्थम्. तर्ह्यप्रयोजका भविष्यन्तीति न मन्तव्यम्, **वीरयूथपानामपि यूथर**क्षका वयम्. सर्वदैव वयमेवंभूताः अधुना परं पराजिताः. तेषां च न महद्बलं किन्तु **फल्गुतन्त्रैरेव यदुभिः** पराजिताः. तर्हि तेऽपि हता भविष्यन्तीत्याशङ्क्य तं मनोरथं दूरीकरोति **कृष्णपालितैरि**ति, कृष्णेन पालिताः न मारयितुं शक्या इत्यर्थः. अनेन कृष्णात् कन्याहरणसम्भावनापि निवारिताः ।।१५।।

ननु किमेतदाश्चर्यमिति चेत्, तत्र हेतुमाह **रिपवो जिग्युरि**ति.

रिपवो जिग्युरधुना काल आत्मानुसारिणि ।

तदा वयं विजेष्यामो यदा कालः प्रदक्षिणः।।१६।।

अधुना **आत्मानुसारिणि** काले देवानां हितकर्तरि **रिपवो** वैष्णवा

जिग्युः. अस्माकं च हितकारी यदा तामसः कालो भविष्यति राजसो वा तदा वयं दैत्याः चकाराद्राक्षसा[१] अपि विजेष्यन्ति. दैत्यानां सिद्धान्ते कालः परमः, तदतिरिक्तानङ्गीकारात्तत्र प्रतिष्ठिताः ।।१६।।

एवं प्रबोधितो मित्रैश्चैद्योऽगात्सानुगः पुरम्।

हतशेषाः पुनस्तेऽपि ययुः स्वं स्वं पुरं नृपाः।।१७।।

एवं स्वसिद्धान्तनिरूपणेन **प्रबोधितः मित्रैर**वञ्चकैः समानव्यसनैः सह चैद्यः ससेवकः स्व**पुरमगात्. तेऽपि हतशेषाः** तद्गृहपर्यन्तं तत्सङ्गे गत्वा **पुनः स्वं स्वं पुरं ययु**ः ।।१७।।

एवं सप्तदशभिः एकमुपाख्यानं साधारणानां ममताभावाय निरूपितम्. अधुना सार्धैः सप्तदशभिः रुक्मिप्रभृतीनां ममताभावाय, रुक्मिण्याश्च तेषु ममताभावाय सार्धैरेव सप्तदशभिर्निरूप्यते. मध्यमं तामसम् अन्तिमं राजसमिति ततो दोषत्रयापगमने भगवानष्टैश्वर्यरूपां रुक्मिणीं स्वीकरिष्यत्यष्टभिः. तत्र प्रथमं तामसस्योद्योगमाह **रुक्मी त्विति**.

रुक्मी तु राक्षसोद्वाहं कृष्णद्विडसहन्स्वसुः।

पृष्ठतोऽन्वगमत्कृष्णमक्षौहिण्या वृतो बली ।।१८।।

यद्यपि तत्त्वोपदेशे रुक्मी स्थितः, तत्त्वेन च सर्वे निवृत्तव्यापारा जाताः, रुक्मी तु न जात इति तुशब्दार्थः. ननु कोऽपराधः? यएव क्षत्रियः बलवान्नयति तस्यैव भार्या भवतीति क्षत्रियाणां स्थितिः, तत्राह **स्वसुः राक्षसोद्वाहमसहन्नि**ति. ये हि कुलीनाः सन्तो दुर्बलाः तत्कन्या राक्षसविधिना नीयते, स्वयं तु शूरः अतो राक्षसविवाहोऽनुचितः. किञ्च **कृष्णद्विडयम्.** अन्यश्चेन्नयेत्, न वदेदपि. द्विष्टेन नीतं न क्वाप्युपकाराय भविष्यति. स्थापनीयं च शत्रुत्वं, तत्सम्बन्धे सत्यशक्यमिति सम्बन्धदूरीकरणार्थं तस्य प्रवृत्तिः. कन्याहविषोस्तुल्यत्वात् ''द्विषता हि हविर्भुक्तं नेह नान्यत्र तद्भवेदि''ति वाक्यात् कन्यापि द्विषता भुक्ता न लोकद्वयोपकारिणीति तस्या भोगं वा निवारयितुं तत्प्रवृत्तिः. अतएव **पृष्ठतोऽन्वगमत्** येनैव मार्गेण कृष्णो गतः तेनैव मार्गेण स्वयमपि गतः. अथवा अयं यदैव भगवान्

---

१. राजसा इति पाठः.

निर्गतः तदैव प्रचलितः, परमन्ये निवृत्ताः अयं तु न निवृत्त इति वैलक्षण्यम्. एकया**क्षौहिण्या** परि**वृतः** सन् गतः. ननु बहवएव गता हतोद्यमा जाताः, कथमयमेकाकी गच्छतीत्याशङ्क्याह **बली**ति, अयमत्यन्तं बलिष्ठः ।।१८।।

अतएव महतीं प्रतिज्ञां चक्रे इत्याह **रुक्मी**ति.

रुक्म्यमर्षी सुसंरब्धः शृण्वतां सर्वभूभुजाम्।

प्रतिजज्ञे महाबाहुर्दंशितः सशरासनः ।।१९।।

अमर्षी अप्रतीकारक्रोधवान् **सुष्ठु संरब्धः** युद्धार्थं कृतोद्यमः **सर्वभूभुजां शृण्वतां** मध्ये **प्रतिजज्ञे** प्रतिज्ञां कृतवान्. क्रोधसंरम्भान्न ज्ञातवान्, सामग्री गृहीतेति निर्भयः, निवारकाश्च न जाताः सर्वे. सहायापेक्षा तु नास्तीत्याह **महाबाहुरि**ति, महती क्रियाशक्तिः यस्येत्यर्थः. ततो **दंशितः** बद्धकवचः सशरासनश्च ।।१९।।

प्रतिज्ञामाह **अहत्वे**ति.

अहत्वा समरे कृष्णमप्रत्यूह्य च रुक्मिणीम् ।

कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामि सत्यमेतद् ब्रवीमि वः।।२०।।

अप्रत्यूह्येति. **रुक्मिणीम**ग्नितुल्यां मन्यते. यथा आयतनादग्निः बहिश्चेन्निर्गच्छति तत्पुनरायतने व्यूह्यते, ततः कुलादपगता पुनः कुले व्यूह्येति भावः. नन्वेतदशक्यमिति चेत्, तत्राह **कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामी**ति. अयमेव नियमः यदुभयमकृत्वा कुण्डिनाप्रवेश इति. अतः कुण्डिनाप्रवेशएव तस्य फलिष्यति. अतएव विगानाभावात् निर्धारितस्यानुक्तत्वात् न पदानामन्यथार्थो वक्तव्यः. **एतदहं सत्यं ब्रवीमी**ति शपथः ।।२०।।

इत्युक्त्वा रथमारुह्य सारथिं प्राह सत्वरम् ।

चोदयाश्वान्यतः कृष्णस्तस्य मे संयुगं भवेत्।।२१।।

ततः पित्राद्यभ्यनुज्ञाव्यतिरेकेणैव **एवमुक्त्वा रथमा**रुह्य स्व**सारथिं** प्रति **प्राह**. अन्यथा स न तथा कुर्यात्, सहजद्वेषाभावात्. **सत्वर**मित्युभयत्र. **अश्वान्** प्रेरय **यतस्तस्य मे च संयुगो भवेत्.** प्रार्थनायां लिङ्ह्न यथा मम तस्य संयुगो भवति तथा चोदयेति. **भवेदि**ति विध्यर्थो वा अपूर्वत्वात्ह्न **यतोऽयं कृष्णः** स्त्रीप्रियः अतः स्त्रियं हृतवानिति ।।२१।।

गत्वा यत्कर्तव्यं तदाह **अद्याहमि**ति.

अद्याहं निशितैर्बाणैर्गोपालस्य सुदुर्मतेः ।

नेष्ये वीर्यमदं येन स्वसा मे प्रसभं हृता।।२२।।

निशितैरिति सहार्थे तृतीया. **सुदुष्टेष्वपि मतिर्यस्ये**ति गोपालत्वं शब्दतो न दोषः, अभिप्रायतस्तथा भवति, तत्प्रकृतेन अङ्गीक्रियत इति नान्यथा वक्तव्यम्. **वीर्यजनितो यो मदः** तमहं **नेष्ये** गृहीष्यामि, **येन** भगवता कृत्वा मदं प्राप्स्यामीत्यर्थः. पूर्वं नास्माकं गर्वः स्थितः, अधुना भगवत्सम्बन्धात् नास्मत्सदृशा वीराः सन्तीति गर्वो भविष्यति. क्षत्रियाणां वीर्यमेव महत्त्वसूचकमिति न मदमात्रं निरूपितम्. ननु भगवतो हेतुत्वं कथमित्याह **येन मे स्वसा प्रसभं हृते**ति. बलात्कारेण हरन् वीर्यं शिक्षां चोपदिष्टवान्, बाणानपि प्राप्स्यामि वीर्यमपीति. ससाधनबलप्राप्तिर्भगवदाभिमुख्यगमने फलमित्यर्थः. तत्सम्मुखमेव गन्तव्यमिति नियोगः ।।२२।।

विकत्थमानः कुमतिरीश्वरस्याप्रमाणवित् ।

रथेनैकेन गोविन्दं तिष्ठ तिष्ठेत्यथाब्रवीत् ।।२३।।

विशेषेण कत्थमानः असम्बद्धमिव भाषमाणः. भगवान् हि महत्या प्रार्थनया तां हृतवान्, न तु बलादिति असम्बद्धता. नन्वचिन्त्यैश्वर्यं भगवतः श्रुत्वा दृष्ट्वा च कथमेवं वदतीत्याशङ्क्याह **कुमति**रिति, ऊहादौ न तस्य सामर्थ्यम्. स हि सर्वमेव यथाकथञ्चिज्ज्ञातमिति भगवच्चरितं मन्यते. तत्र प्रमाणमाह **ईश्वरस्याप्रमाणवि**दिति, ईश्वरस्य प्रमाणं सामर्थ्यं न जानाति. **प्रमाण**शब्दः आदरणीयपरोऽपि क्वचित्परिमाणवाच्यपि, ''प्रमाणं परिमाणमि''ति. यथा अत्रैव, ''विदुः प्रमाणं बलवीर्ययोर्वे''त्यत्र च. उपसर्गस्य अन्योपसर्गार्थत्वात् न नानार्थत्वं समुदायस्य. एवं दुर्बुद्धि**रेकेनैव रथेन** भगवत्समीपं गत्वा **गोविन्दं** भक्तकृपालुं सन्मात्रस्यैवेन्द्रम्, अतएव रुक्मिणीं हृत्वा गच्छन्तं,

---

लेखः

विकत्थमान इत्यत्र **प्रमाणमाहे**ति, कुमतित्वानुमितिकरणम् ईश्वरप्रमाणाज्ञानमित्यर्थः ।।२३।।

तिष्ठ तिष्ठेत्यब्रवीत्. द्विरुक्तिः आदरे अधिक्षेपे वा. चकारात् स्तुतिवाक्यान्यन्यानि वा ।।२३।।

तथोक्ते भगवान् स्थितः. तदा यत्कृतवांस्तदाह **धनुर्विकृष्ये**ति.

धनुर्विकृष्य सुदृढं जघ्ने कृष्णं त्रिभिः शरैः ।
आह चारे क्षणं तिष्ठ यदूनां कुलपांसन।।२४।।

स्तुतिपक्षे मदुद्धारमकृत्वैव केवलं रुक्मिणीहरणमयुक्तमिति वाक्यानामर्थः. नन्वनधिकारी कथं कृतार्थीकर्तव्य इत्याशङ्क्य स्वाधिकारनिरूपणार्थं युद्धं प्रदर्शयतीति **धनुर्विकृष्ये**ति. **सुदृढमि**ति सुष्ठु प्रतिज्ञायां दृढम्. भगवन्तमालक्ष्य स्वशौर्यं प्रदर्शयन् **त्रिभिः शरैः** अर्थाल्लोकत्रयं **जघ्ने**. शरो ह्युपर्यावरणभूतो रसानाम्. तत्र जलस्य पृथिवी शरो भवति, अन्तरिक्षमपि वायोः, स्वरपि ब्रह्माण्डस्य; सर्वं भगवते निवेदितवानिति वा. हस्तो हि हन्तीति हस्तेन दत्तवानित्यर्थः. न केवलं सर्वस्वनिवेदनमेव कृतवान् किन्तु वाक्यमप्युक्तवान्, अन्यथा वाचनिकं न दत्तवानिति स्यात्. **आह चार** इति भगवन्तं प्रति विज्ञापनार्थमाह. **चारे** चरणयोग्ये हृदये सात्त्विके क्षणं तिष्ठ. ननु किं स्यात् स्थिते इत्याशङ्क्याह **यदूनामि**ति. **यदूनां कुलं पान्तीति कुलपा, कुलपा** वा माया, तान् तां वा **अंसेन** क्रियाशक्त्या **नयती**ति तथा. ये केचन यादवानां रक्षकाः तान् सर्वानेव वैकुण्ठं प्रापयति. अत एवं भक्तवत्सलः अस्मद्धृदयेऽपि क्षणं स्थितः अस्मदीयान् अस्मदुपकारिणश्च वैकुण्ठं नेष्यतीति तदर्थं प्रार्थना ।।२४।।

कुत्र यासि स्वसारं मे मुषित्वा ध्वाङ्क्षवद्धविः ।
हनिष्येऽद्य मदं मन्द मायिनः कूटयोधिनः ।।२५।।

किञ्च **कुत्र यासी**ति. जीवानां स्वसा ब्रह्मानन्दो भवति. सम्बन्धमात्रं स्वांशि न आनन्द इति नतु कदाचिदप्यनुभवः, अतः स्वसैव भवति. तां गृहीत्वा अस्मदुद्धारमकृत्वा उद्धृतानेव यादवान् उद्धर्तुं किमर्थं गच्छसीत्यर्थः. **मुषित्वे**ति परोक्षं हृत्वा. जीवानां निकटेऽपि ब्रह्मानन्दः स्थितः जीवैर्न दृश्यते, अनुभवति भगवानेव. **ध्वाङ्क्षवदि**ति, यथा ध्वाङ्क्षं विहाय हविर्नीयते. ध्वाङ्क्षो हविर्न भवति, अन्यत्सर्वं जगत्युत्पन्नं हविर्भवति. भगवान् सर्वयज्ञभोक्ता, तत्र सर्वे पशवः, काकं विहाय. तथा सर्वजगदुद्धारार्थमागतः मामेव विहाय कथं गच्छसीत्यात्मनो धिक्कारः. हविरपि परोक्षमेव गृह्यते, ''परोक्षप्रिया (इव हि) देवाः प्रत्यक्षद्विष'' इति. तर्हि त्वयैव काकदृष्टान्त उक्त इति त्वमग्राह्य एवेति चेत्, तत्राह **हनिष्येऽद्य मदं मन्देति. मन्द मदं** स्वस्मिन् दोषात्मकं, यद्वशात् त्वया कृपा न विधीयते. **मन्दमायिनो** वा, मन्दा माया अस्यास्तीति अनेन माया मन्दैव क्रियते, न कार्यक्षमा भवति. **कूटयोधिनो मायिनो** भगवतः; स कपटेनैव युद्धं करोति,

वस्तुतो मुक्तिं प्रयच्छति. एतादृशे भगवति स्थिते प्रतिबन्धकत्वेन समागतं स्वधर्मं दूरीकरिष्यामीति वचनं युक्तमेव ।।२५।।

तर्हि कथं त्वमुद्धर्तव्य इत्याकाङ्क्षायां ब्रह्मानन्दमस्मभ्यं प्रयच्छेत्याह **यावन्न मे हतो बाणै**रिति.

यावन्न मे हतो बाणैः शयीथा मुञ्च दारिकाम्।

स्मयन् कृष्णो धनुश्छित्त्वा षड्भिर्विव्याध रुक्मिणम्।।२६।।

मे बाणाः मन्मारकत्वेन समागतानीन्द्रियाणि, तै**र्यावन्न हतः** यदीन्द्रियाणि त्वद्रसं प्राप्स्यन्ति तदा ब्रह्मानन्दं नापेक्षन्ते, तदा भक्तिमेव गृहीष्यन्ति, तावत्पर्यन्तं ब्रह्मानन्दो देय इत्यर्थः. यतः सा **दारिका** मुक्तिः संसारं विदारयिष्यति. भक्तेः पूर्वं मुक्तिप्रार्थना युक्तैव. ननु कोऽयमाग्रह इदानीमेव फलं देयमिति, तत्राह **शयीथा** इति, यावत्प्रलये सर्वं संहृत्य शयनं करिष्यसि ततः पूर्वं मोचयेत्यर्थः. एवमुक्तो भगवान् हास्येन तं व्यामोहयन्, दुरात्मायं मर्तुकामः समायातीति. स्वयं भगवान् स्त्रीणां हितकर्ता, रुक्मिणी न त्याज्येति, तस्य येन शरान् प्रक्षिप्तवान् तत् दूरीकृत्य **षड्भि** शरैः **रुक्मिणं विव्याध**. षोढा विहितो हि पुरुषः. ततः सर्वाङ्गेषु ताडितवान् ।।२६।।

अष्टभिश्चतुरो वाहान् द्वाभ्या सूतं ध्वजं त्रिभिः।

सचान्यद्धनुरादाय कृष्णं विव्याध पञ्चभिः।।२७।।

तैस्ताडितः शरौघैस्तु चिच्छेद धनुरच्युतः।

स चान्यद्धनुरादत्त तदप्यच्छिनदच्युतः।।

पुनरन्यदुपादत्त तदप्यच्छिनदच्युतः।।२८।।

ततः **अष्टभिः** द्वाभ्यां द्वाभ्यां एकैकं **चतुरो वाहान्** अश्वान् विव्याध, **द्वाभ्यां** च **सूतम्**. एते त्रिधा छिन्नाः पञ्चापि. **ध्वज**श्चतुर्धा छिन्नः. एवं साक्षात्परंपराङ्गानि सर्वाण्येव भिन्नानि. तच्छेदनार्थं प्रवृत्तेनैव बाणेन धनुश्छिन्नमिति न धनुषो भेदे पृथक् शरा उक्ताः. तदा सोऽप्यन्यद् **धनुरादत्त**. भगवानपि प्राणिघातकं धनुर्विहाय अन्यद्धनुर्गृहीतवानिति चकारेण ज्ञायते. तदपि **आच्छिनद्** ग्रहणमात्रेणैव. तत्र हेतुः **अच्युत** इति, स्वयमच्युतः, देववरप्राप्तं च धनुः, अतस्तच्छरस्य वैयर्थ्यसम्पादनात् पूर्वमेव तच्छिन्नम्. ततोऽन्यदपि गृहीतवानित्याह **पुनरन्यदुपादत्ते**ति. ''त्रिसत्या हि देवा'' इति धनुषः त्रिर्ग्रहणम् ।।२७-२८।।

परिघं पट्टिशं शूलं चर्मासीशक्तितोमरम्।

यद्यदायुधमादत्त तत्सर्वं सोऽच्छिनद्विभुः।।२९।।

ततः **परिघादीन्** गृहीतवान्. **चर्मासी** इति दीर्घः छान्दसः. **चर्मादि**पदमेकं **तोमरा**न्तम्. किंबहुना, यद्यदायुधमादधाद्, देवतादिप्रेरणया स्वतो वा, तत्सर्वमे**वाच्छिनत्**. एवं करणे सामर्थ्यं **विभुरि**ति ।।२९।।

ततोऽतियत्नेन सर्वभावेनागत इत्याह **ततो रथादवप्लुत्येति**.

ततो रथादवप्लुत्य खड्गपाणिर्जिघांसया।

कृष्णमभ्यद्रवत्क्रुद्धः पतङ्ग इव पावकम्।।३०।।

केवलं **खड्गपाणिः** न तु चर्मापि. **जिघांसये**ति, जीवननिरपेक्षः आत्मानमेव भगवद्द्वारा मारयितुं **कृष्णं** परमान्द**मभ्यद्रवत्,** युक्तमेव हि प्राकृतं परित्यज्य परमानन्दो ग्राह्य इति. तथापि शरीरं प्रियं सर्वस्यापीति कथं तथा समागत इति चेत्, तत्राह **पतङ्ग इव पावकमि**ति. ते हि सूक्ष्माः अग्नावात्मानं पातयित्वा परमार्थदृष्ट्या कृतार्था भविष्यन्ति, बहिर्दृष्ट्या तु अग्निं मारयिष्याम इति बुद्ध्या प्रवृत्ताः स्वयं म्रियन्ते. तथायमपि प्रवृत्त इत्यर्थः ।।३०।।

ततो भगवानक्लिष्टकर्मा तस्याभिलषितं कुर्वन्, ''ये यथा मां प्रपद्यन्त'' इति च वाक्यं सत्यं कुर्वन्, तन्मारणार्थं प्रवृत्त इत्याह **तस्य चापतत** इति.

तस्य चापततः खड्गं तिलशश्चर्म चेषुभिः।

छित्त्वासिमादधे तिग्मं रुक्मिणं हन्तुमुद्यतः।।३१।।

तादृशस्यापि **खड्गं चर्म च इषुभिः चिच्छेद**. चर्मापि गृहीतं खड्गकोशो वा. **तिलश**श्छेदनं स्वशौर्यख्यापनार्थम्. तद्रुधिरमेव वा तत्र प्रवहज्जलात्मकं सत् तस्य परलोक उपतिष्ठेतेति तत् सतिलं[१] कृतवानित्यर्थः. एवं धनुरघातकमिति निर्जीवान् छित्त्वा तद्वधार्थं खड्गं गृहीवानित्याह **असिमादध** इति. एतस्मिन् हते जगति स्वरूपाज्ञानं निवर्तेतैव, यतोऽयं **रुक्मी** मुख्यो भगवद्द्विट्. अतो भगवान् तं **हन्तुमुद्यतो** जातः, न तु मारितवान् ।।३१।।

एवं स्वरूपाज्ञाननाशो मायाया हितकारी न भवतीति रुक्मिणी तन्निषेधार्थं प्रवृत्तेत्याह **दृष्ट्वे**ति.

दृष्ट्वा भ्रातृवधोद्योगं रुक्मिणी भयविह्वला।

पतित्वा पादयोर्भर्तुरुवाच करुणं सती।।३२।।

रुक्मिणी प्रार्थयितु**मुवाच**. यद्यपि दुष्टो भवति तथापि स्वार्थं तावत्करोतीति यदर्थं यो यतते तेन प्रतिकर्तव्यमिति तस्या उद्योगः. तत्रापि **भ्राता**, तस्यापि **वधोद्योगः**, तत्रापि वधात्पूर्वं स्वयं दृष्टः, स्वयं च **रुक्मिणी** तत्सम्बन्धिनी. पश्चाद् **भयेन विह्वला** जाता. क्रोधे कदाचिदात्मानमपि मारयेत्, लोके चापकीर्तिर्भवेद् बलाद् भगवन्तमाहूय भ्रातरं मारितवतीति बहव एव पक्षाः भयहेतवो वर्तन्ते. अतो भयैः कृत्वा विह्वला स्वयमपि शुष्कानना जाता. अत्यन्तं विज्ञा उपायान्तरमलभमाना मत्पतिरयमिति **भर्तुः पादयोः पतित्वा** उक्तवती. चरणपातेन देहेन निवारणं, विह्वलतया मनसा निवारणं, वाचा च निवारयति. नन्वीश्वरो भगवान् कथमेतन्निवारितो निवर्तेतेति

लेखः

तस्य चापतत इत्यत्र **सलिलमिति**, खड्गचर्मणोः तिलत्वसम्पादनकथनेन रुधिरस्य सलिलत्वं सूचितम्. तथा च पितृत्वे तर्पणार्थं तिलोदकं सम्पन्नमिति भावः ।।३१।।

---

१. सलिलमिति लेखपाठः.

चेत्, तत्राह **करुणमि**ति. करुणं यथा भवति तथा उवाच, नतु प्रौढ्या. किञ्च पतिव्रताया न ह्यन्य उपायोऽस्ति सर्वत्र भर्तृप्रार्थनाव्यतिरेकेण, तदाह **सती**ति ।।३२।।

तस्या वाक्यमाह **योगेश्वरे**ति.

योगेश्वराप्रमेयात्मन् देवदेव जगत्पते।

हन्तुं नार्हसि कल्याण भ्रातरं मे महाभुज।।३३।।

ननु मारणार्थं समागतः, कथं निवार्यत इति चेत्, तत्राह **योगेश्वरे**ति. भगवान् योगस्य नियन्ता अनेकानेवोपायान् जानाति, किं वधेनेति भावः. अनेनैव वाक्येन भगवता वधानुकल्पो मुण्डनं कृतम्. तच्च रुक्मिण्या मदुक्तमेव कृतमिति ज्ञात्वा, मुण्डनमनिवार्य, वाचाप्यनुक्त्वा, अन्तरेव तापं कृतवती. तदर्थं बलभद्रस्य सान्त्वनमित्यनवद्यम्. अनेन मारयितुं समागतः भ्राता तव मारयेच्चेत् तदा तव सुखं

भवेदित्युपालम्भोऽपि निवारितः. किञ्च **अप्रमेयात्मन्निति,** प्रमातुमप्ययोग्य आत्मा स्वरूपं यस्य, किं पुनः क्रियाविषयो भविष्यतीति शङ्कापि निवारिता, क्रिययैवानिष्टशङ्केति. किञ्च **देवानामपि** देवस्त्वम्. देवा एवामराः तत्र तव समागतस्यापि का चिन्ता भवेत्? किञ्च **जगत्पत** इति तस्यापि त्वं पतिः रक्षकः अतः शिक्षैव कर्तव्या. अतएव **हन्तुं नार्हसि,** सुतरामिदानीम्. **कल्याण** अद्यैव कृतविवाहः, तत्रापि **मे भ्रातरं,** शालको हि विवाहदिवसे मान्य इति. पश्चादपकारं करिष्यतीति चेत्, तत्राह **महाभुजेति,** महान् भुजः क्रियाशक्तिर्यस्येति सम्बोधनेन समाधानार्थं सामर्थ्यं स्मारितम् ।।३३।।

एवं विज्ञापितः वधान्निवृत्तो वधानुकल्पं कृतवानित्याह तया परित्रासेति.

।।श्रीशुक उवाच।।

तया परित्रासविकम्पिताङ्गया शुचावशुष्यन् मुखरुद्धकण्ठया।
कातर्यविस्रंसितकेशमालया गृहीतपादः करुणो न्यवर्तत।।३४।।

परित्रासेन विकम्पितमङ्गं यस्याः, शोकेन च शुष्यन्मुखं रुद्धश्च कण्ठो यस्याः, कातरतया विस्रंसिताः केशाः मालाश्च यस्याः ह्यगुणत्रयकार्यं तस्यां पूर्णं जातमित्युक्तं भवति; परित्रासः सत्त्वस्य, शोकस्तमसः, कातरता रजस इति. एवं विद्यमानानां गुणानामपगमात् केवलं सा दीनेति तादृश्या **गृहीतपादः** करुणावानेवं **न्यवर्तत** ।।३४।।

चैलेन बद्धवा तमसाधुकारिणं सश्मश्रुकेशं प्रवपन् व्यरूपयत्।
तावन्ममर्दुः परसैन्यमुद्धतं यदुप्रवीरा नलिनीं यथा गजाः।।३५।।

वधानुकल्पो हि वपनं मुख्यं, द्रविणादानं च. स्थानान्निर्यापणं तु तेनैव प्रतिज्ञातम्. अतस्तस्यैव **चैलेन** चोरवत् तं **बद्ध्वा**. स हि रुक्मिणीं नेतुमागत इति चोरदण्डः. तं प्रसिद्धं, प्रसिद्धस्य तावतैव महती पीडा भवतीति. ततः **असाधुकारिणं** घातकं **सश्मश्रुकेशं** श्मश्रुकेशसहितं तं **प्रकर्षेण वपन्** सेवकेन प्रेरणया विकृतरूपं कृतवान्. क्वचित्केशाः श्मश्रूणि च रक्षिताः क्वचिन्मुण्डिताः, यथैव विकृतो भवति. प्रायेण एवंरूपः स सर्वदैव स्थितो यावन्मरणम्, अन्यथा भगवानेवं न कुर्यात्. यावद्भगवान् विरूपं करोति तावत् **तस्य परस्य** शत्रोरुद्धतं **सैन्यम्.** न केवलमेतद्दोषेणैव सैन्यं हतं किन्तु सैन्यमपि दुष्टमिति तथा कृतवन्तः. अत्रत्या अपि समर्था इत्याह **यदुप्रवीरा** इति. अनायायासेन मारणे दृष्टान्तः **नलिनी**

यथेति. बहवो वीराः गदसङ्कर्षणादयः, एका चाक्षौहिणी, अतो **नलिनीमि**त्येकवचनम् ।।३५।।

एवं भगवत्कृतं रुक्मिनिग्रहणं निरूप्य भगवतः सकाशाद् ज्येष्ठस्य बलभद्रस्य कृतं सान्त्वनमाह सार्धैरेव सप्तदशभिः **कृष्णान्तिकमि**ति.

कृष्णान्तिकमुपव्रज्य ददृशुस्तत्र रुक्मिणम्।

तथाभूतं हतप्रायं दृष्ट्वा संकर्षणो विभुः।

विमुच्य बद्धं करुणो भगवान्कृष्णमब्रवीत्।।३६।।

मुख्यात्र रुक्मिणी समाधेया, मध्यमो रुक्मी. प्राकृताः सहायराजानः अतः सेनया, भगवतोऽपि कनिष्ठया, ते हताः. भगवता च मध्यमः, भगवज्ज्येष्ठेन च सान्त्वनमुक्तमिति युक्तमत्र प्रकरणत्रयम्. सर्वएव तद्बलं हत्वा समागताः **कृष्णान्तिकमुपव्रज्य** विकृतं **रुक्मिणं ददृशुः. तथाभूतमि**ति विशेषतो न वक्तव्यं, सोऽपि मूर्च्छितप्रायस्तिष्ठतीति. वधानुकल्पं निरूपयितुमाह ह**तप्रायमि**ति. विशेषतो रामस्तं तथाभूतं दृष्ट्वा सम्यक् कर्षणकार्यत्वात् सशिखवपनं च कर्मानधिकारं सम्पादयतीति, तत्रापि सङ्कर्षणएव कर्तेति भगवतः तत् कर्तव्यं न भवतीति, स्वयं **सङ्कर्षणः** हन्तुमपि विभुः समर्थः भगवता **बद्धं विमुच्य कृष्णमब्रवीत्**. ननु कथमेवं भगवत्कृतमन्यथा कृतवान्, तत्राह करुण इति. करुणा हि भगवता दुःखं प्रापितेष्वेव पुरुषेषु कृपया प्रतीकारार्थं यतन्ते. ननु तथापि भगवन्तं पृष्ट्वा तथा विधेयं, किमिति स्वयमेव मोचितवान्? तत्राह **भगवानि**ति. बलभद्रे आविर्भूतो भगवानेव मोचितवानित्यर्थः. एतदन्ता मध्ये सङ्कर्षणकथा, विशिष्टा त्वग्रे वक्तव्या. अतएव **कृष्णमब्रवी**त्. अत्र **कृष्णपदं** ''कृष्णो द्वितीयः केशवः सम्बभूवे''ति कृष्णपरम्, अतो ज्येष्ठत्वान्नानौचित्यम् ।।३६।।

भगवन्तं प्रति कृतस्याननुमोदनमाह असाध्विदमिति.

।। श्रीबलभद्र उवाच ।।

असाध्विदं त्वया कृष्ण कृतमस्मज्जुगुप्सितम्।

वपनं श्मश्रुकेशानां वैरूप्यं सुहृदो वधः।।३७।।

यत् कृतं तदग्रे वक्तव्यं, **तदसाध्वेव,** मरणानन्तरमेव हि सर्वक्षौरं विधीयते. किञ्च यत्कृतं त**दस्मत्कृतम्** अस्मत्तः कृतं; वयमेव हेतवः सङ्कर्षणरूपाः. न तु स्वामिनस्तव कार्यं, यतो **जुगुप्सितमे**तत्. परमार्थतोऽयमर्थः. व्यवहारेऽपि

यद्यप्यस्य वपनं कर्तुं युक्तम्, अयमेतदर्हएव, तथा**प्यस्मज्जुगुप्सितमस्माकं** तु नोचितमित्यर्थ:. अधमभक्षकायाप्युत्तमैर्नाधमं भक्ष्यं दीयते, तदेवाह **वपनं श्मश्रुकेशानामिति. श्मश्रूणां केशानां च सुहृद:** सकाशात् **वैरूप्यं वधएव.** अत: सुहृत्त्वात् वधोऽनुचित:. एतदपि रुक्मिणीसान्त्वनार्थमेवेति ज्ञायते, उपसंहारबलीयस्त्वाद्, उभयस्याप्रकरणित्वात् ।।३७।।

अतस्तामेव साक्षात् सान्त्वयति **मैवास्मानि**ति.

मैवास्मान् साध्व्यसूयेथा भ्रातृवैरूप्यचिन्तया।

सुखदुःखदो न चान्योऽस्ति यत: स्वकृतभुक्पुमान्।।३८।।

लेखः

वपनं श्मश्रुकेशानामित्यत्र उभयस्येति. रुक्मिणीसान्त्वनस्य भगवद्बोधनस्य च प्रकरणित्वे वाक्यभेद इति भावः ।।३७।।

अत इति, अतः परमित्यर्थः.

हे **साध्वि,** पतिव्रताया भर्तृकृतं मन्तव्यमिति धर्म:. अतएव **अस्मान्** सर्वानेव **मासूयेथा:** दोषारोपेण मा विचारय. यद्यपि भावकचित्तमपि समीचीनम्, भाव्ये च न दोष: कोऽपि, तथापि **भ्रातुर्वैरूप्यचिन्तया** तद्धर्मारोपात् कदाचिदसूया भवेत्, तां निवारयति. ननु लौकिकदृष्ट्या कर्तव्यैवासूया, कथं जरासन्धो मुक्त:, केवल: कथमयं मुण्डित इति चेत्, तत्राह **सुखदुःखद** इति. स्वकर्मवशादेव सुखदुःखानुभव:. सङ्कर्षणो हि ज्ञानप्रधान:, अन्यथा सर्वान् (न) मारयेत्. ‘‘नायं हन्ति न हन्यत’’ इति तत्र सिद्धान्त:. तथा अत्रापि कर्मणैव सर्वमिति तदनुसारेणात्रापि बोधनम्. अतोऽयं साधारण इति सोऽपि शृणोतीति कर्ममार्गएव बोधित:. अतएव स्वयं स्वस्य **सुखदुःखदः**, अन्यो न भवति. तत्र हेतुमाह **स्वकृतभुगि**ति. कर्मणि स्वस्य स्वातन्त्र्यात् तत्फलमपि कर्तृगाम्येव भवति, अन्यथा कृतहानाकृताभ्यागमप्रसङ्गः ।।३८।।

एवं प्रतिबोधिते केवलमस्मदपराधमेव स्थापयति बलभद्रो, न स्वापराधमिति अतुल्यता प्रतिभाता. अत: पुनस्तां बोधयितुं भगवन्तमाह **बन्धुरि**ति.

बन्धुर्वधार्हदोषोऽपि न बन्धोर्वधमर्हति।

त्याज्य: स्वेनैव दोषेण हत: किं हन्यते पुन:।।३९।।

वधमर्हति येन दोषेण तादृशो दोषो यस्य स **वधार्हदोषः** पुरुषः. तादृशः **बन्धोः** साक्षाद्**वधं नार्ह**ति. अन्यथा बन्धुत्वं न स्यात्. शत्रुरेव वधकर्ता. अयोग्यं कुर्वन् अयुक्तएव भवति. ननु यथा स्वधर्मः स न मारणीय इति, तथा तस्यापि धर्मः अतिक्रमो न कर्तव्य इति; स चेत् स्वधर्मं न कुर्यात् कथमन्यः कुर्यादिति चेत्, तत्राह **त्याज्य** इति. वस्तुतस्तु तेन स्वधर्मस्त्यक्त इति न स्वेनापि स्वधर्मस्त्यक्तव्यः, तथा सत्युभयोरेव तुल्यता स्यात्. अथ तत्कर्म सार्थकं कर्तव्यमिति स्वोद्यमः. तत्राप्युच्यते **स्वेनैव दोषेण हतः पुनः किमर्थं हन्यत** इति. न हि तत्कर्मणा

लेखः

मैवास्मानित्यत्र अतोऽयमिति, अयं पक्षः साधारण इत्यर्थः ।।३८।।

प्रेरितत्वं स्वस्य युक्तं, तत्कर्म स्वयमेव अन्यं प्रेरयेत्. अतः कर्मणैव हतः, तदङ्गत्वे स्वस्य हानिरिति, भिन्नतया स्वयं चेन्मारयेत् तदा पिष्टपेषणमेव भवेदिति, **किं हन्यत** इति प्रश्नार्थ आक्षेपार्थो वा. पिष्टापि वेदे प्रैष उक्तः ''अणूनि कुरुतादि''ति. तस्य प्रयोजनं मेध्यत्वायेति श्रुतावेवोक्तम्. तथा अयमपि पवित्रो भवतु मोक्षं वा प्राप्नोत्विति प्रश्नार्थो भवति. एवमेवेति चेत्, तत्राह **किं हन्यत** इति. न हन्तव्यएव किन्तु **त्याज्यः**. दुष्टं हि न संस्क्रियते, अयं तु दुष्ट एवेति न संस्कारमर्हतीति भावः ।।३९।।

एवं शास्त्रार्थतः स न वध्यो भवतीति निरूप्य लोकन्यायेनापि न वध्यत इति निरूपयति **क्षत्रियाणामयं धर्म** इति द्वाभ्याम्.

क्षत्रियाणामयं धर्मः प्रजापतिविनिर्मितः।

भ्रातापि भ्रातरं हन्याद्येन घोरं तमस्ततः।।४०।।

ननु यो मारयितुमायाति स मार्यत इति ''जिघांसन्तं जिघांसीयादि''ति लोकवेदाभ्यां हननं तस्य युक्तं, तत्कथं निषिध्यत इति चेत्, तत्रोच्यतेह्व किं हत इति हन्यते, अयुक्तं करोतीति वा? तत्र नाद्यः, अभावात्, प्रकृते असम्भवाच्च. अयुक्तता तु नास्तीत्याह **क्षत्रियाणामयं** घोरात्मको **धर्मः प्रजापतिनैव विनिर्मितः**. त्रिविधा हि धर्माःह्व शान्तो घोरो विमूढश्चेति. तत्र शान्तो ब्राह्मणेषु स्थापितः, घोरः क्षत्रियेषु, विमूढो वैश्यशूद्रयोः. अतः **अयं** परिदृश्यमानः,

तीक्ष्णशस्त्राणि गृहीत्वा स्वप्रवृत्तिं प्रदर्शयन्निवाह. तत्र न सम्बन्धापेक्षेत्याह **भ्रातापि भ्रातरं हन्यादि**ति. नन्वेवं सत्ययं धर्म एव चेत् तर्हि कथं घोरः स्यात्, तत्राह **येन घोरं तम** इति. ततो घोरमेव तमो भवति. अज्ञानमत्र तमः, तदपि भयानकम्. एवं कर्मणा दैत्यत्वं भवतीत्यर्थः ।।४०।।

ननु सत्यं यदि युद्धमेव कुर्यात्, तदा अशस्त्रं विरथं कृत्वा तं शत्रुस्त्यजेत्, अयंत्वसभ्यं बहु वदतीति मुखरत्वान्मारणीय एवेति चेत्, तत्राह **राज्यस्ये**ति.

राज्यस्य भूमेर्वित्तस्य स्त्रियो मानस्य तेजसः।

मानिनोऽन्यस्य वा हेतोः श्रीमदान्धाः क्षिपन्ति हि।।४१।।

तेषामसभ्यवचनमपि प्रजापतिविनिर्मितमेव. तत्र साधारण्येन षट् हेतून् निर्दिशति. राज्यं चेत् कस्यचित् केनचिद्धृतं तदा स क्षत्रियः, अन्यथायं न मारयिष्यतीति. राज्ये च गते केवलं जीवनमयुक्तमिति मरणार्थं शत्रुन् क्षिपन्ति. **श्रीमदान्धा** अपि **क्षिपन्ति**. पूर्वं **श्रिया जातो यो मदः तेन अन्धाः** विवेकरहिताः, अतः क्षेपो युक्तएव. एवं भूमेः राज्यैकदेशस्य वा. **वित्तस्य** धनस्य. **स्त्रियोऽर्थे मानस्य** वार्थे **तेजसो** वार्थे ह्वएवं षण्णामर्थे क्षिपन्ति. तत्रापि ये **मानिनः**. अनुक्तसर्वहेतुसमुच्चयार्थमाह **अन्यस्य वा हेतोरिति**. **(हि)** युक्तश्चायमर्थः, अतोऽस्य क्षेपोऽपि युक्तएवेति न हननमुचितमिति भावः ।।४१।।

ननु न हतएव मयाप्ययं, किमित्युपालम्भः क्रियत इति चेत्, तत्राह **तवेयं विषमा बुद्धि**रिति.

तवेयं विषमा बुद्धिः सर्वभूतेषु दुर्हृदाम्।

यन्मन्यसे सदाभद्रं सुहृदां भद्रमक्षयम्।।४२।।

अयं न हत इति या **बुद्धिः** सा **तव विषमा** न समा. यदि नापकृतः स्यात् तदा समा स्यात्. यदि वा वधं कुर्याः तथापि लोकन्यायेन समा स्यात्. **यत्तु सुहृदां भद्रमभद्रं मन्यसे**[1]. तत्राप्य**क्षयं**, तदभद्रं न दिनमात्रेणापगच्छति किन्तु यावज्जीवं तिष्ठति. नन्वस्त्येव लोके विषमा बुद्धिः, को दोष इति चेत्, तत्राह **सर्वभूतेषु दुर्हृदामेव विषमा बुद्धिर्भ**वति, न तु तव, न वा **सुहृदाम्**. येषां हि चित्ते कापट्यं तेषामेते प्रकाराः, नतु शुद्धचित्तानामित्यर्थः. **सर्वभूतेषु** वा मध्ये **दुर्हृदामभद्रं मन्यस** इति, ''असुरद्विडि''ति वाक्यात्. **दुर्हृदां** वा **सर्वभूतेषु** लोमादिष्वयवेषु **अभद्रं मन्यस** इति. **भद्रं** क्षौरं वा विपरीतलक्षणया अभद्रमेव. भूतानां मध्ये **दुर्हृदां भद्रं सुहृदामभद्रम्** ह्वएतादृशमपि मुण्डनम्. तत्राप्य**क्षयं** त्वं **मन्यस** इति **तव**

विषमा बुद्धिः. अथवा **दुर्हृदामभद्रं सुहृदां भद्रं** सदा **मन्यस** इति एतत् **तव** ब्रह्मणः अयुक्तं **विषमा बुद्धिरित्यर्थः** ।।४२।।

---

१. ये तु सुहृदां भद्रमभद्रं मन्यन्ते इति पाठः सूचितः.

एवं चतुर्भिः तत्सन्तोषार्थं भगवदुपालम्भनमुक्त्वा तावताप्यपरितुष्यमाणां ज्ञानेन बोधयति **आत्ममोह** इति सप्तभिः, भगवान् सधर्मोऽस्या बोधं कर्तुं शक्त इति.

स्वरूपाज्ञाननानात्वे देहादीनां च शत्रुता।
दोषत्रयं निरूप्यादौ आत्मधर्मनिरूपणम्।।(५)।।
स्वप्रकाशोऽयमात्मा हि असङ्गश्च निरूप्यते।
जन्मादिदोषास्त्वन्यस्य अतस्तैर्नैव दुष्यति।।(६)।।
असंसर्गाग्रहो भ्रान्तः दृष्टान्तैर्विनिरूप्यते।
ततोपसंहृतिर्युक्ता ज्ञानेनाज्ञाननुत्तये।।(७)।।

''तरति शोकमात्मविदि''ति श्रुतेः शोकतरणं ज्ञानेनैव भवतीति ज्ञानमुपदिशति. अत्र ज्ञानं देहाद् व्यतिरिक्तात्मज्ञानम्१, तावतैव देहाद्यध्यासे जातो मोहो अपगच्छति. ततस्तन्निराकरणार्थं तत्सामग्रीं प्रतिपादयति **आत्ममोह** इति.

आत्ममोहो नृणामेष कल्प्यते देवमायया।
सुहृद्दुर्हृदुदासीन इति देहात्ममानिनाम्।।४३।।

आत्मनोऽयं मोहः. अज्ञानानन्तरं दोषे आविर्भूते या मूर्च्छा स मोह इति व्यवह्रियते. तथात्रापि आत्मनो अज्ञाने शरीराहंभावे च प्रादुर्भूते सुहृद्दुर्हृदित्यादिबुद्धिर्बोधमपि न विषयीकरोतीति मोहो भवति. स च पश्वादिषु तथा नास्तीति **नृणामि**त्युक्तम्. देवादीनां तथात्वेऽपि व्यवहाराभावान्नोक्तम्. **एष** इति प्रदर्शनम्. **देवस्य** भगवतो **मायये**ति मोहकारणं माया निरूपिता. अन्यथा प्रत्यक्षादिषु श्रुत्यादिषु च प्रमाणेषु विद्यमानेषु प्रत्यहमेतस्य वृद्धिर्न स्याद्, देवानां माया नृणां दुस्तरा भवतीति, यथा नृणां माया पशूनाम्. अतो देवपदम्. सुतरामेव पुरुषोत्तममाया सर्वेषामेव दुस्तरा. मायायास्त्रिगुणत्वात्

लेखः

आत्ममोह इत्यत्र **बोधमपी**ति. बोधयतीति बोधः, कर्तरि पचाद्यच्, बोधकं वाक्यमित्यर्थः ।।४३।।

---

१. देहाद् व्यतिरिक्तज्ञानमिति पाठः.

मोहेऽपि त्रिगुणतामाह **सुहृद्दुर्हृदुदासीन** इति. **उदासीनः** सात्त्विकः, **सुहृद् राजसः**. मायया यदा मोहः तदा सर्वत्र चेन्निर्निमित्तं व्यर्थमेव ज्ञानं स्यादिति निमित्त एवैतदित्याह **इति देहात्ममानिनामि**ति. अमुना प्रकारेण देहमेवात्मानं मन्यन्ते. यदा मायया अन्येन वा देहात्मबुद्धिर्दृढा भवति तदैते दोषाः सम्भवन्ति. ततस्तेषामुपकारापकाराभ्याम् इदानीमनुभूयमानो मोहः प्रादुर्भवतीति देहात्मभावो मुख्यतया निवार्य इत्यर्थः ।।४३।।

ननु देहात्मभावाभावेऽपि कथमेतद् घटते? यावता परिच्छिन्न आत्मेति करणत्वेनापि[१] स्वीक्रियमाणे देहे उदासीनादिभेदा भवन्त्येव, अतो देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानं व्यर्थमिति चेत्, तत्राह एक एवेति.

एक एव परो ह्यात्मा सर्वेषामपि देहिनाम्।

नानेव गृह्यते मूढैर्यथा ज्योतिर्यथा नभः।।४४।।

सर्वेषु देहेषु **आत्मा एकएव,** यतः परो नियन्ता, अन्यथा देहेन परिच्छिन्नः देहाधीनः स्यात्. अनुभूयते च देहे स्वातन्त्र्यम्, देहान्तरे स्वातन्त्र्याभावस्तु तत्रानुसन्धानाभावात्. एवमखण्डाद्वैतभाने सर्वत्रात्मबुद्धिः. अथवा **'आत्म'**शब्देन भगवानुच्यते; तदाभासाएव जीवा इति **पर एक एव**. एतद्भगवति विद्यमाने निरूपणमसमञ्जसमिति विरम्यते. **(हि)** युक्तश्चायमर्थः सर्वदेहेष्वेक एवात्मेति, यतोऽयमात्मा अतति व्याप्नोतीति, अन्यथा आत्मत्वं भज्येत. अणुपरिमाणत्वे देहमपि न व्याप्येत. प्रकाशवद् गुणव्याप्तावपि चैतन्यलक्षणस्य गुणस्य सङ्कोचविकासावङ्गीकर्तव्यौ. तत्रापि नियामको देह एवेति धर्मिणएव नियामकोऽस्तु, किं धर्मनियामकत्वस्वीकारेण? यथेदं जगद् ब्रह्माण्डेनैकतामापद्यते, अन्यथा तस्यैकत्वनिर्देशो न स्यात्, तथा आत्मनिर्देशोऽपि. यथैकमेव सुवर्णं मृद्वा नानाप्रकारेण कृतिसमवेतं सद् भासते एवमात्मापि देहादिवैलक्षण्याद् देव-तिर्यङ्-मनुष्यादिभावमापद्यत इति न कोऽपि दोषः. **सर्वेषामपि देहिनामि**ति. यतः सर्वेऽपि देहिनः ''दिह उपचय'' इति

उपचयादिमन्त: अतो वृद्धिह्रासावात्मन: परिच्छेदेनोपपद्येत इति व्यापकत्वे अङ्गीक्रियमाणे एकेनैव चरितार्थतेति नानात्वं व्यर्थम्. ''नानात्मानो

---

१. परिच्छेदकरणत्वेनेत्यर्थः.

व्यवस्थात'' इति स्मृतिस्तु धर्ममर्यादार्थं नानात्मत्वं स्वीकर्तव्यमिति दोषगुणव्यवस्थया इव व्यवस्थानिरूपिका. यथा पञ्चमहाभूतानि एकश्चात्मा सर्वसङ्घातेषु तुल्य: तथापि कश्चिच्चाण्डाल: कश्चिद्ब्राह्मण इति धर्मव्यवहारार्थमेव विभाग: कल्पित:. सामग्र्यामधर्मो धर्मो वा प्रविष्ट: तथा सम्पादयतीत्यपि पक्षे धर्माधर्मयोरेव नियामकं वाक्यादतिरिक्तं विषये नास्तीति [१]व्यवस्थार्थमेव तत्कल्पना वक्तुं युक्ता. [२]उत्क्रमादयस्तु न्यायमतेऽपि न सन्ति. भगवन्मते तु भगवत इव तस्यापि गमनागमने सम्भविष्यत:, तत्रा'पीश्वर'पदप्रयोगात्. ''शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वर'' इतिवाक्याद् ब्रह्मवादेऽप्ययमेव सिद्धान्त:. तस्मात् सर्वत्रैक एवात्मेति युक्तम्. तर्हि कथं भेदप्रतीतिरिति चेत्, तत्राह **नानेव गृह्यते मूढैरि**ति, अत्यन्ताकुशलैर्नाना गृह्यते. तैरपि क्वचिन्नानात्वं नानुभूयते, पुत्रादिषु अवयवेषु च वैलक्षण्ये भासमानेऽपि, अन्यथैको देह इति न स्यात्. अत उक्त**मिवे**ति. तत्र स्पष्टप्रतीत्यर्थं साकारनिराकारौ दृष्टान्तयतिह्न **यथा ज्योतिरि**ति साकारे, **यथा नभ** इति निराकारे. तार्ण: पार्ण:, घटाकाशो मठाकाश इति ।।४४।।

ननु तर्हि देहात्मबुद्धि: कथं गच्छतीत्याशङ्क्य वैलक्षण्यानुसन्धानेनेति आत्मवैलक्षण्यं देहस्य वदन् अपकारित्वमप्याह **देह आद्यन्तवानेष** इति.

देह आद्यन्तवानेष द्रव्यप्राणगुणात्मक:।
आत्मन्यविद्यया क्लृप्त: संसारयति देहिनम्।।४५।।

लेखः

एक एवेत्यत्र. व्यापकजीववाद: स्मार्त: सोऽत्रोक्त:. औपनिषदोऽणुजीववादोऽसुरस्य रुक्मिण: शृण्वतो वक्तुमनुचित:. अतएव ''कर्ममार्गो बोधित''(श्लो.३८ सुबो.) इति पूर्वमुक्तम्. अत: पूर्वमीमांसासिद्धो व्यापकजीववादो बोध्यते. अविरोधस्तुह्न चित्समष्टिरूपो जीवो व्यापक एकएव, व्यष्टिरूपास्त्वनेकेऽणवश्चेति. **ब्रह्मवादेऽप्ययमेवे**ति, स्मार्तब्रह्मवादे इत्यर्थ:.

पुत्रादिष्विति, यथा पुत्रादिषु तथाऽवयवेष्वपि दीर्घह्रस्वादिवैलक्षण्यमस्तीत्यर्थः. **अन्यथे**ति, अवयवेष्वात्मभेदे इत्यर्थः ।।४४।।

---

१. व्यवहारार्थमिति पाठः. २. उपक्रमादय इति पाठः.

आत्मा नित्यः. यो हि देशापरिच्छिन्नः स सुतरां कालापरिच्छिन्नः, देशापरिच्छेदस्य व्यापकत्वात्. अत आत्मत्वादेव कालापरिच्छेदः सिद्धः. देहस्तु **आद्यन्तवान्** उभयावधियुक्तः, प्रागभावप्रध्वंसाविव व्यावर्तितौ(/तः). एष इति परिदृश्यमानः, [१]मृतानामन्तःमुण्डस्योत्पत्तिरिति प्रदर्शनस्य सार्थकता. अथवा विद्यमानस्य देहस्य जन्ममरणयोरदृष्टत्वात् स्वव्यतिरिक्तस्यैव[२] प्रत्यक्षसंवादात् श्रुतेः प्रामाण्यं मन्यते यस्तं प्रत्याह **एष** इति. एवं सदातनत्वासदातनत्वाभ्यां वैलक्षण्यमुक्त्वा गुणातीतत्वसगुणत्वाभ्यां वैलक्षण्यमाह द्रव्येति. **द्रव्यम**धिभूतं **प्राणाः** आध्यात्मिकाः **गुणा** आधिदैविका इति ह्यएत एव देहेन्द्रियदेवतारूपाः **आत्मा** स्वरूपं यस्य. किञ्च **आत्मन्यविद्यया क्लृप्त** इति. वैलक्षण्यत्रयमुह्य आत्मा आधारः आधेयो देहः, सिद्ध आत्मा स्वतःक्लृप्तो देहः[३], (विद्यया) अविद्यया चात्मस्थाने कृतः आत्मा तु स्वतएव प्रवृत्त इति. अनिष्टेष्टजनकत्ववैलक्षण्यमप्याह **संसारयति देहिनमि**ति, स्वस्मिन्नभिमानमात्रे आत्मानं देहः संसारे पातयति, आत्मा तु देहस्य हितमेव वाञ्छतीति. एवं षोढा वैलक्षण्यं निरूपितम् ।।४५।।

किञ्च ''असङ्गो ह्ययं पुरुष'' इति श्रुत्या ्त्मनः सङ्गाभावो निरूप्यते. देहस्तु सर्वसङ्गयुक्त इति वैलक्षण्यं निरूपयितुम् आत्मनएव धर्मानाह नात्मन इति.

नात्मनोऽन्येन संयोगो वियोगो वासता सति।

तद्धेतुत्वात् तत्प्रसिद्धेः दृग्रूपाभ्यां यथा रवेः।।४६।।

अस्यात्मनः अन्येन देहेन **संयोगो वा वियोगो वा नास्**ति.

लेखः

देह आद्यन्तेत्यत्र **देशापरिच्छेदस्ये**ति, कालापरिच्छेदो देशापरिच्छेदव्यापको भवतीत्यर्थः. **प्रागभावे**ति, ''अभावः कारणं चात्रे''त्यत्र वस्तुत एतयोः कारणावस्थात्वस्य व्यवस्थापनादत्रेवशब्दः. मृतानां देहानामन्तो

दृश्यते, मुण्डस्यावयवादिरहितस्य देहस्य गर्भपाते उत्पत्तिर्दृश्यते, अतो न देह: सर्वदैव सावयव इति भाव: ।।४५।।

---

१. नाशः विशरणमिति यावत्. २. आद्यन्तवत्तायामिति शेषः. ३. देह इत्यनन्तरं 'विद्यये'त्यधिकम्.

वियोगो हि संयोगपूर्वक इति संयोगे निषिद्धे अवयवभेदेन संयोगाभाव:. संयोगोऽपि तिष्ठत इति सिद्धसाधनतामाशङ्क्य उभयं निषेधति; संयोगोऽपि नास्ति वियोगोऽपि नास्ति. कदाचित्(/कादाचित्क-)संयोगोऽपि निषिद्धो वियोगेन. ननु संयोगवियोगयो: भावाभावरूपत्वे कथमुभयाभाव:? प्राप्तस्यैव निषेध इति न नियमः, सम्भावितस्यापि निषेधात्, तत्राह असतेति. असता देहेन आत्मनो न संयोगवियोगौ, यथा रज्जुसर्पयोः. न हि सर्पस्य कोऽप्यंशो रज्जौ भवति. ननु प्रत्यक्षश्रुतिभ्यां देहस्य परिदृष्टत्वाद् अनुमानप्रत्यक्षश्रुतिभि: आत्मनोऽपि प्रतीते: वैलक्षण्यस्य चोक्तत्वात् वियोग एवास्तु, कथमुभयाभाव इति चेत्, ननूक्तमसत्त्वादिति तदेव प्रमाणसिद्धत्वान्न भविष्यतीत्याशङ्क्य तत्र हेतुमाह **तद्धेतुत्वात् तत्प्रसिद्धेरि**ति. **तस्य** देहस्य **प्रसिद्धे:** उत्पत्तेर्ज्ञप्तेर्वा. आत्महेतुत्वादात्मभासैव देहो भासत इति पृथक्स्थित्यभावात् संयोगवियोगौ न भवत:. पृथक्लब्धसत्ताकावेव संयुक्तौ वियुक्तौ वा भवत इति लोकस्थितिः. अत एवोत्पत्तौ यद् यदधीनं तत्र न संयोग: सम्बन्धः, यथा द्रव्यगुणयो: यथा वा ज्ञप्तौ ज्ञानविषययोः. तथापि उभयो: सत्त्वात् समवाय: स्वरूपं वा सम्बन्धोऽङ्गीकृत:. अत्र देहस्यासत्त्वाद् अन्यतरस्य नि:स्वभावत्वात् रज्जुसर्पवत् न स्वरूपसम्बन्ध:. समवायोऽपि निराकरिष्यते. सर्वथापि संयोगवियोगौ तु न भवतः. प्रकाश्यप्रकाशकयो: सम्बन्धाभावाय दृष्टान्तमाह दृग्रूपाभ्यामिति. नेत्राधिष्ठात्री देवता य: सूर्य: तेन लब्धासत्ताकं चक्षु: विषयं गृह्णाति. न हि तेनापि तयोः संयोगवियोगौ भवतः, एतस्यार्थस्य परिज्ञानमधिकारिण एव भवतीति. न हि प्रतिबिम्बेन सह दर्पणेन वा मुखस्य कोऽपि सम्बन्धोऽस्ति. सतीति सम्बोधनम् उक्तविश्वासाय. अनेन देहादिष्वनासक्त्यर्थं वैराग्यमपि सूचितम्ह्न स्वासक्त्यैव तत्सिद्धिः, अन्यथा तदभाव इति ।।४६।।

लेखः

नात्मनोऽन्येनेत्यत्र. अस्योपदेशस्य वैराग्यार्थकत्वादसुरस्य च रुक्मिणः सन्निधान्मायावादो रामेणोक्तः, मायिकत्वं पुराणेषु वैराग्यार्थमुदीर्यते इति सिद्धान्तादिति भावः. **स्वासक्त्यैवे**ति, आत्मासक्त्यैव देहादिष्वनासक्तिः सिद्ध्यति, तदभावे न सिद्ध्यति. अत आत्मासक्त्यर्थमात्मनो देहव्यतिरेको बोध्यत इति भावः ।।४६।।

ननु जननादयो हि प्रत्यक्षानुमानश्रुतिभिर्जीवस्य प्रतीयन्ते, ततश्च सङ्घातस्यैव तथात्वाद् देहस्यासत्यत्वे आत्मनएव भविष्यन्तीति संयोगे निराक्रियमाणे असत्त्वहेतुना विपरीतमापतितमह्न सर्वे दोषा आत्मन्येव समागता, इति चेत्, तत्राह जन्मादयस्त्विति.

जन्मादयस्तु देहस्य विक्रियाः नात्मनः क्वचित्।
कलानामिव नैवेन्दोर्मृतिर्ह्यस्य कुहूरिव।।४७।।

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति, जननादयः देहस्यैव; येन प्रकारेण देहस्य सिद्धिः तेनैव प्रकारेण जन्मादीनाम्. तेषां च देहसम्बन्धित्वस्य च तत एव सिद्धेः. अत उभयोरसत्त्वात् **जन्मादयो**ऽपि **देहस्यैव,** योग्यं योग्येन सम्बध्यत इति. सर्पश्चलतीति समायाति भक्षयतीति च यथा सर्पधर्मा एव एवं जन्मादयोऽपि देहधर्माः, यतो **विक्रियाः. नह्यात्मनः** सर्वविक्रियारहितस्य **विक्रियाः** सन्ति. **क्वचिदि**ति ज्ञानानन्तरं न सन्तीति इष्टमेवेति पक्षं व्यावर्तयति. न हि ''नायं सर्प'' इति बोधानन्तरमेव सर्पाभावः किन्तु प्रतीतदशायामपि. तत्र ज्येतिःशास्त्रसिद्धं दृष्टान्तमाह **कलानामिवे**ति. **इन्दोः कलानां** पञ्चदशसङ्ख्याकानाम् एकेन दिनेन एकस्या नाशः, नतु चन्द्रस्य. स हि अम्मयः, सूर्यकिरणास्तत्र प्रतिबिम्बन्ते अपगच्छन्ति चेति कालविदः. ननु सर्वोऽपि चन्द्रः अमावास्यायां क्षीयत इति ''नवो नवो भवति जायमान'' इति च कथं कलानां क्षय इति चेत्, तत्राह **अस्य** जीवस्य चन्द्रस्य च **कुहूरेव मृतिः**. नतु कुह्वां तस्यादर्शनकृतमपि मरणम्, तथास्य काल एव मृतिः. सच कालः कदाचित् तं प्रकाशयति देहसम्बन्धेनोच्चावचेनापि कदाचिन्नेति तस्योक्रान्त्यादयो निरूप्यन्ते, नतु वस्तुतस्तस्य मरणम्. मरणे उभयोर्वियोगाद् देहस्य च पृथक्स्थितत्वात् पृथङ्निराकरणप्रयासः ।।४७।।

ननु मिथ्याभूतेन सह कदाचित् सम्बन्धो भवति, यथा रज्जुसर्पेण, देहेन तु सम्बन्धः आभूतसम्प्लवमिति दृष्टान्तवैषम्याद् देहस्य सत्यत्वम् आत्मनो वा सम्बन्धित्वं भवत्विति चेत्, तत्राह यथा शयान इति.

यथा शयान आत्मानं विषयान् फलमेव च।

अनुभुङ्क्तेऽप्यसत्यर्थे तथाप्नोत्यबुधो भवम्।।४८।।

न हि कदाचिदेव भवति यत्, तदेव मिथ्या भवतीति नियमोऽस्ति कश्चिद्, अपि तु सर्वदैव दृश्यमानमप्यसद्भवति. यथा यदैव शेते तदैव असत्यप्यर्थे **आत्मानं** देहं **विषयान्** स्रक्चन्दनादीन् **फलं** सुखं चानुभवति. न चैतावता तेषां सत्यता भवति, ''मायामात्रमि''ति सूत्रे तथा निर्णयात्. **तथैव अबुध: शयान** इव **भवं** संसारं प्राप्नोति. निद्रावदज्ञानमित्यर्थः ।।४८।।

अतो अज्ञानेनैव देहप्रतीतेःह्व देहस्य च मिथ्यात्वाद् देहसम्बन्ध एव आत्मन: परिच्छेदप्रतीति: परिच्छेदे एव च शत्रुमित्रादिप्रतीतिरिति परम्परया अज्ञानमेव मूलमितिह्व तत्त्वज्ञानेन तन्निराकरणं कर्तव्यमित्याह **तस्मादि**ति.

तस्मादज्ञानजं शोकमात्मशोषविमोहनम्।

तत्त्वज्ञानेन निर्हृत्य स्वस्था भव शुचिस्मिते।।४९।।

शोकस्तु विषमबुद्धिजन्य इति अज्ञानकृतएव. शोकस्य परित्यागाय दोषद्वयमाह **आत्मनो**ऽन्तकरणस्य **शोषो विमोहनं च यस्मादि**ति. तत: अत्यपकारित्वात्तदज्ञानं **तत्त्वज्ञानेन निर्हृत्य स्वस्था** भवेत्युपदेशः प्रार्थना वा. **शुचिस्मित** इति सहजएव तव प्रसाद इति कृत्रिमनिराकरणं नात्यन्तं क्लेशेन कर्तव्यमिति सूचितम् ।।४९।।

एवमुपदिष्टज्ञानं भगवत्सान्निध्यात् फलितमित्याह एवं भगवतेति.

।।श्रीशुक उवाच।।

एवं भगवता तन्वी रामेण प्रतिबोधिता।

वैमनस्यं परित्यज्य मनो बुद्ध्या समादधे।।५०।।

ननु भगवत्सिद्धान्तं परित्यज्य ज्ञानसिद्धान्त: किमिति बोधित:? तत्राह

लेखः

यथा शयान इत्यत्र **निद्रावदज्ञानमि**ति. यथा निद्रया स्वप्न: तथाऽज्ञानेन भव:, तथाच निद्रास्थानीयमज्ञानमबुधपदेनोक्तमिति भाव: ।।४८।।

एवं भगवतेत्यस्याभासे **भगवत्सान्निध्यादि**ति. इदमपि ज्ञानमसुरसंनिधाने न फलति, तेषां देहात्मवादित्वस्य छान्दोग्ये व्यवस्थापनात्. तथापि भगवत्सान्निध्यात् फलितमित्यर्थः. व्याख्याने **भगवत्सिद्धान्तमि**ति, ‘‘अखण्डं **तन्वीति भगवानि**ति च. न हि भगवान् विरुद्धे स्वसिद्धान्तं कथयति, मुक्तानामेव तत्राधिकारात्. इयं च **तन्वी** विषयपरा रामश्च साधनपरः, अतो हेतुत्रयस्यापि तथात्वाद् ज्ञानेनैव **प्रतिबोधिता.** ज्ञानस्य च प्रयोजनं तस्यां **वैमनस्यपरित्यागमात्रं** जातं, भगवति या दोषबुद्धिः स्थिता सा गता. ततः विक्षिप्तं **मनः बुद्ध्या** समाहितमपि कृतवती. एको भगवद्विषयको दोषः, अपरो विक्षेपेण तस्या एव दुःखदः; उभयनिवृत्तिर्ज्ञानफलम् ।।५०।।

एवं रुक्मिण्याः समाधानमुक्त्वा रुक्मिणः परित्यागएव उभयेषां सुखदो भवतीति तत्परित्यागमाह **प्राणावशेष** इति.

प्राणावशेष उत्सृष्टो द्विड्भिर्हतबलप्रभः।

स्मरन् विरूपकरणं वितथात्ममनोरथः।।५१।।

बलभद्रेण मोचनेऽप्यसहायाद् अन्येन मारणं सम्भवतीति **द्विड्भिरुत्सृष्ट** उक्तः, **हतं बलं प्रभा च यस्य द्विड्भिरेव.** तस्यान्यद्विस्मृतं, **विरूपकरणं** तु स्मरति. जातेऽपि विरूपे यदि स्वाभिलषितः कश्चित्सिध्येत् तदा न तथा खिन्नो भवेत् किन्तु **वितथः आत्मनो मनोरथो यस्य**. तथापि स्वप्रतिज्ञां नान्यथा कृतवान्, भगवता हि तस्य भगिनी परिगृहीतेति ।।५१।।

अतएव कुण्डिनपुरं परित्यज्य अन्यत्रैव स्थित इत्याह **अहत्वे**ति.

अहत्वा दुर्मतिः कृष्णमप्रत्यूह्य यवीयसीम्।

चक्रे भोजकटं नाम निवासाय महत्पुरम्।।

कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामीत्युक्त्वा तत्रावसद्रुषा।।५२।।

यतोऽयं **दुर्मतिः अतस्तत्रैवावसत्** यत्र मुण्डितः. भोजा हि मृतकर्पटग्राहकाः; ‘‘जात्यपकर्षे भोजाद् यवन’’ इति यवनात्पूर्वं निरूपितः, तस्य कट इति मरणपर्यन्तं तत्रैव स्थास्यामीति तस्य ग्रामस्य नाम **भोजकटमि**ति

कृष्णवत्सर्वमि''ति सिद्धान्तमित्यर्थः. **ज्ञानसिद्धान्त** इति, ''असत्यमप्रतिष्ठं ते'' इति वाक्योक्तं सर्वस्यासत्त्वेन ज्ञानं तत्सिद्धान्त इत्यर्थः. व्याख्याने **एक** इति वैमनस्यमित्यर्थः. **अपर** इति मनोविक्षेप इत्यर्थः ।।५०।।

इति पञ्चमाध्यायव्याख्या।।

कृतवान्. यद्यपि न कोऽपि पुरुषार्थः, नह्यसत्प्रतिज्ञाया अपालने कश्चन दोषोऽस्ति, तथापि भ्रातृत्वाद् रोषेण तत्रैव स्थितः ।।५२।।

ततो भगवतः कृत्यमाह भगवानिति.

भगवान् भीष्मकसुतामेवं निर्जित्य भूमिपान्।

पुरमानीय विधिवदुपयेमे कुरूद्वह।।५३।।

यदा सर्वथा निर्दुष्टा सर्वैः त्यक्तममत्वा, तदापि भगवान् वीर्यशुल्केन विवाहं कर्तुम् **एवं** प्रकारेण **भूमिपान् निर्जित्य** गान्धर्वन्यायेन तामगृहीत्वा उपनयनवत् विवाहस्यापि संस्कारत्वात् सर्वसम्मत्यर्थं स्वपुरीमानीय उपयेमे विधानपूर्वकं विवाहं कृतवान्. क्षत्रियाः प्रायेणैवं न कुर्वन्तीति भगवानपि न कृतवानेव(/वं) किन्तु सद्बुद्ध्यर्थं वदतीति शङ्का स्यात्, तत्परिहरति सम्बोधनेन **कुरूद्वहे**ति ।।५३।।

सर्वेषां सम्मत्या विवाहः कृत इत्यत्र निदर्शनार्थं महोत्सवमाह **तदा महोत्सव** इति.

तदा महोत्सवो नृणां यदुपुर्यां गृहे गृहे।

अभूदनन्यभावानां कृष्णे यदुपतौ नृप।।५४।।

नृणामिति न केवलं बन्धूनाम् अपि तु सर्वेषामेवेत्याह. यदुपुर्यां द्वारकायां, तत्र न कोऽपि विसम्मत इत्यर्थः. यादवानामपि वैमनस्यं परस्परं सम्भवतीति तदर्थमाह **अनन्यभावानामि**ति. ननु यादवा उद्धताः स्वभावतः, कथमनन्यभावा जाता इत्याशङ्क्याह **कृष्णे यदुपताविति**ह्व यदा यादवानां भगवान् पतिर्जातः तदा ते तथा जाता इत्यर्थः. **नृपे**ति सम्बोधनं विश्वासार्थम्, यथा भवान् जात इति ।।५४।।

भगवता पारिबर्हम् अस्मिन् विवाहे न प्राप्तमिति तदभावे विवाहशोभा च न तथेति तदर्थमाह **नरा नार्यः प्रमुदिता** इति.

नरा नार्यः प्रमुदिताः प्रमृष्टमणिकुण्डलाः।

पारिबर्हमुपाजह्रुर्वरयोश्चित्रवाससोः।।५५।।

स्वयमलङ्कृता: पूर्णा: **वरयोश्चित्रवाससो:** अलङ्कृतयोरपि **पारिबर्हमुपाजह्रु:**. ननु नियमाभावात् किमिति तथा कृतवन्त इति चेत्, तत्राह **वरयो**रिति. वरयोस्तथा कर्तव्यमेवेति, यथैव दाक्षिणात्याचार: ।।५५।।

विवाहएव प्रथममुपस्थित इति, अकस्माच्च भगवानागत इति विशेषतस्तदर्थमलङ्करणाभावेऽपि स्वभावत एवालङ्कृतेत्याह **सा वृष्णिपुरी**ति.

सा वृष्णिपुर्युत्तभितेन्द्रकेतुभि–

र्विचित्रमाल्याम्बररत्नतोरणै:।

बभौ प्रतिद्वार्युपक्लृप्तमङ्गलै–

रापूर्णकुम्भागुरुधूपदीपकै:।।५६।।

सा द्वारका **उत्तभितै:** ऊर्ध्वं स्थापितै**रिन्द्रादप्युच्चै:** स्वर्गपर्यन्तं गतै: **केतुभि:** ध्वजचिह्नैरन्यैश्च **बभौ**. अथवा **इन्द्रकेतु:** पारिजात: सुधर्मादिश्च अन्ये च कल्पवृक्षा:. **विचित्राणि माल्यानि अम्बराणि रत्नमयानि तोरणानि** च स्वभावतएव. विशेषतोऽपि **प्रतिद्वारि उपक्लृप्तानि मङ्गलानि आपूर्णा: कुम्भा: अगुरुधूपा: दीपाश्च**. एवमुपरि मध्ये अधश्च निवासस्थानानां शोभा निरूपिता ।।५६।।

मार्गाणामाह सिक्तमार्गा इति.

सिक्तमार्गा मदच्युद्भिराहूतप्रेष्ठभूभुजाम्।

गजैर्द्वास्सु परामृष्ट–रम्भापूगोपशोभिता।।५७।।

कुरुसृञ्जयकैकेय–विदर्भयदुकुन्तय:।

मिथो मुमुदिरे तस्मिन् सम्भ्रमात् परिधावताम्।।५८।।

आहूता ये प्रेष्ठा: प्रियतमा राजान: **तेषां मदच्युद्भि:** गजगण्डनि:सृतमदैरेव **सिक्तमार्गा** जाता, अतो विशेषत: सम्मार्जनादौ नावकाशो जात इत्यर्थ:. द्वारि तु कृतमित्याह **द्वा:स्विति. परामृष्टा:** परित: स्थापिता: **ये रम्भादय: तैरुपशोभिता.** जाते विवाहे पश्चादानीय कृतमिति परामर्श:. षड्विधा अपि क्षत्रिया अन्योन्यवैरं विहाय स्वभावतो द्वेषयुक्ता अपि रुक्मिण्या सहिते भगवति **मिथो मुमुदिरे. कौरवा** दुर्योधनादय: सृञ्जया: पाण्डवा: पाञ्चाला वा धृष्टद्युम्नादय: ह्वते ह्युभये अन्योन्यवैरिण:, कैकेया विदर्भाश्च. तथा **यादवा: कुन्तयश्च**. ते त्रिविधा अपि परस्परविरोधिन: परस्परमेव मुमुदिरे. किञ्च

संभ्रमात्परिधावतां सम्बन्धिनोऽपि जाताः. उत्सवसंभृतिकरणार्थं तदीयाः सर्वएव व्यापृता जाता इत्यर्थः ।।५७-५८।।

न केवलं यदुपुर्यामेव सम्भ्रमः किन्तु सर्वत्रैव लोके सम्भ्रमो जात इत्याह **रुक्मिण्या हरणं** श्रुत्वेति.

रुक्मिण्या हरणं श्रुत्वा गीयमानं इतस्ततः।

राजानो राजकन्याश्च बभूवुर्विस्मिता भृशम्।।५९।।

आश्चर्य**हरणं** भगवत्कृतं **श्रुत्वा इतस्ततो गीयमानं** सर्वत्र श्रुतत्वाद् असम्भावनारहितं **राजानो विस्मिता** जाताः, कथमेवं हृतमिति **राजकन्याश्च विस्मिताः,** अस्मानपि नेष्यतीति ।।५९।।

एवं विशिष्टानां परमोत्सवमुक्त्वा साधारणानामपि परमोत्सवमाह **द्वारकाया**मिति.

द्वारकायामभूद् राजन् महामोदः पुरौकसाम्।

रुक्मिण्या रमयोपेतं दृष्ट्वा कृष्णं श्रियः पतिम्।।६०।।

।।इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।

पुरौकसः साधारणाः नगरवासिनः नगरव्यापारएव निमग्नाः, तेषामपि **महान्मोदो** जातः. यद्यपि तेषां विवेको नास्ति तथापि वस्तुसामर्थ्यादेव ते तथा जाताः. तदाह **रुक्मिण्या रमया** लक्ष्म्या **उपेतं** सहितं **कृष्णं** स्त्रीणामेव हितार्थे अवतीर्णं **श्रियः पतिं दृष्ट्वे**ति. नित्यं हरिः श्रीसहितः. आविर्भावस्तु [१]केवलस्यैवेति पुरवासिनां नित्यं स्त्रीप्रधानानां तथा मोदो न भवेद्, अधुना तु पूर्णा शक्तिरेकत्रैव जातेति **महानेव मोदः** सन्तोषो जातः ।।६०।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षिताविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे पञ्चमोऽध्यायः।।

।।इति एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।

---

१. आविर्भावः केवलमस्यैवेति पाठः.

।।षष्ठः स्कन्धादितः द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।

निरूपितो भगवतो भार्यायास्तु परिग्रहः।
षष्ठाध्याये तु पुत्रस्य स्वीकारोऽत्र निरूप्यते।।(१)।।
लोके हि पुत्रभार्याणां सम्बन्धे स्याद्धि संसृतिः।
दुष्टभावेषु संसृष्टास्त्वत्र कृष्णेन मोचिताः।।(२)।।
न चापि भगवान् कृष्णः कमप्यत्र निवारयेत्।
भागिनं यत्र यो भागी निवृत्ते हरिसाद्भवेत्।।(३)।।
अतः शम्बरनिर्मुक्तः पुत्रो जात इतीर्यते।
पुत्रत्वं च न कालादेः किन्तु स्वेच्छात एव हि।।(४)।।
तादृशस्य हि जीवस्य ततः कामकथोच्यते।।

पूर्वाध्यायैः भार्येच्छया भगवता भार्या कृता. अत्रापि पुत्रेच्छया भगवता कामः पुत्रः कृत इत्याह **कामस्त्वि**ति.

।।श्रीशुक उवाच।।

कामस्तु वासुदेवांशो दग्धः प्राग् रुद्रमन्युना।
देहोपपत्तये भूयस्तमेव प्रत्यपद्यत ।।१।।

कामस्योत्पत्तिर्न घटते. कामेन हि भार्यायां प्रवृत्तिः. तत आत्मानं प्रति स्वस्याकारणत्वात् कामोत्पत्तिरसङ्गतेत्याशङ्क्य तुशब्देन निराकरोति. तत्र हेतुमाह **वासुदेवांश** इति, स हि न जीवः किन्तु वासुदेवस्यैव मोक्षदातुः. प्रपत्तिविघटनाय कामो माया च अंशद्वयं विनिर्गतं पुरुषे स्त्रियां च प्रतिष्ठितं जगद् व्यामोहयति, यथैव न प्रपन्नो भवति. स तु सर्वान् व्यामोहयन् मुख्याधिकारिणं महादेवमपि व्यामोहयितुं प्रवृत्तः. ततो रुत् रोगान् सर्वेषामेव **द्रावयती**ति सर्वरोगनिवारकः काममपि रोगं मत्वा क्रोधेन

लेखः

षष्ठेऽध्याये कारिकासु **पुत्रत्वं चे**ति. **हि** यतस्तादृशस्य प्रद्युम्नसदृशस्य जीवस्य **पुत्रत्वं कालादे**र्हेतोर्न सम्भवति किन्तु **स्वेच्छातः** प्रद्युम्नेच्छात एवेत्यर्थः (४).

ददाह. ततः प्रभृति नोद्गतः कामो लोके प्रवृत्तः, अधिष्ठाता शक्तिरहितो जात इति. नापि मोक्षदाता भगवानवतीर्णः यत्रायं विघ्नं वा कुर्यात्. यदा पुनः कृष्ण आविर्भूतः तदा अक्षयं देहं सम्पादयितुं, यथा रुद्रो न दहेत्, तदर्थं **तं** भगवन्तमेव **देहोपपत्तये प्रत्यपद्यते** सदेहएव ततो निर्गमिष्यामीति पुनस्तत्र प्रविष्टः. स हि गोपिकाद्वारा कृष्णे समागतः. ते हि प्रथमं पुरुषरूपाः स्थिताः, पश्चात् स्त्रीत्वे जाते तत्र प्रवेशमलभमानः तद्द्वारा भगवति प्रविष्टः, तासां स्वभावतः पुरुषत्वात् तत उत्पत्तिमलभमानः ।।१।।

यदैव रुक्मिणी सम्बद्धा तदैव तस्यां जात इत्याह सएव जात इति.

स एव जातो वैदर्भ्यां कृष्णवीर्यसमुद्भवः ।

प्रद्युम्न इति विख्यातः सर्वतोऽनवमः पितुः।।२।।

वैदर्भी भक्तिप्रधानेति. भगवतो वीर्यमत्र क्रियाशक्तिः, नत्वन्नमयम्. क्रिया हि सतो भवति. चिद्रूपः स्वयं सदंशमेवापेक्षते. सदंशे निर्गलितं

लेखः

कामस्त्वित्यत्र **सदेह** एवेति. दग्धदेहः कामो भगवत सकाशात् **सदेहो** भूत्वा **ततो निर्गमिष्यामीति पुनर्भग**वति **प्रविष्टः**. अतएव तद्देहे भगवत्सारूप्यमिति भावः. वासुदेवांशत्वात् पूर्वमपि तत्रैव स्थितः, ततो निर्गतो दग्धः पुनस्तत्र प्रविष्ट इति **'पुनः'**पदम्. प्रवेशप्रकारमाहुः **गोपिकाद्वारे**ति. विवृण्वन्ति ते हीति. अग्निकुमाराणां पुरुषत्वात् तेषु कामः स्थितः. कामः पुरुषेषु माया स्त्रीष्विति व्यवस्थापनात् तेषां स्त्रीत्वे जाते तत्र स्थितिमलभमानस्तद्द्वारा भगवति प्रविष्टः. तत्र यदा रुक्मिणी सम्बद्धा तदा तद्द्वारा निर्गतः. श्रुतिरूपप्रभृतिषु च रमणेऽपि पतित्वसम्बन्धपुरःसरं प्रथमं रुक्मिण्याएव स्वीकार इत्याशयेनाहुः **सम्बद्धे**ति. ''पतिं मे कुर्वि''ति प्रार्थनादग्निकुमारेषु पतित्वसम्बन्धं सम्भाव्य तेषां पुरुषत्वान्न ततो निर्गमनमित्युक्तमिति भावः ।।१।।

सएव जात इत्यत्र **सतो भवती**ति शक्तिरिति शेषः. सदंशस्य रूपं क्रियाशक्तिरिति क्रियाशक्तौ आविर्भूतः. तदुक्तं **कृष्णवीर्ये समुद्भवो यस्ये**ति. एवकारो जीवान्तरप्रवेशाभावाय. अतएव लोके **प्रद्युम्न इति विख्यातः** प्रकर्षेण द्युम्नं यस्मादिति. रुक्मिण्यंशसम्बन्धाद् आनन्दांशोऽपि तत्र सिद्धः, उत्पादकश्च प्रद्युम्न इति तस्याभिलषितमेव नाम जातमित्युक्तम्. एवमपि

भगवदिच्छा चेन्नानुगता स्यात् तदा अक्षयदेहो न भविष्यतीति भगवत्सारूप्यं प्राप्तवानित्याह **पितु: सर्वतोऽनवम** इति. अवम: क्षय:, केनाप्यंशेन अन्यून इत्यर्थ: ।।२।।

एतन्मध्ये नारदेन शम्बरो बोधित:ह्व यावदयं निर्दशो न भवति तावन्मारणीयः, अन्यथा भगवद्धस्तस्पर्शे अवध्यो भविष्यतीति. स हि कामस्य शत्रुः; यदा सर्वेषामेव भागो निर्मुक्तो भवति तदैव भगवान् पुत्रत्वेन गृहीष्यतीति. एवमुक्तस्य शम्बरस्य वृतान्तमाह.

तं शम्बर: कामरूपी हृत्वा तोकमनिर्दशम् ।

स विदित्वात्मन: शत्रुं प्रास्योदन्वत्यगाद् गृहम्।।३।।

कामरूपी स्त्रीरूपेणान्तःप्रविष्टः; कामरूपमस्मिन्वर्तत इति सजातीयेन सजातीयो हृत इति न रक्षकैर्देवै: स रक्षित:. अत ए**वानिर्दशं** दशाहात्पूर्वमेव **तोकं** बालकं **हृत्वा**. न निर्गतानि दशाहानि यस्येति 'अह:'शब्दस्य लोप:. हरणे हेतुमाह **आत्मन: शत्रुं विदित्वे**ति. वाक्यान्तरात् नारदाद् इत्यध्यवसेयम्. **उदन्वति** समुद्रे **प्रास्य गृहमगाद्** गृहं गत:, बालो हि न मारणीय इति. कालेनानुपभुक्त: सर्वस्याप्यादरणीयो भवतीति प्राकृतं तं मत्वा समुद्रे क्षिप्त:, स्वयमेव समुद्रो भक्षयिष्यतीति समुद्रे प्रक्षिप्तवान् ।।३।।

तत: समुद्रो विपरीतं कर्तुं मत्स्यग्रासं कारयित्वा तस्यैव गृहं प्रेषयामासेति निरूपयति **तं निर्जगार बलवानि**ति.

लेखः

शक्ति: क्रियेत्यर्थः. **स्वयमि**ति, काम: स्वयं चिद्रूपो देहस्य सदंशत्वात् सदंशसम्बन्धे सदेहो भवति, अत: सदंशमपेक्षते. तथा चैतद्देहो भगवत्सदंश: अतोऽत्र भगवद्भ्रमं वक्ष्यति ''कृष्णं मत्वे''त्यनेन ।।२।।

तं निर्जगार बलवान् मीन: सोऽप्यपरै: सह ।

ततो जालेन महता गृहीतो मत्स्यजीविभिः।।४।।

स हि सचेतनो बालक: गिलने प्रतिबन्धं करोतीति तदर्थमाह **बलवानि**ति. सोऽपि मीनैर**परै**र्दुर्बलैर्मीनैः **सह** तदीयै: **महता जालेन गृहीत**:. **ततो**ऽपि जालस्य

महत्त्वं बलवत्त्वं च. **मत्स्यजीविभिरिति** तेषां तदुद्यमः सहजः अतो नात्र अधिकः प्रयासो निरूपणीयः ।।४।।

ततः शम्बरः कैवर्तानामधिपतिः; प्राप्तमहामत्स्यैः कैवर्तैः स मत्स्यः तस्मै दत्त इत्याह **तं शम्बराये**ति.

तं शम्बराय कैवर्ता उपाजह्रुरुपायनम् ।

सूदा महानसं नीत्वावद्यन् स्वधितिनाद्भुतम्।।

दृष्ट्वा तदुदरे बालं मायावत्यै न्यवेदयन् ।।५।।

उपायनमुत्कृष्टोपहारम्. सोऽप्यविचार्यैव सूदेभ्यः पाचकेभ्यो घातकेभ्यो वा दत्तवान्. सूदाः पुनः **महानसं** स्थानं **नीत्वा अवद्यन्.** ततः **अद्भुतं बालकं तस्य उदरे दृष्ट्वा मायावत्यै न्यवेदयन्.** सा हि रतिः कामस्य भार्या आसीत्. ततो दग्धे कामे तद्भार्या यदा शम्बरेण नीयते तदा माया तस्यां प्रविष्टा; तदा मायावतीति नाम प्राप्तवती. सा च तेन प्रतिक्षणं मायया मोहितेन पाकाध्यक्षा निरूपिता. ततो बालकः मायावत्या दृष्टः ।।५।।

नारदोऽकथयत् सर्वं तस्याः शङ्कितचेतसः ।

बालस्य तत्त्वमुत्पत्तिं मत्स्योदरनिवेशनम्।।६।।

कोऽप्ययं कपटेन मां गृहीष्यतीति[१] भया**च्छङ्कितचित्ता** जाता. ततो नारदः पुनरागत्य तां बोधितवानित्याह **नारदोऽकथयदि**ति. **बालस्य तत्त्वं** कामत्वम्, **उत्पत्तिं** कृष्णात्, नारदप्रेरणया शम्बरद्वारा **मत्स्योदरनिवेशनम्.** ततोऽत्रागमनं तु स्पष्टमेवेति त्रयमुक्तम्, सात्त्विकं राजसं तामसं च. यद्ययं मत्स्योदरे न निविष्टः स्यात् तदाग्रे भगवतः कामात्

---

१. कोऽपि अनेन कपटेन मां गृहीष्यति / कोऽपि अयं कपटेन मा गृह्णातु / अयं कोऽपि कपटेन बालरूपो मां प्रतारयिष्यति इति वा सम्भाविताः पाठाः –सम्पा.

स्त्रीविवाहा अयुक्ताः स्युः[१] ।।६।।

ततस्तया ज्ञात्वा स गृहीत इति वक्तुं तस्याः स्वरूपमाह सा चेति.

सा च कामस्य वै पत्नी रतिर्नाम यशस्विनी ।

पत्युर्निर्दग्धदेहस्य देहोत्पत्तिं प्रतीक्षती ।।७।।

तस्याः आकाङ्क्षित एवायं स्थितः. चकारस्त्वर्थसमुच्चयार्थःह्न नारदः अकथयत् साप्याकाङ्क्षायुक्तेति. **कामस्यैव पत्नी,** न तु कामेन यस्य कस्यचित्. **रतिरि**ति तस्या **नामे**ति प्रसिद्धिः. अनेन लोकेऽपि तस्या निन्दाभाव उक्तः. यथा कामः पुरुषेषु तथा रतिः स्त्रीषु प्रतिष्ठितेति प्रसिद्धिः. किञ्च **यशस्विनी** प्राप्तयशाः, अतो यशःसम्बन्धात् नापकीर्तिसम्भावना. नन्वेतादृशी भर्तृमरणे वैधव्यधर्मपरिपालनाय योग्या कथं रूपान्तरस्थ-पतिं गृहीतवती? तत्राह **पत्युर्निर्दग्धदेहस्ये**ति. न हि पतिर्मृतोऽस्ति, अन्यथा जगदुत्पत्तिरेव न स्यात्. किन्तु देहएव दग्धः, तस्योत्पत्तिमेव प्रतीक्षते ।।७।।

तस्यास्तत्रागमने हेतुमाह निरूपितेति.

निरूपिता शम्बरेण सा सूपौदनसाधने ।

कामदेवं शिशुं बुद्ध्वा चक्रे स्नेहं सदार्भके।।८।।

सूपौदनानां पाचने. सा हि मायां जानाति सूपकाराणाम्. तन्माया प्राणहारिणी भवतीति तद्रक्षार्थं पाकस्थाने नियुक्ता. अनेन भक्ष्यभोज्यादिसम्पत्तिः तस्याः सिद्धा. लोकाः तस्याः पुत्रत्वेन तं जानन्ति. सा तु न पुत्रत्वेन तं प्रतिपालितवती अपि तु **काममेव बुद्धा,** तत्रापि **देवं** पतिं **शिशु**त्वेन समागतम्. **अर्भके स्नेहं चक्रे** ।।८।।

लेखः

पत्युरित्यत्र **देह एवेति**. **एव**कारस्य **दग्ध**पदेनान्वयःह्न **दग्धएव** ज्वलन्नेव तिष्ठति, न तु भस्मीभूत इतीतरवैलक्षण्यम्. अतो न मृत इत्यर्थः ।।७।।

---

१. तदुपपादितं नवमश्लोकसुबोधिन्याम् - सम्पा.

ततोऽल्पेनैव कालेन मत्स्योदरसम्बन्धाद् भगवत्सम्बन्धाच्च सप्तम एव वर्षे यौवनं प्रादुर्भूतमित्याह **नातिदीर्घेण कालेने**ति.

नातिदीर्घेण कालेन स कार्ष्णी रुढयौवनः ।

जनयामास नारीणां वीक्षन्तीनां च विभ्रमम्।।९।।

षोडशे वर्षे यौवनप्रादुर्भावः, कस्यचिद् द्वादशे, कस्यचिदष्टम एव. अयं **नातिदीर्घः कालः**. यतः **कार्ष्णिः** पितुः पुत्रः, **रूढं यौवनं यस्य**. तदा **वीक्षन्तीनां विभ्रमं जनयामास**. युवतीनां यदा मनोवृत्तिः तदा सर्वजनीनं यौवनम्,

अन्यथा अलौकिकमेव यौवनं स्यात्. किं बहुना, **वीक्षन्तीनां** देवस्त्रीणामपि जनयामास ।।९।।

सा तं पतिं पद्मदलायतेक्षणं प्रलम्बबाहुं नरलोकसुन्दरम् ।

सव्रीडहासोत्तभितभ्रुवेक्षती प्रीत्योपतस्थे रतिरङ्ग सौरतैः।।१०।।

ततः पतित्वात् चिरमभिलषितत्वात् यौवनविलम्बाच्च प्राप्ते यौवने तमुपतस्थे ह्यएतदग्रिमकार्यार्थं निरूप्यते. **पद्मदलायतेक्षणमि**ति कामोद्बोधकत्वात् कामत्वाच्च. तस्याः सङ्गाभावेन स्थातुमशक्तिमाह **प्रलम्बबाहुमि**ति; उपगूहनसामर्थ्यं सर्वाङ्गसुखत्वाय. **नरलोकसुन्दरमि**ति तादृशे मोह उचित एवेति हेतुरुक्तः स्वभावोद्गिरणार्थम्. प्रथमतो **व्रीडा** नवसङ्गमं भावयति, ततो जाते रसे **हासः;** उभाभ्या**मुत्तम्भिता** या **भ्रूः** सङ्गेच्छां पातिव्रत्यं च कटाक्षदर्शनेन सूचयन्ती **प्रीत्या उपतस्थे**. इदमुपस्थानं न देवताराधनमिव किन्तु **सौरतैः** सुरतभावैः, यत इयं **रति**ः ।।१०।।

ततः प्रद्युम्नः क्रियाशक्त्यैवाविर्भूत इति ज्ञानाभावस्तस्य प्रकाश्यते भगवद्वैलक्षण्याय, अन्यथा तुल्यतैव स्यात् यदि ज्ञानशक्तिरपि भवेत्.

तामाह भगवान् कार्ष्णिर्मातस्ते मतिरन्यथा ।

मातृभावमतिक्रम्य वर्तसे कामिनी यथा।।११।।

तामाहेति. **भगवान्** धर्मपरः, यतः **कार्ष्णिः** मर्यादार्थमवतीर्णः. सदानन्दाङ्कुरोऽपि सदानन्दएवेति अपेक्षाभावाद्वा तथोक्तवान्. **मातरि**ति सम्बोधनाद् अज्ञानम्, व्यवहारे तथात्वात्. अनेन कामस्य धर्मविरोधित्वं सहजं निरूपितम्, अन्यथा 'मातृ'पदमुच्चार्य पश्चात् तस्यां सङ्गं न कुर्यात्.

लौकिकी भाषेयमिति न पारमार्थिको विरोधः. माता हि मानं पालयति स्वस्य अन्यस्य च. न हि विवृतेष्वङ्गेषु मानं तिष्ठति, अतः सर्वप्राणिनामेव माता संरक्ष्या. अतो **मातृभावं** परित्यज्य गुप्तं कामं दूरीकृत्य **यथा कामिनी** प्रकटकामा तद्वद् **वर्तस** इति ।।११।।

तदा तिरोहितज्ञानमेनं मत्वा अज्ञानादुक्तमनुक्तमिति बोधयति **भवान्नारायणसुत** इति.

।।रतिरुवाच।।

भवान् नारायणसुतः शम्बरेण हृतो गृहात् ।

अहं ते दयिता पत्नी रतिः कामो भवान् प्रभो।।१२।।

स हि शम्बरं पितरं तां च मातरं मन्यते; तन्निषेधार्थमाह **नारायणसुत** इति, एकनिषेधेनैव इतरस्य सिद्धत्वात्. स्वरूपं चाग्रे वक्तव्यमिति निरूपयति. नारायणपुत्रः कथमत्रागत इत्यत्रोपपत्तिमाह **गृहाच्छम्बरेण हृत** इति. साधारण्यपि धात्री मातृवदेव परिपाल्येति चेत्, तत्राह **अहं ते दयिता पत्नी**ति. दयितात्वात् लोकतस्त्यागं नार्हति, पत्नीत्वान्न वेदतः. तथापि लोके प्रसिद्ध्यभावात् कथमेवमिति चेत्, तत्राह **रतिरिति भवांश्च काम** इति ।।१२।।

कामस्य कथमत्र शत्रुगृहे स्थितिरिति? तत्राह **एष** त्वेति.

एष त्वाऽनिर्दशं सिन्धावाक्षिपच्छम्बरोऽसुरः ।

मत्स्योऽग्रसीत् तदुदरादिह प्राप्तो भवान् प्रभो।।१३।।

एष त्वामिति असुरत्वात्तथाकरणम्. **मत्स्यो** हि स्वज्ञातिघाती, **तदुदरादिह प्राप्त** इत्यनेन सोऽपि हतो निरूपितः ।।१३।।

शम्बरः परमवशिष्यते अतस्तं जहीत्याह **तमिममि**ति.

तमिमं जहि दुर्धर्षं दुर्जयं शत्रुमात्मनः ।

मायाशतविदं त्वं च मायाभिर्मोहनादिभिः।।१४।।

सावधानत्वाय तस्य गुणानाह दुर्धर्षं दुर्जयं शत्रुं **मायाशतविदमि**ति. **दुर्धर्ष**त्वात् न लौकिकोपायेन मारयितुं शक्यः. अनेन विषदानादिप्रकारा अपि व्यावर्तिताः. **दुर्जय**त्वात् क्षत्रियधर्मेणापि मारयितुमशक्यः.

शत्रुत्वान्नोपेक्षणीयः. **आत्मन** इति घातादेव निवर्तते नान्यथेति सूचितम्. तर्हि अलौकिकयुद्धेन मारणीय इति पक्षं निवारयति मायाशतविदमिति. तर्ह्यवध्यः कथं मारणीय इति चेत्, तत्रोपायमाह **त्वं च मायाभिर्मोहनादिभिः** सहितः **इमं जहि.** आदौ मोहय, ततस्तन्मायाः प्रतियोगिमायाभिर्दूरीकुरु, असुराणां हि माया भगवानिति. ''तस्मादेवंवित् सर्वैरेव प्रकारैः उपासीते''ति उपासनायास्तुल्यत्वाद् अनेकधोपासकस्य विशिष्टत्वाच्च मोहनादिभिर्मायाभिस्तन्मायादूरीकरणं युक्तमेव ।।१४।।

ननु यथा ममाज्ञानम् एवं तस्यापीति ज्ञाने सत्येव अपकारित्वात् न मारणीय इति चेत्, तत्राह **परिशोचती**ति.

परिशोचति ते माता कुररीव गतप्रजा ।

पुत्रस्नेहाकुला दीना विवत्सा गौरिवातुरा।।१५।।

माता हि दयापात्रम् अतस्तद्दु:खदूरीकरणार्थं मारणीयएवेति भाव:. ते मातेति सम्भावनया वदति. तस्या रुक्मिणीत्वं वा वैदर्भीत्वं वा न[1] शोकनिवारकमिति तन्नोक्तम्. **कुररी** विवेकरहिता, सा रात्रौ शोचति. अनेन निद्राभावोऽपि सूचित:. **गतप्रजे**ति शोकहेतुः, गता केनचिदपहृता प्रजा यस्या:. नष्टायां पुनरावृत्तिशङ्काभावात् तथा न शोक:. सापि प्रजा पुत्ररूपेति नान्त:शोकमात्रं जनयति किन्तु सर्वदेहेन्द्रियाणां सर्वक्रियाराहित्यमपि करोतीत्याह **पुत्रस्नेहाकुले**ति. पुत्रस्नेहोऽत्यन्तं व्याकुलतां सम्पादयतीति लोकप्रसिद्धि:. किञ्च पितृभ्रात्रादिभि: विरोधात् परित्यक्ता एवं बन्धुविरोधेन मातृपक्षसहायाभावाद् **दीना** पुत्रेणैव समाहिता भवति. अतस्तदर्थमपि गन्तव्यमित्यर्थः. किञ्च

लेखः

परिशोचतीत्यस्याभासे **एवं तस्यापि इति** हेतोर्न **मारणीय** इति सम्बन्ध:. तत्र हेतु: **ज्ञाने सत्येवापकारित्वादि**ति. व्याख्याने तस्या इति. मातु: रुक्मिणीत्वे उक्ते रुक्मसम्बन्धेन सर्वसंपत्तियुक्तत्वात् तथाशोको न संभाव्येत. वैदर्भीत्वे वा उक्ते भक्तिप्रधानत्वाच्छोको न संभाव्येत. अतो **माते**त्येव सामान्यत उक्तं न तु विशेष: कश्चनोक्त इत्यर्थ: ।।१५।।

---

१. नेति नास्ति क्वचित्. लेखकृतां स एव पाठः.

विवाहप्रभृतिमन:परितोषाभावाद् जाते पुत्रे पित्रादय: मानयेरन्; तस्मिन्नपि गते चिन्तया आतुरा अपि भविष्यतीत्याह **आतुरे**ति. आतुरो ज्वरी. विवेकेन सर्वसमाधानं भविष्यतीति चेत्, तत्र दृष्टान्तमाह **गौरिवे**ति, वत्साभावे यथा गौ:. तस्या हि न क्वापि ममता, सर्वा ममता वत्सएव भवति. अन्येषां तु विभक्ता ममता भवति, अतो गौर्दृष्टान्तीक्रियते सर्वत्र. इयं च सर्वतो ममतामाकृष्य त्वय्येव स्थापितवतीति गोतुल्या भवति ।।१५।।

प्रभाष्यैवं ददौ विद्यां प्रद्युम्नाय महात्मने ।
मायावती महामायां सर्वमायाविनाशिनीम्।।१६।।

एवं निरूपणमात्रेण कार्यं न सिध्यतीति **एवं प्रभाष्य विद्यामपि ददौ.** स्त्रीदत्ताया विद्याया: तदैव सिद्धि:. **प्रद्युम्नो** हि विद्याग्रहणयोग्य:, नाम्नैव

प्रसिद्धत्वात्. महात्मन इति विद्या फलिष्यतीति सूचितम्. सा विद्या स्वस्मिन्नागता मायैवेति ज्ञापयितुं **मायावती**त्युक्तम्. दैत्यादीनामिव माया साधारणी भविष्यतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **महामायामि**ति. इयं हि सर्वानेव भगवदंशान् व्यामोहयितुं प्रवृत्ता महामाया. ननु दैत्यानां भगवानेव माया भवतीति कथमस्या महामायात्वम्? तत्राह **सर्वमायाविनाशिनीमि**ति. तत्र हि स्वल्पाभिव्यक्तिः स्वधेत्यादाविव. परव्यामोहार्थं तद्रूपो भूत्वा पालयति, न तु तेषां मोक्षं प्रयच्छति. अतो बाधकेषु जीवचैतन्यमिव तदपि तिरोभूतमिति सर्वमायाविनाशित्वम् ।।१६।।

लेखः

प्रभाष्यैवमित्यत्र. **स्त्रीदत्ताया** इति. स्त्री हि सुहृत्तमा आत्मनोऽर्धं च भवति अतस्तद्दत्ताया विद्याया दानसमयएव सिद्धिर्भवतीत्यर्थः. अतः स्त्रिया कथितं शीघ्रमेव हृदयारूढं भवतीति लोकेऽपि प्रसिद्धिः. अनेकधोपासकस्य विशिष्टत्वमनुपदमुक्तं; तादृशोपासनासिद्धेयं मायेत्याशयेनाहुः **इयं ही**ति. **भगवदंशान्** मायारूपस्य भगवतः अंशानित्यर्थः. **स्वधेत्यादाविवे**ति, यथा स्वधाकारेण कव्ये दत्ते भगवान् पितृ**रूपो भूत्वा** तं पुत्रं पा**लयति; न तु** भगवान् प्रकट इति तावता **तेषां** पुत्राणां **मोक्षं प्रयच्छति** सङ्घातात्मबुद्धिं वा नाशयति. तथा 'फट्-जही'त्यादिशब्दैरुपासने कृते अन्यव्यामोहार्थं मायारूपो

ततः प्राप्तविद्यः अक्लिष्टकर्मा ज्ञापयित्वैव मारयिष्यामीति विद्याप्राबल्यं वक्तुमाह्वानमाह.

स च शम्बरमभ्येत्य संयुगाय समाह्वयत् ।
अविषह्यैस्तमाक्षेपैः क्षिपन्संजनयन् कलिम्।।१७।।

स च शम्बरमिति. **च**कारात् तद्गतो भगवान्. पूर्वक्रियया समुच्चयं वा आह. तथा सति विद्याग्रहणं तन्मारणार्थमेवेति फलिष्यति. **अभ्येत्य** निकटे गत्वा; शङ्काभावो निरूपितः. व्याजेन प्रवर्तनं वारयति **संयुगाय समाह्वयदि**ति. बालवाक्यं मत्वा न प्रवर्तेतेति अधिक्षेपमप्याह **अविषह्यैरि**ति. तं प्रसिद्धं; प्रसिद्धो ह्यल्पमप्याक्षेपं न सहते. तत्रापि नान्यदीयमनुवदति किन्तु स्वयमेव क्षिपति. स्नेहात्पुत्रादयोऽपि कदाचिदेवं कुर्वन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **संजनयन्कलिमि**ति, कलहमुत्पादयन्. ''अहं प्रद्युम्नः कामः, त्वं शत्रुः, त्वां मारयिष्यामी''त्यादिवाक्यान्युक्तवानित्यर्थः ।।१७।।

ततो युद्धार्थं प्रवृत्त इत्याह **सोऽधिक्षिप्त** इति.

सोऽधिक्षिप्तो दुर्वचोभिः पादाहत इवोरगः ।

निश्चक्राम गदापाणिरमर्षात् ताम्रलोचनः।।१८।।

यथा तस्मिन् स्नेहः एवं द्वेषोऽपीति कथं प्रवृत्तिरित्याशङ्क्य आक्षेपस्य

लेखः

भूत्वा भक्तं पालयति, न तु मायान्तरं नाशयति, तावत्कार्यार्थमेव प्राकट्यादित्यर्थः. अत इति. यथा बाधकेषु दैत्येषु विद्यमानमपि जीवनिष्ठं भगवदंशत्वरूपं चैतन्यं तिरोभूतं जीवनातिरिक्त-कर्मज्ञानादिकार्यासम्पादकम्, अतो जीवत्वस्य तुल्यत्वेऽपि तेषामधर्मएव रुचिः, दैवेषु तु भगवदंशत्वस्य प्रकटत्वात् सर्वकार्यसिद्धिः, तथा शम्बरमायायां विद्यमानमपि भगवत्त्वं तिरोभूतं पालनातिरिक्त-मायान्तरविनाशादिकार्यासम्पादकम्, अतो मायात्वस्य तुल्यत्वेऽपि पालनमात्रमेव सम्पादयति. प्रद्युम्नमायायां तु भगवत्त्वस्य प्रकटत्वात् सर्वकार्यसिद्धिः अतोऽस्य जयः. प्रद्युम्ने तथा प्राकट्ये हेतुस्त्वनेकधोपासकत्वं पूर्वमुक्तम्. शम्बरमायायाः पालनमात्रकर्तृत्वेऽपि प्रद्युम्नमायया तस्याएव नाशान्न पालनमपि सम्पन्नमिति भावः ।।१६।।

दुष्टत्वमाह **दुर्वचोभिरि**ति. दुर्वचोभिराक्षिप्तः पितापि पुत्रं मारयतीति कृत्रिमत्वज्ञाने१ कथं न प्रवर्तेतेत्यर्थः. ननु मृत्युरयमिति विशेषेण समागत इति भयात् कथं न निवृत्तः? तत्राह **पादाहत इवोरग** इति. दीर्घरोषः सर्पः मरणमप्यङ्गीकरोति, न तु निवर्तत इति. तस्य हि क्रोधएव परिपाल्यः, नत्वन्ये. तत एकेन सह एकेनैव युद्धं कर्तव्यमिति **गदापाणिरेव** निर्गतः, नापि बद्धकवचः नापि ससहायः. तथा निर्गमने हेतु**रमर्षात्ताम्रलोचन** इति, क्रोधवशान्न किञ्चिज्ज्ञातवान्. दृष्टिरपि ताम्रेति दृष्ट्वापि न ज्ञातवान् ।।१८।।

ततः प्रथमतएव स्वयं मारणार्थं प्रवृत्त इत्याह **गदामाविध्ये**ति.

गदामाविध्य तरसा प्रद्युम्नाय महात्मने ।

प्रक्षिप्य व्यनदन्नादं वज्रनिर्घोषनिष्ठुरम्।।१९।।

क्रोधवशान्महतीमपि **गदामु**त्तोल्य भ्रामयित्वा वा. **तरसा** यावन्न सावधानो भवति. अनेन अपराधादपि तस्य पराजयएवेति सूचितम्. **महात्मन** इति तस्य पलायनाद्यभावः सूचितः. प्रक्षेपमात्रेणैव मारित इति मत्वा व्य**नदत्**. मूर्च्छितस्य

तेन नादेन सुतरां मरणं भवतीति ज्ञापयितुं विशिनष्टि **वज्रनिर्घोषनिष्ठुरमि**ति. वज्रस्य नितरां घोषः पातसमयशब्दः, ततोऽपि निष्ठुरमिति ।।१९।।

एतादृशोऽप्युद्यमः व्यर्थो जातः प्रद्युम्नस्य पराक्रमेणेत्याह **तामापतन्तीमि**ति.

तामापतन्तीं भगवान् प्रद्युम्नो गदया गदाम् ।

अपास्य शत्रवे क्रुद्धः प्राहिणोत् स्वगदां नदन्।।२०।।

स्वगदया तां गदामपास्य आगच्छन्तीं दूरादेव मारयित्वा ततः **क्रुद्धः** सन् तद्वत् स्वयमपि नदन् शत्रुर्मारणीयएवेति अन्यथा मारयिष्यतीति

लेखः

सोऽधिक्षिप्त इत्यत्र **यथा तस्मिन्नि**ति. तथाच स्नेहसमएव द्वेषो वर्तते, नत्वधिकः, अत उभयोः समत्वात् स्नेहं बाधित्वा द्वेषकार्यमेव कथं जातमित्यर्थः ।।१८।।

---

१. कृत्रिमत्वे जाते इति मु.पाठः –सम्पा.

वा **स्वगदां प्राहिणोत्. भगवानि**त्येतत्सामर्थ्यहेतुः. भगत्कार्यत्वादावेशित्वाद्वा **भगवान्** ।।२०।।

ततो लौकिकेन जयाभावमाशङ्क्य मायया भगवद्रूपया युद्धं करिष्यामीति प्रवृत्त इत्याह **स च मायामिति.**

स च मायां समाश्रित्य दैतेयीं मयदर्शिताम्।

मुमुचेऽस्त्रमयं वर्षं कार्ष्णौ वैहायसोऽसुरः।।२१।।

दैतेयीत्यनेन भगवत्त्वमुक्तम्. **सम्यगाश्रयणं** मनःपूर्वकं भक्त्या. **मयदर्शितामि**ति सिद्धादुपदेशः सफलो भवतीति ज्ञापनार्थः. ततः अदृश्यः सन् **अस्त्रमयमा**ग्नेयाद्यस्त्रसमूहं **कार्ष्णौ** प्रद्युम्ने स्वयं विहायसि आकाश एव स्थितः **वैहायसः**. असुराणामन्तरिक्षेऽपि गतिरस्तीति सूचयितुं तथोक्तम् ।।२१।।

ततो मायाया भगवत्त्वात् काचित्पीडा जातेत्याह **बाध्यमानोऽस्त्रवर्षेणे**ति.

बाध्यमानोऽस्त्रवर्षेण रौक्मिणेयो महारथः।

सत्त्वात्मिकां महाविद्यां सर्वमायोपमर्दिनीम्।।२२।।

हीनत्वं सम्पादयितुं **रौक्मिणेय** इत्युक्तम्, नहि कृष्णपुत्रे बाधा सम्भवतीति. तथापि **महारथः** क्षत्रियजातित्वेन प्राप्तसामर्थ्यः **सत्त्वात्मिकां** प्रतिस्पर्धिनीं विद्यारूपां तया साक्षादुपदिष्टां समाश्रित्य स्वयम**प्यस्त्रमयं** वर्षं **मुमुचे** इति (पूर्वेण) सम्बन्धः ।।२२।।

ततस्तेनापि बह्व्यो मायाः प्रदर्शिता इत्याह तत इति.

ततो गौह्यकगान्धर्व–पैशाचोरगराक्षसीः।

लेखः

स च मायामित्यत्र **भगवत्त्वमुक्तमि**ति मायाया इति शेषः. दैत्यानां माया ''मायेत्यसुरा''इति श्रुतेर्भगवद्रूपेति भावः ।।२१।।

बाध्यमान इत्यत्र. मायोपदेशे ''सर्वमायाविनाशिनीम्'' (श्लो. १६) इत्युक्तम्, अत्रापि तद्विशेषणकथनात् सैवेयं मायेत्याशयेनाहुः **तया साक्षादि**ति. तस्या मायावतीत्वात् साक्षात्तदुपदेशे मायापि साक्षादेव समायाति, न तु मन्त्राद्यपेक्षेति भावः ।।२२।।

प्रायुङ्क्त शतशो दैत्यः कार्ष्णिर्व्यधमयत् स ताः।।२३।।

पञ्चैता अङ्गमायाः, तेन हि साङ्गो भगवान् सेवित इति विज्ञायते. गन्धर्वा अपि दैत्यपक्षपातिनः. तेषामवान्तरभेदाः सन्तीत्याह **प्रायुङ्क्त शतश** इति. सर्वासामपि सकृदेव निराकरणं कृतवानित्याह **कार्ष्णिः सः** पूर्वप्राप्तमायः **ता व्यधमयत्** ।।२३।।

ततः पौरुषद्वयेऽपि नष्टे तं मारितवानित्याह.

निशातमसिमुद्यम्य सकिरीटं सकुण्डलम्।

शम्बरस्य शिरः कायात् ताम्रश्मश्र्वोजसाहरत्।।२४।।

निशातमिति. यथा श्येने दृष्टे पक्षिणो लीयन्ते तथा तस्मिन् दृष्टे शम्बरो लीनो जात इति निष्प्रभं तं स्वेच्छया **असिमुद्यम्य किरीटकुण्डलसहितं** परित उपरि च शोभायुक्तमधोऽपि दुर्धर्षं **ताम्रश्मश्रुः ओजसा अहरत्** छित्त्वा नीतवानित्यर्थः ।।२४।।

एतत्कर्म न विगीतमिति विज्ञापयितुं देवानां सम्माननामाह **आकीर्यमाण** इति.

आकीर्यमाणो दिविजैः स्तुवद्भिः कुसुमोत्करैः।

भार्ययाम्बरचारिण्या पुरं नीतो विहायसा।।२५।।

आकीरणं सर्वत्र वृष्टिः. कायिके वाचनिके चोक्ते अर्थान्मानसिकमुक्तमिति सर्वथा देवानामादर उक्तः. ततो मायावत्या **अम्बरचारिण्या विहायसा** आकाशमार्गेण प्रद्युम्नो द्वारकां नीतः, आदौ भगवद्गृहे पुत्रत्वे सिद्धे पश्चादन्यत्र पुत्रत्वं सिध्यत्विति. पुरशब्देन अन्तःपुरमप्युच्यते; कृष्णान्तःपुरं नीतवती प्रद्युम्नस्य परिज्ञापनार्थम् ।।२५।।

अन्तःपुरवरं राजन् ललनाशतसंकुलम्।

विवेश पत्न्या गगनाद्विद्युतेव बलाहकः।।२६।।

अन्तःपुरेषु वरं ललनाशतैः संकुलं, विद्युतेव बलाहक इति शोभा दोषाभावश्चोक्तः. आकाशमार्गेण प्रवेशे विचारोऽपि न जातः. आधिदैविकास्तु जानन्तीति न विरोधं कुर्वन्ति. **पत्न्या** सह प्रवेशात् लौकिकोऽपि न दोषः ।।२६।।

ततोऽन्तःपुरं प्रविष्टस्य विचारमाह **तं दृष्ट्वे**त्यष्टभिः, सर्वासां त्रिभिर्विचारः रुक्मिण्याः पञ्चभिः.

तं दृष्ट्वा जलदश्यामं पीतकौशेयवाससम्।

प्रलम्बबाहुं ताम्राक्षं सुस्मितं रुचिराननम्।।२७।।

अलङ्कृतमुखाम्भोजं नीलवक्त्रालकादिभिः।

कृष्णं मत्वा स्त्रियो ह्रीता निलिल्युस्तत्र तत्र ह।।२८।।

अवधार्य शनैरीषद्वैलक्षण्येन योषितः।

उपजग्मुः प्रमुदिताः सस्त्रीरत्नं शुचिस्मिताः।।२९।।

साधारणीनां विचारे हेतुं वक्तुं प्रथमतो मोहमाह. अन्तःपुरे यावन्तो जनाः सुतरां **स्त्रियः तं** प्रद्युम्नं भगवत्सदृशं **दृष्ट्वा कृष्णं मत्वा** प्रथमतः **ह्रीताः** लज्जिताः सत्यः कृष्णस्य **स्त्रियो निलिल्युः**. ता हि स्वच्छन्दं क्रीडमानाः स्थिताः अतो भगवान् दृष्टवानिति लज्जा. भगवत्समानतां वक्तुं विशेषणान्याह **जलदश्याममि**त्यादिना, भगवान् षड्गुणसहितः स्वयम् अयमपि सप्तधा

समानइति श्रीवत्सकौस्तुभौ विना अन्यस्योपलक्षणं वर्णनम्. **जलदश्याममिति** रूपतुल्यता; आकृतिस्तु पुत्रत्वादेव समाना भवति. **पीत**पट्टाम्बरमिति परिच्छदतुल्यता. **प्रलम्बबाहुमि**ति स्त्रीणां सम्यग्ज्ञातावयवतुल्यता. **ताम्राक्षमि**ति अनौचित्यात् क्रुद्ध इव स ज्ञातः. इदं वैलक्षण्यमग्रे वक्ष्यति. **सुस्मितमि**ति तासां भाव्यो धर्मः. **रुचिरमाननमि**ति सर्वोत्कृष्टशोभा. **अलङ्कृतं मुखाम्भोजं यस्य नीलैर्वक्त्रैरलकादिभिः, 'आदि'**शब्देन कुण्डलकिरीटादिभिः. किं बहुना, भगवदीया सर्वा सामग्री ग्राह्या. मुखं हि सर्वेषां भेदजनकम्, तदेव तुल्यं जातमिति भ्रमो युक्तः. यत्र क्वचिल्लीना इति निलीय दर्शनं सम्भवतीति निरूपितम्. ततो जिज्ञासायां भगवतः किञ्चिदाधिक्यं श्रीवत्सादिकं च दृष्ट्वा **ईषद्वैलक्षण्येन** साक्षाद्भगवानयं न भवतीति निश्चित्य, तत्तुल्यत्वेन तदीयत्वं च निश्चित्य पुत्र एवायं भविष्यतीति **प्रमुदिताः** सत्यः **स्त्रीरत्नसहितं** तं द्रष्टुं सर्वाएव **योषितः** समागताः. **शुचि स्मितं यासामि**ति तासां भावान्तरं निवारितम् ।।२७-२९।।

तत्र रुक्मिण्यपि समागता. तासां तस्याश्च पूर्वोक्ता धर्मास्तुल्याः;

विशेषं वक्तुं प्रक्रियान्तरमारभते अथेति. भगवत्पुत्रो भवतीति सम्भावनया सिद्धम्. तासां त्वस्मत्पुत्रो न भवतीति निश्चयः, अस्यास्तु सन्देह इति भिन्नः प्रकमः.

अथ तत्रासितापाङ्गी वैदर्भी वल्गुभाषिणी।

अस्मरत् स्वसुतं नष्टं स्नेहस्नुतपयोधरा।।३०।।

ननु पुत्रत्वे निर्धारिते पश्चात् स्वस्याः अन्यस्या वेति विचारो युक्त इत्याशङ्क्य, भगवत्पुत्रत्वं निर्धारयितुम् एकहेलया स्वस्या अपि प्रथमतः सादृश्यं ज्ञातवतीत्याह. **तत्र** स्त्रीसमूहे **असितापाङ्गी** शोभनदर्शना, **असिते** कृष्णे वा **अपाङ्गौ यस्या** इति. तेन ज्ञानदृष्टिरस्याः अन्यापेक्षया विलक्षणेति इयमेव सादृश्येन पुत्रं स्मृतवती. यतो **वैदर्भी** अत्यन्तं भक्ता. अन्तकरणदेहयोः उत्तमत्वमुक्त्वा मध्ये वाचोऽप्युत्तमतामाह, अन्यथा कायवाङ्मनसां एकमतुल्यं स्यादिति, वल्गु भाषत इति **वल्गुभाषिणी**. सादृश्येन संस्कार उद्बुद्ध इति स्वसुतं नष्टमस्मरत्. यद्यप्यत्यन्तशिशोः स्थूलस्यापि नावयवादिसाधारण्यं तथापि तस्याः त्रिविधोऽप्युत्कर्ष उक्त इति तादृशस्यैव वृद्धावयं भावो भवतीति निश्चित्य **स्वसुतं नष्टमस्मरत्**. स्नेहेन **स्नुतौ पयोधरौ यस्या** इति आधिभौतिकस्य देहस्य आधिदैविकस्यापि तत्सम्पादकस्य संवादो निरूपितः ।।३०।।

एतदीयाश्चत्वारो धर्मा निरूप्यन्तेह्न आन्तर एको बाह्यास्त्रय:. आदौ परिदृश्यमानं सम्भावयति **को न्वयमि**ति.

को न्वयं नरवैडूर्य: कस्य वा कमलेक्षणः।

धृत: कया वा जठरे केयं लब्धा त्वनेन वा।।३१।।

नु इति वितर्केह्न **अयं क:** देवादिषु मध्ये क इत्यर्थ:. वैडूर्यमणि: श्यामपीतो भवति. अयं नीलमेघश्यामोऽपि तया सहितस्तत्कान्त्या वैडूर्यतुल्यो

लेखः

अथ तत्रेत्यत्र **आधिदैविकस्यापी**ति. पयोधरावाधिभौतिको देहः, स्नेह: स्तन्यसम्पादक आधिदैविकः, तस्यापीत्यर्थ: ।।३०।।

इति षष्ठाध्यायव्याख्या।।

जातः. वैडूर्यमणिश्चेत् नराकार: सहज एवोत्पन्नो भवेत्, सोऽपि चेतनो भवेत् तदा प्रद्युम्नतुल्य: स्यादिति मत्वाह **नरवैडूर्य** इति. ननु कस्यचिद्वंशे एतादृशा एवोत्पद्यन्ते, यथा देशविशेषे पाषाणा हीरकरूपा भवन्ति, तस्मान्नाश्चर्यमिति चेत्, तत्राह **कस्य वे**ति. को वा एतादृश: यस्यायं पुत्रो भवेत्? **कमलेक्षण**त्वान्न स्थावरस्य. स्त्रिया अपि भावोऽस्मिन् दृश्यत इति न स्थावराज्जात: नापि मानस: नापि केवलात् पुरुषाद्, अत: का वा तादृशपुरुषयोग्येति तां भावयति **कया वा जठरे धृत** इति. अस्तु वा इयं भार्या एतद्योग्या, कथमनेनोपलब्धेत्याह **केयं लब्धेति. अनेनापि इयं का लब्धा?** वेत्यनादरे, रुक्मिणीहृदये सा न सम्यग्भातीति पूर्वजन्मसम्बन्धिनीति ।।३१।।

एतद्दर्शनेन स्वपुत्रस्मरणात् सादृश्यमेव स्मारकमिति सादृश्यमुपपादयति.

मम चाप्यात्मजो नष्टो नीतो य: सूतिकागृहात्।

एतत्तुल्यवयोरूपो यदि जीवति कुत्रचित्।।३२।।

मम चापीति, यथा कस्याश्चिदयं पुत्र: एवं ममापि पुत्र: एतादृशो भवतीति. **आत्मज** इति गर्भाज्जातः. भिन्नतया विद्यमानं चारुदेष्णमन्यं वा तुल्यतया निरूपयतीत्याशङ्क्य व्यावर्तयति **नष्ट** इति. तर्हि मृतस्य कथं तुल्यतेत्याशङ्क्याह **नीत** इति, अयं नाश: अदर्शनार्थः. **सूतिकागृहादि**त्यनिर्दश एव केनचिन्नीतः. तर्हि कथं रक्षसा घातकेनान्येन वा नीत: तुल्यो भविष्यतीति चेत्, तत्राह **यदि**

जीवति कुत्रचिदिति. तदा **एतत्तुल्यं वयो रूपं च यस्य** तादृशो भवेत्. एतावता स्वपुत्रस्य सम्भावनजीवितस्य एतत्तुल्यता निरूपिता ।।३२।।

अत: परं भेदं निराकृत्य स एवायं भवितुं युक्त इति विशेषं निरूपयति **द्वाभ्यां कथं त्वनेने**ति.

कथं त्वनेन सम्प्राप्तं सारूप्यं शार्ङ्गधन्वन:।
आकृत्यावयवैर्गत्या स्वरहासावलोकनैः।।३३।।
स एव वा भवेन्नूनं यो मे गर्भे धृतोऽर्भक:।
अमुष्मिन्प्रीतिरधिका वाम: स्फुरति मे भुजः।।३४।।

अस्तु वा अयमुत्तम: तथापि **शार्ङ्गधन्वन: सारूप्यं** तदपुत्रत्वे **कथमनेन संप्राप्तम्? शार्ङ्गधन्वन** इत्यनेन ज्याघाता: भगवतो निरूपिता: ते अस्मिन्नपि दृश्यन्त इति. कायवाङ्मनोभिस्तुल्य इति समानान् षड्धर्मानाह. **आकृत्या अवयवै:** गत्येति अवयवा-ऽवयवि-कार्याणि तुल्यानि निरूपितानि. स्वरो वाचिकः, **हासावलोकनं** मानसं भावसूचकमिति. एतत्तु भेदे न घटत इति स एवायं वा भविष्यतीति सम्भावयति. **नूनं** निश्चयेन यो भगवत्पुत्रः, तत्रापि यो **मया गर्भे धृत:**. ननु भगवाननेकपत्नीक इति द्वीपान्तरे देशान्तरे वा भगवत: सकाशात् कस्यांचिज्जातो भवतु, तत: सर्वमुपपद्यत इति कथं त्वया जठरे धृतो भविष्यतीत्याशङ्क्याह **वाम: स्फुरति मे भुज** इति. वामभुजस्फुरणमत्यन्तप्रियस्य समालिङ्गनं सूचयति येन परमानन्दो भवति; तादृश: पुत्रएव ।।३३-३४।।

एवं तस्मिन् स्वपुत्रत्वं निश्चित्यापि सम्यक् लोकतोऽपरिज्ञाने तथा व्यवहार: कर्तुं न शक्यत इति सन्दिहानाइव स्थिता. ततो भगवान् निश्चयार्थं सर्वै: सह समागत इति वदति **एवमि**ति.

एवं मीमांसमानायां वैदर्भ्यां देवकीसुतः।
देवक्यानकदुन्दुभ्यामुत्तमश्लोक आगमत्।।३५।।

यतोऽयं **देवकीसुत:** भक्तहितकारी, सुतरां स्त्रीणाम्. रुक्मिणी च भक्ता, सा च **मीमांसमाना** क्लेशे**नैवं** स्थिता. अतस्तद्दुःखनिराकरणार्थं, पुत्रत्वेन स्वीकारे पित्रादय: प्रयोजका इति **देवक्या आनकदुन्दुभिना** च सहितः, समागतः. यतोऽय**मुत्तमश्लोक:,** अन्यथा वाच्यता भवेदिति. अत्र भीतिपतितम्

अक्षरच्युतकालङ्कारं बोधयति यथा 'राक्षो रक्ताक्ष' इति. अयं च पुत्रः च्युत एव स्थानात्पुनः प्राप्त इति सूचयितुम् **आ** सर्वैः सह **अगमत्** ।।३५।।

आगत्यापि स्वयं कथने बहिर्मुखाः लोभं सम्पादयेयुरिति तूष्णीं स्थित इत्याह **विज्ञातार्थोऽ**पीति.

विज्ञातार्थोऽपि भगवांस्तूष्णीमास जनार्दनः।

नारदोऽकथयत् सर्वं शम्बराहरणादिकम्।।३६।।

ज्ञाने **भगवानि**ति हेतुः, तूष्णींभावे **जनार्दन** इति. स हि जनानामविद्यामर्दयतीति निन्दायां तु तेषामविद्या न गमिष्यतीति. तदा भगवदिच्छया नारदः समागत्योक्तवानित्याह **नारदोऽकथयत्सर्वमि**ति. स्वकृतमेवेति दोषपरिहारोऽप्यनेन कृतः. **शम्बरस्य आहरणमा**रभ्य समागमनपर्यन्तं **सर्वमु**क्तवान्. नारदवाक्यं हि सर्वेषामेव संमतम् ।।३६।।

ततः सर्वैरङ्गीकर्तव्यमिति सापत्न्यात् कृष्णस्त्रियो रुक्मिणीव्यतिरिक्ताः प्रथममङ्गीकृतवत्य इत्याह **तच्छ्रुत्वे**ति.

तच्छ्रुत्वा महदाश्चर्यं कृष्णान्तःपुरयोषितः।

अभ्यनन्दन् बहूनब्दान्नष्टं मृतमिवागतम्।।३७।।

राजस्य एताः. **महदाश्चर्यं श्रुत्वे**तिह्न कथं मत्स्यभक्षितस्य जीवनं संपूर्णावयवत्वं च, कथं वा विशसने अक्षतत्वं, समुद्रप्रक्षेपे वा अमरणमिति तासामनङ्गीकारे बाधकमाह **कृष्णान्तःपुरयोषित** इति. स्वस्याप्येवं पुत्रस्य नयने अन्या अप्यङ्गीकारं न कुर्युरिति भावः. **अभ्यनन्दन्** अयं पुत्रो भवति अस्माकमिति सापत्न्यभावेन दोषदर्शिन्यो न जाताः किञ्च परमस्नेहेन अभितः आनन्दयुक्ता अपि जाताः. तत्र हेतुः **बहूनब्दान्** बहुवर्षपर्यन्तं **नष्टम**दृष्टमिति, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया. न केवलं चिरकालदर्शनमेव तत्र हेतुः किन्तु मृतश्चेदायाति शीघ्रमेव तदापि महानानन्दो भवतीति मृतं पश्चात्स्वस्**थमागतं** यथा सादरं लोका अभिनन्दनं कुर्वन्ति. देहे विद्यमान एव जीवने अभिनन्दनम् ।।३७।।

सात्त्विकानामभिनन्दनमाह **देवकी**ति.

देवकी वसुदेवश्च कृष्णरामौ तथा स्त्रियः।

दम्पती तौ परिष्वज्य रुक्मिणी च ययुर्मुदम्।।३८।।

तथा स्त्रियः सात्त्विक्यः **तौ दम्पती** मायावती प्रद्युम्नश्च **परिष्वज्य** पुत्रत्वात् पुत्रवधूत्वाच्च **मुदं ययुः. रुक्मिणी** चेति भिन्नतया निरूपणं सर्वेषां यावत्सुखं तावदेकस्याएव जातमिति ज्ञापनार्थम् ।।३८।।

साधारणानां तामसानां सम्मतिमाह **नष्टं प्रद्युम्नमायातमि**ति.

नष्टं प्रद्युम्नमायातमाकर्ण्य द्वारकौकसः।

अहो मृत इवायातो बालो दिष्ट्येति हाब्रुवन्।।३९।।

तेषां विपरीतभावनाभावाय वचनमाह **अहो मृत इवायात** इति. लौकिकभाषायामश्लीलवचनं न दोषाय. हेत्याश्चर्ये, **अहो** इति च; गमनागमनयोरुभयत्राश्चर्यमाह ।।३९।।

कामस्य महता प्रयासेन देहग्रहणे फलं[१] जातं न वेति सन्देहं निराकर्तुमाह **यं वै मुहुरि**ति.

यं वै मुहुः पितृसरूपनिजेशभावाः

तन्मातरो यदभजन् रहरूढभावाः।

चित्रं न तत् खलु रमास्पदबिम्बबिम्बे

कामे स्मरेऽक्षविषये किमुतान्यनार्यः।।४०।।

।।इति श्रीमद्भागवत–दशमस्कन्धे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।

पितृसरूपतया पितुः समानं यद्रूपं तेन कृत्वा **निजेशभावाः** कृष्ण एवायमिति बुद्धियुक्ताः. **निजेशः** कृष्णः. तस्य मातरोऽपि **ऊढभावाः** सत्यः तद्दर्शनेन उद्गतकामाः रहः एकान्तमभजन् निलीना जाताः. एतच्चित्रं **न. रमाया आस्पदरूपं यद्** बिम्बं भगवान् श्रीनिवासः तस्य **बिम्बं** कार्यं प्रतिबिम्ब इति यावत्. बिम्बवदेव प्रतिबिम्बेऽपि बुद्धिर्भवतीति न कोऽपि दोषः. **रमास्पदपदं** लक्ष्म्या अपि तत्र प्रदर्शनार्थम्. तेन लक्ष्मीश्चेत् तत्र वयं कथं नेति तासां भ्रमे हेतुर्मुख्यो निरूपितः. किञ्च **कामे** कामात् सर्वं सम्भवति. किञ्च **स्मरे अक्षविषये** सति स्मृतएवानर्थं करोति, किमुत प्रत्यक्षविषयः यत्र भगवत्स्त्रीणामेवैषा व्यवस्था त**त्रान्यनारीणां** कामोद्बोधः किं वक्तव्य इत्यर्थः. एवं कामस्य सर्वलोकेषु प्रतिष्ठितत्वमुक्तम्. स्त्रीषु प्रतिष्ठितः सुखहेतुर्भवति न तु पुरुषेष्विति तथोक्तम् ।।४०।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां

दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे षष्ठोऽध्यायः।।

।।इति द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।

---

१. कामस्य फलं जगन्मोहनं, तज्जातमित्याहुः यं वा इति श्लोकेन.

।।सप्तमो स्कन्धादितः त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।

सप्तमे कामतः प्रोक्तो विवाहस्तामसः परः।
सात्त्विकश्च प्रसङ्गेन क्लेशेनोभे निवारिते।।(१)।।
क्लेशापनोदनार्थाय चौर्यमत्र निरूप्यते।
वाचिकं कायिकं चैव कायेन वचनेन च।।(२)।।
सम्बन्धी च तथा भक्तः स्वापराधापनुत्तये।
सत्यभामा जाम्बवती ताभ्यां सम्यक् निरूपिते।।(३)।।

लेखः

सप्तमेऽध्याये कारिकायां **सप्तमे** इति. जाम्बवती**विवाहस्तामसः, परः** सत्यभामा**विवाहः सात्त्विकः,** सच चौर्य**प्रसङ्गेन प्रोक्त** इत्यर्थः. तथाच रुक्मिणीविवाहस्य परिशेषादेव राजसत्वं सिद्धमिति भावः. रुक्मिणी-जाम्बवतीविवाहयोरपि भगवत्परिग्रहत्वेन सात्त्विकत्वे सम्भवति तथात्वाभावे हेतुमाहुः **क्लेशेने**ति. **उभे** रुक्मिणीजाम्बवत्यौ **क्लेशेन** पितृगृहा**न्निवारिते** क्लेशं कृत्वा पितृगृहात् स्वगृहमानीते. अतो न तद्विवाहयोः सात्त्विकत्वं किन्तु सत्यभामायामाहूय दानेन क्लेशाभावात् तद्विवाहस्यैव सात्त्विकत्वमित्यर्थः. **चौर्यमत्रे**ति, सत्यभामाविवाहप्रकरणे **क्लेशापनोदनार्थाय चौर्यं निरूप्यते.** अतः क्लेशाभावात् सात्त्विकत्वमित्यर्थः. **वाचिकमि**ति, सत्राजितोक्तं **वाचिकं** मिथ्याभिशापं **कायेन** स्वयं बिले गत्वा युद्धं कृत्वा, कायिकं च शतधनोः सकाशात् मणिग्रहणरूपं मिथ्याभिशापम् अक्रूरमानीय तद्बोधकेन **वचनेन** निवारितवानिति शेषः. क्रमेणाध्यायद्वयेन द्वयमपि निवारितवानित्यर्थः (१-२).

सम्बन्धी चेति. [१]एतादृशः सत्राजित् **स्वापराधापनुत्तये** सत्यभामां दत्तवानिति शेषः. **सत्यभामे**ति, इयं **जाम्बवती** च एते उभे भार्ये ताभ्यां वाचिक-कायिक-मिथ्याभिशापाभ्यां हेतुभूताभ्यां विवाहिते **निरूपिते** इत्यर्थः.[१] (३).

१-१. अत्र ''एतादृशः सत्राजिद्, भक्तो जाम्बवान्, ताभ्यां स्वापराधापनुत्तये सत्यभामा जाम्बवती च, एते इति शेषः. भगवते सम्यक् निरूपिते दत्ते इत्यर्थः. ताभ्यामित्यस्यैव विवरणं सम्बन्धी च तथा भक्त इती''ति पाठान्तरम्.

गुणा एतास्ततोऽग्रे तु विद्यारूपा निरूपिताः।
एवमष्टौ महिष्यो हि सात्त्विक्यस्तु ततः पराः।।(४)।।
विवाहाः सप्त कामेन कृपया तु सहस्रशः।
विधितस्त्वेक एवोक्तो द्वयोरत्र निरूप्यते।।(५)।।

रुक्मिण्या विवाहं पुत्रसम्पत्तिं चोक्त्वा निमित्तवशात् सत्यभामाया विवाहमाह **सत्राजित** इति.

।।श्रीशुक उवाच।।

सत्राजितः स्वतनयां कृष्णाय कृतकिल्बिषः।
स्यमन्तकेन मणिना स्वयमुद्यम्य दत्तवान्।।१।।

'**सत्राजित्**'शब्दः तकारान्तः अकारान्तोऽपि, सत्रान् रक्षकसहितानपि जयतीत्यर्थे क्विप्. सत्राणां जितं यस्मादिति क्तान्तेन बहुव्रीहौ अदन्तता भवति. एतदधीनएव महतामपि जय इति द्वितीयोऽर्थः. **स्वतनयां स्वयमुद्यम्य दत्तवानि**ति अप्रार्थितः अनभिप्रेतश्च. तथापि दाने हेतुः कृतकिल्विष इति, कृतापराधः तदपराधदूरीकरणार्थं **स्यमन्तकेन मणिना** सह यत्कृते अपराधः तदपराधनिमित्तं दण्डार्थे कन्यां च दत्तवान्. संक्षेपकथेयमिति केचित्, वस्तुतस्तुनसमाधिभाषा.नह्युदारलीलावतः अपकीर्त्यादिकं समाधिकार्यं भवति,

---

लेखः

गुणा एता इति, **एता** रुक्मिणी-जाम्बवती-सत्यभामाः **गुणरूपा** रजस्तमःसत्त्वरूपा इत्यर्थः. **द्वयोरत्रे**ति, **द्वयो**र्विवाहः **अत्र** चौर्यप्रकरणे **निरूप्यत** इत्यर्थः (४-५).

सत्राजित इत्यत्र. त्रायन्तीति त्राः, त्रैधातुः कर्तरि क्विप्. ''आदेच'' इत्यनेन आत्वम्. पुल्लिङ्ग आकारान्तः शब्दः. त्राभिः सहिताः सत्राः, स्त्रीत्वाभावाद्गोरिति ह्रस्वो न, तान् जयतीति सत्राजिदिति व्युत्पत्तिमभिप्रेत्याहुः **सत्रानि**ति. अव्युत्पत्तिपक्षे धातुत्वाभावाद् ''आतो धातोरि''त्यालोपो नेत्यभिप्रेत्य **सत्रानि**त्युक्तम्. एतत्पक्षाश्रयणं सिद्धान्तकौमुद्यां ''पुमः खय्यम्परे'' इति सूत्रे स्फुटम्. न **समाधिभाषे**ति विस्तर इति शेषः. प्रथमश्लोकमात्रं समाधिभाषा, विस्तरस्तु लौकिकीभाषा. तयोरपि भक्तिसाधकानामेव चरित्राणां वक्तव्यत्वात्. **कृतकिल्बिष** इति यथाकथञ्चिदपराधोऽपि सम्भवति. अतोऽनभिप्रेतत्वेन

कल्पान्तरत्वेन वा अवचनम्. वस्तुतः सत्यभामा सरस्वत्यंशा भूम्यंशा वेति तस्या विवाहार्थं तथोद्योगः भगवतैव कृतः. स्वीकारोऽत्र वक्तव्यो राजसानाम्, तदर्थं स्त्रीप्रकरणे सत्यभामादीनां परिग्रहमात्रमत्र वक्तव्यम् ।।१।।

नन्वाकाङ्क्षापूरणाभावात् संक्षेपपरत्वमेव कुतो न भवतीति चेत्, मैवम्, मित्रविन्दा-विवाहवद् यावदुक्तेनैव आकाङ्क्षानिवृत्तिसम्भवात् विशेषं पृच्छति.

।।राजोवाच।।

सत्राजित: किमकरोद् ब्रह्मन् कृष्णस्य किल्बिषम्।

स्यमन्तक: कुतस्तस्य कस्माद्दत्ता सुता हरे: ?।।२।।

सत्राजित इति. **ब्रह्म**न्निति ज्ञानार्थम्. **कृष्णस्य** सदानन्दस्य कथं वा कोऽप्यपराधं कुर्यात्, तत्रापि पालकस्य? अपराधनिमित्त: **स्यमन्तको** वा भगवद्भक्तानां **कुत: ?** देवतान्तरभजनात् तथात्वे कथं वा तस्य निरोधे सम्बन्ध इति प्रश्नाभिप्राय:. विरुद्धानामपकारकरणं युक्तं, तथा सति तेषां सर्वस्वेन सह कन्यादानं चायुक्तं, तस्मात् कथमयमुभयात्मक इति **कस्मा**द्धेतोः सुतां दत्तवान्? कन्यापि सूर्यादेव प्राप्ता वरलब्धा, न तु तस्य औरसी. भगवान् नन्दपुत्र इव तस्यापि कन्येति पुराणान्तरव्यवस्था. अतएव यादवानां विवाहदोषो न शङ्कनीय:. अत्रापि ''स्त्रीरत्नं रत्नमेव चे''ति वाक्याद् देवादेव प्राप्तमिति लक्ष्यते. भगवानपि अक्लिष्टकर्मा सगोत्रापक्षे विवाहं न कुर्यात् ।।२।।

लेखः

समाधिपोषकत्वात् कथनमित्यादिकं निबन्धे व्युत्पादितमेव. परिग्रहमात्रमिति **मात्र**पदेन विस्तरव्यावृत्तिः. अतएव रुक्मिणीविवाहविस्तरोऽपि न समाधिभाषेति पूर्वमुक्तम् ।।१।।

प्रश्नश्लोके **तत्रापि पालकस्ये**ति. कृष्णो द्वारिकां निर्माय सर्वान् पालितवान्; तादृशस्य नत्वन्ययादवसदृशस्येत्यर्थ:. **अत्रापी**ति भागवतेऽपीत्यर्थ: ।।२।।

विस्तरेण वक्तुं कथामारभते **आसीदि**ति.

।।श्रीशुक उवाच।।

आसीत् सत्राजित: सूर्यो भक्तस्य परम: सखा।

प्रीतस्तस्मै मणिं प्रादात् सूर्यस्तुष्ट: स्यमन्तकम्।।३।।

स्वतन्त्रकथेयमित्यप्यासीदित्यनेन सूचितम्. सत्राजित आसीदिति भिन्नं वाक्यम्. तस्य महत्त्वं ख्यापयितुमाह **सूर्यो**ऽपि **भक्तस्य परम:** सखा **आसीदि**ति. भक्तस्य सख्यं शीघ्रं प्रयच्छतीति सूर्यस्य स्वभावो वर्णित:. अनेन सूर्य: परमदयालु: अल्पेऽपि भजने बहु प्रयच्छतीति निरूपितम्. ततो यज्जातं तदाह **प्रीतस्तस्मै मणिं प्रादादिति. मणि:** स्यमन्तक:. कुत्रत्यो मणिरित्याकाङ्क्षायामाह **सूर्य** इति, स हि मणिं सूते. सर्वमेव सूर्यात् प्रभूतमिति तस्य मणिमात्रप्रसवे न दूषणम्. तदर्थमेव मणिरुत्पादित इति लक्ष्यते. यत: **प्रीत:** तस्य भक्त्या सन्तुष्ट: **स्यमन्तकमुत्पा**दितवान्. उत्पाद्यापि ततोऽपि **प्रीत: प्रकर्षेणादात्** तस्मिन् सामर्थ्यं स्थापयित्वा अदात्. प्रकर्षेणैव दानाद् भोगार्थं भोगसाधनसम्पादनार्थं च तज्जातमिति लक्ष्यते ।।३।।

अतस्तस्य प्रथमतो भोगमाह स तं बिभ्रदिति.

स तं बिभ्रन् मणिं कण्ठे भ्राजमानो यथा रवि:।
प्रविष्टो द्वारकां राजंस्तेजसा नोपलक्षित:।।४।।

स्वतेजस्तस्मिन् स्थापितमिति तद्धारणेन सूर्यएव धृत:. अतएव तत्प्रभावाद् **यथा रवि:** तथा **भ्राजमानो** जात:. स चेदन्यत्र तिष्ठेत्, न काप्यनुपपत्तिर्भवेत्, सूर्यश्च रक्षको भवेत्. स पुनस्तद् गृहीत्वा द्वारकास्थितान् भक्तान् वञ्चयन्निव समागत:. तत: सूर्येण उपेक्षित इत्यभिप्रायं वक्तुं तस्य द्वारकाप्रवेशमाह **प्रविष्टो द्वारकामिति. राजन्निति** सम्बोधनमन्यविषये अन्यो रक्षां न करोतीति ज्ञापयितुम्. तस्य मनोरथ: सिद्ध इत्याह **तेजसा नोपलक्षित** इति ।।४।।

तस्य प्रभाव: सर्वजनीनो जात इति वक्तुं लोकानां भ्रममाह तं **विलोक्ये**ति.

तं विलोक्य जना दूरात् तेजसा मुष्टदृष्टय:।
दीव्यतेऽक्षैर्भगवते शशंसु: सूर्यशङ्किता:।।५।।

निकटे ज्ञायेतापि, **दूरादेव,** तत्रापि **तेजसा मुष्टदृष्टय:,** स्वस्वामिन: स्थाने महान्तोऽपि समायान्तीति सन्तोषाद्, भगवत्स्थाने समागता:. भगवानपि अन्यासक्त: नास्य सन्माननं करिष्यति, ततोऽयं अस्मान् विलम्बित: तेजसा पीडयिष्यतीति **सूर्यात् शङ्किता:** लौकिकव्यसनरूपे द्यूते **अक्षैर्दीव्यते भगवते शशंसु:**. शतमक्षान् विजानातीति मध्येऽधिदेवन[१]एव सभ्ये अक्षक्रीडेति विमर्श:.

अन्यथा धर्मस्थापनार्थमवतीर्णः कथमक्षक्रीडां कुर्यात्, मुख्यं हि तदधर्मस्थानमिति? सूर्यस्य समागमनं बाधितं मत्वाह **भगवत** इति ।।५।।

सूर्यागमनेन स्वतोपि ज्ञातमहत्त्वाः स्तुत्वा भगवन्तं विज्ञापयन्ति **नारायणे**ति त्रिभिः.

।। जना ऊचुः ।।

नारायण नमस्तेऽस्तु शङ्ख चक्रगदाधर।
दामोदरारविन्दाक्ष गोविन्द यदुनन्दन।।६।।

नारायणपदं सूर्यान्तर्यामी नारायण इति तस्मिन्नागते अन्तर्यामिप्रेरणव्यतिरेकेण कार्यं न सिद्ध्यतीति विज्ञापनार्थं सूर्यागमनं सम्भवतीति हेतुरुक्तः. अतस्ते नमः, नमस्कारमात्रं वा अस्मत्साध्यमिति. **शङ्ख चक्रगदाधरे**ति शेषशायिनं नारायणं व्यावर्तयति, नारायणत्वं वा स्थापयन्ति. **दामोदरे**ति भक्तकृपालुत्वम्, तादृशस्यात्रागमने हेतुरुक्तः. **अरविन्दाक्षे**ति समागतस्य तापापनोदनं कार्यमुक्तम्. **गोविन्दे**ति तथाकरणे आवश्यकत्वं, यतोऽयमिन्द्रो जातः. किञ्च यदुनन्दनेति तदर्थमेवावतीर्णः ।।६।।

लेखः

तं विलोक्येत्यत्र **शतमक्षानि**ति, शतमध्ये सभायोग्येऽधिदेवनेऽक्षक्रीडा निषिद्धा नेति विमर्श इत्यर्थः ।।५।।

---

१. मध्येऽधिदेवनदिवसे अक्षक्रीडेति प्रभुभिः पठ्यते शतमित्यादि. सहस्रेषु लोकानां शतमक्षक्रीडां विशेषेण जानातीति चातुर्यकार्यत्वात् सभायां साधुन्येव क्रीडने अक्षक्रीडा गणितेति न राज्ञामक्षक्रीडने दोषो विगानं वेति भावः.

अतएवात्र बहु कार्यं तवास्तीति स्वत आगमनाभावात् स्वयमागत इत्याहुः **एष आयाती**ति.

एष आयाति सविता त्वां दिदृक्षुर्जगत्पते।
मुष्णन् गभस्तिचक्रेण नृणां चक्षूंषि तिग्मगुः।।७।।

आगतस्य विज्ञाप्यमस्तीत्याहुः **सविते**ति. प्रसवितायं साम्प्रतं च भगवान् लीलया च तिष्ठतीति तदनुगुणप्रसवार्थं प्रष्टुमागत इत्यर्थः. प्रश्नस्तु दूतद्वारापि सम्भवतीति विशेषमाहुः त्वां दिदृक्षुरिति. स्नेहाभावेऽपि दर्शनमावश्यकमित्यत्र हेतुमाहुः जगत्पत इति. स्वस्य निवेदने हेतुं वदन्त आहुः **मुष्णन्गभस्तिचक्रेणे**ति. दूरे स्थितस्य गभस्तयोऽल्पीयांसः समायान्ति, निकटे तु गभस्तिचक्रेण पीडयति. **नृणामित्यल्पसत्त्व**ता. तर्ह्ययं दोषो निवारणीय इत्याशङ्क्य तस्य स्वाभाविकोऽयमित्याह **नृणां चक्षूंषि तिग्मगुरि**ति. ज्ञानप्रदो भगवान् अत्र समागतः; ज्ञानसाधनमेव दूरीकरोतीति प्रतिविधेयः ।।७।।

ननु तथापि भवन्तोऽन्तरङ्गाः तान्निवारयतेति चेत्, तत्राह **नन्वन्विच्छन्ती**ति.

नन्वन्विच्छन्ति ते मार्गं त्रिलोक्यां विबुधर्षभाः।

ज्ञात्वाद्य गूढं यदुषु द्रष्टुं वायात्यजः प्रभो।।८।।

देवाः समागच्छन्तः कथं वारणीयाः, तत्रापि स्वप्रभुं द्रष्टुं, तत्रापि **विबुधर्षभाः?** किञ्च **अद्य यदुषु गूढं ज्ञात्वा समागताः**. तत्र यदि कश्चिन्निवारणं कुर्यात् तदा अनेनैव प्रतार्यत इति तमेव मारयेयुः. ननु तथापि सूर्यो नायास्यति, स हि सर्वदा व्यापृतः, तत्राह **द्रष्टुं वा आयात्यज** इति, ब्रह्मा वा द्रष्टुमायाति. अवतीर्णस्य रूपान्तरस्वीकरणेनान्यथात्वे पूर्वव्यवहारोऽनुचित इत्याशङ्क्याह प्रभो इति, हे सर्वसमर्थ ।।८।।

तदा भगवान् **कर्म न** परित्याज्यमिति स्वयं तथैव स्थितः प्रजानां मोहं दूरीकृतवानित्याह **निशम्ये**ति.

।।श्रीशुक उवाच।।

निशम्य बालवचनं प्रहस्याम्बुजलोचनः।

प्राह नासौ रविर्देवः सत्राजिन्मणिना ज्वलन्।।९।।

बालानाम् अज्ञानां **वचनम्**. ते हि स्वोत्कर्षमेव विचारयन्ति, न तु निमित्तम्. तथैतेऽपि स्वोत्कर्षत्वेन मदुत्कर्षमेव भावयन्ति. ततो यं कञ्चन समागच्छन्तं महत्त्वेन मत्सम्बन्धित्वेन च कल्पयन्ति. तस्मात् स्वोत्कर्षपरान् अज्ञान् दृष्ट्वा प्रहस्य दृष्ट्यैव तेभ्यः सुखं दत्तवानित्याह **अम्बुजलोचन** इति. **असौ देवरू**पो **रविर्न** भवति किन्तु रवेस्तेजो. रविभक्तश्चायं भवति, तेन देवपदं संगच्छते. किन्तु सत्राजिदयम्. कथमेवं जात इति चेत्, तत्राह **मणिना ज्वलन्निति** ।।९।।

मणिना तस्य भोगमुक्त्वा अर्थसम्पत्तिमाह सत्राजित्स्वगृहमिति.

सत्राजित्स्वगृहं श्रीमत्कृतकौतुकमङ्गलम्।

प्रविश्य देवसदने मणिं विप्रैर्न्यवेशयत्।।१०।।

भगवत्कृपया पूर्वमेव **श्रीमत्कृतानि कौतुकानि मङ्गलानि च यत्र,** अनेन धर्मकामौ निरूपितौ. एवं स्वत:सिद्धत्रिवर्गं **गृहं प्रविश्य** तत्र भक्त्यतिशयाद् **देवसदने** देवपूजागृहे दैत्यानां प्रवेशाभावाय **विप्रैः** सह मन्त्रपूर्वकं मणिं **न्यवेशयत्** नितरां स्थापितवान् ।।१०।।

स्थापितस्य फलमाह **दिने दिने** इति.

दिने दिने स्वर्णभारानष्टौ स सृजति प्रभो।

दुर्भिक्षमार्यरिष्टानि सर्वाधिव्याधयोऽशुभाः।।

न सन्ति मायिनस्तत्र यत्रास्तेऽभ्यर्चितो मणिः।।११।।

पञ्चमणमात्रं **भारः,** चत्वारिंशद्धरणानि मण उच्यते मानविशेषः. ते **चाष्टौ** चत्वारिंशन्मणान्१ सुवर्णस्य प्रत्यहं **सृजति.** सविता हि तस्य मूलम् अतोऽयमपि प्रसविता. **प्रभो** इति सम्बोधनं तदाकाङ्क्षाभावाय. न केवलमिष्टसाधकत्वं किन्त्वनिष्टनिवारकत्वमपीत्याह दुर्भिक्षेति. अनावृष्टिकृतं **दुर्भिक्षम्. मारी** शीतलादिदेवाधिष्ठित-व्याधिमरणम्. **अरिष्टान्यन्**यानि आधिव्याधिहेतुभूतानि **आधिव्याधय**श्च. **अशुभाः** स्वप्नादयोऽपि. **मायिनो** राक्षसाः पूतनादयः. **यत्रायमभ्यर्चितो मणि**स्तिष्ठति तत्र नैते भवन्तीति मणेर्दृष्टादृष्टसामर्थ्यं निरूपितम् ।।११।।

अयोग्ये महान् धर्मो न युक्त इति विचार्य भगवान् अनेन मणिना

---

१. मणीति पाठः.

सत्राजितो नाशो भविष्यतीति स्वपुरे च नाशो न युक्त इति, देवान्तराणामत्र सामर्थ्याभावात् तत्प्रसादोऽपि[१] व्यर्थ इति, तस्य लोकद्वयेष्टसिद्ध्यर्थं यावद्द्रव्यं तत उत्पद्यते तावद् ग्रामादिद्वारा तस्मै दापयित्वा, उग्रसेनाय मणिं दापयितुं सत्राजितं प्रति किञ्चिदुक्तवानित्याह **स याचित** इति.

स याचितो मणिं क्वापि यदुराजाय शौरिणा।

नैवार्थकामुकः प्रादाद् याच्ञाभङ्गमतर्कयत्।।१२।।

क्वापीति कियत्कालं प्रयच्छ यावता मृत्युरपगच्छति; ततः स्वयमेव ग्राह्यमिति भगवदभिप्रायो बोधितः. ननु तस्यैव मृत्युर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह **यदुराजाये**ति. **शौरिणे**ति सामर्थ्यं दापने निरूपितम्, लौकिकपक्षपातश्च. तथापि न दत्तवानित्याह **नैवार्थकामुक** इति. स ह्यर्थमेव कामयते सिद्धं न तु मृत्युनिराकरणमपि, अतो **न प्रादात्**. यथैवायं न याचते तथोपायं च विचारितवान्ह्न सूर्यो वक्तव्यः, तद्द्वारा उपद्रवश्च कारणीयः, ततो न याचिष्यतीति याच्ञाभङ्गं तर्कितवान् ।।१२।।

एवं दोषद्वयं तस्य निरूपितम्ह्न आज्ञोल्लङ्घनमपकारचिन्तनं चेति. तत्र स्वस्यैवापकारो जातः आज्ञाभङ्गफलं मृत्युरपि जात इत्यध्यायद्वयेन निरूप्यते. एतादृशोऽपि मणिः भगवद्भावरहितः अनर्थपर्यवसायी जात इति निरूपयन्ह्न भगवदाज्ञोल्लङ्घनात् तदीयानां बुद्धिरेव दुष्टा जातेति पूज्यमपि मणिं सत्राजिन्मात्रपरिधेयं च, भक्तस्यैव भगवद्धर्मा उपकारिण इति ह्नसामान्यं तं मणिं ज्ञात्वा प्रसेनोऽपि तत्प्रतिष्ठार्थं तद्भ्राता कण्ठे उन्मुच्य गतवानित्याह **तमेकदे**ति.

तमेकदा मणिं कण्ठे प्रतिमुच्य महाप्रभम्।

प्रसेनो हयमारुह्य मृगयां व्यचरद् वने।।१३।।

कण्ठे मणिं प्रतिमुच्य, एतत्प्रभया मृगा अन्धा भविष्यन्ति ततो धर्तव्या इति. **महाप्रभं** सूर्यवत्प्रकाशमानम्. **प्रसेनः** प्रकृष्टसेनायुक्तोऽपि एकाकी **हयमारुह्य मृगयां** कर्तुं **व्यचरत्**. मृगा यान्त्यस्यामिति मृगनाशिका राजलीला मृगया, तामुद्दिश्य **वने व्यचरत्** ।।१३।।

---

१. तत्प्रयास इति पाठः.

महाप्रभत्वाद् असहिष्णुः सिंहः तं हत्वा मणिं नीतवानित्याह **प्रसेनमि**ति.

प्रसेनं सहयं हत्वा मणिमाच्छिद्य केसरी।

गिरिं विशन् जाम्बवता निहतो मणिमिच्छता।।१४।।

अलौकिकेनोपायेन न मृगा हन्तव्याः, भगवांस्तेषु नालौकिकं दत्तवानिति, मृगयैव, तदर्थं निर्मिता. तेषां वधं मणिना चिन्तयन् तेनैव स्वमृत्युं१ प्राप्तवान्. स

मणिर्देवरूपइति क्रुद्धो मणिर्यत्रैव स्थितः तमेव घातयतीति परम्परया बहूनां वध उच्यते. **हयसहितं प्रसेनं हत्वा मणिः केसरिणा** गृहीतः. सोऽपि निकृष्टस्थाने मणिं नयन् **गिरिं विविक्षन्** कन्दरां प्रविशन् **जाम्बवता निहतः**. ननु महान् सः, किमिति सिंहं हतवान्? तत्राह **मणिमिच्छते**ति, अहतः सिंहो मणिं न मुञ्चतीति ।।१४।।

तस्य मणेः प्रयोजनमाह सोऽपि चक्र इति.

सोऽपि चक्रे कुमारस्य मणिं क्रीडनकं बिले।

अपश्यन्भ्रातरं भ्राता सत्राजित्पर्यतप्यत।।१५।।

बिले स्वस्थानविवरे **कुमारस्या**तिबालकस्य (स्थाने) **क्रीडनकं** क्रीडासाधनं **चक्रे**. एतावदेकेनैव दिनेन निर्वृत्तम्. ततो भ्रातुरन्वेषणार्थं सत्राजिता मनुष्याः प्रस्थापिताः. ततो न क्वाप्युपलब्धः. ततो भ्रातृस्नेहाद् **भ्रातरमपश्यन् सत्राजित्पर्यतप्यत,** मणिरपि गतो भ्रातापि गत इति ।।१५।।

ततः किं जातमिति विचारे भ्रातुरिवास्यापि दुर्बुद्धिरुत्पन्नेत्याह **प्रायः** कृष्णेनेति.

प्रायः कृष्णेन निहतो मणिग्रीवो वनं गतः।

भ्राता ममेति तच्छ्रुत्वा कर्णे कर्णेऽजपज्जनः।।१६।।

अयमपि गतः, भगवान् स्वतोऽन्येन वा स्वयमपि मृगयां गतो मारितवानिति. **प्रायः** इत्युत्कटा कोटिःह्न कृष्णएव समर्थो मणिगुणान् दूरीकर्तुं, हेतुश्चाप्यस्ति मणिः पूर्वं याचित इति, वने च मारणे न कोऽपि ज्ञास्यतीति. एवं निश्चित्य भगवति क्लिष्टमारोपितवान्. ननु केनापि नोच्यते, कथं त्वं कल्पयसीत्याशङ्क्याह **भ्राता ममे**ति. मम तु प्रिय इत्यहं ब्रवीमि,

---

१. स्वयं मृत्युम् इत्यपि पाठः ह्नसम्पा.

अन्यः किमर्थं वक्ष्यतीति भावः. तद्गृहे उक्तं भार्यादिस्थाने, **पश्चात्कर्णे कर्णे** समागत**मजपत्** मन्त्रवत् शनैः भगवत्कीर्तिमुक्तवान्. यतो **जनः,** नह्यल्पेन दोषेण जन्ममरणादिकं प्राप्नोति ।।१६।।

पूर्वं भगवान् विदितवृत्तान्तोऽपि लोकन्यायेनैव व्यवहरन् स्वयमपि श्रुत्वा आप्तमुखात् तत्प्रतीकारार्थं यत्नं कृतवानित्याह **भगवानि**ति.

भगवांस्तदुपश्रुत्य दुर्यशो लिप्तमात्मनः।

मार्ष्टुं प्रसेनपदवीमन्वपद्यत नागरैः।।१७।।

हतं प्रसेनमश्वं च वीक्ष्य केसरिणा वने।

तं चाद्रिपृष्ठे निहतमृक्षेण ददृशुर्जनाः।।१८।।

तद्वृत्तान्तं श्रुत्वा आप्तमुखात् अकस्माद्वा **उपश्रुत्य.** उपश्रुतिः सर्वानेव ज्ञापयति. ततस्तत्प्रतीकारार्थं प्रवृत्त इति वक्तुं निराकरणीयत्वे हेतुमाह दुर्यशो **लिप्तमि**ति, दुर्यशस आलिप्तमालेपनं लेपवदुपर्यपि प्रतिभासनम्. **आत्मन** इति, यदि भगवान् न दूरीकुर्यात्, सर्वेषामात्मा स्वयमिति तद्दोषे कस्यापि मुक्तिर्न भवेद्, अतो युक्तमेव तन्निराकरणम्. तल्लोकन्यायेनैव कर्तव्यमिति **प्रसेनपदवीं नागरैः** पदमार्गाभिज्ञैः तद्गतमार्ग**मन्वपद्यत** तेनैव मार्गेण स्वयं नागरैः सह गतः, अन्यथा लोकः कृत्रिमं जानीयात्. ततस्तं दृष्टवानित्याह **हतं प्रसेनमि**ति. केसरिनखानां चिह्नदर्शनात् **केसरिणैव** हतं ज्ञातवन्तः. ततो मणिरप्यस्मै देय इति, यादवः स्वगोत्रजो मारित इति, पदाभिज्ञैरेव केसरिमार्गमन्वगमत्. **तं चापि अद्रिपृष्ठे** पर्वतोपरि **निहतं ददृशुः** सर्वएव **जनाः**. तत्रापि **ऋक्षेण** ऋक्षपदचिह्नैस्तज्ज्ञानम् ।।१७-१८।।

ऋक्षान्वेषणार्थं भगवान् प्रवृत्त इत्याह **ऋक्षराजबिलमि**ति.

ऋक्षराजबिलं भीममन्धेन तमसावृतम्।

एको विवेश भगवानवस्थाप्य बहिः प्रजाः।।१९।।

यद्यपि भगवान् भक्तार्थमेव तत्र प्रविष्टः तथापि लोके मण्यर्थं कष्टमपि कृतवानिति ज्ञापयितुं तस्मिन् बिले प्रविष्टः. ननु **ऋक्षः** प्राकृतः पशुः, भगवांस्तत्र किमर्थं गत इत्याशङ्क्याह **राजे**ति, ऋक्षाणां राजा महानेव भवति. तत्रान्यस्य प्रवेशाभावाय विशिनष्टि **भीममन्धेन तमसावृतमि**ति. अन्तःकरणस्य इन्द्रियाणां च प्रवृत्त्यभावाय विशेषणद्वयम्. अन्धतमः कदापि सूर्यतेजोरहितम्. अनेन मणिनापि तत्र प्रकाशो न कृत इति सूचितम्. अतो भगवान् अन्यान् स्थापयित्वा दयावन्तमिवात्मानं ज्ञापयित्वा. साधारणत्वादसमर्थत्वादनियामकत्वाच्च ताभिर्भगवन्निवारणं न कृतमिति ज्ञापयितुं **प्रजाप**दम्. साधारणास्तु ततो निवृत्ता इति ज्ञापयितुं प्रजानामेवावस्थापनमाह. प्रायश्चित्तमेकेनैव कर्तव्यमिति मर्यादां पालयन्निव **भगवानेक**एव प्रविष्टः. यादवा अपि भगवदिच्छया अकीर्त्यापि शङ्किता न सङ्गे गताः ।।१९।।

तत्र प्रविष्टस्य मणिदर्शनमाह **तत्र** दृष्ट्वेति.

तत्र दृष्ट्वा मणिश्रेष्ठं बालक्रीडनकं कृतम्।

हर्तुं कृतमतिस्तस्मिन्नवतस्थेऽर्भकान्तिके।।२०।।

यद्यपि तत्र नागलोकमणयः अन्येऽपि दिव्याः सन्ति ततः स्यमन्तकपरिज्ञानं कठिनं तथापि स्वतएवोत्तममिति लौकिकेनापि प्रकारेण ज्ञातुं शक्यमिति ज्ञापयितुं **मणिश्रेष्ठमित्युक्तम्.** तथापि मणिः गुप्तएव स्थाने स्थाप्यत इति भगवान् लौकिकप्रकारेण कथं दृष्टवान्? तत्राह **बालक्रीडनकमि**ति, बालस्य क्रीडार्थमुपरि निबद्धमित्यर्थः. पुराणान्तरे तु स्यमन्तकमणिज्ञापकं वाक्यमपि श्रुतवानित्युक्तम्. तत्र धात्री बालं लालयन्ती आहह्न ''सिंहः प्रसेनमवधीत् सिंहो जाम्बवता हतः सुकुमारक मा रोदीस्तव ह्येष स्यमन्तक'' इति. अतो लौकिकेनापि प्रकारेण ज्ञात्वा अपकीर्तिनिराकरणार्थमिदं हर्तव्यमितिह्न स्वाभाविकं चैतस्य न भवतीति, उपयोगश्च तथा नास्तीति, बालप्रबोधो वर्णमात्रेणापि भवतीति, पूजाभावाद् धनप्रसवो नास्तीति, सुवर्णेनाप्युपयोगाभाव इति, अक्लिष्टकर्मापि पामरा न प्रष्टव्या इति ह्नस्वयमेव **हर्तुं कृतमतिर्जातः.** ततो मत्यैव[१] सर्वा सामग्री अक्लिष्टत्वाय सम्पादितेत्याह. आदौ भगवान् **अर्भकान्तिके** तूष्णीं कियत्काल**मवतस्थे,** न तु गृहीत्वा ततो निर्गतः ।।२०।।

तमपूर्वं नरं दृष्ट्वा धात्री चुक्रोश भीतवत् ।

तच्छ्रुत्वाभ्यद्रवत् क्रुद्धो जाम्बवान् बलिनां वरः।।२१।।

---

१. मत्यैव इति मु.पाठः. -सम्पा.

चौर्यादिना जीवन् अपथप्रवृत्तः महानपि भक्तोऽपि विषयासङ्गात् प्राकृतो जातः अतस्तत्सम्बन्धात् तदीया अपि प्राकृताएव जाताः. अतो भगवन्तं दृष्ट्वा सद्बुद्ध्यभावात् विषयाभिनिवेशाच्च विचारमकृत्वापि आक्रोशं कृतवतीत्याह **तमपूर्वमि**ति. देवादीनामन्यतरश्चेद् वाक्स्तम्भनादिकमपि कुर्यादिति तदभावाद् भगवतो क्लिष्टकर्मत्वं ज्ञात्वा नरोऽयमिति ज्ञातवती. आकृतिवचनो वा नरशब्दः. स्वस्थस्याप्याक्रोशो भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं पुत्रं वा मारयिष्यतीति बुद्ध्या जाम्बवानपि महानिति तथा भयाभावात् **भीतवत् चुक्रोश.** यतो **धात्री** बालकरक्षापरा. ततोऽन्तःकार्यान्तरव्यापृतोऽपि तद्वाक्यं श्रुत्वा समागत इत्याह **तच्छ्रुत्वे**ति. मदायतनेऽपि मण्यर्थं कः समागत इति क्रोधः. **जाम्बवानि**ति नाम्ना

प्रसिद्धो, रामायणे, बुद्धिविशेषे. तादृशोऽप्यविचार्य समागतः. तत्र हेतुर्बलाभिमान इत्यभिप्रायेणाह **बलिनां वर** इति, बलिभिरपि वरणीय इत्यर्थः ।।२१।।

एतादृशोऽपि कालादिवशादज्ञो भूत्वा भगवता सह युद्धं कृतवानित्याह.

स वै भगवता तेन युयुधे स्वामिनात्मनः।

पुरुषं प्राकृतं मत्वा कुपितो नानुभाववित्।।२२।।

स वा इति स्वयमपि प्रसिद्धः, तथा कुर्वन् लोके अपकीर्तिमपि प्राप्स्यतीति सूचितम्, तत्रापि **वै** निश्चयेन. शारीरेण[1] जीवस्याराध्यो भगवान्, तत्रा**प्यात्मनः स्वामिना** स्वस्यैवोपास्यरूपेण. तत्कथमित्याकाङ्क्षायामाह तेनेति, रघुनाथेन. कृष्णएव रघुनाथः, तामेव सर्वां सामग्रीं गृहीत्वा समागत इति. स एव लक्ष्मणो बलः, सैव सीता रुक्मिणी, ते वानरा यादवाः, सैवायोध्या द्वारका, सैव सरयूर्गोमतीति. तर्हि कथं युयुधे? तत्राह पुरुषमिति, प्राकृतं **पुरुषं मत्वा** प्रकृत्यधिष्ठातारं, न तु पुरुषोत्तमम्. ननु महतः कथमेतादृशमज्ञानमिति चेत्, तत्राह **कुपितो नानुभावविदि**ति, दृष्ट्वा क्रोधवशाद् अलौकिकत्वं न ज्ञातवान्. पूर्वं तु कृतो गोवर्धनादेरनुभावो न श्रुतः, सत्सङ्गाभावाद् बिलेशयत्वाच्च. अतोऽनुभावानभिज्ञत्वात् कोपावेशाच्च स्वामित्वेनाज्ञात्वा **युयुधे.** अक्लिष्टकर्मा च भगवान् अनुक्त्वैव स्वयं युद्धं कृतवान्, भगवत उत्तरार्धलीलायां

---

१. शरीरेणेति पाठः.

प्रकृतिः कालादयश्चासहमाना जाताः तेषां पीडार्थं पुरुषं परित्यज्य सप्तविंशति तत्त्वानि यथा काठिन्यं जहति तथा मुष्टिप्रहारैः सेवककृतैः. चलने पादाविव कोमलानि कृतानीत्येके. चिरकालं मल्लयुद्धाकाङ्क्षया तथा कृतमित्यन्ये. रामावतारे हि तस्मै वरो दत्तो रामेण ''त्वदाराधनां ग्रहीष्यामी''ति. पुनस्तेन विज्ञापनायां कृतायां, ''बलं मदीयं व्यर्थं जायत'' इति, ततो भगवान् ''बुद्धिमिदानीं प्रकटीकुरु, बलं पश्चात् प्रकटीकरिष्यसी''त्याह; नहि कश्चिज्जीवस्त्वत्पराक्रमं सोढुं शक्त इति. अतस्तत्र स्थापितां ज्ञानशक्तिं पूर्वावतारे गृहीत्वा इदानीं बलशक्तिमपि गृह्णन् पूजां गृहीत्वा तं मुक्तं करिष्यतीति तथा भगवदुद्योगः ।।२२।।

ग्रहादिवशाज्जयो न जायत इति कदाचित्तस्य शङ्का स्याद् अतस्तन्निराकरणार्थं सर्वेष्वेव नक्षत्रेषु युद्धं निरन्तरं कृतवानित्याह **द्वन्द्वयुद्धमि**ति.

द्वन्द्वयुद्धं सुतुमुलमुभयोर्विजिगीषतोः।
आयुधाश्मद्रुमैर्दोर्भिः क्रव्यार्थे श्येनयोरिव।।२३।।

उभयोरेव युद्धं **द्वन्द्वयुद्धं** सम्यक् प्रकारेण, न तु नटवदभिनयमात्रेण. **तुमुलमधि**कम्, प्रहारे सर्वबलविनियोगस्तुमुलता. **उभयोर्विजिगीषतोरि**ति तथा करणे हेतुःह्व शीघ्रमेव प्रहारेण व्यथितः युद्धं त्यजत्विति जेतुमिच्छा अज्ञानाद् जाम्बवतः, जितएव जानातीति ज्ञापनार्थं भगवतः. तत्र

लेखः

स वै भगवतेत्यत्र उत्तरार्धलीलायामिति. लोकधर्मपुरस्कारेणात्र लीलायां क्रियमाणायां लोकधर्मानुसरणं **प्रकृतिः,** सप्तविंशतिनक्षत्रात्मकः **कालः, आदि**पदेन कर्मस्वभावौ च ह्वएते **असहमाना जाता** इत्यर्थः. **तेषामि**ति. भगवता **सेवके कृतैः** सप्तविंशतितत्त्व-काठिन्यत्यागहेतुभिः **मुष्टिप्रहारैस्तत्त्वानां पीडार्थं युद्धं कृतवानि**ति पूर्वेण सम्बन्धः. **अतस्तत्रे**ति, तत्रावतारे जाम्बवता ज्ञापितां शक्तिं सीतामित्यर्थः. जनकानां ज्ञानप्रधानत्वात् सीतायाश्च तदन्वयस्थत्वाद् ज्ञानशक्तित्वमिति भावः ।।२२।।

ग्रहादिवशादिति श्लोकद्वयस्याभास इति ज्ञेयम्. द्वन्द्वेत्यत्र **जितएवे**ति. मया जितो, मदीयएव, मत्स्वरूपं जानातीत्यर्थः ।।२३।।

युद्धसाधनान्यनेकान्याह **आयुधे**ति. आदौ नानाविधान्यायुधानि. महाशूरत्वाद् भगवतेऽपि दत्वा युद्धं करोतीत्येके. यदेवायुधं जाम्बवान् गृह्णाति तज्जातीयमेव भगवानाविर्भावयतीत्यपरे. यदेव प्रक्षिपति तदेव गृहीत्वा तेन प्रहरतीति वस्तुस्थितिः. **अश्मान**स्तु सुलभाः, **द्रुमाश्**च. सर्वेष्वेव भग्नेषु पश्चा**द्दोर्भिः**. नन्वस्य युद्धस्य को विधिरिति चेत्, तत्र दृष्टान्तमाह **क्रव्यार्थे श्येनयोरिवे**ति. [१]क्रव्यस्थानीयः स्यमन्तको मणिः, श्येनो वै वयसां बलिष्ठो भवति.[१] यावत्स्यमन्तकप्राप्तिः तावद्युद्धमित्यर्थः. अत्यावश्यकमाग्रहं च जनयतीति क्रव्यतुल्यता. क्रव्यमुत्कृष्टमपक्वं मांसं सर्वथा जीवनार्थमपेक्षितम्. तथा लोकापवादनिराकरणार्थं भगवतोऽपेक्षितम्, तस्यापि भास्वरं जयेन प्राप्तमिति मोहादपेक्षितम्. क्षुत्पीडा च श्येनजातीयस्य गोमायोश्च नास्तीति बहूनर्थान् तुल्यान् दृष्ट्वा श्येनौ दृष्टान्तीकृतौ ।।२३।।

एवं युद्धस्य कालमाह **आसीत्तदष्टाविंशाहमि**ति.

आसीत् तदष्टाविंशाहमितरेतरमुष्टिभिः।

वज्रनिष्पेषपरुषैरविश्रममहर्निशम्।।२४।।

अष्टाविंशे दिवसे ज्ञानं जातमिति तदपि दिनं फलरूपं युद्धमध्ये गृहीतम्. **इतरेतरमुष्टिभिः वज्रनिष्पेषादपि परुषैस्तद्युद्धं** मध्ये विश्रामरहितम्. अहर्निशमिति ऐहिकावश्यककालकृतोऽपि विश्रामो नास्तीति सूचयति. भगवांस्तावत् प्रहारं करोति यावत्स करोति, सोऽपि बलरूपो भवतीति **वज्रनिष्पेषादपि** तत्प्रहा**रः परुषः** कठिनः[२]. अतस्तुल्यत्वात् न विरमणम्, नाप्येकस्य पराजयः. भक्तत्वाद्भगवतो न मारणीयः, भगवांस्त्वशक्यएव. अत्र काचिद्विरुद्धा[३] कथा. महामायोपस्थानस्याग्रे निरूपितत्वात् तेन विरोधादुपेक्षणीया. कल्पान्तरीयेत्यन्ये समादधुः ।।२४।।

१-१. क्रव्यादानार्थं क्रव्यस्थानीयः स्यमन्तको मणिः, ''श्येनो वै वयसां बलिष्ठ''इतिश्रुतेः बलिष्ठो भवति, ''वयसामुत्पन्नशीलः बलिष्ठ'' इति पाठद्वयम्. वयसां प्रतिष्ठ इत्यपि पाठः सूचितः क्वचित्.

२. कठिन इति मुद्रिते नास्ति -सम्पा.

३. ''प्रविष्टे तु बिलं कृष्णे वसुदेवपुरःसराः पुरीं द्वारवतीमेत्य हतं कृष्णं न्यवेदयन्'' इति हरिवंशोक्तेत्यर्थः.

ततः कालकृतं तस्य बलमिति सप्तविंशात्मके काले अतीते, प्राकृतबलपक्षेऽपि अष्टाविंशतिप्रकारं तद्बलमिति, यदैव पुरुषप्रकारः समागतः तदैव तस्य विवेक उत्पन्न इत्याह **कृष्णमुष्टी**ति.

कृष्णमुष्टिविनिष्पातनिष्पिष्टाङ्गोरुबन्धनः।

क्षीणसत्त्वः स्विन्नगात्रस्तमाहातीव विस्मितः।।२५।।

तस्य क्षीणेऽपि बले भगवतो बलं न क्षीणमिति पश्चादल्पप्रहारैरपि **निष्पिष्टाङ्गः, अङ्गानां चोरुबन्धनानि यस्य** विशीर्णसर्वावयवो जात इत्यर्थः. हस्तपादादयो भग्नाः. ततः अशक्तः जिज्ञासायां प्रवृत्त इति वक्तुं बाह्याभ्यन्तराशक्तिमाह **क्षीणसत्त्वः स्विन्नगात्र** इति. अन्तःकरणे विवेकधैर्ये क्षीणे, गात्रेषु प्रस्वेदेन शरीरमपि क्षीणम्, निष्पीडितमिवाभूत्. ततो **विस्मितो** जातः. विचारे क्रियमाणे समागमनादिभिः प्राकृतधर्मैर्जीवत्वे ज्ञाते स्वसमानबलतैव

कस्यापि नास्ति ततोऽधिकबलः कथं जात इत्याश्चर्यम्. भगवत्त्वे वा कथमेवंरूपेणागत इति उभयत्र विरोधा**दतीव विस्मितो** जातः ।।२५।।

ततो विरोधपरिहारे विचार्यमाणे लीलयापि प्राकृतवच्चेष्टा भवतीति निश्चित्य बलस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वाच्च भगवानेवायमिति ज्ञात्वा स्वस्य पराजयः नातीव मनःपीडां करोतीति ज्ञापयन् भगवन्तं स्तौति **जान** इति त्रिभिः.

राजसैः सात्त्विकैश्चैव तामसैस्तन्निभैर्गुणैः।

सम्पूर्णैः सहितो विष्णुर्भगवानेव नान्यथा।।(६)।।

।। जाम्बवान् उवाच ।।

जाने त्वां सर्वभूतानां प्राण ओजः सहो बलम्।

विष्णुं पुराणपुरुषं प्रभविष्णुमधीश्वरम्।।२६।।

कथं निवृत्त इत्याकाङ्क्षायां ज्ञात्वा निवृत्त इत्याह **जान** इति. ज्ञानमार्गानुसारेणापि ज्ञानं सम्भवतीत्यत आह **त्वामि**ति, त्वामहं जाने. तत्र प्रकारानाह **सर्वभूतानां प्राण ओजः सहो बलमिति. प्राण** आसन्यः, तस्य कार्यमोजः इन्द्रियशक्तिः, **सहोऽ**न्तःकरणस्य, बलं शरीरस्य. एवं

लेखः

कृष्णमुष्टीत्यस्याभासे **सप्तविंशात्मके** इति, सप्तविंशतिनक्षत्रात्मके इत्यर्थः ।।२५।।

सर्वप्राणिषु बलात्मा कार्यकारणभेदेन विभक्तवीर्य आसन्यस्त्वमेव. एवं नरोत्तमत्वमुक्त्वा पुरुषोत्तमत्वमाह **विष्णुमि**ति. विष्णुरधिकार्यपि भवतीति तावन्मात्रतां निराकर्तुं विशेषमाह **पुराणपुरुषमि**ति, पुरुषोत्तमम्. किञ्च तादृशोऽपि **प्रभविष्णुः** लोकमुद्भावयति प्रकर्षेण भावयति वा. किञ्च **अधीश्वरं** सर्वनियन्तारं कालरूपम्. पूर्वं क्रियाशक्तिर्निरूपिता चतुर्धा रूपभेदेन, इदानीं ज्ञानशक्तिर्निरूप्यते चतुर्धा. ज्ञानं च चतुर्विधम्ह्न नियामकमेकम्, इष्टसाधनतां ज्ञापयित्वा प्रवर्तकं द्वितीयं, ततः फलदातृत्वेन स्थितं तृतीयं, ततो निर्वाहकसर्वरूपं चतुर्थम्. **तद्विष्णुपदेन** प्रत्यवरोहक्रमेण अन्यैः पदैश्च निरूपितम् ।।२६।।

एवं पूर्णक्रियाज्ञानशक्तिमत्त्वेन भगवन्तं निरूप्य तस्य जगज्जन्मादिमोक्षान्तकार्याणि चत्वारि निरूपयति त्वं हीति.

त्वं हि विश्वसृजां स्रष्टा सृज्यानामपि यच्च सत् ।

कालः कलयतामीशः परमात्मा(/पर आत्मा) तथात्मनाम्।।२७।।

हीति[1] श्रुतयः सम्मत्यर्थं गृहीताः. **विश्वसृजां** तत्त्वानामपि **त्वं स्रष्टा. सृज्यानामपि** घटादीनां सत्स्वरूपं भवानेव ह्वअनेन स्थितिरुक्ता. कलयतां काल-महादेव-यमादीनामपि **त्वं काल** उपसंहारकर्ता. एवं सृष्टि-स्थिति-प्रलयानुक्त्वा मोक्षदातृत्वमाह **परमात्मे**ति. **आत्मनां** सर्वेषामेव जीवानां **परमात्मा** फलरूपः, सायुज्यस्थानमिति यावत्. तथात्मनां वा परमात्मत्वेन सेवमानानां **परमात्मा** मोक्षदाता. अथवा भगवतः सर्वत्वं वक्तुं, सदंशस्योत्पत्त्यादिजनकत्वेन स्वरूपं भगवानित्युक्त्वा, चिदंशमपि भगवानेवात्मेति वदन्, आत्मत्वेनैव स्वरूपता सिद्धेति तन्नियामकान्तर्यामिरूपत्वेन भगवन्तं निरूपयति **परेति** ।।२७।।

एवं मूलकार्यरूपे निरूप्य यएव रामो मम स्वामी सएव

लेखः

जाने त्वामित्यत्र **नरोत्तमत्वमि**ति, देहोत्तमत्वमित्यर्थः. **पुरुषोत्तमत्वमिति**, आत्मोत्तमत्वमित्यर्थः. तज्ज्ञानानुसारेणात्र देहदेहिनोर्भेद उक्तः. **प्रत्यवरोहे**ति, विपरीतक्रमेणेत्यर्थः ।।२६।।

---

१. हीति मुद्रितपाठे नास्ति -सम्पा.

भवानिति वक्तुं रामावतारपौरुषमाह **यस्येषदि**ति.

यस्येषदुत्कलितरोषकटाक्षमोक्षै-

वर्त्मादिशत्क्षुभितनक्रतिमिङ्गिलोऽब्धिः।

सेतुः कृतः स्वयशसोज्वलिता च लङ्का

रक्षःशिरांसि भुवि पेतुरिषुक्षतानि।।२८।।

ईषदुत्कलितः पुष्पप्रायः क्रोधः तत्रापि ऊर्ध्वं कलिकामात्रं जातः, सोऽपि मनस्येवेत्याह **कटाक्षमोक्षैरिति.** अल्पीयसि क्रोधे मनसि जाते दृष्टिस्तादृशी जाता. सापि न सम्पूर्णा किन्तु कटाक्षरूपा. ते च पुनः दृष्ट्यवयवाः मोक्षरूपा इति ज्ञापयितुं कटाक्षाणां मोक्षा निरूपिताः. अल्पजीवाश्चेतनाः तैर्भीता भविष्यन्तीति

किं वक्तव्यम् ततः **अब्धिरपि वर्त्म आदिशत्** ''मदुपरि मार्गं कृत्वा गच्छन्त्वि''त्युक्तवान्. ननु देय एव मार्गः, कथमुपायमुपदिष्टवानित्याह **क्षुभितनक्रतिमिङ्गिल** इति. नक्राणां तिमिङ्गिलानां च क्षोभं दृष्ट्वा तथोक्तवानित्यर्थः. अब्धिश्च आपो धीयन्ते अस्मिन्निति तासां निरन्तरमुत्पत्तिर्बाधिता स्यात्. अतो मर्यादारक्षार्थमपि तथोक्तवान्. अप्स्वभावः भगवत्कृतः तेनान्यथाकर्तुं न शक्यत इति मार्ग एव कर्तव्य इति भगवानेव प्रार्थितः. अन्तरिक्षेणापि गमनेन गत्वा मारयितुं शक्यं, तथा सति राक्षसैस्तुल्यता भविष्यतीति अलौकिके कर्तव्ये प्रस्तराणामेव समुद्रे प्लवनं निरूपितं न वानराणामिति भगवता सेतुः कृत इत्याह. क्रमेण चरित्रत्रयं निरूप्यतेह्न सेतुबन्धो राजसः, दाहः सात्त्विकः, रक्षसां वधश्च शिष्ट इति. जलाग्न्यासन्यानां निमित्तत्वात् सत्त्वादिक्रमो वा. **स्वयशसा लङ्का उज्ज्वलिते**ति, ऊर्ध्वं ज्वलिता ज्वालिता उज्ज्वलीकृता वा. अनेनैतद् ज्ञापितंह्न रघुनाथेनैव लङ्का प्रकाशितेति, अन्यथा लङ्कां को जानीयात्? न ह्यन्यानि राक्षसस्थानानि लोके प्रसिद्धानि. **इषुभिः** क्षतानि स्वयमेव भूमौ पेतुः. [१]क्षतमात्रेणैव भगवत्सामर्थ्यादेव पतितानि ।।२८।।

एवं कृते स्तोत्रे भग्नसर्वाङ्गं यथापूर्वं कृत्वा भगवानुवाचेत्याह इतीति.

।। श्रीशुक उवाच ।।

इति विज्ञातविज्ञानमृक्षराजानमच्युतः।
व्याजहार महाराज भगवान् देवकीसुतः।।२९।।

---

१. क्षत्रेति पाठः, क्षात्रेति च.

विशेषेण ज्ञातं विशेषज्ञानं यस्य, स्वभावतोऽपि **महान्तमृक्षराजानम्, अच्युतः** सर्वतः धर्मा अपि तस्य तथेति. एतत्प्रयोजनमुत्तरश्लोके वक्तव्यम्. तत्कृतपीडाभावाय वा. **व्याजहार** स्पष्टमुक्तवान्. निन्दितत्वात् कदाचित् व्याजेनापि वदेद् अत एतदुक्तम्. **महाराजेति** सम्बोधनं सेवकापराधापरिगणनज्ञापनार्थम्. ननु कथं स्पष्टं वचनं कथं वा नाज्ञापितवानित्याह **भगवानिति,** सर्वसमर्थः. तादृशोऽपि **देवकीसुतो** भक्तकृपालुः. अतो युक्तमेवास्य स्पष्टवचनमिति भावः ।।२९।।

वचनात्पूर्वमेव तस्य हितं च कृतवानित्याह **अभिमृश्ये**ति.

अभिमृश्यारविन्दाक्षः पाणिना शंकरेण तम्।

कृपया परया भक्तं मेघगम्भीरया गिरा।।३०।।

तस्याभिमर्शोऽपि सकृत् कृतो नित्यं तिष्ठति. सामान्यस्यैव वाभिमर्शः सुखकरो भवति तत्क्षणं, किं वक्तव्यमानन्दमयस्य तत्रापि यस्मिन् क्षणे स निष्पादितः ततः प्रभृति तथैवानुवर्तते इति पूर्वावस्थां ततोऽप्यधिकां वा प्राप्तवान्. मानसीं व्यथां दूरीकर्तुमाह **अरविन्दाक्ष** इति, दृष्ट्यैव सर्वसुखदायी. **शंकरेण पाणिने**ति तस्मिन्नतिशयाधानमप्युक्तं येनाग्रे सद्बुद्धिरप्युत्पद्यत इति. एवं कायेन मनसा च सान्त्वनं कृत्वा वचसापि सान्त्वनमाह **मेघगम्भीरये**ति. मेघा हि शब्दतएव भाविवृष्टिं सूचयन्तः चिन्तादिसर्वतापहारका भवन्ति. तथाप्यनुचितं कथमुक्तवानित्याशङ्क्याह **कृपया परये**ति. अनेन वा मानसं सान्त्वनम्. **तमि**ति तथा स्तोत्रकर्तारं सान्त्वनोचितम्. त्रिविधसान्त्वनेऽपि हेतु**र्भक्तमि**ति ।।३०।।

वाक्यमाह **मणिहेतोरि**ति.

।। श्रीभगवानुवाच ।।

मणिहेतोरिह प्राप्ता वयमृक्षपते बिलम्।

मिथ्याभिशापं प्रमृजन्नात्मनो मणिनामुना।।३१।।

लेखः

अभिमृश्येत्यस्याभासे वचनात्पूर्वमेवेति. पाठे एवं क्रमाभावेऽपि **अभिमृश्ये**ति क्त्वाप्रत्ययेन पूर्वकालस्य बोधितत्वादिति भावः. व्याख्याने **तथाप्यनुचितमि**ति, अपराधकर्तुः सान्त्वनमनुचितमित्यर्थः ।।३०।।

अत्रागमने **मणिरेव हेतुः** मणिं नेतुमागताः. बहुवचनं पूर्वदृष्टसर्वसाहित्यं सूचयति. हेतुशब्दो वा निमित्तवाची. मणिनिमित्तं वयं समागता इत्यर्थः. **ऋक्षपत** इति ज्ञात्वैवागमनं निरूपितम्, अन्यथा **बिले** समागमनं न स्यात्. मणेरपि प्रयोजनमाह मिथ्याभिशापं प्रमृजन्निति. एतद्विस्तरेणोक्तमिति लक्ष्यते. **मिथ्याभिशापः** अकृतापकीर्तिकीर्तनम्. लोकाः अतत्त्वविद इति दृष्टमेव१ मन्यन्त इति **अमुना मणिना अभिशापं प्रमृजन्** इहागत इति सम्बन्धः. यद्यपि अग्रे मिथ्याभिशापापगमः तथापि क्रिया प्रारब्धेति वर्तमानप्रयोग एव युक्तः. एकवचनं तु मिथ्याभिशाप एकस्यैवेति. **आत्मन** इत्यावश्यकता, अन्यथा भक्तोद्धारो न सम्भवतीति भावः ।।३१।।

एवं स्वाभिप्राये निरुक्ते कथं देयमिति विचार्य तावन्मात्रे दत्ते स्वस्य सेवकत्वं न सिध्यति, याचितं सर्वएव प्रयच्छतीति स्वकन्यां च दत्तवानित्याह **इत्युक्त** इति.

।।श्रीशुक उवाच।।

इत्युक्तः स्वां दुहितरं कन्यां जाम्बवतीं मुदा।
अर्हणार्थं स मणिना कृष्णायोपजहार ह।।३२।।

जाम्बवतः अपत्यं **जाम्बवती,** अनेन पालिता[२] कन्या न भवतीति सूचितम्. ऋक्षाणां विधानान्तराभावाद् दानमेव कृतवान्. सापि ततः पूर्वं **कन्या** अदत्तैव स्थिता. **मुदे**ति भाग्यं जातमिति, भगवानपि पूजितः कन्यायाः वरोऽपि प्राप्त इति. ततस्तस्याएव कन्यायाः दानसमये **अर्हणार्थं मणिम**पि दत्तवान्. एतद्द्वयमपि न कुशोदकपूर्वकं प्रादात् किन्तु **उपजहार** समीपे आनीय स्थापितवानित्यर्थः ।।३२।।

एवमन्त:स्थितिमुक्त्वा बहिःस्थितिमाह अदृष्ट्वा **निर्गममि**ति त्रिभिः.

अदृष्ट्वा निर्गमं शौरेः प्रविष्टस्य बिलं जनाः।

लेखः

मणिहेतोरित्यत्र इति लक्ष्यते इति, विस्तरेण कथनं विनाकाङ्क्षा तिष्ठेदेवेति भावः ।।३१।।

---

१. दृष्टिमेवेति मु.पाठः -सम्पा. २. पालिकेति पाठः.

प्रतीक्ष्य द्वादशाहानि दुःखिताः स्वपुरं ययुः।।३३।।
निशम्य देवकी देवी रुक्मिण्यानकदुन्दुभिः।
सुहृदो ज्ञातयोऽशोचन् बिलात्कृष्णमनिर्गतम्।।३४।।
सत्राजितं शपन्तस्ते दुःखिता द्वारकौकसः।
उपतस्थुर्महामायां दुर्गां कृष्णोपलब्धये।।३५।।

प्रविष्टो हि तस्मिन्नेव दिवसे समायास्यतीति तत्रत्या बहिःस्थिताः निरन्तराकाङ्क्षया भोजनादिरहिताः द्वादशदिवसपर्यन्तं स्थित्वा द्वादशाङ्गेष्वपि क्षीणेषु **जना** विवेकरहिताः भगवानपि शौरिरिति विशेषतस्तत्प्रभावानभिज्ञाः दुःखिताः सन्तः **द्वादशाहानि प्रतीक्ष्य स्वपुरं ययुः,** ''संवत्सरप्रतिमा वै द्वादशरात्रय'' इति.

ततो येऽपि नागताः तेऽपि द्वारकायां स्थिताः भगवन्निर्गमाभावं श्रुत्वा दुःखिता जाता इत्याह **निशम्ये**ति. स्त्रीणामविवेको भूयानिति तत्रापि पुत्रस्नेहो महानिति **देवक्यादिक्रम** उक्तः. त्रयो मुख्याः. अन्येऽपि **सुहृदः** सम्बन्धिनः **ज्ञातयो** गोत्रिणश्च **बिलादनिर्गतं कृष्णं** श्रुत्वा **अशोचन्न्ह** वस्तुतत्त्वानभिज्ञाः कृष्णो हि भक्तहितार्थमेवावतीर्णः कथं विलम्बं कृतवानिति. एवं सर्वेषां शोकं राजसं दुःखमुक्त्वा तामसं सात्त्विकं चाह **सत्राजितं शपन्तस्त** इति, दुरात्मायं सत्राजित् प्रसेनवत् म्रियतामिति. एवं शापे हेतुः **दुःखिता** इति. दुःखेऽपि विशिष्टो हेतुः **द्वारकौकस** इति. मथुरां परित्यज्य देशप्रान्ते द्वारकायां स्थिताः कृष्णैकशरणाः भगवत्यनागते दुःखिता भवन्तीति युक्तमित्यर्थः. द्वारकावासित्वेन तेषां शापोऽपि सत्राजिति फलिष्यतीति सूचितम्. सात्त्विकं दुःखमाह **उपतस्थुर्महामायामि**ति. माया हि भगवदुद्गमे प्रतिबन्धिका भवति, भगवांश्च तस्यै वरं दत्तवान् ''अर्चिष्यन्ती''ति. अतो भगवता दत्तो वरः अवश्यं तेनैव[१] सत्यः कर्तव्य इति देवतान्तरभजनापेक्षया भगवदाविर्भावार्थं दुर्गैवानुसन्धेया ।।३३-३५।।

एवं भक्तानां त्रिविधं दुःखं दृष्ट्वा स्वयमाविर्भावं कुर्वन्नेव कृतकार्यः अर्धमासव्रते कृतएव स्वयमाविर्भूतः स्ववाक्यमपि सत्यं कृतवानित्याह तेषां **तु देव्युपस्थानादि**ति.

---

१. भगवतैवेत्यर्थः.

तेषां तु देव्युपस्थानात् प्रत्यादिष्टाशिषासवः।
प्रादुर्बभूव सिद्धार्थः सदारो हर्षयन् हरिः।।३६।।

तादृशो भगवान् स्वयमेव समागतः. 'असु'शब्दात् समासान्तः अच्प्रत्ययः. आशिषेत्यलुक् तृतीयायाः. **प्रत्यादिष्टमुपदिष्टम्, प्रति**रानुगुण्ये, देव्युपस्थानात् या आशीः तया सह भगवान् प्राणानपि दत्तवानिति. अथवा **देव्युपस्थानात् प्रत्यादिष्टाशिषा** कृत्वा दुर्गाया आशीर्वादेन सवो यज्ञरूपः प्रादुर्भूतः. **प्रत्यादिष्टाशिषां सवे**ति पाठश्चिन्त्यः. राजानं प्रति वा, वो युष्माकं भक्तानां **स** कार्यकर्ता **सिद्धार्थः** सन् प्रादुर्भूत इति. दुर्गाया वा आशीर्निराकृत्य **प्रत्यादिष्टाशिषा** कृत्वा स्वयमेव सर्वकामपूरको[१] यज्ञः प्रादुर्भूतः. **सिद्धार्थः** स्यमन्तकसहितः. सदारः स्त्रीसहितोऽपि. **हर्षयन् हरिरि**ति, हृष्टः सर्वाभरणभूषितः भोजनादिना च पुष्टो, नतु ग्लानियुक्तः. यतो हरिः सर्वदुःखहर्ता ।।३६।।

ततः परमानन्दो जात इत्याह **उपलभ्ये**ति.

उपलभ्य हृषीकेशं मृतं पुनरिवागतम्।

सहपत्या मणिग्रीवं सर्वे जातमहोत्सवाः।।३७।।

असभ्यो दृष्टान्तो लौकिकभाषायां न दोषाय. श्वशुरेणैव स मणिः कण्ठे निबद्धः अतस्तदनुरोधेन मणिः स्वकीय एवेति ज्ञापयन् स्त्रीसहितो मणिग्रीवः स्वयमागतः. न केवलं समागमने अपकीर्त्यभावः किन्तु निरोधोऽप्यनेन जात इत्याह **सर्वे जातमहोत्सवा** इति. **हृषीकेश**त्वात् तथैव तेषु प्रेरितवान् ।।३७।।

एवमपि प्राप्य उपक्रमबलीयस्त्वार्थं समानयनार्थं प्रकान्त इति सत्राजितायैव दत्तवानित्याह **सत्राजितम्**इति.

सत्राजितं समाहूय सभायां राजसन्निधौ।

प्राप्तिं चाख्याय भगवान् मणिं तस्मै न्यवेदयत्।।३८।।

यदादौ भगवान् विचारयति तदेव करोति. आदौ च तस्य स्यमन्तक इति प्रवृत्तः न केनाप्युपायेन स्वकीयं मन्यते, अतएवाग्रेऽपि न गृहीष्यति.

---

१. सवः कामपूरक इति पाठः सूचितः.

निबन्धे त्वन्योऽपि हेतुरुक्तःह्व ''सर्वात्मनान्यहृदयं न गृह्णाति हरिः स्वयम्, सर्वात्मनाऽप्रपन्नं च नाशायेव [१]सुयोधनम्'' इति. **सभायामाह्वा**नं पश्चाद्दुरात्मा अन्यथा वक्ष्यतीति, लज्जां च जनयितुम्. तत्रापि **राजसन्निधौ** निर्भयं, यथा राजापि न गृहीष्यतीत्याज्ञापयितुं वा. प्राप्त्युपायं प्रकारं वा सम्यगुक्त्वा तत्सत्तां दूरीकृत्य **मणिं तस्मै न्यवदेयत्.** यतो **भगवान्** स्वेच्छो, मारयितुं वा. न कोऽपि ज्ञातवान् ''किमर्थं दत्तवान्'' इति. निवेदनं ''तवेदमानीतं गृहाणे''ति ।।३८।।

ततस्तस्य कृत्यमाह **स चातिव्रीडित** इति पञ्चभिः.

स चातिव्रीडितो रत्नं गृहीत्वावाङ्मुखस्ततः।

अनुतप्यमानो भवनमगमत् स्वेन पाप्मना।।३९।।

लोभाद्दण्डभयाच्च **गृहीत्वा** लज्जितो जातः. लोके अपकीर्तिमुत्पादितवानिति **अवाङ्मुखो** जातः. **ततः** पूर्वोक्तादेव हेतोः=अपकीर्तिजननात्. **अनुतापोऽपि** ततएव. अतोऽस्य प्रायश्चित्ते परलोकशुद्धिर्भविष्यतीति ज्ञापितम्. न कोऽपि तस्य बन्धुरिति कमप्यपृष्ट्वा **स्वभवनमेवागमत्**. ननु रत्नं प्राप्य सन्तोषे कर्तव्ये कथमनुताप इति चेत्, तत्राह **स्वेन पाप्मने**ति, देवान्तरप्रसादापेक्षया भगवदपराधो महानिति ।।३९।।

लेखः

सत्राजितमित्यत्र सर्वात्मनेति. **अन्यस्य हृदयं यत्र** तादृशं वस्तु **सर्वात्मना** सर्वांशेन **न गृह्णाति** अतो मणिर्न गृहीतः. सत्राजिदपि स्वकीयत्वेन न गृहीतः, सर्वथा प्रपत्त्यभावादित्याहुः **सर्वात्मनेति**. **सर्वात्मना अप्रपन्नं च न गृह्णाति** यत इत्यर्थः. तत्र दृष्टान्तः **नाशायेवेति**. नाशाय इव इति च्छेदः. साहाय्ययाचनार्थमागतमपि **सुयोधनं नाशाय** अकल्पयदिति शेषः. नत्वर्जुनवत् स्वकीयत्वेनागृह्णात्, तथेत्यर्थः. **नाशायैव कलिं यथेति** पाठेऽपि दुर्योधनस्य कलिरूपत्वादेकएवार्थः. **प्राप्त्युपायमिति**, बिले गमनमित्यर्थः. **प्रकारं** युद्धमित्यर्थः ।।३८।।

---

१. कलिं यथा इति निबन्धे भिन्नः पाठः –सम्पा.

सोऽनुध्यायंस्तदेवार्थं बलवद्विग्रहाकुलः।

कथं मृजाम्यात्मरजः प्रसीदेद्वाच्युतः कथम्?।।४०।।

बलवता विग्रहे आकुलः सन् तमेवार्थमनुध्यायन् जात इत्याह **सोऽनुध्यायन्निति**. अयत्नेनापि सएवार्थः ध्यातो भवति. यद्यपि विग्रहः स्वयं न कृतः नापि करिष्यति, भगवानपि न करोति, तथापि भगवदीयैः **बलवद्भिः सह विग्रहः** सम्भविष्यतीति व्याकुलता. अयं दोषस्तदापगच्छेत् यदि भगवान् प्रसन्नो भवेत्. तदेव विचारयति **कथं मृजामीति**. स हि देवोपासक इति तस्य प्रायश्चित्ते मतिः. **रजः** पापम्. अच्युतस्य सर्वथा नित्यधर्मस्य अवश्यंभाविनरके हेतुभूतापराधस्य कृतत्वात् तत्प्रसादएव तदपगम इति **प्रसीदेद्वाच्युतः कथमिति** विचारयति ।।४०।।

यथा वाक्येन अपकीर्तिर्जाता. अधुना क्रियया कथं कीर्तिर्भविष्यतीति तदाह **किं कृत्वेति**.

किं कृत्वा साधु मह्यं स्यान्न शपेद्वा जनो यथा।

अदीर्घदर्शनं क्षुद्रं मूढं द्रविणलोलुपम्।।४१।।

मास्तु वा कीर्तिः, **जनो** लोकः **यथा न शपेत्**. शापे हेतुर्वाग्दोष एव मम, न त्वन्यदिति. स्वदोषाननुवदति **अदीर्घदर्शनमिति**. स्यमन्तकेन वचनेन वा इष्टमनिष्टं वा भविष्यतीति दीर्घदर्शनं कर्तव्यम्, तन्न कृतमिति सात्त्विको दोषः. तत्रापि हेतुः

क्षुद्रमिति, अल्पोऽहं राजसः. महान्तो हि गम्भीरा भवन्ति. किञ्च प्रथमवाक्योल्लङ्घनमेव मम दोषः पतितः. तत्र हेतुः **द्रविणलोलुपमि**ति ।।४१।।

एवं दोषत्रये कः प्रतीकार इति चिन्तायां क्रियमाणायां निमित्तभूतो मणिरेव देय इति स्वस्य स्फुरितः. तदा सौर्यो[1] न मणिर्देयः अपि तु देयत्वात् कन्यैव देयेति तर्ह्युभयं देयम्; तथा सति भगवानपि सन्तुष्टो

लेखः

सोऽनुध्यायन्नित्यत्र तमेवेति **एव**कारस्यार्थमाहुः **अयत्नेनापी**ति ।।४०।। इति सप्तमाध्यायव्याख्या।।

---

१. सूर्यः इति मु.पाठः -सम्पा.

लोका अपि न वाच्यं वदिष्यन्ति इति निश्चित्य स्वाध्यवसायमाह **दास्ये दुहितरमि**ति.

दास्ये दुहितरं तस्मै स्त्रीरत्नं रत्नमेव च।

उपायोऽयं समीचीनस्तस्य शान्तिर्न चान्यथा।।४२।।

तस्मै प्रसिद्धाय. सर्वथा गृहीष्यतीत्यत्र हेतुः **स्त्रीरत्नमि**ति. यथा जाम्बवान् कायिकमपराधं कृत्वापि मणिं दुहितरं च दत्वा कृतार्थो जातः एवमहमपि भविष्यामीत्यभिप्रायेणाह **रत्नमेव चे**ति. नन्वन्यः भक्तिमार्गानुसारी उपायः कथं न क्रियते? तत्राह **उपायोऽयं समीचीन** इति. व्यवहारे अस्मिन्नर्थे **अयमेवोपायः समीचीनः, अन्यथा तस्य शान्तिर्न** भविष्यतीति. स्वस्यार्धदुर्बुद्धिःह्व भवेदेवं यदि भगवान् मणिं गृह्णीयात् सर्वथा प्रपन्नता च न कृतेति ।।४२।।

न केवलमेवं विचारितवान् किन्तु कृतवानित्याह **एवं व्यवसित** इति.

एवं व्यवसितो बुद्ध्या सत्राजित् स्वसुतां शुभाम्।

मणिं च स्वयमुद्यम्य कृष्णायोपजहार ह।।४३।।

बुद्ध्यैव, न तु कश्चित्पृष्टः. **शुभां** शोभनरूपां विवाहे समलङ्कृतां **स्वयं** गृहे नीत्वा दोषपरिहाराय **कृष्णाय** सदानन्दरूपाय **उपज**हार. हेत्याश्चर्ये, कथमेवं कृतवानिति ।।४३।।

ततो भगवानेकं गृहीतवान्, एकं नेत्याह द्वाभ्याम्.

तां सत्यभामां भगवानुपयेमे यथाविधि।

बहुभिर्याचितां शीलरूपौदार्यगुणान्विताम्।।४४।।

तां सत्यभामामिति, सत्येनैव भासत इति सत्यरूपा कान्तिरूपा च. यद्यपि तेन निवेदनमेव कृतं तथापि स्वयं **यथाविधि उपयेमे,** अन्यथा अन्यस्मै देया पतिष्यतीति. तत्र हेतुः **बहुभिर्याचितामि**ति. सा हि पूर्वमन्यस्मै सन्दिग्धा प्रतिश्रुता अतो विवादास्पदेति यथाविध्येव विवाहः कर्तुमुचितः. किञ्च गुणा अपि तस्यां सन्तीत्याह **शीलेति. शीलमन्तः**करणधर्म इन्द्रियाणां वा क्रियारूपं, **रूपं** शरीरस्य, **औदार्यमन्तः**करणस्य ह्वएवमुत्कृष्टै**र्गुणैरन्विताम्** ।।४४।।

एकं गृहीत्वा द्वितीयं प्रत्याचष्टे भगवानाहेति.

भगवानाह न मणिं प्रतीच्छामो वयं नृप।

तवास्तु देवभक्तस्य वयं च फलभागिनः।।४५।।

।।इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।

ईश्वरत्वान्नात्र संनियोगशिष्टन्यायो वक्तुं शक्यः. **न मणिं प्रतीच्छाम** इति, विवाहे तु अहमेव प्रयोजकः, मणौ तु सर्वसम्मतिरपेक्ष्यत इति. अतएव **वयमि**ति बहुवचनम्. **नृपे**ति परीक्षित्सम्बोधनं **भगवानाहे**ति वाक्ये सम्बध्यते न तु भगवदुक्ते, राजानो हि तथा वदन्तीति ज्ञापनाय. किञ्च द्वयं समर्पितं तत्रैकं ममास्तु, एकं च **तवास्त्वित्याह तवास्त्वि**ति. तत्र हेतुः देवभक्तस्येति, अन्यथा सूर्यः क्रोधं करिष्यतीति भावः. तथापि निवेदितं कथं त्यज्यत इत्याशङ्क्याह **वयं च फलभागिन** इति, मणिफलमस्माकमपि भविष्यति, श्वशुरस्य धनसम्पत्तौ जामातैव भोक्ता भवतीति. चकारात् कश्चित्समुच्चितः. सत्राजितस्तु स्वात्मानं समुच्चिनोतीति प्रत्ययः, भगवदभिप्रायस्त्वक्रूरः. तस्मै पूर्वं तेन कन्या प्रतिश्रुता; उभयग्रहणे तस्य दुःखं भविष्यतीति भक्तहितं भक्तिमार्गं च सत्यं कर्तुं तथोक्तवानित्यर्थः ।।४५।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज-श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे सप्तमोऽध्यायः।।

।।इति त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।

।।इति श्रीमद्भागवत-दशमोत्तरार्ध-राजससाधनप्रकरणं समाप्तम्।।

।।श्रीकृष्णाय नमः।।

।।श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।।

।।श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।।

श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धसुबोधिन्यामुत्तरार्धे तृतीये राजसप्रकरणे अवान्तरफलप्रकरणे

।।प्रथमः स्कन्धादितः चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।

निरोधो मानरूपोऽत्र सप्तभिर्विनिरूपितः।
मेयरूपश्च तावद्भिः प्रमेयबलमुच्यते।।(१)।।
अपकारिषु भक्तेषु तथा साधारणेषु च।
फलप्रकरणं ह्येतत् तेन तादृङ् निरूप्यते।।(२)।।
कामः फलं यथा पूर्वं क्रोधस्त्वत्र तथा फलम्।
राजसानां विशेषेण जयस्त्वत्र फलिष्यति।।(३)।।
हरिधर्मैश्च हरिणा बलभद्रेण यादवैः।

श्रीविट्ठलरायात्मज-श्रीवल्लभकृत-लेखः

श्रीहरिः। अष्टमेऽध्याये. उत्तरार्धे लोकधर्मपुरस्कारेण लीलाकरणात्, तत्रापि फलप्रकरणारम्भाध्यायस्य भाषान्तरत्वात्, पूर्वार्धोक्तप्रमाणप्रमेयप्रकरणाभ्यां सङ्गतिर्न भवेदित्याशङ्क्य तयोरपि भाषयोः समाधिपोषकत्वात् ताभ्यां सहैव प्रकरणविभाग इत्याशयेन पूर्वार्धोक्तप्रकरणद्वयमनुवदन्ति **निरोध** इति. साधनप्रकरणस्य तूत्तरार्धे एवोक्तत्वात् नासङ्गतिशङ्केति न तदनूदितमिति भावः. **प्रमेये**ति. अपकारिणो द्विविधाःह्व भक्ताः अक्रूरादयः अन्ये साधारणाः; अतः परमुभयेषु प्रमेयबलमुच्यते इत्यर्थः. तत्र हेतुः **फलेति. हि यतः एतत् फलप्रकरणं,** फलं त्वत्र स्वरूपबललभ्यं, न साधनाधीनं, **तेन** हेतुना **तादृक्** बलं **निरूप्यत** इत्यर्थः (१-२).

काम इति, **पूर्वं** तामसप्रकरणे फलप्रकरणे **यथा काम**लीला निरुपिता **तथात्र क्रोध**लीला निरूप्यते इत्यर्थः. फलतीति फलम्, फलसम्पादकमित्यर्थः. **हरिधर्मै**रिति, एकेन-त्रिभिः-एकेन-द्वाभ्यां चेत्यध्यायविभागः (३-४).

जयो निरूप्यते लोके निरोधात्मा हि राजसः।।(४)।।

तत्राष्टमे तथाध्याये कृष्णेच्छाया जयस्त्रिधा।

सत्राजिच्छतधन्वा च अक्रूरश्च जितास्तथा।।(५)।।

पूर्वाध्यायान्ते भगवता मणिर्न गृहीत इत्युक्तं तस्य फलमत्र निरूप्यते. देवतान्तरे कृता बुद्धिः जीवन्तं निरोधयितुं न प्रयच्छतीति निरोधाधिकार्यपि सत्राजित् स्वदेहं परित्यज्य मणिद्वारा भक्ते स्थितः संसारे भगवत्पादरूपेषु वाराणस्यादिषु निरुद्ध इत्युच्यते. तत्र प्रथमं तस्य पूर्वदेहत्यागार्थं प्रस्तावनामाह **विज्ञातार्थोऽपी**ति द्वाभ्याम्.

।।श्रीशुक उवाच।।

विज्ञातार्थोऽपि गोविन्दो दग्धानाकर्ण्य पाण्डवान्।

कुन्तीं च कुल्यकरणे सहरामो ययौ कुरून् ।।१।।

भीष्मं नृपं सविदुरं गान्धारीं द्रोणमेव च ।

तुल्यदुःखौ समागम्य हा कष्टमिति होचतुः ।।२।।

विद्यमाने भगवति भगवद्धर्माणां प्रयोजकता न स्यादिति, लोकाश्च दुष्टाः अन्यथा कल्पयिष्यन्तीति भगवान् द्वारकां परित्यज्य हस्तिनापुरं गतो बलभद्रश्चेतीर्यते. न हि(/ननु) पाण्डववैरिषु भगवान् भक्तानां विधिमुखेन हितं कुर्वाणः किं गच्छति? न हि मुख्येषु गतेषु तत्सम्बन्धिष्वदुःखितेषु गमनं कुलाचारो भवति. (अतः) सर्वमज्ञात्वा गत इत्याशङ्क्याह **विज्ञातार्थोऽपी**ति. **विशेषेण ज्ञातः** लाक्षागृहात् यथा पाण्डवा निर्गताः, यथा वा एकचक्रे गताः, तत्र ब्राह्मणवेषेण भिक्षावृत्या च यथा तिष्ठन्ति. यथा वा पञ्चपुत्रा काचिच्छबरी लाक्षागृहे दग्धा, तद्भ्रमात् लोकाः ‘‘पाण्डवाः कुन्ती च दग्धे’’ति वदन्ति. इदं प्रमेय**मर्थः; विज्ञातः अर्थो येने**ति. अन्यथा कौरवेषु सन्देहः स्यात् यदि भगवान् न गच्छेत्द्ध भगवतैवान्यत्र स्थापिताइति. अतोऽज्ञाननाट्यं कर्तव्यम्, अन्यथा पाण्डवनाशार्थं पुनर्यत्नं कुर्युः. यतो भगवान् **गोविन्दः** सतामिन्द्रो रक्षकः. अतः पाण्डवरक्षार्थं **दग्धानाकर्ण्य. अदग्धानि**ति मुख्योऽर्थः. यतः पाण्डवाः पितुः

पुत्रा:; मातृपुत्रा एव दग्धा भवन्ति. **कुन्तीं च दग्धां** श्रुत्वा. **कुल्यकरणे** कुलधर्मसंरक्षार्थम्, बन्धुषु मृतेषु अवशिष्टानां तत्सम्बन्धिनां दर्शनार्थं दूरस्था गच्छन्तीति. अनेन तेषामपि निरोधार्थं भगवान् गत इति सूच्यते. **कुरून्** हस्तिनापुरम्. केवले भगवति कस्यचित्सन्देहोऽपि भवेद्; बलभद्रसहिते न भवतीति **सहराम** इत्युक्तम्. गतयो: सम्प्रश्नमाह **भीष्ममि**ति. **नृपो** धृतराष्ट्र:. त्रय: सात्त्विकराजसतामसा:, स्त्रीब्राह्मणाश्च जन्मोत्कर्षापकर्षौ; प्रत्येकमुपागम्य **हा कष्टमित्यूचतु:**. एतादृशं वचनमाश्चर्यमिति हेत्युक्तम् ।।१-२।।

यदर्थमेतदुक्तं तदाह **लब्ध्वैतदन्तरमि**ति चतुर्भि:.

लब्ध्वैतदन्तरं राजन् शतधन्वानमूचतु: ।

अक्रूरकृतवर्माणौ मणि: कस्मान्न गृह्यते?।।३।।

अक्रूर: द्वारकाया अवेक्षक:, दिवसे न्यायकर्ता धर्माधिकारी. **कृतवर्मा** तु रात्रावेक्षक:[१], कोटिवारक इति प्रसिद्ध:. शतधन्वा तु साहसी असाध्यसाधक: तयोराज्ञाकर्ता. स चौर्येण सर्वं कर्तुं समर्थ:. त्रयोऽपि यादवा:, भगवति विद्यमाने बलभद्रे वा अन्यायं कर्तुमसमर्था:, भगवति ग्रामान्तरं गते एतदन्तरं छिद्रं **लब्ध्वा. राजन्नि**ति तथा परिज्ञानात् सम्बोधनम्. शतधन्वानं वक्ष्यमाण**मूचतु:**. तयोर्वाक्यमाह **मणि: कस्मान्न गृह्यत** इति सपादश्लोकेन ।।३।।

न केवलं मणिमात्रं ग्राह्यं, मारणीयोऽपीत्याह **योऽस्मभ्यमि**ति.

योऽस्मभ्यं सम्प्रतिश्रुत्य कन्यारत्नं विगर्ह्य न:।

कृष्णायादान्न सत्राजित् कस्माद् भ्रातरमन्वियात्?।।४।।

भगवदपराधकरणात् मणिग्रहणे भगवतश्च मणिरिति न हेतुर्वक्तव्य:. भगवच्छ्वशुरोऽयमिति मारणे हेतुर्वक्तव्यएव. अवश्यं तेन **कन्यारत्नं** देयत्वेन प्रतिज्ञातं, तदभावे रत्नरत्नं वा तस्माद् ग्राह्यम्. अस्मान् निन्दित्वा एते

लेख:

भीष्मं नृपमित्यत्र **जन्मोत्कर्षापकर्षावि**ति. नात्र क्रमो विवक्षित:. तथा च जन्मापकर्ष: स्त्रियां गान्धार्यां जन्मोत्कर्षो ब्राह्मणे द्रोणे इत्यर्थ: ।।२।।

---

१. रात्रावेव रक्षक इति पाठ:.

न वराः समीचीना इति भगवते दत्तवान्. तत्र निन्दायामवश्यं मारणीयः क्षत्रियधर्मपरैः; भगवते च दत्तवानिति गुप्ततया मारणीयः. यथा भगवता याचितं मणिं भगवते अदत्वा भ्रात्रे दत्तवान्, ततः समणिः भ्राता हिनस्तीति सिंहेन विपाटितः, एवं कन्यादानप्रसङ्गेन स्वकीयोऽपि मणिः भगवता तस्मै दत्त इति समणिः **सत्राजित् कस्माद्धेतोर्भ्रातरं नान्वियात्?** अपि त्वनुगमनमेवोचितम्. सत्यभामा मणिश्च तुल्यौ याचने; अस्माभिः सत्यभामा याचिता, भगवता मणिर्याचितः. उभयोरपि याचितं न दत्तवान्, निन्दां चोभयोः कृतवान्. ततो निन्दानन्तरं मणिर्यत्रैव तिष्ठति सएव प्रसेनपदवीं गच्छतीति तस्य भ्रातृसहगमनं युक्तमित्यर्थः. ताभ्यां लौकिकभाषया निरूपितोऽप्यर्थः सरस्वत्या परमार्थएव निरुक्तः. येन प्रसेनो हतः सोऽप्यन्येन[१] हत इति जानन्तावपि मूर्खं शतधन्वानं स्वस्याप्यसम्मतमूचतुः. अन्यथा स्वयमेव तथा कुर्याताम् ।।४।।

ननु शतधन्वापि विचक्षणः कथमेवं कृतवानित्याशङ्क्याह एवं **भिन्नमतिरि**ति.

एवं भिन्नमतिस्ताभ्यां सत्राजितमसत्तमः ।

शयानमवधील्लोभात् स पापः क्षीणजीवितः।।५।।

ताभ्यां भिन्ना नाशिता **मतिर्यस्य.** मणिरेव ग्राह्य इति तत्प्ररोचनया बुद्धिरुत्पन्ना. ततोऽग्रे भाव्यर्थे बुद्धिस्तावता नष्टेति विचारसमर्था न जाता. उभौ तौ बहुधा च भ्रामयतः. भ्रामणम् अग्रिमार्थमेव. तौ हि जानीतः मणिसम्बन्धेन मरणं भविष्यतीति अतो न मण्यर्थिनौ. अयं तु मण्यर्थी अतः **असत्तमः.** तावुभावसदसत्तरौ[२] अयमसत्तम इति, अन्यथा युद्धं कृत्वापि मारयेत्. किन्तु **शयानमेवावधीत्.** तत्रापि **लोभात् न** तु तेन सह वैरम्. ननु कथमेवं बुद्धिरुत्पन्ना द्वारकावासिनो भगवदीयविषये स्थितस्य?

लेखः

योऽस्मभ्यमित्यत्र **ततः समणिरि**ति. **हिनस्ती**ति 'सिंह'पदनिरुक्तिः शतधन्वापि हिंसकत्वात् तत्तुल्य इति ज्ञापनार्था ।।४।।

---

१. अनेनेति पाठः. २. असत्तराविति पाठः.

तत्राह **स पाप** इति. **स** शतधन्वा **पापः** देवानां मध्ये अधमोऽप्येकः, यथा कलिः. ततश्चायमधर्मरूप इति तथा कृतवान्. किञ्च **क्षीणजीवित** इति, तस्य जीवितमल्पमेव, एतदर्थमेव तस्यावतार इति ।।५।।

यदि हननमात्रमेव कुर्यात् तदप्यन्यप्रेरितः तथा कृतवानिति तथा नास्य दोषो भवेत्, किन्त्वधिकमपि कृतवानित्याह स्त्रीणामिति.

स्त्रीणां विक्रोशमानानां क्रन्दन्तीनामनाथवत् ।

हत्वा पशून् सौनिकवत् मणिमादाय जग्मिवान्।।६।।

विशेषेण क्रोशमानानां सतीनां, ता अपि नाथरहिताएव **हत्वा** ताडयित्वा वा **मणिमादाय जग्मिवान्** पलायितः. दयादाक्षिण्याद्यभावार्थं दृष्टान्तः **सौनिकवदि**ति. निरन्तरं सूनाकर्ता **सौनिकः** पशून् हत्वा तन्मांसविक्रेता. यथा काष्ठच्छेदकस्य न वृक्षेषु दया तथा तस्यापि. अर्चितस्यापि मणेः अनिष्टहेतुत्वं प्रतिपादितम्. अत्र प्रकरणे प्रमेयबलमिति न पूर्वाध्यायवाक्यैर्विरोधः ।।६।।

सत्यभामा च पितरं हतं वीक्ष्य शुचार्दिता ।

व्यलपत् तात तातेति हा हतास्मीति मुह्यती।।७।।

तस्मिन् गते भगवद्गृहेऽपि स्थिता **सत्यभामा** उपश्रुतिमिव श्रुत्वा पितृगृहे समागता **पितरं हतं वीक्ष्य** शोकेन पीडिता **तात तातेति व्यलपत्.** यथा स्त्रीभिराक्रोशः कृतः एवं सत्यभामयापि कृत इति समुच्चयार्थश्चकारः. भर्तृवधे तासां यावद्दुःखं पितृवधेऽपि तावत्कृतमित्यर्थः. तासामुभयंह्व स्वनाशो भर्तृनाशश्चेति तुल्यत्वाभावात् कथं समुच्चय इत्याशङ्क्य अत्रापि द्वयमाह **तात ताते**ति **हा हतास्मी**ति च. ननु कथमेवं स्वयमहता तथोक्तवती? तत्राह **मुह्यती**ति, मोहं प्राप्ता मृतकल्पा सत्यमेव तथोक्तवतीत्यर्थः ।।७।।

लेखः

स्त्रीणामित्यत्र **विरोध** इति. अर्चनं विहाय कण्ठे बन्धनात् प्रसेनस्यानिष्टम्, अत्र त्वर्चितएव तिष्ठतीति कथमनिष्टं जातमिति विरोध इत्यर्थः. **वाक्यैः** ''दुर्भिक्षमार्यरिष्टानी''ति वाक्यैरित्यर्थः ।।६।।

भगवद्विरोधात् तस्य शीघ्रं[1] पारलौकिकी क्रियापि न जातेति वक्तुं सत्यभामाया उद्योगमाह **तैलद्रोण्यामि**ति.

तैलद्रोण्यां मृतं प्रास्य जगाम गजसाह्वयम् ।

कृष्णाय विदितार्थाय तमाचख्यौ पितुर्वधम्॥८॥

इयं देवदत्तपुत्रिकाप्रायेति पुरुषप्रकृतिर्भवति, यतोऽभ्रातृमती. अतो धर्मतः अविवाह्यापि स्त्रीरत्नत्वाद् गृहीता. अतः पुरुषवदेव तस्याश्चरित्रम्. **द्रोणी** कुसूलवत् कुतूवत् कटाहवद्वा आयसी ताम्रनिर्मिता वा. मरणपर्यन्तं विलापः ततो मृतस्य तैलद्रोण्यां प्रक्षेपः. स्वयमपि **गजसाह्वयं जगाम,** तत्र गतो भगवान् मृतानामनुसन्धानं करोतीति. **गजसाह्वयमि**ति प्रसिद्धस्थानत्वात् तत्र गमनं न सन्देहमावहति. तत्र भगवद्विज्ञापनार्थमेव गतेति तदाह **कृष्णाये**ति. भ्रान्तेयमिति ज्ञापनार्थं **विदितार्थाये**ति. **तं** तादृशप्रकारापन्नम्. **पितुर्वधमि**ति आवश्यकत्वान्न दोषायेत्यर्थः ॥८॥

यथा ज्ञात्वा न किञ्चित्कृतवान् एवं श्रुत्वापि न करिष्यतीत्याशङ्क्य लौकिकं प्रतीकारं च कृतवानित्याह **तदाकर्ण्ये**ति द्वाभ्याम्.

तदाकर्ण्येश्वरौ राजन्ननुसृत्य नृलोकताम् ।

अहो नः परमं कष्टमित्यस्राक्षौ विलेपतुः ॥९॥

आगत्य भगवांस्तात सभार्यः साग्रजः पुरम्।

शतधन्वानमारेभे हन्तुं हर्तुं मणिं ततः ॥१०॥

ईश्वरावपि लीलार्थं **नृलोकमनुसृत्य** श्वशुरमारणाद् दुहितेव स्वयमपि विलापं कृतवन्तौ. यथा तस्याः कष्टं तथा कष्टमूचतुः. केवलं वाचनिकत्वव्युदासाय **अस्राक्षौ.** पूर्णा शक्तिः तथा करोतीति ज्ञापयितुं द्विवचनम्. उद्योगमाह **आगत्ये**ति. अन्यद्वारा कार्यकरणमौदासीन्यद्योतकमिति स्वयमेवागत्य कृतवान्. **भगवानि**ति सामर्थ्यमुपायज्ञानं च. **ताते**ति राज्ञः सम्बोधनं विश्वासाय. गुप्ततया समागतो भविष्यतीत्याशङ्क्याह **सभार्यः साग्रज** इति. **पुरं** द्वारकामेव, नतु मध्ये स्थित्वा उपायेन बन्धनं विचारितवान्. **ततः शतधन्वानं हन्तुं,** हननस्य प्रयोजनं **मणिं हर्तुमिति.** स हि जीवन्

---

१. शीघ्रमेवेति पाठः.

न ददाति अतो हत्वैव ग्राह्यः. अत्र द्वयं न प्रयोजनं हननं ग्रहणं च किन्तु ग्रहणार्थमेव हननम्. अन्यप्रेरितो हतवानिति, भगवदिच्छापीति, न वधमर्हति; नापि तद्वंश्यो भगवान् येन हन्तारं हन्यात्. उभौ च तुल्यौ. कृतस्य करणं नास्तीति शतधनोर्हननेऽपि न सत्राजिज्जीवनम्. अत एवाग्रे भगवद्वाक्यं घटते ''वृथा हतः शतधनुरि''ति. 'शतधनुः'शब्दः सकारान्तः उकारान्तोऽपि, 'सत्राजिद्'वत्. द्विःस्वभावेनैव द्विस्वभावो मारित इति ज्ञापयितुं द्विविधः प्रयोगः. सत्राजितो द्विस्वभावत्वं निन्दाकरणात् पश्चात्तापकरणाच्च निरूपितम्. अस्यापि हनने निर्भयत्वमग्रे पलायनेन सभयत्वं च निरूपयिष्यति. ततः शतधनुषः अय**मारम्भः** ''ध्रियतां बध्यताम्'' इति स्पष्टमाज्ञापनरूपः. ततो राजकीयाः तन्निग्रहार्थं प्रवृत्ताः ।।९-१०।।

एवं सति शतधनुषः कृत्यमाह **सोऽपी**ति.

सोऽपि कृष्णोद्यमं ज्ञात्वा भीतः प्राणपरीप्सया।
साहाय्ये कृतवर्माणमयाचत स चाब्रवीत्।।११।।

योऽयं राजद्वारा निग्रहः श्रूयते स भगवत्कृतएवेति निश्चितवान्. अतः **कृष्णोद्यमं ज्ञात्वा** पूर्वं साधारणत्वेन ब्रह्मत्वेन वा सम्बन्धेन वा ज्ञात्वा निर्भयः इदानीं पक्षपातिनं ज्ञात्वा **भीतो** जातः. चौरस्य चौर्यादेव स्वत्वमुत्पद्यते, तस्मिन् हते शत्रुजयन्यायेन यो हन्यात् तस्य भवति. अन्यथा तस्मिन् विद्यमाने परस्वापहारएव भवति. अतो भगवान् हत्वैव गृहीष्यतीति निश्चित्य **प्राणपरीप्सया** सर्वतः प्राणा रक्षणीया इति, अहत्वा दुष्टान् न गृहीष्यतीति, चौरवच्च मरणं न प्रशस्तमिति, स्वयमसहायः कृतवर्माणं यादवं सहायत्वेन प्रार्थितवानित्याह **साहाय्ये कृतवर्माणमयाचते**ति. अस्य याचनवाक्यानि स्पष्टानीति नोदाहृतानि **स चाब्रवीद**िति **च**कारेण सूचितानि ।।११।।

स कृतवर्मा महान् यादवः, भारते युद्धे कौरवपक्षपाती, बहुकार्यं तस्यास्तीति, स्वाभिलषितं सिद्धमेवेति, मणिं चायं न प्रयच्छतीति, उदासीनः सन् भगवत्पक्षपातेन वाक्यान्याह **नाहमीश्वरयोरि**ति.

नाहमीश्वरयोः कुर्यां हेलनं रामकृष्णयोः ।

को नु क्षेमाय कल्प्येत तयोर्वृजिनमाचरन् ।।१२।।

फलं तु न तव नापि मम किन्तु हेलनं कर्तुं शक्यं, यथा त्वं करोषि, तदपि न कर्तव्यम्. यतः कृष्णरामौ न लौकिकौ. तत्रा**पीश्वरौ** दृष्टादृष्ट–लौकिकालौकिक[१]फलदानसमर्थौ. अहं चैकः स्वानुभवेन तुच्छश्च. **रामकृष्णयोरि**ति नाम्नैव प्रसिद्धिरुक्ता. ननु भवानपि यादवः शूरो महारथश्च, तत्कथं बिभेषीत्याशङ्क्याह **को नु क्षेमायेति. नु** इति वितर्केह्व यावन्तो भगवदपराधकर्तारः ते सर्वएव क्षेमात् प्रच्युता दृष्टाः, भविष्योऽतः परं को वा कल्प्येत, भूतवदेव भविष्यस्यापि निर्णयात्? **नु** इति निश्चये. तत्रापि तयोः पूर्णशक्तिमति भगवति आचरन्नेव भगवता अहतोऽपि चिन्तयैव म्लानो भवतीति साधनफलयोः समानकालत्वं निरूपयन् वर्तमानप्रयोगं कृतवान् ।।१२।।

तत्र निदर्शनमाह.

कंसः सहानुगोऽपीतो यद् द्वेषात् त्याजितः श्रिया।

जरासन्धः सप्तदश संयुगान् विरथो गतः ।।१३।।

कंस इति, महान् स राजा. तादृशोऽपि तयोर्वृजिनमाचरन् **सहानुगो** भ्रातृसहितोऽपि **अपीतः** अप्ययं प्राप्तः. **अपीति** प्रलयार्थे, अप्युपसर्गपूर्वक इण्धातुः कर्तरि क्तः, अपिरप्ययः तमित इति. **श्रिया** वा **अपीत**ः अपगतः अपसारितः, भगवतैव च द्वेषाद्वा. एकमुदाहरणं नार्थं निश्चाययतीति व्याजरहितां क्रियाशक्तिं भगवतो निरूपयति **जरासन्ध** इति. **सप्तदश**युद्धानि कृत्वा आलक्ष्य, **यद्द्वेषात्त्याजित** इति वा अनुवर्तते, **संयुगान् त्याजितः विरथो** भूत्वा **गतः** स्वगृहम्. सप्तम्यर्थे वा द्वितीया ।।१३।।

कृतवर्मा भगवत्प्रतिकूलस्वभाव इति प्रथमं स याचितः. स चेदुत्तरं दत्तवान् तदा तमुदासीनं मत्वा सत्राजिद्वधः अक्रूरस्यैव सर्वथाभीष्ट इति उपकारकर्तारमात्मानं मत्वा, भगवद्भक्तमपि अक्रूरं युद्धे क्रियमाणे भङ्गे पश्चात्पृष्ठपूरकत्वेन याचनं कृतवानित्याह **प्रत्याख्यात** इति.

प्रत्याख्यातः स चाक्रूरं पार्ष्णिग्राहमयाचत।

---

१. लौकिकफल ... इति पाठः.

सोऽप्याह को विरुध्येत विदित्वेश्वरयोर्बलम्।।१४।।

चकारात् तत्पक्षपातिनोऽन्येऽपि तेन [1]प्रत्याख्याताः. **स** पूर्वोक्तः कृतोपकारः. **अक्रूरं** भक्तं, नाम्ना हितकारित्वमपि बोधितम्. **पार्ष्णिग्राहः** पृष्ठपूरकः. पूर्ववदेव याचनवचनानि नोक्तानि. सोऽपि स्वकार्यस्य सिद्धत्वाद् भगवदसम्मतिं ज्ञात्वा प्रत्याचष्ट इत्याह **सोऽप्याहे**ति सार्धैस्त्रिभिः. **अपि**शब्दात् पूर्वः कृतवर्मा गृहीतः, तेन प्रत्याख्यानं सिद्धं, तद्वदेवाहेति. अग्रे त्वयापि विरोधो न कर्तव्य इति युद्धान्निवर्तयितुं भगवन्माहात्म्यमाह **को विरुध्येते**ति. को वा विरोधमाचरेत्? अज्ञः करोतु नाम, **ईश्वरयोर्बलं विदित्वा** प्रत्यक्षशब्दाभ्यामवगत्य पूर्णशक्तेर्भगवतः विरोधं कोऽपि न करोतीत्युपदेशः ।।१४।।

आदौ श्रुतं माहात्म्यमाह **य इदमि**ति.

य इदं मायया विश्वं सृजत्यवति हन्ति च ।

चेष्टां विश्वसृजो यस्य न विदुर्मोहिताजया।।१५।।

भगवतः सामर्थ्यं तस्यानन्यत्वं च प्रतिपाद्यते. **माया** सर्वभवनसामर्थ्यं, शक्तिर्वा काचिद् अप्रयोजिका, तामपि करणत्वेन स्वीकृत्य **इदं** सर्वमेव जगद् उत्पादयति पालयति नाशयति च. एवमन्योऽपि करिष्यतीत्याशङ्क्य कैमुतिकन्यायेन[2] परिहरति **चेष्टामि**ति, भगवांस्त्वेतल्लीलयैव करोति. अन्यैः कर्तव्यमिति दूरापास्तम्, भगवत्क्रियामात्रमपि न जानन्ति किं करोति कथं करोतीति. क्रियाशक्तिर्वा निष्पन्नापि सर्वं निष्पादयन्त्यपि किमात्मिकैषेति **न विदुः**. तत्र हेतुः **अजया** प्रकृत्या **मोहिता** इति. यदि ते जानीयुः तदा कथमात्मवञ्चनामङ्गीकुर्युः? ये अजयापि मोहिता भवन्ति ते अजा एव. सर्वैरेव हन्यमानाः स्वरक्षायामेवाशक्ताः कथं सृष्टिं करिष्यन्तीति भावः ।।१५।।

एवं श्रुतिसिद्धमुक्त्वा प्रत्यक्षसिद्धमाह **यः सप्तहायन** इति.

यः सप्तहायनः शैलमुत्पाट्यैकेन पाणिना।

दधार लीलया बाल उच्छिलीन्ध्रमिवार्भकः।।१६।।

---

१. प्रत्याख्यात इति पाठः. २. कैमुत्यन्यायेनेति पाठः.

जरासन्धादिजयस्त्वतिदेशेनैव प्राप्तः, अलौकिकस्तु वक्तव्यः. तत्र पर्वतोद्धरणं लोके अत्याश्चर्यमिति, वयःप्रकारादीनां सुतरामत्याश्चर्यहेतुत्वमुच्यते. **सप्तहायनः** सप्तवार्षिकः, तत्रापि **शैलं** गोवर्धन**मेकेन पाणिना उत्पाट्य**

दधारेति मन्दरधारणादप्यधिकः प्रयत्न उक्तः. एकेनैव पाणिना दधार, तत्र तु पृष्ठेनेति विशेषान्तरम्. **लीलया** अङ्गुल्यादिषु वेणुनादानुगुणतया स्थापयन् दधारेति तृतीयो विशेषः. एतदपि धारणं न गोकुलसंरक्षार्थम्, अन्यथा साधनपरतन्त्रः स्याद् इन्द्रभयाद्वा तथा कृतवानित्यपि शङ्केत, किन्तु लीलयैव कृतवानिति वक्तुं दृष्टान्तमाह **उच्छिलीन्ध्रमिवे**ति, छत्राकमिव **अर्भको** बालकः ।।१६।।

एवं माहात्म्यमुक्त्वा कृतं स्वापराधं दूरीकर्तुं भगवन्तं नमस्यति **नमस्तस्मै भगवत** इति.

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाद्भुतकर्मणे ।

अनन्तायादिभूताय कूटस्थायात्मने नमः।।१७।।

अचिन्त्यैश्वर्यत्वाद् अन्यथाज्ञात्वा कृतोऽपराधः अतः क्षन्तव्य[१] इति. **कृष्णाये**ति भक्तहितार्थमेवावतीर्णत्वमुक्तम्. किञ्च भगवदिच्छा एतादृशीति हतः सत्राजित्, तदधुना विपरीतमापतितम्, अनुग्रहं कुर्वन् निग्रहं करोति. एतद्वा विपरीतम्. तदाह **अद्भुतकर्मणे** इति. अशक्यः प्रतीकार इति वक्तुमाह **आदिभूताये**ति. न कस्याप्यपराधोऽपीति सूचितम्. **कूटस्थाये**ति दोषाभावः. न केनाप्यपराधः कर्तुं शक्य इत्यपि सूचितम्. परमामुपपत्तिमाह सर्वदोषपरिहाराय **आत्मने नम** इति ।।१७।।

प्रत्याख्यातः स तेनापि शतधन्वा महामणिम् ।

तस्मिन् न्यस्याश्वमारुह्य शतयोजनगं ययौ।।१८।।

एवं तेनापि सर्वथा युद्धं निवारयितुं **प्रत्याख्यातः** पलायनप्रेप्सुः स मणिर्यत्र क्वापि वधं प्राप्स्यतीति मणिं **तस्मिन्** स्थापयित्वा **शतयोजनगं सैन्धवमश्वमारुह्य ययौ** ।।१८।।

ग्रामाद्रात्रावेव निर्गतः. न्यासो न देय इति ज्ञापितम्. तस्मिन् मृते

---

१. क्षन्तव्यमिति पाठः.

तदीयाः प्राप्स्यन्तीति नान्यो भगवते मणिं प्रयच्छति. महामणित्वाद् दातुमपि न शक्यः. अद्भुतकर्मत्वान्न गृहीष्यतीत्यपि सूचितम्. अतः स्थापयित्वैव पलायनमेवोचितम्. ततो लोके पलायितः शतधन्वा एकेन दिनेन शतयोजनानि गत इति द्वितीयदिवसे लोकवार्ता निर्गता. तदा भगवान् यत् कृतवांस्तदाह **गरुडध्वजमारुह्ये**ति.

गरुडध्वजमारुह्य रथं रामजनार्दनौ ।

अन्वयातां महावेगैरश्वै राजन् गुरुद्रुहम्।।१९।।

तस्मिन्नेव दिवसे चेद् गच्छेत् तदा निकट एवोपलम्भ स्यात्. द्वितीये दिवसे मध्याह्ने निर्गतः तावता स योजनानां शतद्वयमतिक्रम्य गतः. भगवान् पुनः रथान्तरं शीघ्रगामि न भवतीति अलौकिकं च न कर्तव्यमिति, **गरुडध्वजमेव रथमारुह्य**[1] एकस्मिन्नेव सर्वसामग्रीं गृहीत्वा, प्रमाणाद्यपेक्षां परित्यज्य, **रामजनार्दनौ** ससाधनपूर्णप्रयत्नौ **महावेगैः अश्वैः** सैन्यादिभिः कृत्वा **अन्वयातां** पृष्ठतो मारणार्थमनुगतौ. अवश्यं तथागमने हेतुः **गुरुद्रुहमि**ति. गुरुः श्वशुरः पञ्चानां मध्ये गणितः, तस्मै द्रोहं कृतवानिति. **राजन्नि**त्यालस्याभावाय शौर्यं कथयन् सम्बोधयति. गुरुद्रोहकथनेनान्यदपि सूचितम्ह्व ''प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मविदि''ति पक्षः परिहृतः ।।१९।।

तावता सः मिथिलानगरपर्यन्तं गत इति तत्र मारित इति वक्तुं तस्योपलम्भमाह **मिथिलाया** इति.

मिथिलाया उपवने विसृज्य पतितं हयम्।

पद्भ्यामधावत् सन्त्रस्तः कृष्णोऽप्यन्वद्रवद्रुषा।।२०।।

अतिदूरगमनात् हयस्य श्रमात् पातः. ततः पद्भ्यां धावनम्[2]. ततो भगवानपि रथेनानुगमनं निषिद्धमिति स्वयमपि पदातिरेव भूत्वानुगत इत्याह **कृष्णोऽपी**ति ।।२०।।

पदातेर्भगवांस्तस्य पदातिस्तिग्मनेमिना ।

चक्रेण शिर उत्कृत्य वाससोर्व्यचिनोन्मणिम्।।२१।।

स्वयमपि **पदातिः तस्य पदातेः तिग्मनेमिना** अप्रतिहतेन सुदर्शनेन

---

१. रथमिति नास्ति क्वचित्. २. अधावदिति पाठः.

शिरस्तस्योत्कृत्य धावनसमयएव शरीरं[1] धावमानमेव स्थितं शिरस्तु छिन्नमिति. **भगवानिति** मोक्षदानार्थं तथा कृतवानिति निरूपितम्. अतएव भगवानद्भुतकर्मा बलभद्रः पश्यतीति तत्र मण्यभावं ज्ञात्वापि **वाससोः व्यचिनोत्** विवेचनेन अन्वेषणं कृतवान् ।।२१।।

अलब्धमणिरागत्य कृष्ण आहाग्रजान्तिकम्।

वृथा हतः शतधनुर्मणिस्तत्र न विद्यते।।२२।।

बलभद्रविचारेण स मारित इति ज्ञात्वापि भगवांस्तथा कृतवान्. मण्यर्थमेव मारणमिति बलभद्रविचारः, सर्वथा मारणीय इति भगवतः. लोकवद् बलभद्रः बहुविधानि वाक्यानि श्रुत्वा मणिसद्भावएव तस्यापराधं जानीयाद्, अन्यथा लोकोऽन्यथापि वदतीति विश्वासं न कुर्यादत **आह** भगवान् **अलब्धमणिरग्रजान्तिकमागत्य वृथा हतः शतधनुरि**ति. सर्वज्ञत्वे भगवतोऽपराधः स्याद्, ज्ञात्वैवान्यत्र गत इति. सर्वकर्तृत्वमपि सर्वज्ञत्वे भविष्यतीति सुतरामेवापराधः स्यात्. ततोऽज्ञाननाट्यं कर्तव्यम्. अहतो वृथेत्यपि वाक्यं भवति, गुरुद्रोहाद्धतएव सार्थको भवतीति. अन्यथा अकृतनिर्वेशो भवेत्. **मणिस्तु न विद्यत** इत्युभयत्र[२] समानम् ।।२२।।

ततो बलभद्रएव युक्त्यभिज्ञः भगवन्तमाहेत्याह **तत आह बल** इति.

तत आह बलो नूनं स मणिः शतधन्वना ।

कस्मिंश्चित्पुरुषे न्यस्तस्तमन्वेष्टुं पुरं व्रज।।२३।।

नूनमिति तस्य वाक्यम्. अवश्यं मणिरन्वेष्टव्यः. यदि तत्स्थाने नास्ति तदा **नूनं स मणिः शतधन्वना** (इत्ययं) 'शतधन्वन्'शब्दःह्व **कस्मिंश्चित्पुरुषे,** न तु खाते भार्यादौ वा, 'पुरुष'पदेन महानेव कश्चित् सूचितःह्व **न्यस्तः** न्यासप्रकारेण स्थापितः. ततः किं विधेयमित्याकाङ्क्षायामाह **तमन्वेष्टुं पुरं व्रजे**ति. नतु स्वगृहे गन्तव्यं, कार्यं न जातमिति ।।२३।।

स्वस्यान्यथाविनियोगमाह **अहं विदेहमिच्छामी**ति.

---

१. शरीरधावनमिति पाठः. २. मारणे अमारणेऽपि.

अहं विदेहमिच्छामि द्रष्टुं प्रियतमं मम ।

इत्युक्त्वा मिथिलां राजन् विवेश यदुनन्दनः।।२४।।

भूभारहरणार्थमुभौ समागतौ, लोकाश्च द्विस्वभावाः[१]. यद्युभावप्येकासक्तौ स्याताम् तदा पक्षान्तरे बलातिशयं दृष्ट्वा अपरो निवर्तेत, तदनुगुणो वा भवेत्. ततो भूमिभारस्तदवस्थ इति फले[२] उभौ विरुद्धस्वभावौ जातौ. अतो दुर्योधनशिक्षार्थं बलो विदेहनगरे गच्छन् भगवन्तं द्वारकां प्रेषितवान्. इतः प्रभृत्येवोभयोः

शक्तिर्विभक्ता, असम्मतिलीलाप्यन्योन्यं प्रदर्श्यते. अत एवाग्रे भगवद्वाक्यं ''किन्तु मामग्रजः सम्यक् न प्रत्येति मणिं प्रती''ति. ईश्वरशक्त्योर्विभक्तत्वात् तद्भक्तानामपि बुद्धिर्विभक्तेति अक्रूरभीष्मादीनां भगद्भिन्नशीलत्वं वर्णितम्, अन्यथोभयविधाः न निरुद्धा भवन्तीति. अतो बलभद्रप्रकारेण ये निरुद्धाः ते भगवतो नानुगुणाः, भगवता निरुद्धाश्च न बलभद्रानुगुणा इति. अनयोर्विभागे शास्त्रमपि[३] विभक्तमिति ज्ञापयितुं **'विदेह'**पदम्. ज्ञाननिष्ठाः प्रियाः बलपक्षे, भक्तिनिष्ठाश्चापरत्रेति. क्रिया-ज्ञानशक्ती एकत्र, भक्ति-परमानन्दावपरत्र. अतएव **विदेहः प्रियतमः**. ततस्तन्निकटे गत्वा तद्दर्शनार्थं समुत्सुको जातः. ज्ञानपक्षे वेदमार्गो नात्यन्तमादरणीय इति गरुडध्वजो रथः भगवतैव गृहीतः, बलस्तु रथान्तरं समारुह्य पद्भ्यां वा गत इति निश्चीयते. बलभद्रो नियोगकर्तेति तस्यैव चरित्रं प्रथममाह **इत्युक्त्वे**ति त्रिभिः. **मिथिला** नाम मथनाज्जातेति न निर्मितेति कर्मज्ञानोद्भवस्तस्यां सूचितः. **यदुनन्दन** इति तदर्थमेव भगवदवतार इति तथाकरणमुचितमिति ज्ञापितम् ।।२४।।

ततो राजकर्तृकमभिनन्दनमाह **तं दृष्ट्वे**ति.

तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय मैथिलः प्रीतमानसः।
अर्हयामास विधिवदर्हणीयं समर्हणैः।।२५।।

अतिप्रियत्वात् न ज्ञापयित्वा गतः. अतोऽन्तःप्रवेशानन्तरमेव दर्शनानन्तरमेव राजा ज्ञातवानिति **दृष्ट्वा सहसोत्थाये**त्युक्तम्. यतो **मैथिलः**. दर्शनेनैव **प्रीतं मानसं यस्य**. एवं देहेन्द्रियान्तःकरणस्थितिरुक्ता. ततस्तस्य

---

१. द्विस्वभावत्वमत्र प्रवृत्तिनिवृत्तिपरत्वं, क्रियाभक्तिपरत्वं वा. २. लोकजयादौ इत्यर्थः. ३. ज्ञानभक्तिशास्त्रमित्यर्थः.

कार्यमाह **अर्हयामासे**ति. विधिप्रधान इति **विधिवत्** पूजां चक्रे. कस्मिन्नप्यंशे पुष्टिर्नास्तीति ज्ञापयितुं **अर्हणीय**मित्युक्तम्. रामः सर्वैरेव अर्हणीयः साधनपुरःसरम्, ब्रह्मरूपत्वात्. **समर्हणैः** सम्यगर्हणयोग्यैः शुद्धैः द्रव्यादिभिः ।।२५।।

एवं पूजानन्तरं तस्य प्रत्यागमनं सम्भाव्य तन्निषेधार्थमाह **उवासे**ति.

उवास तस्यां कतिचिन्मिथिलायां समा विभुः।

ततोऽशिक्षद् गदां काले धार्तराष्ट्रः सुयोधनः ।।

मानितः प्रीतियुक्तेन जनकेन महात्मना ।।२६।।

राजगृहे स्थितिव्यावृत्यर्थं **तस्यामि**ति. **कतिचित्समा** इति वर्षत्रयं किञ्चिदधिकं वा. मर्यादानगरी सेति स्थितौ न कोऽप्युद्वेगः. तत्र तावत्कालं स्थितौ परदेशवासादिक्लेशो भवेदित्याशङ्क्याह **विभुरि**ति. स्थितेः प्रयोजनमाह **ततोऽशिक्षदिति**. **धार्तराष्ट्रः** पितुः पुत्रः समर्थः, दुर्योधनोऽपि भगवदिच्छया **सुयोधनः**, सुष्ठु योधनं यस्येति. 'दुर्योधन'पदं यौगिकं मन्यमानः तन्निषेधार्थं विपरीतं प्रयुङ्क्ते, रूढं पदमिति लोके बोधयन्. अतो, ज्ञानक्रियाशक्ती तस्य न पुष्टे इति बलभद्राद्, **गदामशिक्षत्**. **काले** गदाशिक्षणयोग्ये समये. अत्यन्तं पुष्टस्तरुणः गदायां योग्यः. यस्मिन् काले प्रहारः शुष्को भवति, न पूयादिकं सम्पादयति, नाड्यश्च विशकलिता न भवन्ति, स शरदादिः षण्मासः; तस्मिन् काले गदामशिक्षत्. तस्यापि विदेशवासे उद्वेगाभावायाह **मानितः प्रीतियुक्तेने**ति. यतो **जनकः** जननाद्, अत उत्कृष्टजन्मा तं कुलीनं मर्यादावन्तमङ्गीकृतवान्. बलभद्रसम्बन्धादपि प्रीतिः. स्वभावतोऽपि **महात्मा**, यएव गृहमागतः तमाराधयतीति. अतः प्रकारत्रयेण मानितः कायिकादिकक्लेशाभावाद् अशिक्षत्. शिक्षया गदां ज्ञातवानित्यर्थः ।।२६।।

मर्यादारूपं भगवच्चरित्रमुक्त्वा पुष्टिरूपमाह.

लेखः

ततोऽशिक्षदित्यत्र **अतो ज्ञाने**ति. अत इत्य**स्याशिक्षद**त्यनेनान्वयः. सुयोधनत्वाद्धेतोरशिक्षदित्यर्थः ।।२६।।

केशवो द्वारकामेत्य निधनं शतधन्वनः ।

अप्राप्तिं च मणेः **प्राह प्रियायाः प्रियकृद् विभुः।।२७।।**

केशव इति, उत्पादकनाशकयोः तुल्यप्रकारेण फलं प्रयच्छतीति पुष्टिस्थो भवति. **द्वारकां** रथेनागत्य सत्यभामादीनां सुखार्थं शतधन्वनो निधनं तदीयांना सुखार्थं च **मणेरप्राप्तिमाह**. ननु सर्वेश्वरः विधिकर इव किमिति स्वकृतं निरूपितवानित्याशङ्क्याह **प्रियायाः प्रियकृदि**ति. एतदप्ययुक्तमिति चेत्, तत्राह **विभुरि**ति, सर्वं कर्तुं समर्थः, नैतावता काचित् क्षतिरिति भावः. उभयमपि

प्रियाया: प्रियार्थमुक्तवान्. कथं मण्यप्राप्ति: प्रियमित्याशङ्क्य सामर्थ्यं वा उक्तम् ।।२७।।

वैरानुबन्ध: आमृत्योरिति शतधनुर्वधानन्तरं प्रीतायां सत्यभामायां पश्चात्कारयामास यत् कर्तव्यमित्याह **तत** इति.

तत: स कारयामास क्रिया बन्धोर्हतस्य वै।

साकं सुहृद्भिर्भगवान् या या: स्यु: सांपरायिका:।।२८।।

बन्धो: श्वशुरस्य विप्रद्वारा कारणम्. **साकं सुहृद्भिरि**त्यादिलौकिककथनं परलोकेऽपि तस्य नालौकिकं किञ्चित्करोतीति ज्ञापयितुम्. **भगवानिति** तत्र महती सम्भृति: सूचिता, **सुहृद्भिरि**ति तत्करणे सर्वेषामावश्यकता च. **या या: स्युरि**ति विधौ आवश्यका अनावश्यकाश्च फलार्था: सर्वाएव सङ्गृहीता:।।२८।।

ततो बलभद्रवाक्यात् मण्यन्वेषणार्थं प्रवृत्त:. लोकतोऽपि अक्रूर-कृतवर्मणो: कृत्यमेतदिति ज्ञात्वा, यदैव लोकानुरोधेन तयोर्निग्रह: प्राप्तः तदैव भगवदिच्छया तयोर्बुद्धिः पलायनपरा जातेत्याह **अक्रूर** इति.

अक्रूर: कृतवर्मा च श्रुत्वा शतधनोर्वधम् ।

व्यूषतुर्भयवित्रस्तौ द्वारकाया: प्रयोजकौ।।२९।।

शतधनोर्वधं श्रुत्वा स्वस्यापि तदन्त:पातित्वात् मणिमारणावेव[१]

लेख:

अक्रूर इत्यत्र **मणिमारणे एवे**ति. मणि: सत्राजिन्मारणं च प्रयोजकं निग्रहे हेतुरित्यर्थ: ।।२९।।

---

१. मणिमारणे एव प्रयोजके इति पाठः टीकाकारसंमतश्च.

प्रयोजकाविति भगवत्प्रयत्नात् पूर्वमेव भगवच्छक्तेर्विभक्तत्वात् **भयवित्रस्तौ व्यूषतु**: मिषेण परदेशे निर्गतौ. तयोर्निर्गमनमात्रेणैव पलायनं सर्वजनीनं जातमिति तौ विशिनष्टि **द्वारकाया: प्रयोजकावि**ति. एको लोकत: अपरो वेदतश्चावेक्षकौ कोटिवारकधर्माध्यक्षौ ।।२९।।

भगवानेवात्रार्थे निमित्तमिति साधनशक्तिः भगवतान्यत्र स्थापितेति प्रयोजकमणि–बलभद्राणां दुष्टनिवारण–सत्साधनसम्पादकानाम् आधिभौतिकादीनामन्यत्र गमने फलरूपस्यैव भगवतो विद्यमानत्वेऽपि सर्वेषां द्वारकावासिनां पीडा उत्पन्नेत्याह **अक्रूरे प्रोषिते** इति.

अक्रूरे प्रोषितेऽरिष्टान्यासन् वै द्वारकौकसाम् ।

शारीरा मानसास्तापा मुहुर्दैविकभौतिकाः।।३०।।

अक्रूरमात्रस्य प्रयोजकत्वं लोकसिद्धम्. सर्वो हि लोकः आधिभौतिक एव व्यवस्थितः. तत्रापि विद्यमानेषु साधनेषु तापदर्शनात् लौकिकं कृतवर्माणं परित्यज्य धर्माध्यक्षमक्रूरमेव प्रयोजकं१ सर्वोऽपि मन्यते. **द्वारकौकसां (वै)**निश्चयेन सर्वेषां **तापाः** पीडाः **शारीरा मानसाः** व्याध्याधिरूपाः **मुहुरासन्**. आध्यात्मिका एते गणिताः. आधिभौतिका आधिदैविकाश्च पुनस्तापा अभवन्. इयं लौकिकी भाषेति नात्र कोऽपि विरोधः शङ्कनीयः. सर्वमेवोत्तरार्धं न समाधिभाषेत्येके. **मुहुरि**ति वारंवारम्, ज्ञानादिना प्रतीकारे कृतेऽपि पुनः पुनर्जायन्त इति. तेऽपि पुनः शरीरे मनस्येव च दुःखं जनयन्तीति तद्विशेषणत्वेनोक्ताः ।।३०।।

पूर्ववत्पुनर्लोके विपरीततया कीर्तिर्जातेत्याह **इत्यङ्गे**ति.

इत्यङ्गोपदिशन्त्येके विस्मृत्य प्रागुदाहृतम्।

लेखः

अक्रूरे प्रोषिते इत्यत्र **सर्वमेवे**ति. उत्तरार्धे लोकधर्मपुरस्कारेण लीलाकरणात् सर्वमेव लौकिकी भाषेति तदाशयः. वस्तुतस्तु सर्वत्र लोकधर्मपुरस्कारो लोकवत् पुत्रभार्यादिसाहित्येन लीला, स्वरूपेण लौकिकत्वं तु क्वचिदेवेति तावत्येव लौकिकी भाषेत्याशयेनाहुः **एके** इति ।।३०।।

---

१. प्रयोजकमिति नास्ति क्वचित्.

यो हि मणिं गृहीत्वा पलायते तं स्तौति लोकः, यो न गृह्णाति निर्लेपः तं निन्दतीति लोकः. अतो निन्दां पूर्वाध्याये निरूप्य स्तुतिमत्र निरूपयति. **इति** एवं जाते **अङ्ग** हे राजन्. **एके** अभिज्ञाभिमानिनः परमार्थदर्शिनोऽपि **प्रागुदाहृतं** भगवतो वीर्यविभागं मणिसामर्थ्यं वा **विस्मृत्य** स्वयं भ्रान्ताः सन्तः एकदेशे

पर्यवसितमतय: अन्यानु**पदिशन्ति**. उभयत्रापि भगवदिच्छा प्रयोजिकाह्व विस्मरणे उपदेशेऽपि.

तेषोमुपदेशमाह **मुनिवासेति** सार्धाभ्याम्.

।। वृद्धाः ऊचुः ।।

मुनिवासनिवासे किं घटेतारिष्टदर्शनम्।।३१।।
देवेऽवर्षति काशीश: श्वफल्कायागताय वै।
स्वसुतां गान्दिनीं प्रादात् ततोऽवर्षत् स्म काशिषु।।३२।।
तत्सुतस्तत्प्रभावोऽसावक्रूरे यत्र यत्र ह।
देवोऽभिवर्षते तत्र नोपपाता न मारिका:।।३३।।

मुनिरयमक्रूर:, तस्य **वासरूपे निवासे** स्थितौ; गृहं कृत्वा चिदभिमानेन मुनिस्तिष्ठतीत्यर्थ:. तत्र **अरिष्टदर्शनं** न **घटेत**. तस्य मुनित्वमुपपादयन्ति **देवेऽवर्षती**ति. पूर्वं **काशिराज: अवर्षति देवे** अनावृष्ट्या पीडित: **श्वफल्काय** प्रसङ्गादे**वागताय स्वसुतां** महादेवादिवाक्यात् **गान्दिनीं प्रादात्**. तत: **काशिषु** काशीप्रदेशेषु देवो वर्षति **स्म. स्मे**ति प्रसिद्धे, **अवर्षदि**ति. किमतो यद्येवम्? तत्राह **तत्सुत** इति. वर्षपर्यन्तं प्रत्यहं गोदाने क्रियमाणे अपुत्रस्य काशिराजस्य कन्या संजाता. ततो द्वादशवर्षपर्यन्तं पुनरेकैकां गां तस्या हस्ते दापितवान्. तादृशी गान्दिनी, तस्या: सुत:. श्वफल्कसुतो वा. तयोर्यावान् प्रभाव: तावत्प्रभावयुक्तो भवितुमर्हति. **असावि**ति तथैव दृश्यते, आविर्भूतो वा. तत्राधिकभक्तौ भगवांस्तद्रूपेण भासत इति न काप्यनुपपत्ति:. **यत्र यत्राक्रूर:** अर्थात् तिष्ठतीति पूर्वोक्तन्यायेन **तत्र देवोऽभिवर्षत** इति पितृसामर्थ्यसम्बन्ध:. **नोपपाता** इति मातृसामर्थ्यम्. भक्त्या उपलब्धत्वात् तस्या:[१] साधारणोऽपि प्रभाव: अतिरिक्त:, तमाह **न मारिका** इति. तामस्य: पूतनादिशक्तयो मारिका: सात्त्विके भगवद्भक्ते न सन्निहिता भवन्तीति युक्तमेव. **उपपाता:**

---

१. तस्यासाधारणोऽपीति पाठः.

पातकान्युत्पाता वा, गोदानस्य तथा प्रभावो निरूपित इति. हेत्याश्चर्ये, प्रभावोऽपि कथं कार्ये संजात इति, तत्राप्युभयो:, ततोऽपि विशिष्टश्चेति ।।३१-३३।।

ननु विद्यमाने भगवति अन्योत्कर्षवचनानि भ्रान्तानीति चेत्, तत्राह इति **वृद्धवचः श्रुत्वे**ति.

इति वृद्धवचः श्रुत्वा नैतावदिह कारणम् ।

इति मत्वा समानाय्य प्राहाक्रूरं जनार्दनः।।३४।।

वृद्धा आदरणीयाः यथोपश्रुतिः पूर्वं पश्चाद्भगवता श्रुता तथेदमपि श्रुत्वा तद्दोषनिराकरणार्थं प्रयत्नः कर्तव्यः. तत्र लोका अर्धं भ्रान्ता बलभद्रं मणिं च कारणत्वेन न जानन्तीति, भगवान् पुनः विस्मृश्यकारी तथैव कृतवानित्यङ्गीकारे दोषः स्यादिति, पूर्णमेव कारणं मत्वा समाधानं कृतवानिति वक्तुमाह **नैतावदिह कारणमि**ति. **इह** आध्यात्मिकादितापेषु **एतावदेव** न कारणं किन्तु [१]अन्यदप्यस्तीति तदनुक्त्वा **इति** निश्चित्य सम्यक् चिन्तयित्वा दूतैः **अक्रूरं समानाय्य**[२], [३]अमारणार्थमभयं दत्वा, **जनार्दनो** लोकानामविद्यादिसर्वदुःखनाशकः मणिं प्रकटयितुं तमाहेति सम्बन्धः. स ह्यक्रूरः काशिषु प्रयागे च मरणं निश्चित्य तीर्थमाश्रित्य स्थितः, यदि भगवान् शतधन्वानमिव मारयिष्यति तदात्रैव प्रयागादौ मारयत्विति परलोकप्रेप्सुः. भगवांश्च क्लिष्टं न करोतीति, मणिमन्यथापि दास्यतीति, तथापि सत्यभामाप्रतिनिधित्वेन अक्रूरायैव मणिर्देय इति भगवान्निश्चित्य मौशलेनैव तं मारयितुं तथा कृतवान्. नह्यस्मत्स्वामी जीवैर्निश्चिते ज्ञाते वा प्राकृत इव तन्मन्युं गृह्णाति, सात्यकिरिव प्रायोपविष्टं मारयति, तक्षक इव वा भक्षयति, मृत्युरिव वा हन्ति. तस्मादक्लिष्टकर्मा भगवान् समाहूयैव प्राह ।।३४।।

पूजयित्वाभिभाष्यैनं कथयित्वा प्रियाः कथाः।

विज्ञाताखिलचित्तज्ञः स्मयमान उवाच ह।।३५।।

किञ्च **पूजयित्वा** पितृव्यत्वेन. **अभिभाष्य** साधु समागतोऽसीति कुशलप्रश्नं कृत्वा. ततो यथा मनः परितुष्टं भवति तथा **प्रियाः कथाश्**चोक्त्वा

---

१. तस्यासाधारणोऽपीति पाठः. २. समानीयेति पाठः. ३. आमरणार्थमिति पाठः.

शरीरेन्द्रियान्तःकरणानां त्रिविधसत्कारेण सुखं दत्वा. याचिते प्रदर्शयिष्यतीति निश्चित्य. तत्र हेतुमाह **विज्ञाताखिलचित्तज्ञ** इति. एतज्ज्ञानमेवाक्रूरस्य प्रदर्शनाद्यङ्गीकारे हेतुरिति तन्निरूपितम्. भक्तो भूत्वा पूर्वं मार्गपांसुष्वपि विलुठन्

इदानीं सङ्गवशादेवं जात इति **स्मयमानः**. हेत्याश्चर्ये, यस्माद्यो बिभेति यो वा दण्ड्यः स प्रसादपात्रमिव परिभाष्यत इति ।।३५।।

भगवद्वाक्यमाह **ननु दानपते** इति चतुर्भिः.

।। श्रीभगवानुवाच ।।

ननु दानपते न्यस्तस्त्वय्यास्ते शतधन्वना ।

स्यमन्तको मणिः श्रीमान् विदितः पूर्वमेव नः।।३६।।

दानपतिर्दानाध्यक्षः सर्वधर्मसूक्ष्मज्ञः ह्वअनेन गोपनमनङ्गीकारोऽन्यथावदनं च व्यावर्तितम्.**न्यस्त त्वयि** स्थापितः, **आस्ते**ऽद्यापि तव स्थाने. शतधन्वनैव, नतु तदीयैः. **स्यमन्तको मणिः** प्रसिद्धः. तस्य नाशादिकं न सम्भवतीत्याह **श्रीमानि**ति, सर्वदा श्रीमत्त्वात् नापद्रूपं नाशादिकं प्राप्नोति. पूर्वोक्तार्थेषु प्रमाणमाह **विदित** इति. इदानीं वेदकं भ्रान्तं भविष्यतीति तन्निवारणार्थमाह **पूर्वमेव** नोऽस्माभिः **विदित** इति ।।३६।।

तर्हि तदैव कथं न याचित इति चेत्, तत्राह **सत्राजितोऽनपत्यत्वादि**ति.

सत्राजितोऽनपत्यत्वाद् गृह्णीयुर्दुहितुः सुताः ।

दायं निनीयापः पिण्डान् विमुच्यर्णं च शेषितम्।।३७।।

याचनमधिकारिणो भवति, यः पिण्डदः स रिक्थहारीति. तत्रैतावत्कालं सत्यभामाया नापत्यान्युत्पन्नानि, स **त्वनपत्यः** अभ्राता च, मणिस्तु तस्य. तं पुनः **दुहितुः सुताः गृह्णीयुः**. तत्र साधारणं[१] न्यायमाह दायं निनीयेति, अन्यथैतदपि स्वेच्छेति स्यात्. दायं धनं **गृह्णीयुरि**ति पूर्वेणैव सम्बन्धः. आमरणं तस्यैव धनम्. मरणानन्तरमपि पुत्राद्यभावे **अपः पिण्डान् निनीय ऋणं च विमुच्य शेषितमवशिष्टम्. शेषभागि**ति पाठे यो निनीय भवति स शेषभाग्भवतीति. निःस्वामिकं तु द्रव्यं राजगामि भवति. चोरं हत्वापि यो वस्तुतो न भागी स न द्रव्यं प्राप्नोति[२] परिज्ञातम्.

---

१. असाधारणमिति पाठः. २. प्राप्नोति. परिज्ञातमिति पाठः.

उत्पन्नएव दायभाग्भवतीति न व्यवहितज्ञातेः दायभाक्त्वमिति केचित्. दायं वा साक्षात्स्वामिनि गते तत्स्वामिनमन्वेषमाणं परम्परया शाखामूलपर्यन्तं गत्वा

तुल्यतया तच्छाखासु निर्विशति. यं कञ्चिद्वा सर्वानुमत्या पिण्डदातारम्. एवं श्लोकद्वयेन भेदो दण्डश्च उक्तः, भेदावेव वा ।।३७।।

साम-दाने आह **तथापि**ति द्वाभ्याम्.

तथापि दुर्धरस्त्वन्यैस्त्वय्यास्तां सुव्रते मणिः।

किन्तु मामग्रजः सम्यङ् न प्रत्येति मणिं प्रति।।३८।।

अन्यैदुर्धरोऽयमिति **त्वय्येवास्ताम्.** स हि लौकिके अलौकिको न तिष्ठति. यएव कर्मादिमार्गैः अपवृत्तैः लौकिकत्वं न सम्पद्यते, अपवृत्तकर्मा लौकिको भवतीति. कादाचित्कव्रतोऽपि समयभेदेन लौकिकएव. तर्हि मयि कथं तिष्ठेदित्याशङ्क्याह **सुव्रत** इति, सुष्ठु व्रतं यस्य. त्वं हि सर्वदा नियतव्रतः. एवं दानमुक्त्वा सामाह **किन्त्वि**ति. परमेकदा दर्शयस्व. साम हि समता, उभयोरैक्यम्. तथा सति यथा स्वकार्ये मणेर्विनियोगः एवमस्मत्कार्येऽपि विनियोगो युक्त इति. अप्रदर्शनपक्षे **अग्रजो** बलभद्रः **मणिं प्रति** मणिविषये **मां न सम्यक् प्रत्येति** किन्तु सकपटं मन्यते ।।३८।।

अतो यथा जाम्बवता अपकीर्तिनिराकरणार्थं मणिर्दत्तः एवं त्वयापि प्रदर्शनीय इत्याह **दर्शयस्वे**ति.

दर्शयस्व महाभाग बन्धूनां शान्तिमावह ।

अव्युच्छिन्ना मखास्तेऽद्य वर्तन्ते रुक्मवेदयः।।३९।।

लेखः

दायं निनीयेत्यत्र **उत्पन्न** एवेति, औरसएव पुत्रः संपूर्णदायभाक् भवति. **व्यवहितो** दौहित्रादिः, **ज्ञातो** ज्ञातिसम्बन्धी; एतादृशे तु संपूर्णदायभाक्त्वं नास्ति किन्तु पिण्डदानादि-क्रियानन्तरम् ऋणमोकानन्तरं च यावदवशिष्यते तावद्भाक्त्वमित्यर्थः ।।३७।।

तथापीत्यत्र **अपवृत्तैरि**ति. अपकृष्टं वृत्तं स्थितिर्येषाम्, अपकृष्टैरित्यर्थः ।।३८।। इत्यष्टमाध्यायव्याख्या।।

महाभागेति भाग्ये विद्यमाने मणिर्न गच्छतीति अस्मद्विश्वासाभावेऽपि भाग्यविश्वासो वा कर्तव्य इति भावः. अनेनान्योऽप्युपकारो भविष्यतीत्याह **बन्धूनां शान्तिमावहे**ति. बन्धुषु मध्ये कलह उत्पन्नः केचिन्मत्सङ्गिनो अपरे

रामस्येति. प्रदर्शने तु सन्देहाभावात् न कलहः. **अव्युच्छिन्ने**त्यर्धं विगीतमाहुः. मणिरस्तीत्यत्र लौकिकं प्रमाणं काश्यादिषु **रुक्मवेदयः** सुवर्णेष्टकानिर्मिताग्निसहिताः **मखाः** द्वादशाहादयः **अव्युच्छिन्ना** निरन्तरं प्रवृत्ताः यत**स्ते वर्तन्त** इति ।।३९।।

एकेनाप्युपायेन स इष्टं कुर्यात्, किमुत चतुर्भिरिति स भगवदुक्तं कृतवानित्याह **एवं सामभि**रिति.

।। श्रीशुक उवाच ।।

एवं सामभिरालब्धः श्वफल्कतनयो मणिम् ।
आदाय वाससा च्छन्नं ददौ सूर्यसमप्रभम्।।४०।।

सामशब्देन भेद-दण्ड-दानान्यपि संगृह्यन्ते. पर्यवसितं सामैवेति तदेवोक्तम्. **आलब्धः** स्पृष्टः मारित इव लज्जितः वशीकृतश्च. **श्वफल्कतनयो** महतः पुत्रः. भगवते **वाससा च्छन्नं सूर्यसमप्रभं ददौ. आदा**येत्यनेन अन्यतो ग्रहणं लक्ष्यते. अर्थात् कृतवर्मणः स्थाने तत्[१] स्थितमिति लक्ष्यते. प्रत्यक्षदाने लज्जा भवतीति **वाससा च्छन्नं ददौ** तथैव स्थापितमिति ज्ञापयितुम्. अन्यथा तज्जनितं सुवर्णमपि निवेदनीयं स्यात्. तेन प्रदर्शनार्थं न दत्तं किन्तु सर्वथैव दत्तमिति दानप्रकारादवसीयते. **सूर्यसमप्रभमि**ति दाने दातुर्ग्रहीतुश्च प्रत्यक्षतो दर्शनमपि न भवेदिति सूचितम्. अनुपहतशक्तिं वा ।।४०।।

भगवांस्तु प्रतिदानार्थमेव गृहीतवानिति कार्यं कृत्वा तस्मै दत्तवानित्याह **स्यमन्तकमि**ति.

---

१. स स्थित इति पाठः.

स्यमन्तकं दर्शयित्वा ज्ञातिभ्यो रज आत्मनः ।
विमृज्य मणिना भूयस्तस्मै प्रत्यर्पयद् विभुः।।४१।।

ज्ञातिभ्यो गोत्रजेभ्यो विवदमानेभ्यः **आत्मनो** रजोऽपकीर्तिं **विमृज्य** मार्जयित्वा. अनेनाग्रिमकार्ये लेपदानाविव पूर्वरङ्गः कृत इति लक्ष्यते, भगवति दोषारोपाभावे हि सर्वे उद्धर्तुं शक्या इति. अतः स्वकार्यं कृत्वा **तस्मै प्रत्यर्पयत्.**

भूय इत्यनेन पूर्वमपि सत्यभामास्थानीयं मणिं दत्तवानिति लक्ष्यते. **विभुः** समर्थः तस्मै दत्वापि तं दण्डयितुमिति. अपेक्षाभावाद्वा ।।४१।।

एवमध्यायद्वये लौकिकी भाषा निरूपितेति साक्षादुपयोगाभावात् श्रवणे फलमाह **यस्त्वेतदि**ति.

यस्त्वेतद्भगवत ईश्वरस्य विष्णो–

वीर्याढ्यं वृजिनहरं सुमङ्गलं च।

आख्यानं पठति शृणोत्यनुस्मरेद्वा

दुष्कीर्तिं दुरितमपोह्य याति शान्तिम्।।४२।।

।।इति श्रीमद्भागवत–दशमस्कन्धे चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।

एतदाख्यानम्. अत्राख्याने त्रिविधा लीला वर्तत इति ज्ञापयितुं भगवतो नामत्रयमूह्व भगवत्त्वात् शास्त्रार्थत्वम्, ईश्वरत्वादावश्यकत्वम्, विष्णुत्वात् पापनाशकत्वमिति. चरित्रेऽपि गुणत्रयमाह वीर्याढ्यं वृजिनहरं सुमङ्गलं चेति, भक्तिजनकं पापनाशकं पुण्यसम्पादकं च. चकाराद् ज्ञानप्रदम्. तत्र क्रियामपि त्रिविधामाह पठति शृणोत्यनुस्मरेद्वेति. श्रवण–कीर्तन–स्मरणानि विकल्पेन विधीयन्ते समुच्चयेन च. चकारादन्येषु फलेषु विकल्पः, भक्तौ समुच्चय इति. पूर्वमुक्तं फलमपि त्रिविधमाह दुष्कीर्तिं दुरितमपोह्य याति शान्तिमिति. दुष्कीर्तिर्बाह्या, दुरितमान्तरम्. दोषद्वयं परिहृत्य लयविक्षेपजनकाभावात् शान्तिं मनसः समवस्थानं ज्ञानं वा यातीति भक्त्यङ्गत्वेनैतच्छ्रोतव्यमिति निरूपितम् ।।४२।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज–श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धेऽष्टमोऽध्यायः।।

।।इति चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।

।।द्वितीयः स्कन्धादितः पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।

नवमे पञ्चकन्यानां विद्यापर्वस्वरूपतः।
विवाहः प्रोच्यते सम्यक् कृष्णेनाशेषमुक्तये।।(१)।।
मायासम्बन्धदोषेण क्रोधः कामस्तथापरः।
निराकृतः सर्वमुक्त्यै विद्याफलमतः परम्।।(२)।।
त्रैलोक्यसुखदानं च मायादोषनिवारणम्।
द्वाभ्यां तथैव सर्वेषां राजसे पूर्णता ततः।।(३)।।
विद्यायाः सूर्यमुख्यत्वात् प्रथमा दुहिता रवेः।
विपक्षनिग्रहात्मत्वाद् द्वितीया सोमवंशजा।।(४)।।
मार्गद्वयं हितार्थाय द्वयं स्वीकृतवान् हरिः।
भक्तानभक्तानालक्ष्य तृतीया सूर्यवंशजा।।(५)।।
भक्तिरूपा प्रयत्नेन याचयित्वा स्वयं गतः।

लेखः

नवमे **माये**ति. **माया** रुक्मिणी, तत्**सम्बन्धरूपदोषेण** भगवति **कामः क्रोधस्तथापरो** लोभश्च प्राप्तः, **स निराकृतः**. क्रमो न विवक्षितः. भगवति कामः पुत्राद्यभिलाषो नास्ति, तथा सति नारदादिसर्वसंमतिं विनैव प्रद्युम्नं गृह्णीयात्. तथा क्रोधोपि नास्ति, तथा सति जाम्बवति प्रसादं न कुर्यात्. लोभोपि नास्ति, तथासति मणिं स्वयमेव गृह्णीयात्. एवं त्रिभिरध्यायैर्दोषत्रयाभाव उक्तः. **अतः परं विद्यारूपं फलं** निरूप्यते, तथा सति निर्दोषगुणत्वं भगवति सेत्स्यतीति भावः (२).

ततो दशमाध्याये **त्रैलोक्यै यत्सुखं तद्दानम्**. ततो **द्वाभ्यां मायाया** रुक्मिण्या **दोषनिवारणम्.** तत्रान्तरदोषनिवारणमाद्येन, द्वितीयेन बाह्यदोषस्य रुक्मिणो निवारणम्. ततः **सर्वेषां** दोषनिवारणं **तथैव** द्वाभ्यामेवेत्यर्थः (३).

कालिन्दी ज्ञानरूपा मित्रविन्दा तपोरूपेत्यादिनिबन्धाद् ज्ञेयम्. भक्तानिति. ‘‘भक्त्या मामभिजानाती’’ति वाक्याद् **भक्तानालक्ष्य** ज्ञानमार्गः भक्तिरहितानालक्ष्य तपोमार्ग इत्यर्थः. **तृतीये**ति. इयं भक्तिरूपा अतः **स्वयं गतः**

व्यसनानि निराकृत्य तदुद्वाहं चकार ह।।(६)।।
अग्रे बाधास्तु भक्तेन ह्यर्जुनेन निराकृता:।
ज्ञानभक्त्योरतो भूयान् पर्वणोरुद्यम: कृत:।।(७)।।
धर्मस्नेहौ तयोरङ्गं मध्यमो लौकिक: स्मृत:।
द्वयो: स्वतन्त्रतासिद्ध्यै जीवानां तु ततो द्विधा।।(८)।।
भक्तिज्ञानफले कृष्ण: पुंसां स्त्रीणां चकार ह।
अतो दत्तां स्वयं दत्तामक्लेशक्लेशभावनात्।।(९)।।
उपयेमे स्वयं कृष्णस्तासु सर्वं प्रतिष्ठितम्।
तत:[१] सर्वकलाभिस्तु हरि: पूर्णो निरूप्यते।।(१०)।।

लेखः

सन् **याचयित्वा व्यसनानि निराकृत्य तदुद्वाहं चकारे**त्यर्थः. अत्रेयं भक्तिरूपेत्युक्तं, निबन्धे लक्ष्मणा भक्तिरूपा नाग्नजिती योगात्मिकेति निरूपितम्. तत्र विकल्पो ज्ञेय: (४-६).

अत इति. यतोऽत्र भगवतो **भूयान्** पक्ष: अतो हेतो**र्ज्ञानभक्तिरूपयो: पर्वणो:** कालिन्दी-नाग्नजितीविवाहयोः **भूयानुद्यमो** विस्तार: **कृत:.** धर्मेति. कालिन्दी विष्णुं वरेण्यं ज्ञात्वा धर्मबुद्ध्या वृतवती, नाग्नजिती स्नेहेन वृतवतीत्यर्थः. **मध्यम** इति, मित्रवृन्दाविवाहो लौकिकभावयुक्त इत्यर्थः. **द्वयोरि**ति, **द्वयो**र्ज्ञानभक्त्यो: सम्बन्धि**जीवानां** ज्ञानिनां भक्तानां च **स्वतन्त्रतासिद्ध्यै** मध्ये **लौकिको** विवाह उक्त इति पूर्वेण सम्बन्धः. मध्ये तत्कथनेनोभयोर्विच्छेदः कृतः तेनोभयो: स्वतन्त्रता नत्वङ्गाङ्गिभाव इति सूचितमित्यर्थः. ततस्तदनन्तरं **कृष्णः भक्तिर्ज्ञानं च फलं ययोस्तादृशे** योगसाङ्ख्ये **पुंसां स्त्रीणां चोभ**यत्रोभयं **चकार अतो** हेतो**र्दत्तां** पित्रेति शेषः. पित्रा दत्तां साङ्ख्यरूपां भद्रां स्वयमेव स्वयंवरे दत्तां योगरूपां लक्ष्मणा**मुपयेमे** इत्यर्थः. **अक्ले**शेति, ल्यब्लोपे पञ्चमीयम्. तथा च क्लेशभावनमक्लेशरूपक्रियां प्राप्य भद्रामुपयेमे, मध्ये युद्धकथनात् क्लेशभावनं प्राप्य लक्ष्मणामुपयेम इत्यर्थः. अत्र नाग्नजित्या भक्तिरूपत्वकथनात् लक्ष्मणाया

१. अतः इति लेखकृतां पाठः.

सषष्ठो भगवानेवं निःसन्दिग्धो निरूपितः।।

तत्र प्रथमविवाहे तत्त्वानि भगवांश्च व्यापृत इति नवविंशतिश्लोकैर्विवाहो निरूप्यते. तत्र भक्ति-कर्मणी ज्ञाने अङ्गभूते इति निरूपयितुं द्वादशभिर्भक्तिं पञ्चभिः कर्म च निरूपयति. ततो भक्तद्वारा दशभिस्तद्ग्रहणं प्रसङ्गाद् भक्तोपकारश्च. भक्तोद्धारार्थं यतमानएव ज्ञानशक्तिं गृह्णातीति वक्तुं पाण्डवानां स्थाने भगवान् गत इत्याह **एकदे**ति.

।।श्रीशुक उवाच।।

एकदा पाण्डवान् द्रष्टुं प्रतीतान् पुरुषोत्तमः ।

इन्द्रप्रस्थं गतः श्रीमान् युयुधानादिभिर्वृतः।।१।।

प्रतीतान् निश्चितान्, राधावेधे वा दृष्टान्. तथापि तत्र तदा न प्रकटीभूता इति पश्चाद्गतः. प्रतीतिस्तु सन्देहाभावायैव. लोके प्रज्ञातान्. **पुरुषोत्तम** इति. तान् सर्वान् पुत्रत्वेन निरूपयति, तेनावेक्षार्थं गमनं युक्तमेव. इन्द्रप्रस्थे तावता तैः स्थानं लब्धं, नारदोपदेशतः भीष्मादिभिरेव दत्तम्. ननु तदानीमेव तत्र गताः पाण्डवा असाधनाश्च स्वार्थमेव सामग्रीरहिताः किं भगवदर्थे सम्पादयिष्यन्तीत्याशङ्क्याह **श्रीमानि**ति, स्वयमेव सर्वसाधनलक्ष्मीयुक्तः. तेषां साधनसम्पादनार्थमेव गतः. अतएव महाशूरैः सुबुद्धि**भिर्युयुधानादिभिर्वृतः**. **युयुधानः** सात्यकिः. स तत्रार्जुनशिष्यो भविष्यति. भगवांश्च विश्वकर्मादिभिर्गृहादिकं सम्पादयिष्यतीति. एतदर्थं भगवद्गमनम्. बहुपुरुषैः सम्पादितगृहतुल्यम्, अन्यथा तद्गृहं न भवेत्. उत्कर्षश्च सम्पादनीयः ।।१।।

एवं भक्तार्थं भगवद्गमने भक्तानां कृत्यमाह **दृष्ट्वा तमागतमि**ति द्वाभ्याम्.

दृष्ट्वा तमागतं पार्था मुकुन्दमखिलेश्वरम्।

उत्तस्थुर्युगपद् वीराः प्राणा मुख्यमिवागतम्।।२।।

लेखः

योगरूपत्वमिति ज्ञेयम्. अत इति, विद्यायाः पञ्चविद्याया अपि सिद्धत्वादित्यर्थः. **सषष्ठ** इति. इमाः पञ्च स्वयं षष्ठः, **एवं स**ति षड्विधत्वात् **निःसन्दिग्धो भगवानेव निरूपितो** जात इत्यर्थः (७-१०).

परिष्वज्याच्युतं वीरा अङ्गसङ्गहतैनसः ।

सानुरागस्मितं वक्त्रं वीक्ष्य तस्य मुदं ययुः।।३।।

आगमनसम्भावनापि न स्थिता. अकस्मादागतएव. पार्थाः स्वयं राजानः पृथायाः भक्तायाः पुत्राः. अत एवाग्रे तस्या भक्तिं वक्ष्यति त्रिभिः. भगवांश्च **मुकुन्दः**. अनेनेष्टदो निरूपितः, **अखिलेश्वरत्वादावश्यकः,** अतो **युगपदेव** सर्वे **उत्तस्थुः**. वीरा इति तेषां स्वधर्मो निरूपितः, अन्यस्तु भगवत्परो न भवतीति. स्वतः परम्परातश्च उत्तमाः भगवति परं स्नेहं प्राप्तवन्त इति दृष्टान्तेनाह **प्राणा मुख्यमिवागतमि**ति. इन्द्रियाण्यासन्यमागतमिव, तेषां तन्मूलकमेव सर्वमिति. एवं सर्वात्मना तदीयत्वमुपपाद्य तादृशानां कर्तव्यमाह **परिष्वज्ये**ति. भगवदालिङ्गनं निरन्तरमेव स्थास्यतीति **अच्युतमि**ति. भगवतस्तथात्वज्ञानं स्वधर्मादेवेति वक्तुं पुनर्वीरा इति. **अङ्गसङ्गेनैव हतमेनो येषाम्;** उत्तरार्थं पापक्षयः आनुषङ्गिको जात इति निरूपितम्. अतएव भगवतः **सानुरागस्मितं वक्त्रं** दृष्ट्वा तदेव पुरुषार्थत्वेन मन्यमानाः **मुदं ययुः**. एतावदेव भक्तकार्यम् ।।२-३।।

ततो लौकिकं भगवान् कृतवानित्याह युधिष्ठिरस्येति. अन्यथा शत्रुमारणादिकं न कुर्युः, तत उत्कर्षश्च न स्यात्. अतो व्यामोहार्थं स्वयमात्मानं लौकिकं प्रदर्शितवान्.

युधिष्ठिरस्य भीमस्य कृत्वा पादाभिवन्दनम् ।

फाल्गुनं परिरभ्याथ यमाभ्यां चाभिवन्दितः।।४।।

युधिष्ठिरभीमौ ज्येष्ठौ, अर्जुनः समः, अन्यौ कनिष्ठौ. ज्येष्ठयोर्नमस्कारः, समस्यालिङ्गनं सम्भाषणं च, अन्ययोर्नमस्कारानन्तरमाशिषः; तदुक्तं क्रमेणैव. पादाभिवन्दनादाचारो निरूपितः सम्बन्धकृतः **अथ यमाभ्यामि**ति वाह्व समानकालेऽपि सम्भवतीति धर्मव्यवस्थां निरूपयितुमानन्तर्यमुक्तम्, आन्तरोऽयं सुहृदिति ज्ञापयितुम् ।।४।।

लेखः

दृष्ट्वेत्यत्र परं स्नेहमिति. आगतमात्रेण सहसोत्थानं स्नेहकार्यम्. तथा च **स्नेहं** स्नेहकार्यमित्यर्थः ।।२।।

तदानीमर्जुनेनोढाया नमस्कारमाह **परमासन आसीनमि**ति.

परमासन आसीनं कृष्णा कृष्णमनिन्दिता।

नवोढा व्रीडिता किञ्चिच्छनैरेत्याभ्यवन्दत।।५।।

अनेन सर्वपूजानन्तरं पश्चाद्दास्येनात्मनिवेदनं कुर्वाणेव समागतेति सूचितम्. **आसीनम**व्यग्रम्, तस्यां कृपादृष्ट्यर्थमुक्तम्. एतदर्थं तस्याः सनामत्वेन१ योग्यतामाह **कृष्णे**ति. ''यो यच्छ्रद्धः सएव स'' इति भगवान् कृष्णः पञ्चात्मकः शब्दा-ऽर्थ-शक्ति-भक्त-क्रीडाधारभूतः. अतो व्यासो भगवान् कालिन्दी अर्जुनो द्रौपदी चेति. नन्वेषा परिग्रहाधिक्याद् दुष्टा कथमेवं प्रपन्ना? तत्राह **अनिन्दिते**ति, दोषो नास्त्येव निन्दापि नास्तीति. सम्बन्धाभावाच्च तथेत्याह **नवोढे**ति, विधिसम्बन्धाद्वा. अतएव **किञ्चिद् व्रीडिता.** स्त्रीस्वभावोऽपि **शनैरा**गमनं धाष्ट्र्याभावं सूचयति ।।५।।

सहगतानां पुरस्कारं वक्तुं सात्यकेराह **तथैवे**ति.

तथैव सात्यकिः पार्थैः पूजितश्चाभिनन्दितः ।

निषसादासनेऽन्ये च पूजिताः पर्युपासत ।।६।।

यथा भगवान् पूजितः एवं भगवद्भक्ता अपि पूजिताः, यतस्ते **पार्थाः.** सम्बन्धश्च तुल्य इति, साधु समागतमित्यभिनन्दनम्. ज्ञानशक्तिरत्र प्रकटीकर्तव्येति **सोऽप्यासन** एवोपविष्टः. अन्ये च **पूजिताः** आसनेषूपविष्टाः२ परं भगवन्तं **परित उपासत** ।।६।।

पृथायाः स्तोत्रं वक्तुं प्रथममन्योन्यमनुवृत्तिमाह **पृथामि**ति.

पृथां समागत्य कृताभिवादनस्तयातिहार्दार्द्रदृशाभिरम्भितः ।

आपृष्टवांस्तां कुशलं सहस्नुषां पितृष्वसारं परिपृष्टबान्धवः।।७।।

भगवान् पृथां **समागत्य** पृथानिकटे गत्वा **कृताभिवादनो जातः. तया** च **अतिहार्देन आर्द्रा दृष्टिर्यस्याः.** करुणया भक्त्या च आर्द्रा भवति दृष्टिः. ततोऽपि अतिहार्दा लौकिकसम्बन्धेन स्नेहयुक्ता **आर्द्रा** भवति. ततस्तया **परिरम्भितः कुशलमापृष्टवान्.** स्वयं च पृष्ट इति लौकिकी भाषा भगवत्कृता स्थिरा जातेति निरूपितम् ।।७।।

---

१. समानत्वेनेति पाठः. २. आसन एवोपविष्टा इति पाठः.

तस्याः स्तोत्रार्थं प्रवृत्तिमाह तमाहेति.

तमाह प्रेमवैक्लव्य–रुद्धकण्ठाश्रुलोचना ।

स्मरन्ती तान् बहून् क्लेशान् क्लेशापायात्मदर्शनम्।।८।।

प्रेम्णा वैक्लव्यम् अन्त:करणस्य तादृशं प्रेम. तेन **रुद्धकण्ठता** शरीरवैक्लव्यम्. **अश्रूणि लोचने यस्या**[१] इतीन्द्रियवैक्लव्यम्. किञ्च स्वस्थानामपि भक्त्यैवं भवति; इयं तु बहुक्लेशापन्ना तांश्च स्मरतीत्याह **स्मरन्ती तानि**ति. **बहूनेव क्लेशान् स्मरन्ती** क्लेशनिवृत्त्यर्थं प्रार्थयिष्यतीत्याशङ्क्याह **क्लेशापायात्मदर्शनमि**ति, क्लेशानामपायो नाशो यस्मात् तादृशं स्वरूपस्य दर्शनमेव यस्येति. दर्शनेनैव क्लेशनिवृत्तौ तदर्थं न प्रार्थना ।।८।।

भगवता वयं कृतार्था इति इदमेव भगवत्स्तोत्रम्. तत्कृतकरिष्यमाणभेदेन द्विविधं निरूपयति **तदैवे**ति द्वाभ्याम्.

।। पृथा उवाच ।।

तदैव कुशलं नोऽभूत् सनाथास्ते कृता वयम्।

ज्ञातीन्नः स्मरता कृष्ण भ्राता मे प्रेषितस्त्वया ।।९।।

न तेऽस्ति स्वः परो भ्रान्तिर्विश्वस्य सुहृदात्मनः।

तथापि स्मरतां शश्वत् क्लेशान् हन्सि हृदि स्थितः।।१०।।

यदैवास्मान् स्मृतवान् **तदैव नः कुशलमभूत्.** चिन्ताभावायाह **सनाथा** अपि **त्वया वयं कृताः,** नाथएव काले स्मरतीति. वयमिति श्लाघायाम्. एतस्याभिज्ञापकमक्रूरप्रेषणमित्याह **ज्ञातीन्नः स्मरते**ति. ''येनोपशान्तिर्भूतानामि'' त्यत्र तथा निरूपितम्. **कृष्णे**ति तदर्थमेवावतार उक्त:. सर्वसंरक्षार्थं **भ्राता प्रेषितः.** अनेन भ्रात्रपेक्षयापि तवैव स्नेहाधिक्यात् नेदं दैहिकन्यायेन कृतार्थकरणम्. सन्निहितो बन्धुरेव प्रेषणीय इति लौकिकरक्षापि सूचिता. एवं स्वरक्षकत्वेन प्राप्तं वैषम्यं परिहरति **न तेऽस्ती**ति. **स्वः** स्वकीय:, **परः** शत्रु:. एतदभावे हेतुमाह **भ्रान्तिरि**ति, इयं बुद्धिर्भ्रान्तेति नास्तीत्यर्थ:. तत्र हेतुत्रयमाह विश्वस्य **सुहृदात्मन** इति. दैहिके विचार्यमाणे त्वमेव विश्वम्, अन्त:करणे तु **सुहृत्** सर्वस्यापि भगवान्, वस्तुविचारे **त्वात्मैव.** अतो भावत्रयेऽपि भगवतो वैषम्यबुद्धिर्न सम्भवतीत्यर्थ:. तर्हि कथं विषमकार्यमित्यत आह **तथापी**ति.

---

१. यस्येति पाठः.

ये केचित् स्मरन्ति तेषां हृदये स्थितः क्लेशसमानाधिकरणो न भवतीति अग्निस्तृणमिव क्लेशान् हन्सि. अतो भावनाकार्यमेव क्लेशहननम्. तदपि स्वाभाविकमेव ।।९-१०।।

ततो राजापि स्तोत्रं कृतवानित्याह **किं न** इति.

।।युधिष्ठिर उवाच।।

किं न आचरितं श्रेयो न वेदाहमधीश्वर ।

योगेश्वराणां दुर्दर्शो यन्नो दृष्टः कुमेधसाम्।।११।।

तस्यापि स्वाभिनन्दनेनैव स्तुतिः. स हि सर्वं कर्मफलमेव जानाति अतो भगवद्दर्शनमपि महाफलमिति साधनं कल्पयति. **नोऽ**स्माभिः अस्माकं वा **श्रेयः आचरितम**स्ति. एतत्परिज्ञाने निरन्तरदर्शनार्थं निरन्तरं तत्कर्तव्यमिति पृच्छन्निव स्वाज्ञानमाह **न वेदाहमि**ति. **अधीश्वरत्वाद्** अन्तःकरणस्वामित्वाद् भगवानेव जानाति. दर्शनस्य[१] महाफलत्वमाह **योगेश्वराणामपि दुर्दर्श** इति. स्वस्यातथात्वमाह **कुमेधसामिति** ।।११।।

एवं सर्वैः स्तुतः तेषां हितार्थं कियत्कालं तत्रैव स्थित इत्याह इतीति.

।। श्रीशुक उवाच ।।

इति वै वार्षिकान् मासान् राज्ञा सोऽभ्यर्थितः सुखम्।

जनयन्नयनानन्दम् इन्द्रप्रस्थौकसां विभुः ।।१२।।

सर्वत्र विद्यमानोऽपि निश्चयेन तत्र स्थितः सर्वजनीनः. **वार्षिका मासाश्चत्वारः,** अनेन निद्रायामागतायां भक्तहृदये शयानः स्थित इति सूचितम्. लोकेऽपि वर्षायां गमनागमनौ न सुकरौ. तत्रापि युधिष्ठिरे**णाभ्यर्थितः** तदर्थं **इन्द्रप्रस्थौकसां च नयनानन्दं जनयन्**. एकया क्रियया फलत्रयं[२] साधयतीति **विभुत्वं** हेतुत्वेन प्रदर्शितम्. यतोऽयं लोको भ्रान्तः ।।१२।।

एवं भक्तिमुक्त्वा कर्माह **एकदे**ति.

एकदा रथमारुह्य विजयो वानरध्वजम्।

गाण्डीवं धनुरादाय तूणौ चाक्षयसायकौ।।१३।।

साकं कृष्णेन संनद्धो विहर्तुं विपिनं महत् ।

बहुव्यालमृगाकीर्णं प्राविशत् परवीरहा ।।१४।।

---

१. तद्दर्शनस्येति पाठः. २. फलद्वयमिति पाठः.

मासचतुष्टयमध्य एव अष्टकाद्यर्थं आखेटकार्थं गमनम्. **वानरध्वजो** रथोऽर्जुनस्य, एतत्प्राप्तिमप्यग्रे वक्ष्यति. इदानीमसाधन इति शक्त्या सहितस्तथा भवतीति विवाहानन्तरं परिग्रहानन्तरं वा तद् वक्ष्यति. वानरो हनूमान् ध्वजे यस्येति तेषु भगवत्कृपा महती निरूपिता. **गाण्डीव**मप्यग्नेः सकाशादेव प्राप्तम्. तूणीरौ च **अक्षयसायकौ.** ततएव प्राप्तं त्रिविधमेतत्. **कृष्णेन** सहभावः सर्वेषामयातयामत्वाय. फलसाधनयुक्तता वा. सन्नद्धो बद्धकवचः. पुनरपि युद्धं सम्भविष्यतीति पूर्वं युद्धं जातमप्यग्रे निरूप्यते, अन्यथा विवाहस्य प्राधान्यं न स्यात्. भगवदैच्छिकोऽयं पदार्थक्रम इति न वैपरीत्यम्, प्रथमं खाण्डवदाहः पश्चात् स्त्रीप्राप्तिरिति[१]. विचारितं तु तथा, कृतं त्वत्रोच्यते **विहर्तुमि**ति. तदेवाह **बहुव्यालमृगाकीर्णमि**ति. व्याला दुष्टाः मृगा अदुष्टाः, सावरणा निरावरणाश्चेति कर्मबन्धो निवारितः. **महद् विपिनमि**ति मृगयारूपा क्रीडा तत्रानन्ता भवतीति वा. उभयान् हन्तीत्युत्कर्षः. तेषां मारणे सामर्थ्यमाह **परवीरहे**ति, शत्रूणां विवेकपूर्वकं युद्धं कुर्वतामपि यो वीरहा ।।१३-१४।।

अतस्तत्र गतः पञ्चविधान् द्विविधानपि मारितवानित्याह **तत्राविध्यदि**ति.

तत्राविध्यच्छरैर्व्याघ्रान् शूकरान् महिषान् रुरून् ।

शरभान् गवयान् खड्गान् हरिणान् शशशल्लकान्।।१५।।

शरैर्न तु कपटैः. **व्याघ्रा महिषा रुर**वश्च त्रयो दुष्टत्वेन मारणीयाः; तेषां चर्मनखाद्युपयोगः. शल्यका अपि कठिना इति तैः सहोक्ताः, परं भक्ष्याः. **शरभा**दयश्च षट्. तत्र शरभ-गवयावभक्ष्यौ. **शूकरश्चे**त्पूर्वमुक्तः तदापि भक्ष्यः. पञ्च भक्ष्याः पञ्चाभक्ष्याश्चेति दश निरूपिताः ।।१५।।

तत्रोत्तमानां कर्मोपयोगमाह **तान्निन्युरि**ति.

लेखः

कृतं त्विति. पूर्वं कालिन्दीप्राप्तिः पश्चाद् गाण्डीवादिप्राप्तिः. अधुना तु गाण्डीवादिकं भगवदिच्छासिद्धं गुप्तं तादृग्जनवेद्यम्. इदमेव पश्चादग्निद्वारा प्रकटतया दापयिष्यति. ''निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्नि''ति न्यायोऽनुसन्धातव्यः ।।१३-१४।।

१. इति विचारितं तथा कृतं विपरीतं कृतमित्यर्थः.

तान्निन्युः किङ्करा राज्ञे मेध्यान् पर्वण्युपागते ।

तृट्परीतः परिश्रान्तो बीभत्सुर्यमुनामगात्।।१६।।

किङ्करा इति महिषगर्दभादिभिस्तन्नयनप्रतिषेधः. यतो **मेध्याः**. तत्रापि **पर्वण्य**ष्टकादावुपस्थिते ।।१६।।

तत्र सङ्गे मृगा इव कन्याप्युपलब्धेत्याह **तत्रोपस्पृश्ये**ति.

तत्रोपस्पृश्य विशदं पीत्वा वारि महारथौ ।

कृष्णौ ददृशतुः कन्यां चरन्तीं चारुदर्शनाम्।।१७।।

उपस्पर्शनं स्नानम्, ततः पानम्. विशदत्वात् न जलानयनसङ्ग्रहः. **महारथावि**ति स्त्रीदर्शने न शङ्का. उभावपि **कृष्णावि**ति भगवत्तेजएव विभक्तमिति न दर्शने दूषणम्, कन्यात्वाच्च. तत्रापि **चरन्ती** यमुनातीरे परिभ्रमन्ती भगवन्तं द्रष्टुमागता. **चारु दर्शनं यस्या** इति सापि पश्यतीति निरूपितम्. तेन प्रश्नादिकं न विरुद्धमिति भावः ।।१७।।

तामासाद्य वरारोहां सुद्विजां रुचिराननाम् ।

पप्रच्छ प्रेषितः सख्या फाल्गुनः प्रमदोत्तमाम्।।१८।।

भोग्यरूपा[१] सेति लौकिकन्यायेनैव ग्राह्येति स्वयं गते अर्जुनस्य वैमनस्यं स्यादिति शक्तिः[२] समा स्थापितेति भगवतैव अर्जुनः **प्रेषितः पप्रच्छ. वरारोहा**त्वात् कालो[३] विलम्बं न सहते. **सुद्विजामि**ति लक्षणानि निरूपितानि, **रुचिराननामि**ति रसवत्त्वम्. **सख्या** प्रेषणान्न कपटकरणम्. फाल्गुनो जितेन्द्रियश्च, पञ्चाप्सरउद्धारे[४] फाल्गुने अनन्तशयने पञ्चाप्सरसां तत्स्पर्शेन मुक्तिप्रतिपादनात्. तथात्रापि तत्सम्भाषणात् सा भगवन्तं प्राप्स्यतीति तद्वचनं न दूषणम्. न वदिष्यतीत्याशङ्क्याह **प्रमदोत्तमामि**ति, प्रकृष्टेन मदो यासाम्. ताएव वदन्ति. तासामपीयमुत्तमा ।।१८।।

का त्वं कस्यासि सुश्रोणि कुतो वा किं चिकीर्षसि ?

मन्ये त्वां पतिमिच्छन्तीं सर्वं कथय शोभने ।।१९।।

का त्वमिति प्रश्नचतुष्टयम्. स्वरूपतः **का ?** देवनारी, अन्या वा

---

१. योग्यरूपेति पाठः. २. शक्तिस्तपः, तपसो वीर्यरूपत्वात् ''वीर्यं मे दुश्चरं तप'' इतिवाक्यात्. ३. कालविलम्बमिति पाठः. ४. पञ्चाप्सरोद्धारेति मूलपाठः.

काचिदिति. **कस्यासी**ति सम्बन्धी पित्रादिः पृष्टः. **सुश्रोणी**ति सम्बोधनम्. अत्र स्थितिरयुक्तेति सूचितम्. **कुतो वात्र** समागतेति. दैवगत्या समागमने दोषाभावार्थं[1] **किं चिकीर्षसी**ति स्थिरतया पृच्छ्यते. यतो नेयमुद्विग्ना नाप्यन्यत्र गन्तुमिच्छती अतस्तपस्यादिकं चिकीर्षितं पृष्टम्. तत् स्वस्य हितकारि न भवतीति स्वहितं सम्भावनया पृच्छति **मन्य** इति. पञ्चापि प्रश्ना वक्तव्याः, अन्यथा परिग्रहो न युक्त इति. **सर्वं कथय शोभने** इति तस्या भयाभावः स्वस्य प्रीतिरपि सूचिता ।।१९।।

अतः कालिन्दी तन्निषेधार्थं भगवन्तमेव वरिष्यामीति पृष्टानर्थानाह अहं देवस्येति.

।।कालिन्द्युवाच।।

अहं देवस्य सवितुर्दुहिता पतिमिच्छती ।
विष्णुं वरेण्यं वरदं तपः परममास्थिता।।२०।।

देवतात्वाज्जातिरुक्ता. **सवितृ**त्वात् तत्र नासम्भावना. **दुहितृ**त्वाद् देयैव, अतो न कस्याप्यपराधः सम्भाषणे. त्वत्कल्पितमपि सत्यमेवेत्याह **पतिमिच्छती**ति. तद्वारणार्थमाह **विष्णुमि**ति. तत्र हेतुः **वरेण्यमिति**, सर्वैरेव वरणीयो भगवान्. तत्रापि हेतुः वरदमिति. वरं ददातीति वरणीयो वरः, तेन आत्मदस्त्वर्थादुक्तम्. ''किमर्थमागते''त्यस्य ''किं चिकीर्षसी''त्यस्य च उत्तरमाह **तपः परममास्थिते**ति. **परमं** शीघ्रफलपर्यवसायि. **आस्थिते**ति फलप्राप्तेः पूर्वं न निवृत्तिः सूचिता ।।२०।।

सर्वस्यापि विष्णुत्वात् तादृशसुखदानसमर्थः लोकन्यायेन तद्विभूतिः वरणीयोऽपि भवतीति, अन्येषां ततो हीनानां वरदानसमर्थोऽपि कश्चिद्भविष्यति, कश्चिदात्मानं वा तथा मन्यत इत्याशङ्क्य निषेधति **नान्यं पतिं वृण** इति.

नान्यं पतिं वृणे वीर तमृते श्रीनिकेतनम् ।
तुष्यतां मे स भगवान् मुकुन्दोऽनाथसंश्रयः ।।२१।।

भक्तिदातारं भगवद्दातारं वा तत्त्वेन[2] वृणे, नतु पतित्वेन. **वीरे**ति

१. समागमनार्थमिति पाठः, दोषाभावार्थमिति नास्ति. २. तद्दातृत्वेन.

धर्मसम्बोधनाद् बलात्पक्षो निवारित:. **अवीरे**ति वा स निराकृत:. स चेत् स्वसायुज्यं प्रापयित्वा तथाभूताय प्रयच्छति तदा परं न जान इत्यभिप्रायेणाह **तमृत** इति. तस्य परिज्ञाने नियमे च हेतुमाह **श्रीनिकेतनमि**ति. लक्ष्म्या सएव वृत इति, लक्ष्मीसहितो वा. श्रीवत्साङ्को भगवानिति तस्य परिज्ञानम्. ननु भगवान् ''नाहं वेदैरि''ति वाक्यात् तपसा न सिद्धो भविष्यतीति चेत्, तत्राह **तुष्यतामि**ति. [१]**स** हि वरदो भवति. तत्रेदमेव प्रथमं याचे **तुष्यतामि**ति. ततस्तुष्टे अन्यद् याचे इत्यभिप्राय:.[१] **मे** मह्यं प्रति. यत: **स:** लक्ष्म्या अपि प्रसन्न:. ननु वाक्यं बाधकमिति चेत्, तत्राह **भगवानि**ति, ईश्वरत्वान्न नियम्य: कस्यचित्. नन्वीश्वरस्यैव एतद्वाक्यमिति चेत्, तत्राह **मुकुन्द** इति. यदि निषिद्धानां२ साधनानां प्रयोजकता न स्याद् भगवत्प्रसादे तदा कस्यापि मोक्षो न सिध्येत्. अत: स्वतन्त्रभक्तिविषयं तादृशरूपदर्शनविषयं वा तद्वाक्यमिति मन्तव्यम्. किञ्च मास्त्वस्मत्साधनं, स स्वधर्मविचारेणापि सन्तुष्टो भवत्वित्याह **अनाथसंश्रय** इति. येषां न कोऽपि नाथ: तेषां सम्यगाश्रयो भवति, दीनदयालुत्वात्. अन्यो मा तुष्यतामिति निषेधार्थं वा. नात्र संशय इति वा भवति ।।२१।।

नामस्थानादीन्याह **कालिन्दीतीति**.

कालिन्दीति समाख्याता वसामि यमुनाजले।
निर्मिते भवने पित्रा यावदच्युतदर्शनम् ।।२२।।

कलिन्दपर्वते तद्रूपेण समागतात् सूर्याज्जातेति पार्वत्या इव ममापि

लेखः

नान्यं पतिमित्यत्र स्वसायुज्यमिति. ''नरः स्वावेशधारक''इतिवाक्यात् नरे स्थितं स्वांशं स्वस्मिन् वानीयेत्यर्थः. **तथाभूताये**ति, भगवति प्रविष्टांशायेत्यर्थः. पूर्वमर्जुनो निराकृतः तत्स्थित एवांशो भगवति प्रविष्टश्चेत् तमंशं वृणेऽपि, न तु तमृते इति मूलार्थः ।।२१।।

कालिन्दीत्यत्र कलिन्दपर्वते इति. सूर्यः पर्वतरूपेण कलिन्दे समागतः.

१-१. सहीत्यादि अभिप्राय इत्यन्तम्. तथाच पृश्निप्रभृतिषु तपसा वरदानदर्शनात् तपस्तत्रोपयुज्यते इति न तपस आनर्थक्यम्. २. ''नाहं वेदैरि''त्यत्र निषिद्धानामित्यर्थः.

नियम इति सूचितम्. **वसामि यमुनाजल** इति दुर्गस्थितिरुक्ता. अनेन यमुनायास्तस्याश्च भेदः प्रदर्शितः. पर्वतभावापन्नाद् इयमाधिदैविकी **कालिन्दीत्येव** नाम्ना विश्रुता उत्पन्ना. स[१] तु यममुत्पाद्य पश्चात् तद्दोषपरिहारार्थं यमुनामुत्पादितवान्. उभयोरैक्याद् आधिदैविकाधिभौतिकवत् स्थितत्वात् लोके अभेदेन प्रयोगः. नापि तपतीवत् शापात् नदीत्वं, पूर्वमेव नदीरूपस्य विद्यमानत्वात्. नाप्याध्यात्मिकं देवतारूपं, तथा सति यमुनापरित्यागासम्भवात्. अनुग्रहनिग्रहयोरेव तदभिव्यक्तेश्च. सर्वथा च भेदकं सूर्यतनयात्वात् लोके प्रसिद्ध्यभावाच्च नास्तीत्याधिदैविकत्वं कल्प्यते. अत्रैव स्थितौ नियामकमाह **निर्मिते भवने पित्रे**ति. सूर्येण यमुनाजले भवनं निर्माय भगवदर्थं स्थापिता. अतो **यावदच्युतदर्शनं** तत्र स्थास्यामि. ततो भगवद्गृहं गमिष्यामि, नतु भगवानत्र स्थाप्यः. अत्रैव स्थितायाः परिग्रहो वा न नियम्यते ।।२२।।

एवं तस्याः संवादेन रूपमवगत्य यथार्थमेवावददित्याह **तथावदद**िति.

तथावदद् गुडाकेशो वासुदेवाय सोऽपि ताम्।

रथमारोप्य तद्विद्वान् धर्मराजमुपागमत्।।२३।।

तत्र हेतुः गुडाकेश इति, **गुडाकाया** निद्रायाः व्यामोहिकायाः **ईश** इति. **सोऽपि** मोक्षदाता **वासुदेवः** तस्यास्तं निर्बन्धं दूरीकुर्वन् **तां रथमारोप्य तमर्थं** यथार्थं **विद्वान्** निदर्शनरूपं धर्मनिर्णायकं वा **धर्मराजमुपागमत्** ।।२३।।

एवं साधनशक्तिसिद्ध्यर्थं तां गृहीत्वा पश्चाद् भक्तार्थं विश्वकर्मादीनाज्ञापयदित्याह **यदैव कृष्ण** इति.

यदैव कृष्णः सन्दिष्टः पार्थानां परमाद्भुतम्।

लेखः

तथाच मातृस्थानीयः कलिन्दः, पिता पर्वतभावापन्नः सूर्यः. पर्वतयोरचेतनत्वेऽपि हिमवतः पार्वत्युत्पत्तिरिव ''अभिमानिव्यपदेशस्त्वि''तिन्यायेन तदुत्पत्तिरप्युपपद्यते. **पर्वतभावापन्नादि**ति,

एतादृशात् सूर्यादुत्पन्नेत्यन्वयः. **स त्विति,** देवरूपः सूर्य इत्यर्थः. पर्वतरूपात् सूर्यात् कालिन्दी जातेति व्युदासार्थं तुशब्दः. आधिदैविकत्वं स्थापयन्ति **सर्वथा चे**ति ।।२२।।

---

१. सा इति मु.पाठः –सम्पा.

कारयामास नगरं विचित्रं विश्वकर्मणा।।२४।।

नायं तस्य [१]कृतिनिर्बन्धः. **यदैव** मनसा[२] वा तत्कृत्वा समानीय वा स्थितः सन् पाण्डवैः **संदिष्टः** भगवत्कर्तव्यमेव संदेशनियमेन ज्ञापितवान् तदैव **परमाद्भुतं नगरं विश्वकर्मणा कारयामास**. भगवानपि मनसा सृजेत्, ततश्च तत्र दोषा न प्रभविष्यन्तीति. गर्वाद्यभावे दुर्योधनादीनां निराकरणं न भवतीति विश्वकर्मणैव कारयामास ।।२४।।

भगवांस्तत्र निवसन् स्वानां प्रियं चिकीर्षयन् ।

अग्नये खाण्डवं दातुमर्जुनस्यास सारथिः।।२५।।

विश्वकर्मापि भगवदुपयोगाभावे ज्ञाते न सम्यक्करोतीति **भगवांस्तत्र निवसन्नेव कारयामासे**ति पूर्वार्धमुभयत्र सम्बध्यते. तर्हि स्थितिः स्वार्थापि भविष्यतीत्याशङ्क्याह **स्वानामेव प्रियं चिकीर्षयन्.** न केवलं स्थानमुत्कृष्टं दापितवान् किन्तु साधनान्यपीत्याह **अग्नये खाण्डवं दातुमि**ति. **भगवांस्तत्र निवसन्नि**त्यनुवर्तते, अन्यथा अग्निरपि संतुष्टो न भवेत्. भगवान् भक्तानां हितार्थं गुणभावमपि प्राप्तवानिति वक्**तुमर्जुनस्य सारथि**रासेत्युक्तम् ।।२५।।

''गुप्ततयापि स्थित्वा अर्जुननाम्नैव इन्द्रादिजयं करिष्यामी''ति भगवदध्यवसायं ज्ञात्वा अग्निरप्यर्जुने सन्तुष्टो जात इत्याह **सोऽग्निस्तुष्ट** इति.

सोऽग्निस्तुष्टो धनुरदाद् हयान् श्वेतान् रथं नृप ।

अर्जुनायाक्षयौ तूणौ वर्म चाभेद्यमस्त्रिभिः।।२६।।

अग्नेः पञ्चाङ्गानि; पञ्चापि दत्तवान्, ''धनुर्यज्ञादुत्पन्नमिषवश्च यज्ञजन्मा ही''ति श्रुतेः. **श्वेताः हयाः** सात्त्विकाः मथनादुद्भूताः आग्नेयाएव. अक्षयतूणीरावपि साहचर्यादाग्नेयौ. सर्वै**रेवास्त्रिभिरभेद्यं वर्म** ३दैवत्यमपि ''अग्निः सर्वा देवता'' इत्याग्नेयमेव ।।२६।।

अन्यदपि दापितवानित्याह **मयश्च मोचित** इति.

मयश्च मोचितो वह्नेः सभां सख्य उपाहरत् ।

यस्यां दुर्योधनस्यासीद् जलस्थलदृशि भ्रमः।।२७।।

---

१. कृष्णत्वेन सर्वस्वामित्वादित्यर्थः. २. भगवन्मनसैव भगवान् संदिष्टः. ३. सर्वदैवत्यमित्यर्थः.

अत्राशेषविशेषकथा भारतादनुसन्धेया. **वह्नेर्मोचितो मयः सख्ये सभामुपाहरत्.** भगवता मोचितः भगवते स्वकार्यं दातुमयुक्तम्, भगवति न प्रभवतीति च, उपकारश्च कर्तव्यः, अतः साक्षाद्दातुमशक्तः **सख्ये** अर्जुनायोपाहरत्. सख्ये दत्तं च भगवान् मन्यते, यद्यप्यर्जुनः सखा तथापि तत्सम्बन्धात् राज्ञे दत्तमिति. तस्या उपयोगमाह **यस्यामि**ति, जले स्थलभ्रमः स्थले च जलभ्रम इति. वस्तुनि न भ्रमः किन्तु **दृश्येव** ।।२७।।

एवं मुख्यशक्त्या ऐश्वर्यरूपया स्वरूपज्ञानरूपया वा यावत्कर्तव्यं तत्कृत्वा, तावत् तामात्मसादकृत्वा, अन्यथा सर्वात्मना अन्योपकारो न भवतीति, तस्या विवाहं कर्तुं भगवान् द्वारकां गत इत्याह **स तेने**ति.

स तेन समनुज्ञातः सुहृद्‌भिश्चानुमोदितः ।

आययौ द्वारकां भूयः सात्यकिप्रमुखैर्वृतः।।२८।।

सोऽर्जुनः सखा, राजा वा. तेन मयेनार्जुनेन वा **सम्यगनुज्ञातः** स्वस्य कृतकार्यत्वं ज्ञात्वा सर्वैरेव बन्धुभिर्गमनं कृतं चानुमोदितः, चकाराद्देवैरपि. स्वकृतं सर्वजनीनं जातमिति ज्ञापयितुमेतदुक्तमूह्य यैः सह गतः तैः सह पुनरागत इति. कृत्यैव ते कृतार्थाः कृता इति न सहायार्थं तेषामुपयोगः कर्तव्य इति सूचितम्. अतः सात्यकिप्रभृतयस्तत्र न विनियुक्ताः. नयनानयने तु विवाहस्य प्रामाणिकत्वज्ञापके ।।२८।।

अतः सर्वसम्मतां पश्चात् तामुपयेम इत्याह अथेति.

अथोपयेमे कालिन्दीं सुपुण्यर्त्वृक्ष ऊर्जिते ।

वितन्वन् परमानन्दं स्वानां परममङ्गलम्।।२९।।

सुष्ठु पुण्ये नक्षत्रे, ऊर्जिते सर्वग्रहानुगुणे. पुण्यनक्षत्रं वैदिकम्. ऊर्जितत्वं ज्योतिःशास्त्रप्रशस्तत्वम्. **वितन्वन् परमानन्दमि**ति सर्वेषां सम्मतिरुक्ता रुक्मिणीप्रभृतीनामपि. किञ्च विवाहमात्रेण न सुखं दत्तवान् किन्तु स्वरूपतोऽपि **परममङ्गल**रूपः अतो विशिष्टः फलदायी जात[१] इत्यर्थः।।२९।।

विवाहान्तरमाह द्वाभ्यां **विन्दानुविन्दाविति.**

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ दुर्योधनवशानुगौ।

---

१. ज्ञात इति पाठः.

स्वयंवरे स्वभगिनीं कृष्णे सक्तां न्यषेधताम् ।।३०।।

राजाधिदेव्यास्तनयां मित्रविन्दां पितृष्वसुः ।

प्रसह्य हृतवान् कृष्णो राजन् राज्ञां प्रपश्यताम्।।३१।।

द्वितीयपक्षस्था इयं, तानप्युद्धर्तुं भगवान् गृह्णाति. मित्रविन्दाया अवन्तिदेशे स्थितिः. तत्रैव स्वयंवरः. तत्र दुर्योधनादयोऽपि गताः भगवांश्च. ततः स्वयंवरणप्रस्तावे दूराद् भगवन्तं दृष्ट्वा निकटे स्थितौ भ्रातरावाह ''मया कृष्णो वरणीय'' इति. ततस्तौ तस्या आसक्तिं च ज्ञातवन्तौ. तयोर्विचारेण दुर्योधनो वरणीय इति, यतस्तस्यैव **वशावनुगौ** च, यथा रुक्मी. स्वभगिनी [१]स्वोदरेति न तत्रान्यं प्रतिबन्धं कर्तुं शक्तः **न्यषेधतां** भगवत्सम्मुखे विलम्बमानां ततः अपसार्य दुर्योधनसमीपे नेतुं प्रवृत्तावित्यर्थः. ततो भगवानेतज्ज्ञात्वा तौ दूरीकृत्य रथवेगेन शीघ्रमागत्य तां जहारेत्याह **राजाधिदेव्या** इति. **राजाधिदेवी** वसुदेवभगिनी नवमे निरूपिता. सा तु लोकन्यायेन मातुलकन्यावत् भागएव भवति अतो न दानापेक्षा. कन्यायां परमन्यासक्तायां ग्राह्या न वेति विचारः. सापि राजस्वधिकं दीव्यतीति भगवन्तमेव मन्यते. कन्यापि **मित्राण्येव विन्दती**ति नानभिप्रेतं प्राप्नोति. **पितृष्वसुरि**ति कुलद्वयेऽपि तस्या विवाहः सम्मत इति बोधितम्. **प्रसह्ये**ति भ्रातृभ्यामाच्छिद्य. यतः **कृष्णः** स्त्रीणां हितकर्ता. अन्ये च राजानः साक्षिणो जाताः, तेनायं विवाहः सर्वसम्मतः सर्वसाक्षिकश्च. सम्बोधनं च तादृशं सम्मतमिति सम्मत्यर्थम् ।।३०-३१।।

तृतीयं विवाहमाह भक्तिरूपं **नग्नजिदि**ति चतुर्विंशतिभिः.

नग्नजिन्नाम कौरव्य आसीद् राजाऽतिधार्मिकः ।

तस्य सत्याभवत् कन्या देवी नाग्नजिती नृप।।३२।।

ज्ञाने सर्वे विरोधिनः, भक्तौ प्रकृतिरेवेति व्यसनान्येवात्र बाधकानीति

लेखः

विन्दानुविन्दावित्यत्र **द्वितीये**ति अभक्तदुर्योधनादिपक्षस्थेत्यर्थः ।।३०।। **नग्नजिदि**त्यत्र. **ज्ञाने सर्वे** इति. प्रापञ्चिकाः सर्वएव पदार्था ज्ञाने

---

१. सोदरेति.

तान्येकेन रूपेण दूरीकर्तुमशक्यानीति सप्तविधा साधनशक्तिरुक्ता. अन्यथा त्रिभिरेव प्रेमसम्पत्तौ पादसेवनादीनां वैयर्थ्यमेव स्यात्. सख्यात्मनिवेदने च भगवता स्वधर्मस्थापनार्थं क्रियेते. तत्कृत्वा भगवत्तुल्यः पश्चाद् व्यसनानि समूलं दूरीकरोतीति ज्ञापयितुं स्वयं भगवानत्र सप्त रूपाणि करिष्यति. इयं च भक्तिः पाषण्डे न भवतीति ज्ञापयितुं नग्नजिद्राज्ञः कन्यात्वेन सा निरूप्यते. **नग्नान्** वेदरहितान् **जयती**ति अतएव प्रसिद्धः. त्वमपि **कौरव्यः,** कौरववंशे उत्पन्नः विश्वासं करिष्यतीति. न केवलं विपक्षानेव दूरीकरोति किन्तु श्रौतस्मार्तादिसर्वधर्मपरः **अतिधार्मिकः** स्वरूपतोऽपि महान् **राजा.** तस्य गुणत्रयमपि समीचीनमिति तत उत्पन्ना नाग्नजितीत्याह **तस्ये**ति. **कौसल्ये**ति पाठे कोसलदेशाधिपतिरयोध्याराजा. **सत्ये**ति नाम, स्वरूपतः फलतः साधनतश्चेयं भक्तिः सत्येति. अतएव वेदविरुद्धमतेषु अधमेषु कर्मविहीनेषु भक्तिः सत्या न भवतीति द्योतितम्. उत्कर्षवादाएव अतोऽन्यथा. अन्यथा भक्तिशास्त्रं व्यर्थमेव स्यात्. सहस्रशो भगवदंशा दृष्टप्रत्ययान्यपि सम्पादयन्तीति शास्त्रे अनुक्ता भक्तिः न भक्तिरिति. भगवत्साक्षात्कारात्पूर्वमेवैषा व्यवस्था. सा च **देवता**रूपा अलौकिकी **कन्या** न कमपि भगवदंशं

लेखः

विरोधिनः, भक्तौ तु प्रकृतिरेव विरोधिनी. अतोऽत्र गोवृषाः सप्तव्यसनात्मका बाधकत्वेनोक्ता इत्यर्थः. ''क्षुत्पिपासे तथा रोगाः कर्माणि द्विविधानि च, लोकोपद्रवरूपाणि चत्वार्यावश्यकानि हि. द्यूतं पानं स्त्रियश्चेति त्रीण्यनावश्यकानि ही''ति सप्तव्यसनानि. **अन्यथे**ति, सप्तव्यसनानां बाधकत्वाभावे इत्यर्थः. तथाच दास्यान्तैः सप्तभिर्व्यसननिराकृतौ सख्यात्मनिवेदने भगवता संपाद्येते इत्यर्थः. **उत्कर्षवादा** इति. अधमेषु भक्तिकथनमसत्यापि भक्तिरुद्धर्तुं शक्तेति भक्त्युत्कर्षसूचनार्थमित्यर्थः. **अन्यथे**ति, अधमेष्वपि भक्तेः सत्यत्वे भक्तौ

सदाचारशासनं व्यर्थं स्यात्. **सहस्रश** इति. **दृष्टः** प्रत्यक्षविषयः **प्रत्ययो**ऽनुभावो येषां तादृशानि रूपाणि **भगवदंशाः सम्पादयन्ति,** नीचयोनिषु जाता अपि भक्तिप्राबल्यादनुभावं प्रदर्शयन्ति. परन्तु सा **भक्तिः सत्या** सदाचारसिद्धा **न भवती**ति पूर्वेणान्वयः ।।३२।।

गृहीत्वा स्थिता. असाधारणी मूलभूतेनैव ग्राह्या, न केवलं, यतो भक्तिः प्राप्यते सएव वेदानुसारी किन्तु यत्रापि तिष्ठति तेनापि तथा भाव्यमिति **नाग्नजितीत्**युक्तम्. पितुरनुसारिणी न मातुरिति ज्ञापयितुं च, ''धन्या पितृमुखी कन्या'' इति वाक्यात्. नृपेति स्नेहार्थं सम्बोधनमनासक्त्यर्थं च ।।३२।।

सा भगवन्निमित्तमेव कथं स्थितेति शङ्कां परिहर्तुं तत्प्राप्तौ व्यसनानीव प्रतिबन्धका वृषाः स्थिता इत्याह **न तां शेकुरि**ति.

न तां शेकुर्नृपा वोढुमजित्वा सप्तगोवृषान्।

तीक्ष्णशृङ्गान् सुदुर्मर्षान् वीरगन्धासहान् खलान्।।३३।।

यतो **नृपा** राजसाः अतएव तां वोढुं **सप्तगोवृषान्** अवध्यान् रुधिरसम्बन्धमपि कारयितुमयुक्तान् स्वतः **अजित्वा तां वोढुं न** शक्ताः. सप्तभिर्मिलितैर्जये सप्तानां सा भवतीति वैदिके पक्षे स निषिद्ध इति नग्नजिता न क्रियते, ''तस्मात् नैका द्वौ पती विन्दत'' इति श्रुतेः. वार्क्षीद्रौपदीप्रभृतिषु ''ते दश प्राणाः, एते चेन्द्राः, पञ्चमुखो वा महादेव'' इति कालवशात् पुष्टिवशाद्वा प्रलयात् पूर्वमेवं भवतीति न मर्यादायामेवं कर्तुं युक्तम्. तस्माद् भक्तिर्भगवतैव प्राप्तव्या, ज्ञानेन च भगवत्त्वमिति पूर्णबोधा एव भगवद्भक्ता भवन्ति. तान् वृषान् अजेयत्वार्थं वर्णयति. **तीक्ष्णशृङ्गानि**ति शरीरेण दुष्टता निरूपिता अजेयता च. **सुदुर्मर्षानि**ति दुष्टो मर्षः क्रोधो येषामिति स्वभावदोषो निरूपितः अन्तकरणदोषो वा. इन्द्रियदोषानाह **वीरस्य गन्धमपि न सहन्त** इति. **खलानि**ति सहजो जीवदोषः, आसुरास्ते जीवा इति. अतो दोषचतुष्टयादजेयाः ।।३३।।

अतः सर्वेषु निवृत्तेषु भगवान् प्रवृत्त इत्याह **तां श्रुत्वे**ति.

तां श्रुत्वा वृषजिल्लभ्यां भगवान् सात्त्वतां पतिः।

जगाम कौसल्यपुरं सैन्येन महता वृतः ।।३४।।

यो हि व्यसनापनुत् सएव विषय इति लोके फलिष्यति.

न तां शेकुरित्यत्र **ज्ञानेन** चेति. ज्ञानेन भगवत्त्वे सिद्धे तत्र स्थिता भक्तिः प्राप्यते इत्यर्थः ।।३३।।

क्षुत्पिपासे तथा रोगाः कर्माणि द्विविधानि च।
लोकोपद्रवरूपाणि चत्वार्यावश्यकानि हि।।(११)।।
द्यूतं पानं स्त्रियश्चेति त्रीण्यनावश्यकानि हि।
मृगयादिर्न सर्वेषां तस्मान्न व्यसनानि हि।।(१२)।।
विशेषेणासनं यत्र व्यसनं तत्प्रकीर्तितम्।
ज्ञातेऽपि दोषे यस्यास्ति न निवृत्तिस्तदेव तत्।।(१३)।।

भगवानेव तानि दूरीकर्तुं शक्त इति **वृषजिन्मात्रलभ्यां तां श्रुत्वा**. समर्थो **भगवान् सात्त्वतां** भक्तानां **पतिः** अन्यथा भक्तोद्धारो न भवतीति स्वयं **जगाम कौसल्याः** कौसलदेशराजानस्तेषां **पुरम**योध्याम्. **महता सैन्येन वृत** इति महत्वाकाङ्क्षिणो राज्ञः सन्तोषार्थम्. ''देवानां पूरयोध्या'' इत्यादिश्रुतौ नगर्या अपि दैत्यनिवारकत्वमुक्तम् ।।३४।।

ततस्तस्याभिनन्दनमाह स **कौसलपति**रिति.

स कौसलपतिः प्रीतः प्रत्युत्थानासनादिभिः।
अर्हणेनापि गुरुणा पूजयन् प्रत्यनन्दत ।।३५।।

महांश्चेन्नानुमन्येत तदा बलादनभिप्रेतानां सम्बन्धिनी समीचीना न भवतीति तस्य पुरस्कार उच्यते. लौकिकन्यायेन स करिष्यतीति शङ्कां वारयितुमाह **प्रीत** इति. **प्रत्युत्थानमासनं च आदिभूते येषाम्**. स्वयमुपविष्टः. **गुरुणा अर्हणेनेति** अमूल्यद्रव्यैः पूजयामास, एवं कर्तुः कन्यादानमभिप्रेतं भवतीति. ततः **प्रत्यनन्दत** साधु समागतमिति प्रतिनन्दनं च कृतवान्, कदाचिद् भगवान् कृपां कुर्यात् तदा कन्या कृतार्था भविष्यतीति. अनेन राजा सन्दिग्ध इत्युक्तं वृषजयाभावेऽपि ।।३५।।

अन्ये तु निःसन्दिग्धाएव प्रतिज्ञापूरणाभावेऽपि, तन्मात्रादयः कन्या चेत्याह **वरं विलोक्ये**ति.

वरं विलोक्याभिमतं समागतं नरेन्द्रकन्या चकमे रमापतिम्।

तां श्रुत्वेत्यत्र **कर्माणि द्विविधानि चे**ति. निषिद्धानि स्वर्णस्तेयादीनि काम्यानि श्येनादीनि चेत्यर्थः (११).

भूयादयं मे पतिराशिषोऽमलाः करोतु सत्या यदि मे धृतो व्रतैः।।३६।।

कन्यया[१] यो वरणीयः, सर्वैरपि, सोऽयं स्वयमागतो वरयितुं, तत्रापि **स्वस्याभिमतम्. नरेन्द्रकन्या** स्वयमपि विचक्षणा[२], अप्रहतश्च भगवद्वरणमार्ग इति निरूपयितुं विशेषणमा**ह रमाप**तिमिति. दृष्ट्वा दर्शनफलं प्रार्थयति **भूयादयं** मे पतिरिति. ननु धर्मादीनां भगवति सामर्थ्याभावात् कथं भगवान् पतिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह **आशिषोऽमलाः सत्याः करोत्वि**ति. अयं भगवानेव एतत्सर्वं सम्पादयतु. स्वस्मिन् स्वयमेव शक्तः. नन्वयं फलरूपः कथं तत्कृते साधनतामापद्यत इति चेत्, तत्राह **यदि मे धृतो व्रतैरि**ति. **व्रतै**र्भगवन्नियमैः यैर्भगवान् वशे भवति तादृशैश्चेद्धृतः तदा अस्मदधीन इति मे निर्दुष्टा **आशिषः सत्याः करोतु.** अनेन लोकप्रतीत्या गोपिकासु [३]अन्यादृशोऽप्याशिषः सत्याः करोतीति सूचितम् अतो मम नास्त्येव सन्देह इति भावः. अनेन सर्वासां भगवानभिप्रेत इति निरूपितम्, अन्यथा व्रतकरणएव विरोधं कुर्युः ।।३६।।

अग्रे **यत्पादपङ्कजे**ति श्लोकः कन्यायाएव प्रार्थनारूप इति केचित्. केचित्तु राज्ञ इत्यग्रे पठन्ति. तत्र प्रसादः कन्यायाएव युक्तः अतोऽत्रैव व्याख्यायते. पूर्वं स्वव्रतविश्वासेन भगवान् करिष्यतीत्युक्त्वा ईश्वरस्य को वा नियामक इति तस्य तोषार्थमाकाङ्क्षां प्रकटीकुर्वती प्रसादमेव प्रार्थयति **यत्पादे**ति.

यत्पादपङ्कजरजः शिरसा बिभर्ति।
श्रीरब्जजः सगिरिशः सहलोकपालैः।।
लीलातनूः स्वकृतसेतुपरीप्सयासौ।
काले दधत् स भगवान् मम केन तुष्येत्।।३७।।

भगवत्प्रसादे हि भगवानेव प्राप्स्यते, तथैव च काम्यते. तदतिदुर्लभं यत्र तस्य रजएव सर्वैः कामितमित्याह. **यस्य पादपङ्कजरजः शिरसा बिभर्ति श्रीः अब्जजो** ब्रह्मा **गिरिशो** महादेवः **तत्सहितः लोकपालैश्च सहितः.** रजसा हि भगवदीयं शरीरं भवतीति पूर्वमुक्तम्. तदा भगवान्

---

१. कन्यायाः. २. विलक्षणा. ३. अन्यादृश्योऽपि इति मु.पाठः. -सम्पा.

नि:सन्दिग्धं प्राप्यते, स्वतन्त्रा भक्तिर्वा भवति. तत्रापि **शिरसि** बिभ्रति, एतच्छरीरवियोगे प्रथमं ततएव देहारम्भका: परिष्वङ्गं कुर्वन्तीति. लक्ष्म्या अपि भगवदवतारेषु अवतारोऽपेक्षित इति सर्वेष्वेव देहेषु यथा भगवत्सम्बन्धो भवति तदर्थं मृग्यमेव. ब्रह्मादीनामपि स्वाधिकारसमाप्त्यनन्तरं यथा तथा भवति तदर्थं धारणं पुनरधिकारनिवृत्यर्थम्. नन्वित: पूर्वास्ते कथं बिभ्रतीत्याशङ्क्याह **लीलातनू**रिति. यो **भगवान् स्वकृतानां** धर्ममर्यादानां **परीप्सया** रक्षितुमिच्छया **लीलातनूर्दधद्** भवति, तेन चरणरज:सम्बन्धप्रार्थना च युक्तेति भाव:. एवं सर्वप्रार्थ्योऽयमेवेत्याह अ**सावि**ति. **स** पुरः स्फुरतीति साधनविलम्ब: सोढुमशक्य इति प्रसाद एवैतत्कार्यं सिध्यतीति **केन** वा उपायेन **तुष्येदि**ति जिज्ञासाह्व गत्वा चरणयो: पतित्वा प्रार्थनीय: आहोस्विदन्यो वा कश्चिदुपाय इति. भगवत्त्वादेव दानादिपक्षो निराकृत: ।।३७।।

अचिन्तितमपि कल्पयिष्यतीति सम्भावनया मनोरथ:. अतएव भगवान् तमुपायं कल्पितवानित्याह.

अर्चितं पुनरित्याह नारायण जगत्पते ।

आत्मानन्देन पूर्णस्य करवाणि किमल्पक: ?।।३८।।

अर्चितमिति **पुन:** पूजयित्वा भगवत्प्रेरणया स्वयमेव राजा किञ्चित्प्रार्थितवान् इति वक्ष्यमाणप्रकारं, यथा कन्यामनोरथ: सिध्यति. अन्तर्बहि:पूर्णस्य नियामकस्य किं वक्तव्यं किं कर्तव्यमित्यभिप्रायेणाह **नारायण** प्रेरक **जगत्पते** बहिर्नियामक, अतो यथेच्छसि तथैव कारयसि. तस्मान्न किञ्चिद् वक्तव्यम्. किञ्च अपूर्णं हि केनचित् क्रियया पूर्यते, अयं तु पूर्णानन्देनैव **पूर्ण:, आत्मैव आनन्द:**. व्यापकत्वे विरलता स्यादिति बृंहणत्वलक्षणं[१] पूर्णत्वमाह **पूर्णस्ये**ति. तत्राप्यह**मल्पक:** अत्यल्प: कुत्सितोऽल्पो वा, अनानन्दत्वात् ।।३८।।

प्रस्तावनार्थमेव भगवांस्तं प्रेरितवान्, यथा याचितोऽपि न प्रत्याख्याति. अतोऽवसरं प्राप्य भगवान् भक्तहितार्थी तं याचितवानित्याह **तमा**हेति.

।।श्रीशुक उवाच।।

तमाह भगवान् कृष्ण: कृतासनपरिग्रह:।

---

१. बृहत्त्वलक्षणमिति पाठः.

मेघगम्भीरया वाचा सस्मितं कुरुनन्दन।।३९।।

भगवानिति सर्वसमर्थः पूर्णः. पूर्णस्य याचनं न विगीतं, प्रत्युपकार(/रा)सम्भवात्[1]. **कृष्ण** इति स्त्रीणां हितः. **कृतासनपरिग्रह** इत्यव्यग्रः, तस्यासनं चेत्परिगृहीतम् अन्यदपि परिग्राह्यमिति. न हि भोजनार्थमुपविष्टस्तृप्तेः पूर्वमुत्तिष्ठति, न वा तदा याचनं दोषाय. तस्य सर्वमेव दुःखं नाशयतीति **मेघगम्भीरयेति**. **सस्मितमिति** किञ्चिन्मोहयन्, यावता प्रयच्छति कन्यामेव नत्वात्मानं; तथा सति कन्या अग्राह्या स्यात्. सम्बोधनं विश्वासाय ।।३९।।

भगवान् याचनदोषं[2] परिहरन् याचते नरेन्द्रेति.

।।श्रीभगवानुवाच।।

नरेन्द्र याच्ञा कविभिर्विगर्हिता।

राजन्यबन्धोर्निजधर्मवर्तिनः।।

तथापि याचे तव सौहृदेच्छया।

कन्यां त्वदीयां न हि शुल्कदा वयम्।।४०।।

स्त्रीणां हितार्थमवतीर्णस्य येन केनाप्युपायेन तद्धितं साधनीयमिति मम न दोषः, तथापि राजन्यनाट्यं कुर्वतस्तद्विरुद्धं न कर्तव्यमिति तदर्थं सामान्यन्यायमाह. **राजन्यबन्धोर्याच्ञा कविभिर्विगर्हिता** ब्रह्मवृत्तिरेव सा. **नरेन्द्रेति** सम्बोधनेन संमतिः प्रदर्शिता. यागविचारे[3] यागादाविन्द्रः प्रार्थ्यत इति नरनाट्ये प्रार्थना न विगीतेति सूचितम्. स्तुतिरप्यनेन कृता. **कविभिरिति** विचक्षणैः. ते ह्येवं मन्यन्तेह्न भगवता वीर्यं क्षत्रियेभ्यो दत्तं, यत्किञ्चिदपेक्षितं तद्वीर्येणैव साधनीयमिति. अनेनादाने बलादपि नेष्यामीति सूचितम्. आपत्सु याचनं न दुष्यतीत्यत आह **निजधर्मवर्तिन** इति. निजधर्मो वीर्यम्. रागे उत्पन्ने रागएव निवारणीयः, अनिवृत्तौ वा स्वधर्मः कर्तव्यः. ततो मरणं

लेखः

नरेन्द्रेत्यत्र **योगविचारे** इति. त्वं नराणामिन्द्रः, इन्द्रप्रार्थना तूचितैवेति भावः. **रागे उत्पन्ने** इति. मुख्यतस्तु रागएव निवारणीयः. न निवर्तते

---

१. प्रत्युपकारात्. २. याचनेति नास्ति. ३. योगविचारे इति पाठः लेखसंमतः.

प्राप्तिर्वा. मरणेऽपि परतः प्राप्नोति. तस्माद् वीर्यमेव कर्तव्यम्. तथापि याच इत्याह **तथापी**ति. एवं करणे हेतुः **सौहृदेच्छयाह्व** यथा त्वदीया कन्या अभिलषिता एवं सौहार्दमपि. ततो वीर्ये द्वयं न सिध्यति. ईश्वरत्वात् कापट्येन जयो जयो न भवतीति कदाचिद्दमनेऽपि[1] न मन्येतेति याचनम्. धर्मपरीक्षार्थं च वचनं; कन्या देयैवेति नातीव[2] भारः. पूर्णो याचमानः प्रतिदास्यतीति शङ्कायामाह **न हि शुल्कदा** इति, मूल्ये दत्ते दासी भवतीति. तत्रापि **वयं** वीर्यमेव परं शुल्कं प्रयच्छामः. श्रोत्रियमत्या कदाचिच्छुल्कं याचेरन्, ''कन्यायाः कुशिका वयमि''ति नवमे तथा निरूपणात् ।।४०।।

राजा तु याचनात्पूर्वं देयत्वेन विचार्य, प्रतिज्ञां च पूरयिष्यामीति कष्टे भगवांश्च न विनियोक्तव्य इति, तूष्णीं स्थितः. रागे सति कष्टमपि करोति नान्यथेति अधुना रागं ज्ञात्वा वृषदमनार्थं प्रार्थयते कोऽन्य इति.

।।राजोवाच।।

कोऽन्यस्तेऽभ्यधिको नाथ कन्यायाश्चेप्सितो वरः ।

गुणैकधाम्नो यस्याङ्गे श्रीर्वसत्यनपायिनी ।।४१।।

त्वत्तोऽप्यभ्यधिकः दाने **कोऽ**पि नास्ति पात्रम्. क**न्यायाश्चेप्सितो वरो नान्योऽ**स्ति. अतो दृष्टसम्पत्तिः सर्वापि सिद्धा. किञ्च सर्वाः स्त्रियस्त्वदीया एव, यतो **गुणानामेकं धाम** भवानेव. अनन्ता गुणा नित्यास्त्वय्येव प्रतिष्ठिताः. अतएव **श्रीरनपायिनी** त्वयि. यत्र श्रीस्तत्र सर्वमिति. **वसती**त्यन्यत्र परिभ्रमणमात्रम् ।।४१।।

परमस्मदीयोऽपि धर्मः पालनीय इत्याह **किन्त्वस्माभिरि**ति.

किन्त्वस्माभिः कृतः पूर्वं समय सात्त्वतर्षभ।

पुंसां वीर्यपरीक्षार्थं कन्यावरपरीक्षया ।।४२।।

अधुना करणे अपराधो भवेत् **किन्तु पूर्वमेव कृतः समयो** नियमः.

लेखः

चेत्, वीर्यं प्रकटनीयमित्यर्थः. **परत** इति. परलोके उत्तमस्त्रीप्राप्तिर्भवतीत्यर्थः ।।४०।।

१. वृषदमन इत्यर्थः. २. भारतीव.

तुशब्दो निर्भरदानं व्यावर्तयति. **सात्त्वतर्षभे**ति प्रतिज्ञा पालनीयेत्यत्र सम्मतिरुक्ता, यादवश्रेष्ठास्तद् जानन्तीति भक्तस्वामी भक्तप्रतिज्ञां पालयिष्यतीति. प्रतिज्ञाकरणे निमित्तमाह **पुंसामि**ति. क्षत्रियेषु वीर्यवान् महान्. सप्ताङ्गानि क्षत्रियस्य, सर्वत्र तत्सामर्थ्ये महान् भवति अतः सप्तवृषा दम्यत्वेन स्थापिताः. महत एव कन्या देया. जामातरं प्रति नम्रता बोधनीया. अधमे च सा निषिद्धा. अपरीक्षायां वीर्यं न ज्ञायत इति. एतदपि **कन्यावरपरीक्षा**र्थमेव, न त्वस्यान्य उपयोगोऽस्ति. अतः कन्यादाने तदवश्यं कर्तव्यम् ।।४२।।

तं समयमाह, यथा परीक्षा सम्पद्यते, **सप्तैत** इति.

सप्तैते गोवृषा वीर दुर्दान्ता दुरवग्रहाः ।

एतैर्भग्नाः सुबहवो भिन्नगात्रा नृपात्मजाः।।४३।।

एकत्र गृहे सप्तवृषा निरुद्धाः, न कश्चित्तत्र परिपालकः. नापि तत्र गौः काचित्, भक्ष्यं च यथेष्टं मादकम्. ततोऽन्योन्यं युध्यमानाः अतिमत्ताः नित्यं क्रुद्धास्तिष्ठन्ति. तत्रापि सप्त विषमसंस्थापन्नाः, अन्यथा द्वन्द्वयोधिनो भवेयुः. **गोवृषा** इति न मारणीयाः. गोजातीयाः वृषाः समस्थाः[१]. वीरेति सम्बोधनमितरस्तुतिः श्रोतुर्निन्दार्थेति शङ्काव्युदासार्थम्; वीरस्याग्रे कथनं वीर्योद्बोधनार्थम्. बहूनेव वृषानेकश्चारयति इत्याशङ्क्य वैलक्षण्यमाह दुर्दान्ता इति, अदान्तापेक्षयापि कठिनाः. **दुरु**पसर्गो दमनविरोधिनं वदति, तत्र दमनसम्भावनापि नास्तीति ज्ञापयितुम्. **वीरैरपि दुर्दान्ता** इति वा. किञ्च **दुष्टः अवग्रहो येषां तैः** सह कलहो मरणपर्यवसायी. आग्रहो वा दुष्टः. ते मारयितुमशक्याः दृष्टादृष्टोपायैः, अन्यांश्च मारयन्तीति द्वयमुक्तम्. नापि तेषां वीर्यं सम्भावनामात्रेण सिद्धं किन्तु बहुधा कृतकार्यमित्याह **एतैर्भग्ना**

लेखः

किन्त्वस्माभिरित्यत्र **सप्ताङ्गानीति**, ''तस्यासते ऋषयः सप्ततीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाने''त्यत्रोक्ताः सप्त प्राणा इत्यर्थः ।।४२।।

सप्तैत इत्यत्र **समस्था** इति, विषमदेशस्था आरण्या महिषा नेत्यर्थः ।।४३।।

१. समस्ताः.

इति. काकतालीयव्युदासाय **सुबहवः**. भङ्गो न पराजयमात्रं, तथा सति दृष्ट्वापि भीताः पलायिता भवन्ति, किन्तु **भग्नगात्राणां** करचरणादीनां भङ्गपर्यन्तं यतमानाः. ननु [१]शिक्षाबीजयोरप्रयोजकत्वं तेषु भविष्यतीति चेत्, तत्राह **नृपात्मजा** इति, न तु क्षत्रियमात्रम् ।।४३।।

वृषाणां दोषा उक्ता इति, तेषु चेत्तव कृपा ''एतादृशानप्युद्धरिष्यामी''ति तदा भवानेव कन्याया वरः. तदा तां [२]दुष्टामप्युद्धरिष्यति तदीयांश्च. ते हि कन्यानिमित्तमेव निरुद्धा इति तदुद्धारव्यतिरेकेण कन्योद्धारो नोपपद्यते. अतस्त्वं चेत् तानुद्धरिष्यसि तदा वर इत्याह **यदीमे निगृहीताः स्युरि**ति.

यदीमे निगृहीताः स्युस्त्वयैव यदुनन्दन ।

वरो भवानभिमतो दुहितुर्मे श्रियः पते।।४४।।

निग्रहे कृते उद्धारोऽवश्यंभावीति तदेवोक्तम्. **यदुनन्दने**ति लीलार्थमागतः कदाचिन्न कुर्यादिति सूचितं, यादवास्तथा[३] न कुर्वन्तीति. सन्देहश्च गोवर्धनादिना. तदा **अभिमतो वरो भवान्. मे दुहितुरि**ति स्वस्य हीनतां बोधयति. योग्यता तु सर्वोत्तमैवेत्याह **श्रियः पत** इति ।।४४।।

प्राप्तैव कन्या, समयः परं पूरणीय इति राज्ञो विश्वासार्थमलौकिकप्रकारं निराकुर्वन् कटिबन्धनादिकं कृत्वा तथा कृतवानित्याह **एवमि**ति.

एवं समयमाकर्ण्य बद्ध्वा परिकरं विभुः ।

आत्मानं सप्तधा कृत्वा न्यगृह्णात् लीलयैव तान्।।४५।।

विभुः सर्वप्रकारेण कर्तुं समर्थः **अन्तःप्रविष्टः आत्मानं** सप्तधा कृतवान्. सप्तापि भगवानेव भवति. अलौकिकं तु न कर्तव्यम्. रूपाणि त्वेकस्य बहून्यपि भवन्ति पुत्राश्चित्राणि. कालभेदेन च तानि न तिष्ठन्तीत्येतावन्मात्रमुत्कर्षहेतुरेव, नत्वलौकिकं किञ्चित्. ततो **लीलयैव न्यगृह्णात्**

लेखः

यदीमे इत्यस्याभासमाहुः **वृषाणामि**त्यादिना. व्याख्याने **स्वस्य हीनतामि**ति. **मे** इत्येकवचनेन स्वस्य हीनता बोधितेत्यर्थः ।।४४।।

एवमित्यत्र **न तिष्ठन्ती**ति भगवत इति शेषः. यावत्तत्कार्यं स्थापयित्वा

---

१. शिक्षाविजययो-. २. दुष्टानिति पाठः सूचितः. ३. तथा कुर्वन्तीति.

लीलैवोत्कर्षहेतुः. बन्धनं तु सुगममेव ।।४५।।

निगृह्य बद्ध्वा समानीतवानित्याह **बद्ध्वे**ति.

बद्ध्वा तान् दामभिः शौरिर्भग्नदर्पान् हतौजसः ।

व्यकर्षल्लीलया बद्धान् बालो दारुमयान् यथा।।४६।।

दामभिः पृथक् पृथक्, पूर्वं शृङ्खलाभिरपि न बद्धास्तिष्ठन्तीति. **शौरिरि**ति लौकिकोत्कर्षः. गर्वो बलं च हतम्. ततो **लीलया व्यकर्षत्** यथा मृतप्राया बलीवर्दा आकृष्यन्ते भारपीडिताः. बलीवर्दत्वमपि तेषां निवृत्तमिति दृष्टान्तेनाह **बालो दारुमयानि**ति, ते हि विपरीता अपि पतिता [१]बालेनाकृष्यन्ते. तथा विशीर्णावयवा आकृष्टा इति तेषां गर्वोऽपि निराकृतः, राज्ञश्च ।।४६।।

ततो राजा कन्यां दत्तवानित्याह **विस्मित** इति.

विस्मितो मुदितो राजा तस्मै दुहितरं ददौ।

तां प्रत्यगृह्णाद् भगवान् विधिवत् सदृशीं प्रभुः।।४७।।

आदौ **विस्मितः** पश्चान्**मुदितः**. बन्धन-वशीकरण-निःसत्त्वकरणानि अत्याश्चर्याणीति विस्मयः. एतदर्थमेव प्रतिज्ञेति कार्ये सम्पन्ने मुदितः. राजेति महता सम्भ्रमेण **तस्मै दुहितरं ददौ**. याचन-दान-प्रतिग्रहाः तस्यां जाता इति वक्तुं भगवानपि तां प्रतिगृहीतवानित्याह **तां प्रत्यगृह्णादि**ति. भक्तावेव भगवानेवं करोतीति **भगवानि**त्युक्तम्. धर्मपरोऽयं **भगवच्छब्द**ः. तदेव ज्ञापयति **विधिवदि**ति, वैदिकधर्मास्तत्र योजितवान्. तदा लौकिका आसुरा वा धर्मास्तां न स्पृशन्तीति सर्वथा स्वाभिप्रेतं सम्पादयति. तस्यां तथाकरणे हेतुमाह **सदृशीमि**ति, स्वभावतः सदृशी. आगन्तुकदोषाभावाय तथाकरणम्.

लेखः

स्वस्मिन् उपसंहरति अतो न तिष्ठन्ति. लोकानां तु पुत्रादयो जाताः स्वस्मिन्नुपसंहृता न भवन्तीत्यर्थः ।।४५।।

तां प्रत्यगृह्णादित्यत्र धर्मपरोऽयमिति. ऐश्वर्यादिगणनायां धर्मस्येत्यपि क्वचित्पाठः, तत्पर इत्यर्थः. तथाच धर्मप्रकारेण विधिवदुपयेमे इत्यर्थः ।।४७।।

---

१. बलेन.

तस्यां दोषदूरीकरणार्थं तथाकरणे लौकिकत्वं भगवति स्याद्, अत आह **प्रभुरि**ति, स्वयं स्वतएव समर्थः ।।४७।।

तद्द्वारा सर्वासामेव स्त्रीणां हितं कृतवानित्याह **राजपत्न्य** इति.

राजपत्न्यः स्वदुहितुः कृष्णं लब्ध्वा प्रियं पतिम् ।

लेभिरे परमानन्दं जातश्च परमोत्सवः ।।४८।।

आदौ राज्ञोपि ताः धर्मैकहेतवो जाताः. ततो दुहितरि सापत्न्याभावः, तद्द्वारा स्वस्य सम्बन्धः भगवत्युत्कर्षबुद्धिः स्नेहश्चेति. **कृष्ण**मुद्धारकं, **प्रियमा**न्तरमीप्सितं, **पतिं** [१]बाह्यम्. ऐहिके बाह्याभ्यन्तरसुखदाता पश्चादपि सायुज्यदः[२]. अतः स्वस्यापि तद्द्वारा तथा भविष्यतीति **परमानन्दं लेभिरे**. सन्तोषएव तासां निस्तारे नियामकः. आन्तरमुक्त्वा तासां बाह्यमाह **जातश्च परमोत्सव** इति. महानेव सम्भ्रमस्ताभिः कृत इत्यर्थः ।।४८।।

अन्येषामपि सर्वेषां तत्प्रसङ्गात् कृतार्थतामाह **शङ्खे**ति.

शङ्खभेर्यानका नेदुर्गीतवाद्यद्विजाशिषः ।

नरा नार्यश्च मुदिताः सुवासःस्रगलङ्कृताः।।४९।।

शङ्खादयो वाद्यानि त्रिविधानि, **गीता**दीनि शब्दात्मकानि त्रिविधानि ह्येषडेते सत्त्वादिसत्त्वान्ताः. गीतानकयो राजसत्वम्. **नरा नार्यश्चे**ति चकाराद् अनुक्तसर्वसङ्ग्रहः. **मुदिता** इत्यान्तरं, वस्त्रादयो बाह्यास्त्रयः. अलङ्काराः सहजा इति चकाराज्ज्ञेयाः ।।४९।।

राज्ञः सन्तोषेण प्रायेण सर्वस्वदानमाह **दशधेन्विति** द्वाभ्यां; धर्म-कामसाधका एकेन अर्थसाधकाश्चतुरङ्गसेनारूपा अपरेण.

दशधेनुसहस्राणि पारिबर्हमदाद् विभुः ।

युवतीनां त्रिसाहस्रं निष्कग्रीवसुवाससाम्।।५०।।

लेखः

राजपत्न्य इत्यत्र **ततो दुहितरी**ति. यज्ञसंयोगे एव नकारङीष्विधानेन 'पत्नी'शब्दसिद्ध्या धर्महेतुत्वाद्धेतोः सपत्नीदुहितरि सपत्नमातॄणां सापत्न्याभाव इत्यर्थः. **स्नेहश्चे**ति, एतावत्सर्वं **च**कारेण सूचितमित्यर्थः ।।४८।।

---

१. पतिवाह्यमिति पाठः. २. आलिङ्गनादिसुखप्रद इत्यर्थः.

नवनागसहस्राणि नागाच्छतगुणान् रथान् ।

रथाच्छतगुणानश्वान् अश्वाच्छतगुणान्नरान्।।५१।।

अनभिप्रेतत्वान्न ग्रहीष्यतीत्याशङ्क्याह **पारिबर्हमिति,** कन्याग्रहणे तद्ग्रहणमावश्यकम्. **विभुरि**ति प्रतिष्ठार्थं यथाकथञ्चिद्दानं वारितम्. धर्मो हि सहस्रदक्षिणः प्राकृतवैकृतभेदेन दशविधो भवति. कामस्त्रिविध इति (त्रि)सहस्रशो युवतयो दत्ताः. नायिकाभेदेन गुणभेदेन च त्रैविध्यम्. नियतालङ्कृता रसालम्बना इति. सहस्रशो गजाः सर्वावान्तरजातियुक्ता दत्ताः. नवैव नागभेदा भद्रादयः. रथादयः[१] उत्तरोत्तरं शतगुणाः. पूर्वबुद्धेस्तस्योत्तरा बुद्धिः शतगुणं गृह्णाति ।।५०-५१।।

ततः स्नेहात् तत्र स्थापनं वारयितुं प्रस्थापनमाह दम्पती इति.

दम्पती रथमारोप्य महत्या सेनया वृतौ ।

स्नेहप्रक्लिन्नहृदयो यापयामास कोसलः।।५२।।

स्थापने[२] धर्मपत्न्यौ कुण्ठिते भवतः. **रथं** स्वकीयम्. गमनेऽपि राजप्रयत्न एव सर्वोऽपि सूचितः, **महत्या सेनया** च. तेनैव **वृतौ**[३]**,** स्वयं गमनमनुचितमिति. स्नेहेन हृदयक्लेदोऽपि गमने प्रतिबन्धकः. अनेन भक्तकर्तव्यं सर्वं कृतवानित्युक्तम्. कोसलदेशाधिपतिरिति स्वयं तत्र भक्तिकरणार्थं स्वयं स्थित इत्यप्युक्तम् ।।५२।।

भगवतः सामर्थ्यं प्रतिपादयितुं वृषभजये लोकप्रसिद्धिर्न जातेति तैर्भग्नावयवाः सम्भूय तं ग्रहीतुं यत्नं कृतवन्त इत्याह **श्रुत्वैतदि**ति.

श्रुत्वैतद् रुरुधुर्भूपा नयन्तं पथि कन्यकाम्।

भग्नवीर्याः सुदुर्मर्षा यदुभिर्गोवृषै पुरा।।५३।।

एतद् भगवच्चरित्रम्. **भूपा** इति तेषां स्वदेश उक्तः. भगवतस्तु नापि स्वदेशः नापि श्वशुरदेशः; सर्वतो रोधे वैयग्र्यं भवतीति. **कन्यकामेव** नयतीत्यन्यथा **श्रुत्वा** किद्धिर्मबुद्ध्योऽपि समागताः अतो राजबाहुल्यं भवति. **पथी**ति विशकलितता सेनायाः. तेषामागमने हेतुं वैरमाह **यदुभिर्भग्नवीर्या** इति. कन्यार्थं क्लिष्टा अपीत्याह **गोवृषैः पुरा भग्नवीर्या** इति. तथाप्यागमने

---

१. अन्ये त्रय इति पाठः. २. स्थाने धर्मपत्नीति पाठः. ३. एवं कृतौ.

हेतुः **सुदुर्मर्षा** इति, सुष्ठु दुष्टो मर्षो येषामिति. **दुरुप**सर्गेण दुष्टः क्रोधो भवति ।।५३।।

न केवलं रोधनमात्रं किन्तु मारणार्थमपि प्रवृत्ता इत्याह **तानस्यत** इति.

तानस्यतः शरव्रातान् बन्धुप्रियकृदर्जुनः ।

गाण्डीवी कालयामास सिंहः क्षुद्रमृगानिव।।५४।।

भक्तौ भगवदानुगुण्येऽपि भक्तानुगुण्यमप्यपेक्ष्यत इति वक्तुं भगवत्सेवकेनैव ते सर्वे हता इत्याह **अर्जुन** इति. अलौकिकं भगवता न कर्तव्यम्, ऐश्वर्यं च भक्तिमार्गे स्थापनीयम्. अर्जुनोऽपि न भगवत्प्रेरणया युद्धं कृतवान् किन्तु **बन्धूनां** भगवद्भक्तानां वसुदेवादीनां **प्रियकृत्.** यथा भक्तौ भक्तापेक्षा भवति, बान्धवाश्च स्वोपकारं मन्येरन्. गाण्डीवादीनामुदासीनापकारोपकारौ निरूपितौ. बन्धूनामत्रोपकारो निरूप्यते. एतत्सूचयति गाण्डीवीति. **कालयामासे**ति कालवद् जग्रासेति सूचितम्. नात्यन्तं क्लेशोऽपि तस्य जात इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **सिंहः क्षुद्रमृगानि**ति ।।५४।।

उपसंहरति **पारिबर्हमि**ति.

पारिबर्हमुपागृह्य द्वारकामेत्य सत्यया ।

रेमे यदूनामृषभो भगवान् देवकीसुतः।।५५।।

सोपस्करां[१] तां गृहीत्वा विधितोऽपि समानीय परमां रतिं तस्यामुत्पादितवान्. भगवान् नान्यत्र रमते यथा भक्तौ रमत इति सर्वाभ्यो विशेष उक्तः. द्वारकागमनमर्थादुक्तम्. **यदूनामृषभ** इति तया गार्हस्थ्यं सम्यक्सम्पादितमिति

लक्ष्यते. तत्र सर्वोपपत्तिसिद्ध्यर्थं **भगवानि**ति. एवं रमणे भक्तकृपैव हेतुरित्याह **देवकीसुत** इति ।।५५।।

कीर्तिं श्रियं च विधितो गृहीत्वा अष्टैश्वर्ययुक्तः[2] सर्वाएव गृहीतवानित्याह

लेखः

तानस्यत इत्यत्र **उदासीनोपकारापकाराववि**ति. उदासीनस्य मयस्योपकारोऽग्नेश्चापकार इत्यर्थः ।।५४।।

---

१. उपस्काराम्. २. अष्टैश्वर्य उक्त इति पाठः.

त्रिभिः श्रुतकीर्तेरित्यादिभिः.

श्रुतकीर्तेः सुतां भद्रामुपयेमे पितृष्वसुः ।

कैकेयीं भ्रातृभिर्दत्तां कृष्णः संतर्दनादिभिः।।५६।।

श्रुतकीर्तिरपि पितृभगिनी कैकयदेशाधिपतेः पुत्री. ज्ञानानन्तरशक्तिर्भ्रातृनिषिद्धेति भक्त्यनन्तरापि कीर्तिस्तथा भविष्यतीति तन्निषेधार्थमाह **भ्रातृभिर्दत्ता मि**ति. **कृष्ण** इत्यसामग्रीमप्येनां गृहीतवान्. **संतर्दनो**ऽतिप्रसिद्ध इति **श्रुतेन कीर्तिः श्रुता वा कीर्तिर्यस्या** इति कीर्तिकारणता युक्ता. **तर्दनं** शब्द इति भवत्येव प्रसिद्धिः. कैकयदेशः पाश्चात्यः ।।५६।।

श्रीरूपाया लक्ष्मणाया विवाहमाह **सुतामि**ति.

सुतां च मद्राधिपतेर्लक्ष्मणां लक्षणैर्युताम् ।

स्वयंवरे जहारैकः स सुपर्णः सुधामिव।।५७।।

मद्रदेशोऽपि कैकयनिकटे. श्रीवत्सरूपेति **लक्ष्मणा.** अस्या विवाहे लक्षणवत्वं प्रयोजकमिति **लक्षणैर्युता**मित्युक्तम्. राधावेधसनिमित्त**स्वयंवरे जहार.** वरणानन्तरं अग्रिमवाक्यानुरोधेनावगम्यते. **एक** इति भगवत्प्रतापः. यतः **स** भगवान् कृष्णः. अप्रतिघातनयने दृष्टान्तः **सुपर्णः सुधामिवे**ति. इन्द्रादिजये च. एतामग्रे विस्तरेण वक्ष्यति. सर्वा एकतो विस्तरोपाख्याना इयमेकत इति ज्ञापयितुं वाचनिके विवाहे विस्तरेणोक्तम् ।।५७।।

साधनरूपा उक्त्वा साधनाधीनत्वात् साध्यस्य ताः संक्षेपेणाह **अन्या** इति.

लेखः

श्रुतकीर्तेरित्यस्याभासे **कीर्तिं श्रियं** चेति. ज्ञान-वैराग्य-धर्म-कीर्ति-श्रीरूपा एताः क्रमेण. भौमाहृता ऐश्वर्यरूपा इत्याशयेनाहुः **अष्टैश्वर्ययुक्त** इति. रुक्मिण्यादयोऽष्टौ महिष्योऽष्टविधैश्वर्यरूपा इत्यप्यनेन सूचितम्. व्याख्याने **ज्ञानानन्तरे**ति, मित्रविन्दा भ्रातृभ्यां विन्दानुविन्दाभ्यां निषिद्धेत्यर्थः ।।५६।।

अन्याश्चैवमित्यस्याभासे **साधनरूपा** इति विद्यारूपा इत्यर्थः. **ता** इति, साध्यरूपाः सर्वा एवेत्यर्थः ।।५८।। इति नवमाध्यायव्याख्या।।

अन्याश्चैवंविधा भार्याः कृष्णस्यासन् सहस्रशः।
भौमं हत्वा तन्निरोधादाहृताश्चारुदर्शनाः ।।५८।।

।।इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।

चकारादेताभ्य उत्कृष्टापकृष्टाश्च संगृहीताः. नरकासुरं हत्वा तदन्तःपुरात् संगृहीताः तेनैवैकत्र मेलिता भगवता **आहृता** इति निदर्शनमात्रम्. तासामानयने **चारुदर्शनं** ज्ञानं सौन्दर्यं च यासामिति हेतुरुक्तः. विजातीया गोपिकादयः असमानाः. उत्कृष्टास्त्वप्सरसः स्वयमागताः. सर्वाएव **भार्या आसन्**. स्पष्टमेव सर्वासां मुक्तिर्दत्तेति निरूपितम्. एवं भगवतो निरोधः।।५८।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज-
श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे नवमोऽध्यायः।।

।।इति पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।

।।तृतीयः स्कन्धादितः षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।

सर्वासामुद्धृतिः पूर्वं संक्षेपेण निरूपिता।
दशमे विस्तरेणाह तामेवान्यविभाषया।।(१)।।
यदर्थमवतीर्णोऽसौ नात्यन्तं तत्र मृग्यते।
हेतुरित्यत्र १निर्णीतमतस्ता जगृहे हरिः।।(२)।।

स्त्रीणां सामान्यतो विवाहे निरूपिते तत्र पराक्रमो न श्रुत इति तदर्थं पृच्छति, सर्वाणि कर्माणि वीर्यवन्ति चेद् भक्तिजनकानि भवन्तीति.

।।राजोवाच।।

यथा हतो भगवता भौमो येन च ताः स्त्रियः।
निरुद्धा एतदाचक्ष्व विक्रमं शार्ङ्गधन्वनः ।।१।।

यथा हत इति. **भगवतेति** न हनने सन्देहः किन्तु प्रकारएव. भौम इति भगवतएव पुत्रः. ननु सर्वएव यथा हताः तथा सोऽपि हत इति को विशेष इति चेत्, तत्राह **येन चे**ति. राज्ञां हि ताः कन्याः षोडशसहस्रसङ्ख्याताः. यदि स्थानतः स्वरूपतो वा सुगमः स्यात् तदा सर्वे राजानः सम्भूय तं मारयेयुः, लज्जास्पदत्वाद् दुहितृहरणस्य. अतो ज्ञायते सर्वप्राणिनामवध्यः स इति दुर्गमश्चेति तादृशस्य वधो लौकिकन्यायेन कथमिति भवति२ विचारणा. ताः प्रसिद्धाः. किञ्च **निरुद्धा**एव कुतः? कथं नोपभुक्ताः? ता वा भगवता कथमाहृता इति यथा **विक्रमो** भवति तथा **आचक्ष्व**. अनेन तासां विवाहे लोके क्लिष्टता प्रतिभातीति ज्ञापितम्. युक्त्या चैवं ज्ञायतेऽक्लिष्टं भवतीति. यतोऽयं **शार्ङ्गधन्वा,** न हि समर्थः क्लिष्टं करोति ।।१।।

लेखः

दशमे **यथा हत** इत्यत्र **यथा विक्रमो भवति तथे**ति. मूले एतावत्पूर्वोक्तं विक्रमत्वेनाचक्ष्वेत्यर्थः. **एत**दित्यस्य **विक्रम**विशेषणत्वे 'एतमि'ति स्याद् अत उद्देश्यविधेयभावेन व्याख्यानमिति भावः ।।१।।

---

१. निर्णीत इति पाठः. २. भगवतीति मु.पाठः -सम्पा.

तत्र प्रसङ्गात् तासां विवाहो जात इति वक्तुं देवकार्यार्थं भगवान् प्रवृत्त इत्याह **इन्द्रेणे**ति.

।।श्रीशुक उवाच।।

इन्द्रेण हृतच्छत्रेण हृतकुण्डलबन्धुना ।

हृतामराद्रिस्थानेन ज्ञापितो भौमचेष्टितम्।।२।।

पूर्वं नरकासुरो दिग्विजये इन्द्रं पराजित्य जयख्यापनार्थं त्रयं[१-३] गृहीतवान्. [१]राजत्वख्यापकं छत्रं तेनेन्द्रत्वं गृहीतवान्. [२]अदिति–कश्यपपुत्रत्वमपरिहार्यमहत्त्वं मत्वा कश्यपाद् भगवान् महानिति पितृकृतोत्कर्षे सिद्धे ''इयं वा अदितिरि''ति भूमिपुत्रत्वेनादित्यत्वे च रूपविशेषख्यापके कुण्डले तस्या गृहीत्वा स्वमात्रे भूम्यै दत्तवान्. [३]तथा त्रैलोक्याधिपतित्वं च दूरीकर्तव्यम्. तत्र यत्र यस्तिष्ठति तदधिपतित्वं न दूरीकर्तव्यं साधारण्याद् अतो भूम्याधिपत्यं दूरीकर्तुममराद्रिस्थानं मेरौ यदिन्द्रस्य स्थानं तदपि हृतवान्. अनेन स्वस्थानाधिपत्यं दूरापास्तमिति न पातालाधिपत्यव्युदासाय किञ्चिच्चकार. स्वर्गस्थानमपि ग्राह्यमित्यध्यवसायोऽस्ति. अन्येष्ववतारेष्वतारप्रयोजनमात्रं करोति, नाधिकम्. नापि वामनः पुत्रं मारयितुमिच्छति. भ्रात्रपेक्षया तु पुत्रः प्रियः, अदितिर्भूमिश्च भक्ते. स्वापेक्षयापि पुत्रः प्रिय इति पुत्रेण स्वमात्रे कुण्डले दीयमाने च न निवारयति. विशेषावतारे सर्वगतं तेजस्तत्रैव गच्छति. अतो वामन उदासीन इति इन्द्रः कृष्णमेव विज्ञापयामास. **हृते कुण्डले बन्धोर्मातु**र्यस्य, **हृतममराद्रेः स्थानं** यस्य. **चेष्टितम**धिकग्रहणरूपम्. **ज्ञापितो** भगवान्,

---

लेखः

इन्द्रेणेत्यत्र यत्र **यस्तिष्ठती**ति. नरकासुरः पाताले स्वयमेव तिष्ठतीति पातालाधिपत्यनिवारणार्थं महानुद्यमो नापेक्षित इति भूम्याधिपत्यं निवारितवानित्यर्थः. कामरूपदेशस्थितावपि वासस्थानम् असुरत्वात् पातालमेवेति भावः. **दीयमाने चे**ति. उभे अपि भक्ते अतः समत्वान्न निवारयति, पुत्रेण दीयमानत्वाच्च न निवारयतीति चकारः. **न निवारयति वामन** इति पूर्वेणान्वयः. **सर्वगतमि**ति अवतारान्तरगतमित्यर्थः. **अत** इति, तेजसो भगवति गतत्वादित्यर्थः. **हृते कुण्डले** इत्यर्थकथनं; हृतकुण्डलो बन्धुर्यस्येति विग्रहः ।।२।।

न हि तत्पुत्रोऽन्येन हन्तुं शक्यः. पूर्वं हि चतुर्मूर्तिर्भगवानास. तत्रैका तपः करोति, अपरा परिपालनम्, अपरा भोगं, चतुर्थी तु निद्राति. तासां च रहटघटिकान्यायेन[1] कर्मणां परावृत्तिःह्न या तपस्यति सावेक्षां करोति, यावेक्षिष्ट सा भुङ्क्ते, या बुभुजे सा शेते, या अशयिष्ट सा तपस्यतीति. क्रियायाः कालश्च सहस्रं वत्सराणि. तत्रैषा व्यवस्थाह्न या तपस्यति सोत्तिष्ठति, ये केचन स्वार्थं तपः कुर्वन्ति तेभ्यः प्रसन्ना भवति. तत्रैकदा भूमिः तपस्यन्ती स्थिता. सन्ध्यायां च भगवानुत्थितो वरार्थं प्रेरयामास. ततः सन्ध्यायां भूमिः पुत्रं वव्रे. ततोऽयं नरको जातः कालवशादसुरः. ततो भगवान् भूम्या पुनः प्रार्थितः ''नायं हन्तव्य'' इति. ततो भगवानाह ''त्वत्सम्मतिव्यतिरेकेण न हनिष्यामी''ति. स्वस्यास्त्रं नारायणाख्यं दत्तवान्, यावदस्मिन्नस्त्रं तावन्न मृत्युरिति. स चासुरत्वात् महादेवभक्तो बभूव. त्रिशूलं च प्राप्तवान् नारायणास्त्रसमानम्. ततः स्वयं शिवभक्त इति त्रिशूलं स्वार्थे स्थापितवान्, पुत्राय भगदत्ताय नारायणास्त्रं ददौ. अतो हनने भूमिसम्मतिरेव ग्राह्या. भूमिश्च सत्यभामा ।।२।।

अतो नरकवधार्थं भगवान् सत्यभामया सह गरुडाधिरूढो गत इत्याह **सभार्यो गरुडारूढ** इति.

सभार्यो गरुडारूढः प्राग्ज्यौतिषपुरं ययौ।
गिरिदुर्गैः शस्त्रदुर्गैर्जलाग्न्यनिलदुर्गमम्।।
मुरपाशायुतैर्घोरैर्दृढैः सर्वत आवृतम्।।३।।

प्राग्ज्योतिषपुरमिति तन्नगरनाम. यदा[2] तेजोबन्नात्मिका सृष्टिः ततः पूर्वमिदं स्थानमुत्पादितमिति ज्ञापनार्थं तथा नाम. ततस्तस्य षडावरणानि निरूपयति **गिरिदुर्गैरि**ति. सर्वतः गिरयः पर्वताः अखेचरस्य दुर्गमाः. साम्प्रतं कामरूपदेश[3] इति तत्प्रसिद्धिः. शस्त्रदुर्गाणि द्वितीयानि. दुर्गत्वं परितः स्थित्या गमनप्रतिबन्धकत्वम्. शस्त्राणि खड्गादीनि, यथा असिपत्रवनम्. ततो मध्ये जलं परितः ततोऽन्तरग्निः ततो वायुरिति. **मुरो** नाम पञ्चपर्वाविद्याधिष्ठात्री देवता, तस्य **पाशाः** सर्वापेक्षयान्तरावरणभूताः, ते च **दृढाः** पूर्वापेक्षयापि[4].

१.अरघट्टघटीयन्त्रन्यायः (लौ.न्या.सा. २।४८) –सम्पा. २.यथा. ३.कामरू– इति मु.पाठः ह्नसम्पा. ४.पर्वतापेक्षया.

अनेन क्रम[1] उत्तरोत्तरबलिष्ठत्वं सूचितम्. **सर्वत आवृतमिति** सर्वैर्न मार्गोऽपि संरक्षित:. स्वयं तु खेचर:. तेज:प्रभृत्यावरणत्रयम् उपर्यपीति सम्प्रदाय:. तेन सर्वागम्यम् ।।३।।

तादृशस्यापि लौकिकप्रकारेण वधं वक्तुं क्रमेण दुर्गाणां नाशनमाह **गदये**ति.

गदया निर्बिभेदाद्रीन् शस्त्रदुर्गाणि सायकैः ।

चक्रेणाग्निं जलं वायुं मुरपाशांस्तथासिना।।४।।

गदाप्रहारे**णाद्रीन्निर्बिभेद.** तेन प्रथमावरणे नराणामपि गमनं सुगममभूत्. सएव चेदानीं मार्ग:. **सायकैः शस्त्रदुर्गाणि** चिच्छेद. सुदर्शनेन जलाग्न्यनिलदुर्गाणि अन्तर्भावितवानित्याह **चक्रेणे**ति. आदावग्निप्रवेशनं सजातीयनिराकरणार्थम्. तदुभयोपष्टम्भकं भवति. तस्य च कार्यं जलं, तत: कारणं वायुमिति प्रान्तस्थितयोरनुप्रवेश:. **मुरपाशांस्तु असिना** च नन्दकेन चिच्छेद ।।४।।

एवमावरणानि दूरीकृत्य दूरान्मारणसाधनानि पाषाणक्षेपणरूपाणि यन्त्राणि चिच्छेदेत्याह **शङ्खनादेने**ति.

शङ्खनादेन यन्त्राणि हृदयानि मनस्विनाम् ।

प्राकारं गदया गुर्व्या निर्बिभेद गदाधरः।।५।।

मनस्विनां हृदयानि उत्साह-शक्तीश्च. ततो दुर्गप्राकारमपि बिभेदेत्याह **प्राकारमिति. गुर्व्ये**ति तत्र स्थितानां देवानां नाशनसामर्थ्यं द्योतितम्. तेषामुपेत्य[2] प्रतिबन्धकत्वाभावाय **निरुप**सर्ग:. **गदाधर इति** अग्रे युद्धार्थं सावधान इत्यर्थ: ।।५।।

पाञ्चजन्यध्वनिं श्रुत्वा युगान्ताशनिभीषणम् ।

मुरः शयान उत्तस्थौ दैत्यः पञ्चशिरा जलात्।।६।।

एवं सर्वावरणानि भित्त्वा सावधानो जात:. शङ्खनादस्य माहात्म्यं ''विष्णोर्मुखोत्थानिलपूरितस्य यस्य ध्वनिर्दानवदर्पहन्ते''ति. ततो दर्पाच्छयान: परिखाजले तन्नादेन दर्पनाशं मत्वा कथं जात[3] इति हेत्वन्वेषणार्थम् उत्थित:.

---

१. क्रमतः. २. अप्रत्येति पाठः. ३. जातमिति.

न केवलं माहात्म्याद् दर्पनाशकत्वं किन्तु स्वरूपतोऽपि नादस्तादृश इत्याह **युगान्ताशनिभीषणमि**ति. युगान्ते प्रलये, तत्रापि मारकत्वेनैव प्रसिद्धः **अशनिः,** ततोऽपि **भीषणः** दर्पं हन्त्येव. प्रलये दैत्यानां दर्पस्तिष्ठतीति प्रसिद्धिः. अतो दर्पेण निश्चिन्तः **शयानोऽ**प्युत्थितः. स च दैत्यस्तेन मारणीय एवेति भगवत्सम्मुखोऽपि विरुद्धएव जातः. अविद्यासम्बन्धीति ज्ञापयितुं **पञ्चशिराः**. पञ्च शिरांसि यस्येति योगः, 'मुर' इत्येव नाम. **जलादि**ति परिखासम्बन्धिनः ।।६।।

उत्थितएव युद्धार्थं प्रवृत्त इत्याह त्रिशूलमिति.

त्रिशूलमुद्यम्य सुदुर्निरीक्षणो युगान्तसूर्यानलशोचिरुल्बणः ।
ग्रसंस्त्रिलोकीमिव पञ्चभिर्मुखैरभ्यद्रवत्ताक्ष्यर्सुतं यथोरगः।।७।।

अनेनासहायवीरत्वमुक्तम्. सुदुर्निरीक्षण इति युक्तमेव तस्य तथात्वम्; यो हि द्रष्टुमेवाशक्यः तेन सह को वा युध्येत्? किञ्च **युगान्तसूर्यानलशोचिरुल्बणःह्न** पाञ्चजन्यध्वनिस्तु प्रलयाशनितुल्यएव, अस्य तु देहकान्तिरपि प्रलयसूर्यानलसदृशी ततोऽप्युल्बणश्च. अतएव युद्धे निःशङ्कः. महाभूतान्यपि यो भक्षयितुं शक्तः स कथं जेयो भवेदित्याह **ग्रसंस्त्रिलोकीमिति. पञ्चभिर्मुखैः** चतुर्षु[1] दिक्षु उपरि च सर्वानेव लोकान् भक्षयति, न समायेति[2]. दर्शनमात्रमेव तस्य भयानकं, न तु युद्धं कर्तुं शक्त इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **ताक्ष्यर्सुतं यथोरग** इति, गरुडं सर्पो यथाभिधावति भक्ष्यः ।।७।।

गतस्य पराक्रममाह.

आविध्य शूलं तरसा गरुत्मते निरस्य वक्त्रैर्व्यनदत् स पञ्चभिः।
खं रोदसी सर्वदिशोऽन्तरं महानापूरयन्नण्डकटाहमावृणोत् ।।८।।

लेखः

मुरः शयान इत्यत्र **परिखासम्बन्धिन** इति, आवरणजलस्य चक्रेणान्तर्भावितत्वादिति भावः ।।६।।

---

१. चतुर्दिक्षु. २. मूलपाठस्तु सन्दिग्धः; 'नसमाय' इति 'न समायाती'ति 'न समाये' इति 'न सा माये'ति 'स माये'ति पाठाः सूचिताः.

आविध्येति, उत्तोल्य भ्रामयित्वा वा. **तरसा** यावद् द्वितीयो न सावधानः. स हि भगवन्तं द्रष्टुमशक्तो गरुडमताडयत्. अविद्या भगवन्तं न विषयीकरोति. कालानन्तरमेव[1] भगवत्प्राप्तिरिति कालरूपं गरुडं क्षोभयति. **निरस्य** प्रक्षिप्य. निरसनेन अवहेला सूचिताह्व न हि अस्मद्बलं शूलेन समर्थितं भवतीति तृणमिव दूरीकृतवान्. ततोऽविद्यया तं मोहयितुं **पञ्चभिर्वक्त्रैर्व्यनदत्** विशेषेण शङ्खध्वनिं कृतवान्, अन्यस्त्वेकधा गर्जति अहं पञ्चधेति ज्ञापयितुम्. तस्य नादस्य महत्त्वमाह खं रोदसीति. सर्वमेव विवरस्थानं पूरयन् **अण्डकटाहमावृणोत्.** उपर्यपि ब्रह्माण्डं भित्त्वा गत इत्यर्थः. तत्त्वानामप्यविद्यामोहो वर्तत इति अलौकिकत्वाच्छब्दस्य बहिर्गमनम्. ब्रह्माण्डस्यापि अण्डत्वाद् रोमकूपवच्छिद्रत्वम्. मध्ये सर्वत्र पूरणं न भविष्यतीति विशेषतो गणयति. **खमा**काशं मध्यस्थितं, सर्वेषां हृदयाकाशो वा. रोदसी द्यावापृथिव्यौ. **सर्वा** अष्ट **दिशः. अन्तरं** मध्यम्. शब्दाघातादुत्पन्नस्य शब्दान्तरस्य[2] तथात्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याह **महानि**ति. आसमन्तात्पूरणं बृंहणन्यायेन ।।८।।

एवं तस्य पराक्रममुक्त्वा तत्प्रतीकारार्थं भगवच्चरित्रमाह **तदापत**दिति.

तदापतद्वै त्रिशिखं गरुत्मते हरिः शराभ्यामभिनत् त्रिधौजसा ।

मुखेषु तं चापि शरैरताडयत् तस्मै गदां सोऽपि रुषा व्यमुञ्चत।।९।।

[3]**तच्छूलमापतद्** गरुडोपरि तदेव स्थितम्. **त्रिशिखमित्यनेन** भेदत्रयं करोतीति त्रिसत्यानां[4] देवानामपि मारकं तदिति सूचितम्. **गरुत्मत** इति पक्षवानतिकोमल इति. स्वतो निवारणसामर्थ्यं चाहह्व भगवांश्च **हरिः** ततः प्रतीकारोऽवश्यं कर्तव्य इति **शराभ्यामच्छि**नत्, **त्रिधा** छेदे न पुनः प्ररोहतीति. तच्छूलं दैत्यमित्यनेन ज्ञापितम्. **ओजसे**ति तदधिष्ठिता देवतापि यथा छिन्ना भवति, तस्य तेजसा सह वा. तेजोऽपि त्रिधा छिन्नमित्यर्थः. न केवलं त्रिशूलच्छेदएव किन्तु सोऽपि ताडित इत्याह **मुखेष्वि**ति. [5]यथा न रूपात् तस्य रवेण लोकानां भयं जायत इति मुखान्यपि ताडितानि.

१.कालान्तरमिति मु.पाठः –सम्पा. २.शब्दान्तस्येति मु.पाठः –सम्पा. ३.त्रिशूलमिति पाठः.

४.त्रिषत्यानामिति वैदिकः पाठः, त्रिंशत्यानामित्यपि क्वचित् पाठः. ५.मूलपाठे सन्देहः.

अर्थात् पञ्चभिः. आपूरितानि वा. तदा यावद्भिः पूरणं भवति, रवएव च निवारणीय इति. **तं चापी**ति भिन्नतया सोऽपि हृदये ललाटे वा हतः. तदा पक्षपातं ज्ञात्वा मम गम्यो भविष्यतीति **तस्मै** भगवते **सोऽपि** ताडितोऽपि **रुषा** ''अपकृतोऽतिक्रुद्धो भवती''ति दूरादेव गदां प्रक्षिप्तवान् ।।९।।

सापि गदा देवताधिष्ठितेति भगवान् स्वगदयैव तन्निराकरणं कृतवानित्याह **तामापतन्तीमि**ति.

तामापतन्तीं गदया गदां मृधे गदाग्रजो निर्बिभिदे सहस्रधा ।

उद्यम्य बाहूनभिधावतोऽजितः शिरांसि चक्रेण जहार लीलया।।१०।।

कौमोदक्या **नितरां बिभिदे. सहस्रधे**ति योजनायामशक्या कृता. सजातीयेन सजातीयहननमयुक्तमित्याशङ्क्याह **मृध** इति. सङ्ग्रामे न दोषः. गदाग्रज इत्यनुप्रासः, स्त्रीणां हितकारी वा. **बाहूनुद्यम्ये**ति ग्रहणार्थं समागमनमुक्तम्. स च भगवता न स्प्रष्टव्य इति कालेनैव तमच्छिनदित्याह **शिरांसि चक्रेण जहारे**ति. पञ्चापि पर्वाणि छिन्नानि, यथा प्रतीत्यापि न संसारः. **लीलये**ति सुदर्शनसामर्थ्यं व्यावर्तयति; पौरुषं स्वकीयमेव व्यापृतं परं निरायासेन. प्राप्त एवायासो व्यावर्त्यते. अथवा लीलैव तत्स्थाने व्यापृता भविष्यतीति तेन निरोधरूपएव संसारः साम्प्रतं प्रवर्ततां नत्वन्य इति **लीलये**त्युक्तम् ।।१०।।

छिन्नेष्वपि शिरस्सु दैत्यत्वात् कदाचित् प्राणाः हृदयादिषु तिष्ठेयुरिति तस्य छिन्नशिरसोऽग्रिमावस्थामाह **व्यसुः पपाते**ति.

व्यसुः पपाताम्भसि[1] निकृत्तशीर्षो निकृत्तशृङ्गोऽद्रिरिवेन्द्रतेजसा।

लेखः

मुखेषु तं चापीत्यत्र **पञ्चभिरि**ति. ताड्यानां मुखानां पञ्चत्वान्नात्र कपिञ्जलन्याय इति भावः. एतस्य रवनिवारणत्वादाहुः **आपूरितानी**ति. आपूरणेनैव रवनिवारणसम्भवादिति भावः. तदा पञ्चसंख्या शराणां नास्तीत्याहुः **यावद्भिरि**ति. एतत्पक्षकथने बीजमाहुः **रव एवे**ति ।।९।।

---

१. 'पपाताप्सु' इति कदाचित् स्यात्, 'निकृत्तशीर्ष' इति पदसमभिव्याहारात् – सम्पा.

तस्यात्मजाः सप्त पितुर्वधातुराः प्रतिक्रियामर्षजुषः समुद्यताः।।११।।

विगता असवो यस्येति. भूमौ पतितस्य दैत्यत्वात् पुनरुद्गमो भविष्यतीति अम्भसि पात उच्यते, ''आपो हि रक्षोघ्नीरि''ति. अविद्यायामपि भगवत्सामर्थ्यार्थमग्रेऽप्युत्पादनाभावार्थं च **अजित** इत्युक्तं, न केनापि मायादिभिरपि पराजितः. **निकृत्तशीर्ष** इति निकृत्तं शिरो यस्येति. नितरां छेदः पुनर्योजनाभावार्थः आधिदैविकच्छेदार्थो वा. युगान्तरेऽपि प्रादुर्भावाभावाय दृष्टान्तमाह **निकृत्तशृङ्गोऽद्रिरिवेति. इन्द्रतेजसा** वज्रेण. तथापदं पुनरुत्थाने इन्द्राद् भयं सूचयति. तथात्रापि भयादनुत्थानम्. तस्य सप्तव्यसनानि पुत्राः साधिकरणा मारिता इति वक्तुं तेषामागमनमाह **तस्यात्मजा** इति. मूलच्छेदे शाखा इव ते न प्रयोजका इति **पितुर्वधेनातुराः प्रतिक्रियार्थममर्षजुषः** सेवितरोषाः. मारकस्य मारणं प्रतिक्रिया. स्वतः असामर्थ्यात् क्रोधसेवां कृतवन्तः, क्रोधेनापि कदाचिद् भवेदिति. **समुद्यता** इति बहिःसामग्री निरूपिता; अन्तः क्रोधः ।।११।।

तेषां प्रसिद्ध्यर्थं नामानि गणयति **ताम्रोऽन्तरिक्ष** इति.

ताम्रोऽन्तरिक्षः श्रवणो विभावसुर्वसुर्नभस्वानरुणश्च सप्तमः ।
पीठं पुरस्कृत्य चमूपतिं मृधे भौमप्रयुक्ता निरगुर्धृतायुधाः।।१२।।

ताम्र इति वर्णतः क्रोधात्मकः. **अन्तरिक्ष** इति सर्वक्रियाव्यापारयितुमशक्यः. **श्रवण** इत्याकाशरूपः. **विभावसुः** सूर्याग्नितुल्यः. **वसुः** भीष्मादेरप्यधिकः. **नभस्वान्** वायुः तत्तुल्यः. **अरुणः** सर्वोद्बोधकः वर्णतो वा भयानकः. सप्तम इति क्रमोऽत्र विवक्षित इति ज्ञापयति. पीठस्तेषामाधारभूतः नरकासुरस्य सेनापतिः. **मृधे** युद्धार्थं **भौमप्रयुक्ताः** स्वस्थाने नरकासुरस्तान् प्रेषितवान्, ते हि स्वापेक्षयापि पितृवधाद्युद्धं करिष्यन्तीति. युद्धार्थं प्रथमतो **निरगुः**[१] **धृतायुधा**श्च पश्चाज्जाताः. अनेन युद्धे निश्चयो निरूपितः ।।१२।।

ततः शस्त्राणि प्रायुञ्जतेत्याह **प्रायुञ्जते**ति.

प्रायुञ्जतासाद्य शरानसीन् गदाः शक्त्यर्ष्टिशूलान्यजिते रुषोल्बणाः।
तच्छस्त्रकूटं भगवान् स्वमार्गणैरमोघवीर्यस्तिलशश्चकर्त ह ।।

---

१. निरगन्.

तान्पीठमुख्याननयद्यमक्षयं निकृत्तशीर्षोरुभुजाङ्घ्रिवर्मणः।।१३।।

आसाद्य निकटे गत्वा षड्विधान्यस्त्राणि भगवति[1] प्रयुक्तानि निरूपयति **शरानि**त्यादिभिः. ुधविशेषः. सप्तभिरपि प्रत्येकं षड्विधानि प्रयुक्तानि. यद्यप्यजितो भगवानिति जानन्ति तथापि **रुषा** क्रोधेन **उल्बणाः** सन्तः तथा कृतवन्तः. भगवता कृतं प्रतीकारमाह **तच्छस्त्रकूटमि**ति. **स्वमार्गणैरि**ति असाधारणैर्बाणैः. अन्यथा अग्नेर्बाणाः, दुर्गाया असिः, गदा वायोः, अर्ष्टिरपि वरुणादेः, शक्तिर्मायायाः, शूलं शिवस्येति एतावन्तः तत्तद्देवताधिष्ठिता न हता भवेयुः. ननु भगवानेव तेष्वपि स्वसामर्थ्यं दत्तवानिति कथं भगवांश्चकर्तेत्याशङ्क्याह **अमोघवीर्य** इति. तेषु दत्तं परगामि मोघं जातं, तदेव स्वस्थाने अमोघम्. अतः अमोघेन मोघानि वीर्याणि प्रतिहतानीत्यर्थः. तिलशः कर्तनं पुनर्नीत्वा लोहखण्डान्यपि सज्जीकर्तुमशक्तानीति ज्ञापयति. हेत्याश्चर्येह्न तावन्न कर्तव्यं, प्रयोजनाभावात्, तथापि स्वस्याक्लिष्टकर्मत्वं ज्ञापयितुं तावत् पराक्रमं प्रदर्शितवान्. शस्त्राणां विनियोगमुक्त्वा प्रयोक्तॄणामाह **तान् पीठमुख्यानिति**. **यमक्षयमि**ति तावद्दण्डार्थं, मुरवत् पुनरावृत्त्यभावाय वा. ते हि पीठं पुरस्कृत्य समागता इति उपजीव्यत्वाद् उत्साहनिवृत्त्यर्थं प्रथमतः सएव हतः. मूर्च्छादिना अलौकिकप्रकारेण हननं व्यावर्तयितुमाह **निकृत्ते**ति, चत्वार्यङ्गानि कवचं च निकृत्तानि येषाम्. पितुः पञ्चांशाः तेषु प्रतिष्ठिता इति कार्ये तदंशव्यावृत्त्यर्थं शिरःप्रभृतीनां छेदनम्. शीर्षाणि ऊरवः भुजाः अङ्घ्रयश्च. ज्ञानं गतिश्चाद्यन्तयोः, उत्पत्तिः कर्माणि च मध्ये; तत एवं क्रमः ।।१३।।

तत उभयेषां मुरस्य तत्पुत्राणां च फलरूपस्य नरकस्य निराकरणार्थं प्रवृत्तिमाह स्वानीकपानिति.

स्वानीकपानच्युतचक्रसायकैस्तथा निरस्तान्नरको धरासुतः।

लेखः

स्वानीकपानित्यस्याभासे. **उभयेषामि**त्यस्यैव विवरणं **मुरस्य तत्पुत्राणां चे**ति. **फलरूपस्ये**ति, फलनिरूपकस्य युद्धफलत्वेन द्रव्यादिदातुरित्यर्थः ।।१४।।

---

१. भगवते.

निरीक्ष्य दुर्मर्षण आस्रवन्मदैर्गजैः पयोधिप्रभवैर्निराक्रमत्।।१४।।

तस्य जयहेतवः सेनाः तासामनीकानां रक्षकाः. अज्ञानेन व्यसनैश्च नरकः सिद्धो भवतीति तेषां निराकरणे स्वयं निराकृतोऽपि लौकिकैः साधनैः स्वजयो भविष्यतीति **आस्रवन्मदैर्गजैः** सहितः युद्धार्थं **निराक्रमत्**[१]. **अच्युत**त्वान्न तस्य केनाप्यंशेन क्षतिः. मुरश्**चक्रेण** हतः अन्ये **सायकै**रिति ससाधनसाध्यस्यानुवादः, तथेति प्रकारस्यापि. ततस्तदपेक्षया समर्था गजा इति सूचयितुं पूर्वानुवादः. नन्वग्निवद् भगवान् स्थूलान् सूक्ष्मानपि दहतीति ततो बलिष्ठानपि गजान् मारयिष्यतीति कथं तत्प्रवृत्तिरिति चेत्, तत्राह **निरीक्ष्ये**ति. **दुर्मर्षण** इति दुष्टक्रोधयुक्तः. ज्ञानाच्छादको वर्तत इति तथा प्रवृत्तिः. गजानामुत्कर्षमाह **आस्रवन्मदैः पयोधिप्रभवै**रिति. कार्यकारणोत्कर्षौ निरूपितौ. स्वभावतो गजा जीवेषूत्कृष्टाः सङ्घचराः[२]. अतस्त्रिविधोऽप्युत्कर्षो निरूपितः. गजानां मदस्रवएव बलोत्कर्षे हेतुः. ऐरावतः पयोधिप्रभव इति समानजनकत्वेन तत्सामर्थ्यं सर्वेषां निरूपितम् ।।१४।।

मातरं पितरं कालं च दृष्टवानिति निरूपयितुं तस्य भगवद्दर्शनं वर्णयति **दृष्ट्वा सभार्यमि**ति.

दृष्ट्वा सभार्यं गरुडोपरिस्थितं सूर्योपरिष्टात् सतडिद्घनं यथा ।
कृष्णं स तस्मै व्यसृजच्छतघ्नीं योधाश्च सर्वे युगपत् स्म विव्यधुः।।१५।।

युद्धार्थमागमनशङ्कैव निवारिता, तत्रानुरक्त[३]श्चेत् कृतार्थएव भवेदिति. भगवान् न लौकिकसाधनैरलौकिको जेतुं शक्य इति अभूतोपमामाह **सूर्योपरिष्टादि**ति. अद्भुतत्वात् रागद्वेषाभ्यामिष्टानिष्टसूचकं भवति. यदि सूर्योपरि आधिदैविकः मेघः [४]आधिदैविकविद्युल्लतया सह तिष्ठति, आदित्यएव पर्जन्य इति भवति. तस्याधिदैविकं रूपं तादृशमिति वचनोपपत्तिः. तथापि **कृष्णः** कालात्मा स्त्रीणां हितकारीति तस्य न सद्बुद्धिरुत्पन्ना किन्तु विरुद्धैवेति

लेखः

दृष्ट्वा सभार्यमित्यत्र **भगवानि**ति, **अलौकिको भगवान्** लौकिकैर्जेतुमशक्य इत्यन्वयः ।।१५।।

१. निरगमत्. २. संप्रचरा इति पाठः. ३. अनुगत इति पाठः. ४. अधिदैविकीति पाठः.

तत्कार्यमाह **तस्मै व्यसृजच्छतघ्नीमि**ति. शतं हन्तीति योगोऽपि तस्य विवक्षितः. तादृशीं[१] विशेषेणासृजत्, **योधाश्च शतघ्नीभिर्बाणैर्वा युगपदेव,** स्मेति प्रसिद्धे, विव्यधुः ।।१५।।

तद् भौमसैन्यं भगवान् गदाग्रजो विचित्रवाजैर्निशितैः शिलीमुखैः।
निकृत्तबाहूरुशिरोङ्घ्रिविग्रहं चकार तर्ह्येव हताश्वकुञ्जरम् ।।१६।।

आदौ तेषामपराधो निरूप्यते भगवतोऽक्लिष्टत्वाय. यावत्ते युद्धार्थं प्रवृत्ताः ततः पूर्वं तस्मिन् वा समये भगवान् स्वमार्गणैः प्रथमतो योधांश्चिच्छेद. ततस्तत्प्रयुक्तान्यस्त्राणि, पूर्वमस्त्राणामुपस्थित्यभावात्. नात्र क्रमो दोषाय. **तत्** प्रसिद्धं **भौमस्य सैन्यम्.** भगवत्त्वात् न पुत्रादिभावस्तस्य बाधक इति भगवत्प्रवृत्तिः. सोऽपि मातुः पुत्र इति पित्रापि सह युद्धकरणं नायुक्तम्. **गदाग्रज** इति भक्तोत्पादनार्थं भगवतस्तथाकरणं युक्तमेव. लौकिकेनैव प्रकारेण तान् हतवानिति ज्ञापयितुं भगवच्छरान् विशिनष्टि **विचित्रवाजैरि**ति. दूरगमनलक्ष्यैकगमनप्रयोजकाः पक्षाः विचित्रा वाजा येषामिति, वायुर्जायते गतिर्वा येभ्य इति. **निशितानि** कार्यसाधकानि. **निकृत्तानि बाह्वादीनि यस्येति**. प्रक्षेपकौ बाहू. आगमने जङ्घालता प्रयोजिका, कर्म-जन्मनी वा पूर्ववत्. ततो ज्ञान-गती. बाहूरुशिरोऽङ्घ्रयः विग्रहे यस्येति तादृशं चकार. तर्ह्येव यस्मिन् क्षणे युद्धार्थं तत्सैन्यं प्रवृत्तं तस्मिन्नेव क्षणे प्रथमशस्त्रविमोकानन्तरं यथा नापरं विमुञ्चति तदर्थं पार्श्वभागान् सर्वानेव निराकृतवान्. वाहनानां निराकरणमाह **हता अश्वाः कुञ्जराश्चे**ति. चतुरङ्गे रथा अचेतनाः. नराणां स्वरूपमुक्तमेव, अवशिष्यन्ते वाजिनः करिणश्चेति ।।१६।।

ततः शस्त्राणां छेदनमाह.

यानि योधैः प्रयुक्तानि शस्त्रास्त्राणि कुरूद्वह ।
हरिस्तान्यच्छिनत् तीक्ष्णैः शरैरेकैकशस्त्रिभिः ।।
उह्यमानः सुपर्णेन पक्षाभ्यां निघ्नता गजान्।।१७।।

यानि तैरेव **योधैः प्रयुक्तानि. शस्त्राणि** गृहीत्वा प्रहरणसाधनानि. **अस्त्राणि** तु प्रक्षेप्यानि, ब्रह्मास्त्रादिरूपाणि वा. **कुरूद्व**हेति विपरीतत्वाद्

१. तादृशम्.

विश्वासार्थम्. तानि स्थितानि अग्रेऽपि साधनत्वात् लोकोपद्रवकारीणि भविष्यन्तीति तान्यच्छिनदित्यभिप्रायेणाह हरिरिति. **तीक्ष्णै:** शरैरिति नालौकिकत्वम्. **एकैकशस्त्रिभिरि**ति च. ये पुनर्गजा: स्वार्थं शोभाकरा भवन्ति तान् न हतवानिति वक्तुं तादृशेन गरुडेन **उह्यमानो** भगवान्निरूप्यते. येन गजा: अन्त:प्रवेशनार्थं **पक्षाभ्यामेव** हता:. हस्ताभ्यामन्त:प्रवेशिता इव निरूपिता:. सेनारूपा: दैत्यांशा गजा मारिता:, साधारणा देवांशाश्च रक्षिता इति विभाग: ।।१७।।

ततो गरुडहतानां पुरप्रवेशमाह **गरुत्मते**ति.

गरुत्मता हन्यमानास्तुण्डपक्षनखैर्गजा: ।

पुरमेवाविशन्नार्ता नरको युध्ययुध्यत।।१८।।

तुण्डपक्षनखा: तामससात्त्विकराजसा: आर्ता: सन्त: **पुरमेवाविशन्,** न तु तेषु युद्धार्थं बुद्धिरुत्पन्नेत्यर्थ:. ततस्तेषु निवृत्तेषु **नरक: स्वयमयुध्यत. युधीत्यावश्यकता** ।।१८।।

इदं युद्धं केवलमेव ''अहं योत्स्यामी''ति उत्साहनिश्चयात्मकं, शस्त्रप्रहरणात्मकं त्वाह दृष्ट्वेति.

दृष्ट्वा विद्रावितं सैन्यं गरुडेनार्दितं स्वकम् ।

तं भौम: प्राहरच्छक्त्या वज्र: प्रतिहतो यत:।।१९।।

गरुडेन विद्रावितं स्वसैन्यं दृष्ट्वा. अर्दितं च, न केवलं भयमात्रेण पलायितम्. यद्यपि स्वयं भगवता सह युद्धार्थमागत:, अन्यं च न गणयति, तथापि तादृशोऽपि स्वयमेव **तं** गरुडं **शक्त्या प्राहरत्.** ननु तथाप्यल्पे कथं स्वविक्रमं योजितवानित्याशङ्क्याह **वज्र: प्रतिहतो यत** इति. गरुडाद् वज्रोऽपि प्रतिहत:. तदमृतहरणे गरुडस्य प्रसिद्धम्. अतो महति पौरुषं कर्तव्यमिति न काप्यनुपपत्ति: ।।१९।।

इदं माहात्म्यमग्रेऽप्युपयुज्यते. एकमेव वाहनं भगवत इति तदुपद्रवे भगवति काचिच्छङ्का स्याद्, अतस्तन्निवारणं वक्तव्यम्. अतएव किञ्चिज्जातमित्याह **नाकम्पते**ति.

नाकम्पत तया विद्धो मालाहत इव द्विपः।

शूलं भौमोऽच्युतं हन्तुमाददे वितथोद्यमः।।२०।।

तया शक्त्या **विद्धः**. तेनाल्पमपि शरीरभेदमाशङ्क्य दृष्टान्तमाह मालाहत इवेति, मालया हतः. भेदेऽपि व्यथाभावायाह **द्विप इवेति**. यथा अङ्कुशेन विद्धो द्विपो जागर्ति कार्यक्षमश्च भवति तथा गरुडो अतिपराक्रमयुक्तो जात इत्यर्थः. ततो लज्जितो नरकासुरः महादेवात् प्राप्तं शूलं तस्मिन् जीवति अमोघमच्युते योजयितुं विचारितवानित्याह शूलमिति. यतो भौमो मातुः पुत्रः. तथा करणे हेतुमाह **वितथोद्यम** इति, वितथो गरुडे पराक्रमो व्यर्थो जात इति ।।२०।।

भगवान् पुनः शूलस्यापि माहात्म्यं स्थापनीयमिति यस्मिन् क्षणे शूलं त्यक्ष्यति तत्पूर्वक्षणएव सुदर्शनेन तस्य शिरोऽच्छिनदित्याह **तद्विसर्गादि**ति.

तद्विसर्गात् पूर्वमेव नरकस्य शिरो हरिः ।

अपाहरद् गजस्थस्य चक्रेण क्षुरनेमिना।।२१।।

पूर्वमेवोत्पन्नप्रयत्नेन छेदनसमकालमेव विसर्गोऽपि जातः. अन्यथा स्थिते शूले सोऽवध्य इति केचित्. नेदं महादेवदत्तं शूलमित्यन्ये. किञ्च स गजस्थः. आचमनाद्यभावान्न तस्मिन् शूले महादेवः सन्निहित इत्याह **गजस्थस्ये**ति. चक्रस्य सामर्थ्यं व्यावर्तयितुमाह **क्षुरनेमिने**ति ।।२१।।

ततस्तस्य शिरसः पुनर्योजनाभावाय विनियोगान्तरं वदन् वर्णयति **सकुण्डलमि**ति.

सकुण्डलं चारुकिरीटभूषणं बभौ पृथिव्यां पतितं समुज्ज्वलत् ।

हाहेति साध्वित्यृषयः सुरेश्वरा माल्यैर्मुकुन्दं विकिरन्त ईडिरे।।२२।।

यथा भूमेः सकाशात् शिरएव प्रादुर्भूतमविकृतं तथा भातीति ज्ञापयितुं कुण्डलकिरीटयोर्वर्णनम्. **सम्यक् उज्ज्वलत्** शिरः **पतितं** जातमित्यर्थः. ततो **बभौ**. भूमिरवहेलनं न करोतीति सम्यक् स्थापनात् शोभा. यथा

लेखः

तद्विसर्गादित्यत्र **चक्रस्य सामर्थ्यमि**ति. नेमीनामेव सामर्थ्यं तेजोरूपत्वं चक्रसामर्थ्यं प्रकटितमित्यर्थः ।।२१।।

तदीयः पुत्रः तस्यै समर्प्यते. इयं भूमिरभिमानिनी देवता, न त्विला भगवच्छक्तिः, सा आधिदैविकी. सत्यभामा त्वाधिदैविकी. तस्या आनयने पञ्च(१-५) प्रयोजनानि. (१)पूर्णो भवति शक्त्या सहितः, बलभद्रे शक्तिविभागे योन्यंशः पृथक्कृत इति. (२)माहात्म्यं च प्रदर्शनीयम्. (३)तद्वाक्येन नरकासुरोऽपि हन्तव्यः. (४)सापत्न्यसहनार्थम्, अन्यथा सा स्त्र्यन्तरसद्भावं न सहेत. बलाद्वरणे१ तु दृष्टत्वात् मंस्यत२ इति. (५)पारिजातहरणार्थं च. ततो लोकाः हाहेत्यब्रुवन्. **ऋषयश्च**, स्वपुत्र इति स्वयमेव छिन्न इति. अन्ये च पुनः ऋषयः **साध्विति.** सुराश्च साध्वेव कृतमिति अनुमोदनमेव कुर्वाणाः माल्यैः **विकिरन्तः** नरकस्यापि मोक्षो दत्त इति **मुकुन्दमीडिरे. हाहेतीडिरे, साध्वि**ति च. किमित्ययं पुत्रो मारित इति भगवतः पराक्रममुक्त्वा ईडिरे. अन्ये तु साध्वेव कृतमिति वदन्तः ईडिरे इति. पुष्पवृष्टिर्देवार्थं तद्वध इति सूचयति ।।२२।।

यदर्थमयं हतः तस्मिन् हते तज्जातमित्याह **ततश्चे**ति.

ततश्च भूः कृष्णमुपेत्य कुण्डले प्रतप्तजाम्बूनदरत्नभास्वरे ।

सवैजयन्त्या वनमालयार्पयत् प्राचेतसं छत्रमथो महामणिम्।।२३।।

उपेत्य निकटे समागत्य. कृष्णत्वान्न तस्या भयम्. अदित्याः **कुण्डले** सर्वदैव **प्रकर्षेण तप्तजाम्बूनदवत् रत्नवच्च भास्वरे.** उभयमपि तत्र प्रकृतिभूतमिति द्वयमुक्तम्. **वैजयन्तीं वनमालां च** भगवद्दत्तां समर्पितवती. भगवत्पूजार्थं वा वैजयन्ती. वरुणेन निर्मितं समुद्रोद्भूतमिन्द्रस्यैव छत्रम् इदमन्यद्वा भगवदर्थे दत्तम्. **अथो महामणिः** कौस्तुभसदृशः. अथो इत्यनेन पूर्वं भगवदीयमेव भगवते दत्तम्, इदं त्वतिरिक्तमिति पुत्रोपार्जितं दत्तवती. अथवा.

लेखः

सकुण्डलमित्यत्र भूमि-सत्यभामयोर्भेदमाहुः **इयं भूमिरि**ति. **न त्विले**ति, ''श्रिया पुष्ट्ये''ति नवशक्तिषु गणिता सा आधिदैविकी इला नरकासुरमाता नत्वित्यर्थः. तर्हि सा इला का इत्यत आहुः **सत्यभामा त्वि**ति. सत्यभामा तु इलारूपा आधिदैविकी भवत्येवेत्यर्थः ।।२२।।

---

१. हरणे. २. नरकनिरुद्धकन्यानां बलाद्धरणे तु भगवत्सामर्थ्यस्य दृष्टत्वात् सापत्न्यमपि मंस्यत इत्यर्थः.

वैजयन्त्या सह कुण्डले भूमिष्ठे **छत्रं** स्वर्गस्थं **मणि:** पातालस्थ इति उपलक्षणत्वेन त्रिलोक्यां यत्किञ्चिदुत्कृष्टं तत्सर्वं निवेदितवती. एतदरिक्तहस्तत्वार्थमेव. वस्तुतस्तु सर्वं भगवतएव, सा भार्या स पुत्र इति. अत एव पुत्रेण सह न भेद इति भगवदर्थमेव सङ्गृहीता: स्त्रिय इति अन्यावरोधस्थस्त्रीविवाहो न दुष्यति ।।२३।।

अथापराधशान्त्यर्थं भिन्नप्रक्रमेण स्तोत्रं करोतीत्याह **अस्तौषीदि**ति.

अस्तौषीदथ विश्वेशं देवी देववरार्चितम् ।

प्राञ्जलि: प्रणता राजन् भक्तिप्रवणया धिया।।२४।।

ननु घातक: कथं स्तूयत इत्याशङ्क्याह **विश्वेशमि**ति. पुत्रत्वादिसम्बन्धस्य प्रयोजकत्वाभावाय **'विश्व'**पदम्. स्तोत्रपरिज्ञानाय देवीति. ननु (तथापि) साम्प्रतमलौकिकं[1] कृतमिति[2] कथं स्तुतिरित्याशङ्क्याह **देववरै:** साम्प्रतमे**वार्चितमिति. प्राञ्जलिरि**ति नम्रता दीनता च सूचिता. प्रणतेति शरीरेण नम्रा. स्त्रीस्वभावाद् दु:खभयव्यावृत्त्यर्थमाह **भक्तिप्रवणया धिये**ति. भक्तिप्रवणा प्रतिबन्धकमप्यनादृत्य भक्तिगामिनी, यथा जलं निम्नगामि. बुद्धिश्चेत् तद्गता सा मनसोऽपि नियामिकेति सर्वमेव भक्तिप्रवणम् ।।२४।।

षड्भि: स्तुत्वा प्रार्थयते पौत्रजीवितमुत्तमम्।
चतुर्भिर्नमनं प्रोक्तं सर्वभावप्रसिद्धये।।(३)।।
माहात्म्यं च स्वरूपं च ततो द्वाभ्यामुदीरितम्।।

आदावाविर्भूत: कश्चिदन्यो भविष्यति, कथमन्यथा पुत्रं मारयेदित्याशङ्कां परिहरन्ती लक्षणमाह **नमस्त** इति.

।।भूमिरुवाच।।

नमस्ते देवदेवेश शङ्ख चक्रगदाधर ।

भक्तेच्छोपात्तरूपाय परमात्मन् नमोऽस्तु ते।।२५।।

ते तुभ्यं **नम:**. देवताया: कथमन्यनमस्कार इत्याशङ्क्याह **देवदेवे**ति. ईशत्वाच्छिक्षैव, न मारणमिति पुत्रमारणेऽपि नान्यथात्वम्. **देवदेवानामपि** ब्रह्मादीना**मीश** इति नान्योऽत्र कश्चिद् वक्तव्य:. तथात्वे हेतुमाह **शङ्ख चक्रगदा:**

---

१. लोकविरुद्धमित्यर्थः. २. न कृतम् इत्यपि पाठः –सम्पा.

धारयतीति. अर्थात् पद्मम्. त्रयाणां कार्यमुक्तमेव ''गदया निर्बिभेदाद्रीनि''त्यादिना. अद्यापि भगवान् न पुरं प्रविष्टः, गरुडएव स्थितः चतुर्भुजः प्रकट इति तथोच्यते. तादृशस्य कथं नराकृतित्वमित्यत आह **भक्तेच्छोपात्तरूपाये**ति, भक्तानां यादृशी इच्छा तादृशमुपात्तं रूपं येन. ननु रूपग्रहणएव अन्यथाभावो भवतीति, तत्राप्यन्यादृशं रूपं गृहीतमिति, जीवतुल्यत्वात् कथं नमस्करणीय इत्याशङ्क्याह **परमात्मन्नि**ति. जीवात्मन एव रूपान्तरस्वीकारे तथात्वं नतु परमात्मन इति. अतएव भक्ताधीनत्वात् पुनर्नमस्यति **नमोऽस्तु त** इति ।।२५।।

कुन्त्या चतुर्धा स्तुतो भगवान् प्रसन्न इति स्वयमपि नमस्यति नमः **पङ्कजनाभाये**ति.

नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने ।

नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये।।२६।।

तया हि ब्रह्माण्डे सर्वत्वं सर्वोत्तमत्वं चोक्तम्. **पङ्कजं नाभौ यस्ये**ति नारायणत्वेन पुरुषत्वं निरूपितम्; तेन ब्रह्माण्डरूपत्वं सिध्यति. तत्रोत्कर्षस्त्रिधाह्न लक्ष्मीपतित्वेन सर्वोपास्यत्वेन सर्वसुसेव्यत्वेन च. सुसेव्यश्चेन्महान् भवति, स सर्वपुरुषार्थान् सुखेन प्रयच्छतीति. **पङ्कजानां माला** वर्तते अस्येति पङ्कजमालया लक्ष्म्या वृतः. ''तया विना क्व देवत्वमि''त्यादिवाक्यैः तस्याः सर्वपुरुषार्थरूपत्वम्. **पङ्कजनेत्राये**ति दृष्ट्यैव सर्वतापहारकत्वं वशीकर्तृत्वं च. **पङ्कजाङ्घ्रित्वेन** सुसेव्यत्वम् ।।२६।।

एवं ब्रह्माण्डे स्वरूपोत्कर्षौ निरूप्य तत्त्वेषु तथात्वमाह **नमो भगवते तुभ्यमि**ति.

नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय विष्णवे ।

पुरुषायादिबीजाय पूर्णबोधाय ते नमः।।२७।।

सर्वतत्त्वानां मूलभूतो भगवान्, भगरूपाणि च तत्त्वानीति शास्त्रार्थदृष्ट्या१ स्तुतिं व्यावर्तयति **तुभ्यमि**ति. **वासुदेवाये**ति तत्त्वानां करणप्रयोजनरूपाय मोक्षदात्रे. अनेनोपासनामार्गेण सेव्यत्वादुत्कर्ष उक्तः. **विष्णव** इति कर्ममार्गेऽपि

१. शास्त्रदृष्ट्येति पाठः.

सेव्याय. विष्णुः यज्ञः स्वतन्त्र इति ज्ञापयितुं यज्ञे **'विष्णु'**पदप्रयोगः. तत्त्वेषु पुरुषो महानिति तद्रूपत्वमाह **पुरुषाये**ति. तत्र क्रियाज्ञानशक्त्युत्कर्षमाह **आदिबीजाय पूर्णबोधाये**ति. बीजानां कार्योत्पादनसमर्थानामपि उत्पादकाय ह्यपूर्णा क्रियाशक्तिरुक्ता. पूर्णो बोधो यस्येति स्पष्टा ज्ञानशक्तिः ।।२७।।

एवं तत्त्वोत्कर्षमुक्त्वा पुरुषोत्तमत्वमाह अजायेति.

अजाय जनयित्रेऽस्य ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।

परावरात्मन् भूतात्मन् परमात्मन् नमोऽस्तु ते।।२८।।

सर्वविकाररहितं परतत्त्वमिति सिद्धान्तेनाह **अजाये**ति. जननाभावेन तदन्तरा भावाः ततएव निराकृताः. जगत्कर्तृत्वेन तथात्वमिति ये मन्यन्ते[1] तन्मतेनाह अस्य **जनयित्र** इति. स्वयमजोऽन्येषां जननं करोतीति सर्वोत्तमत्वमपि सिद्ध्यति. आर्षज्ञानेन तथात्वमुच्यत इति नात्र प्रमाणं वक्तव्यं ब्रह्मैव वस्त्विति ब्रह्मवादे. तत्राप्याह ब्रह्मण इति, बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाच्च **ब्रह्म.** सर्वभवनसमर्थं वस्त्वित्यपि पक्षेणाह **अनन्तशक्तय** इति. आत्मवादेनाह **परे** ब्रह्मादयः **अवरे** अस्मदादयः तेषा**मात्मा** भगवान्. **भूतानि** जडानि तेषामप्यात्मा. जीवजडयोरात्मत्वमुपपाद्य अन्तर्यामित्वमाह परमात्मन्निति. अन्ते नमनं सर्वत्रानुषञ्जनार्थम् ।।२८।।

माहात्म्यमाह **त्वं वै सिसृ**क्षुरिति.

त्वं वै सिसृक्षू रज उत्कटं प्रभो

तमो निरोधाय बिभर्ष्यपावृतः।

स्थानाय सत्त्वं जगतो जगत्पते

कालः प्रधानं पुरुषो भवान् परः।।२९।।

सिसृक्षुः उत्कटं कार्योन्मुखं तथा सति तेनावृतः स्यादित्यत आह **अपावृत** इति, आवरणरहितः. **स्थानाय सत्त्वं बिभर्षि.** सर्व**त्रोत्कटं** विशेषणम्. अन्यो न तत्र प्रतिबन्धक इति वक्तुमाह **जगत्पत** इति. गुणानां नियामकास्त्रयःह्य क्षोभकः कालः, स्वरूपभूता प्रकृतिः, पुरुषो अधिष्ठाता; एतत् त्रयमपि भवानेव[2]. नापि

---

१. मन्यन्त इति क्वचित् नास्ति. २. भगवानिति पाठः.

तावन्मात्रं किन्तु तेषामपि परः ।।२९।।

एवं सर्वोत्तमत्वमुक्त्वा सर्वत्वमाह **अहमि**ति.

अहं पयो ज्योतिरथानिलो नभो

मात्राणि देवा दश इन्द्रियाणि च।

कर्ता महानित्यखिलं चराचरं

त्वय्यद्वितीये भगवन्नयं भ्रमः।।३०।।

तत्त्वानि कार्यं च भवानेवेत्यर्थः. **अहं** पृथिवी. **अथे**ति त्रिवृत्करणपक्षान्यत्वं बोधयति. **मात्राणि** रूपतन्मात्रादीनि **देवाः** दिग्वातादयः दश इन्द्रियाणि तथा. चकाराद् बुद्धिप्राणाः. **कर्ता** अहङ्कारः. **महान्** महत्तत्त्वम्. इतीति प्रकारवाची, समाप्तिवाची वा. **अखिल**मित्यस्यानुवादः **चराचरमि**ति. भिन्नतया प्रतीतिरेव भ्रान्तेति भेदोऽवश्यं कार्ये वक्तव्य इति **अखिल**मित्युभयत्र सम्बध्यते न्यूनाधिकदोषपरिहाराय. **अद्वितीये त्वयि** ''एकः सन् बहुधा विचार'' इत्यादिश्रुत्या भगवानेव सर्वरूपेण विचरतीत्युक्तत्वाद् भेदो भिन्नो नान्यः सम्भवति, तत्त्वादिनिरूपकाणां स्मार्तानां विचारकाणामपि भेदो हृदये [१]भासत इति. **अयं** सर्वोऽपि **भ्रमः** एवं परिगणनात्मकः, त्वामेव यतो बहुधा गणयन्तः गणितानां परस्परं भेदं मन्यन्त इति. वस्त्वन्तरत्वमेव भेदः ।।३०।।

एवं स्तुत्वा प्रार्थयते **तस्यात्मजोऽयमि**ति.

तस्यात्मजोऽयं तव पादपङ्कजं भीतः प्रपन्नार्तिहरोपसादितः ।

तत्पालयैनं कुरु हस्तपङ्कजं शिरस्यमुष्याखिलकल्मषापहम्।।३१।।

स्तोत्रेण सर्वेषामपराधाः परिहृताः, भ्रान्ता इति सर्वो भवानेवेति च. **आत्मज** इति. राज्यदानार्थं तत्पुत्रत्वं निरूप्यते. **तव पादपङ्कजं प्र**पन्न इति तस्मिन् स्नेहकरणार्थम्. **भीत** इति दयार्थम्. तथापि शत्रुर्मारणीय इत्याशङ्क्याह **प्रपन्नार्तिहरेति. उपसादितः** पादयोरागत्य पतितोऽस्ति, न तु त्वां विरुद्धं मन्यते. अनेन ''ये यथा मां प्रपद्यन्त'' इति विचारेणापि तस्मिन् कृपा विधेयेति निरूपितम्. तस्मात् **पालयेति** प्रार्थना. **एनमि**ति

---

१. भिद्यते.

प्रदर्श्याह. भार्यात्वात् सोऽपि पौत्र इति धाष्ट्र्यात् पुनर्विज्ञापनान्तरमाह **कुरु हस्तपङ्कजं शिरस्यमुष्येति**, यथा स्वस्य रक्षित इति [१]प्रतीतिर्भवति. ननु

वाक्येनापि भवति, को विशेषो हस्तस्पर्श इत्याशङ्क्याह **अखिलकल्मषापहमि**ति. कालत्रये त्रिविधान्यपि पापानि तस्मिन्न तिष्ठन्तीति हस्तपङ्कजमखिलकल्मषापहं भवति, स्वाधिकरणमेव तथा सम्पादयतीति. यद्यपि तत्पुत्रोऽपि दुष्टो मारणीयएव तथापि भूमिप्रार्थनया तदा न मारितः ।।३१।।

सर्वैः सर्वमेव प्रार्थ्यते, तथापि यद् यत्र[२] उचितं तदेव करोति, नान्यथा अणुमात्रमपीत्याह **इति भूम्ये**ति.

।।श्रीशुक उवाच।।

इति भूम्यार्चितो वाग्भिर्भगवान् भक्तिनम्रया ।

दत्वाऽभयं भौमगृहं प्राविशत् सकलर्द्धिमत्।।३२।।

वाग्भिः सह **अर्चितः** अर्चनद्रव्यैः. वाग्भिरेव वा, शिष्टं तस्यैवेति. बुद्धिं[३] तु भगवान् स्त्रियमिव[४] सर्वेभ्यो दत्तवान्. पुरञ्जनोपाख्याने तदुपपादितम्. तत्[५] सर्वजीवेषु भिन्नम्, अन्यथा प्रमाणानां वैयर्थ्यं[६] स्यात्. अतो बुद्धिदोषगुणान् पुरस्कृत्य यथोचितं करोतीति सर्वमविरुद्धम्. समयविशेषे लीलार्थं तथा बुद्धीनां निर्माणं, तदाह **भगवानि**ति. तथापि **भक्तिनम्र**या स्तुत इति **अभयमेव दत्वा** स्वगृहमेवेति **भौमगृहं प्राविशत्**. तत्र हेतुः **सकलर्द्धिमदि**ति. तत्पुत्रस्य प्राणाएव तस्मिन् समये रक्षणीया इति तथाकरणम्. अन्यथा

लेखः

इति भूम्येत्यत्र शिष्टमिति, वाण्याः स्वकीयत्वं व्युत्पादयन्ति. बुद्धिं त्विति, उपक्रमे भक्तिप्रवणाया धियः स्तुतौ करणत्वकथनाद् बुद्धिकार्यं स्तुतिरूपा वाण्यपि स्वकीयेति भावः. **तत्सर्वजीवेष्वि**ति, बुद्धिदानं भिन्नभिन्नप्रकारकमित्यर्थः. **तथाकरणमि**ति, प्राणमात्ररक्षार्थमभयदानमित्यर्थः. अन्यथेति, अन्येषां कन्यादीनां रक्षणे इत्यर्थः ।।३२।।

---

१. प्रीतिः. २. यदत्र. ३. बुद्धिस्तु. ४. स्त्रियमेव. ५. भगवद्दत्तं बुद्ध्यादिकमित्यर्थः.

६. बुद्धेः एकरूपत्वे विचित्रफलबोधकमानानां तथात्वं स्यादित्यर्थः.

तावतीनां कन्यानां वैयर्थ्यं स्यात्, तदुपार्जितसर्वग्रहणएव तस्यापहारदोषपरिहारो भवतीति ।।३२।।

तथापि कन्यानां स्वत एव वरणमाह तत्रेति.

तत्र राजन्यकन्यानां षट्सहस्राधिकायुतम् ।

समाहृतानां विक्रम्य राजभ्यो ददृशे हरिः।।३३।।

यतो राजन्यकन्याः सजातीयं रूपं वीर्यं चापेक्षन्ते. **अयुतं षट् सहस्राणि** च. षोडशकलानां सहस्रधा [१]तत्तदधिष्ठात्र्यो देवताः[१] भूमौ प्रतिष्ठिता इति भूमिजेनाहृताः भगवत्प्रेरणया भ्रमात्[२]. तदैव च तावत्यः सम्पन्नाः. एता द्विस्वभावा[३] इति ज्ञापयितुं सङ्ख्याद्वयेन निर्दिष्टाः **षट्सहस्राण्ययुतं** चेति. **तत्राधिकपदं** षट्सहस्राणामुत्तमत्वाय[४]. ता ह्यप्सरसो देवतात्वात् तद्रूपेण क्रीडार्थं जाताः. ता आदावष्टावक्त्रं स्तुत्वा पश्चादुपहसितवत्य इति ज्ञापयितुं द्विस्वभावत्वं निरूपितम्. अत एवादावन्ते च ऋषिकोपाद् दुःखप्राप्तिः, प्रसादाद् वरणे[५] बुद्धिः. **राजभ्यो विक्रम्य समाहृतानामि**ति बलादानयनमुक्तम्, ''सर्वान् बलकृतानर्थानकृतान् मनुरब्रवीदि''ति ज्ञापयितुम्. हरिस्तासां दुःखहर्ता तथात्वाय **ददृशे** ।।३३।।

वरणमाह.

तं प्रविष्टं स्त्रियो वीक्ष्य नरवर्यं विमोहिताः ।

मनसा वव्रिरेऽभीष्टं पतिं दैवोपसादितम्।।३४।।

तं **प्रविष्टमि**ति, प्रकर्षेण स्वनिकटे समागच्छन्तम्. यतः **स्त्रियः,** स्त्रीभिरवश्यं पतिर्वरणीय इति. तथापि भगवान् पुरुषोत्तमः कथं वृत इत्याशङ्क्याह **नरवर्यमि**ति, नराकृतित्वं; स्त्रीणां प्रियाकृतिं च गृहीतवानिति. यतो विमोहिताः

लेखः

तथापीति, यद्यप्यपहारदोषपरिहारार्थं भगवता वरणं कर्तव्यमेव तथापीत्यर्थः. **वरणमाहे**ति, मानसं वाचिकं चाग्रिमाभ्यां तद्धेतुं चाद्येन ह्यएवं त्रिभिः श्लोकैराहेत्यर्थः.

१-१. तत्तदाहृता इति पाठः. २. भ्रमवान्. ३. एतासां प्रथमत एव प्रचुरकामभाव-तदनुगुणसर्वात्मभावाभ्यां द्विस्वभावत्वं ज्ञेयम्. ४. शास्त्रोक्तानेकप्रकारवत्त्वादत्रोत्तमत्वमिति भावः. ५. वरेण.

निरुद्धत्वाद् भयेन न कायेन वरणम्. **अभीष्टमि**ति पूर्वमपि तथैव भावनया स्थिताः. पतित्वेनैव वरणम्. **दैवोपसादितमि**ति समये प्राप्ते एतादृशे वरणमावश्यकमिति ज्ञापयति, तेन युक्तमेव. यथा पित्रा निकटे वरणार्थं वर आनीयते एवं दैवेनानीतः ।।३४।।

तासां मनोरथवाक्यमाह **भूयात् पतिरि**ति.

भूयात् पतिरयं मह्यं धाता तदनुमोदताम् ।

इति सर्वाः पृथक् कृष्णे भावेन हृदयं दधुः।।३५।।

मह्यमिति प्रत्येकम्. ब्रह्माण्डे संवत्सरात्मकस्य प्रजापतेरधिकारो दत्त इति तदनङ्गीकारे पितुराज्ञाभाव इव वरणं न सम्भवतीति तदनुज्ञां प्रार्थयन्ति **धाता तदनुमोदतामि**ति. सर्वासामेकएव भावः. स तु **पृथक्,** न तु प्रत्येकपर्यवसायी. **कृष्ण** इति, तासां प्रियः **भावेन** आकाङ्क्षया **पतिरयं** भवत्विति श्रद्धया वा रसाधारभूतभावेन **वा हृदयं दधुरि**ति तत्रैव स्थिरीकृतवत्यः ।।३५।।

शरीरमतः परं भावाधिष्ठानं भगवदीयं कर्तुं तासामशक्तिरिति भगवांस्तत्सम्पादितवानित्याह **ताः प्राहिणोदि**ति.

ताः प्राहिणोद् द्वारवतीं सुमृष्टविरजोऽम्बरैः।

नरयानैर्महाकोशं रथाश्वद्रविणं महत् ।।३६।।

द्वारवतीमिति तासामभिलषितार्थस्थानं; द्वारं हि तद् भगवत्स्थानगमने. **सुमृष्टविरजोऽम्बरैः** कृत्वा **नरयानैर्दो**लाभिः. न केवलं स्त्रीरत्नान्येव प्रेषितवान् किन्त्वन्यान्यपि रत्नानीति वक्तुमाह **महाकोशमि**ति, महान्तं रत्नादिकोशम्. **रथाश्वद्रविणमिति** त्रिविधमुत्तमं धनं **प्रेषयामासे**ति सम्बन्धः. तेषामपि प्रेषणे हेतुः **महदि**ति, महदन्यत्र स्थापितमल्पस्यानिष्टं करोतीति ।।३६।।

विशेषतः स्वार्थमेव गजान् प्रेषितवानित्याह.

ऐरावतकुलेभांश्च चतुर्दन्तांस्तरस्विनः ।

पाण्डुरांश्च चतु:षष्टिं प्रेषयामास केशवः।।३७।।

ऐरावतकुलेभांश्चेति यस्मिन् कुले ऐरावत उत्पन्नः तत्कुलोत्पन्नाः. तेषामितरवैलक्षण्यमाहद्व **चतुर्दन्तानिति** [१]रूपवैलक्षण्यं **तरस्विन** इति स्वभाववैलक्षण्यं च. चकारादुच्चैःश्रवसः कुलप्रसूतान् अश्वानपि प्रेषयामासेति. **पाण्डुरानन्यांश्च**. चतुर्दन्तत्वं वेगवत्त्वं च मृगादिजातिष्वपि वर्तत इति तद्व्यावृत्त्यर्थं पाण्डुरत्वम्. अन्येऽप्येतादृशाएव, तैः सह निर्दिष्टत्वात् परमं वैजात्यं भेदकम्[२]. तत्र दन्तादिषु वैलक्षण्यं कल्प्यम्. **चतु:षष्टिमि**ति कलारूपत्वं तेषां बोधितम्. **केशव** इति. महादेवभक्तत्वात् तद्वरेणैतावत्त्वं तस्य जातमिति कदाचिन्महादेवोऽतुष्टो भवेदित्याशङ्क्याह **केशव** इति, केशयोरपि सेव्यः ।।३७।।

ततस्तत्रत्यं कार्यं कृत्वा यदर्थमागत इन्द्रप्रेरणया तत्कृतवानित्याह **गत्वे**ति.

गत्वा सुरेन्द्रभवनं दत्वादित्यै च कुण्डले ।

पूजितस्त्रिदशेन्द्रेण सहेन्द्राण्या च सप्रियः।।३८।।

सुरेन्द्रभवनं स्वर्गस्थानं, तत्रैव स्थितायै **अदित्यै कुण्डले दत्वा.** अदित्याः भोगरूपं तत्रास्ते. क्रियारूपा त्वंशेन देवकी जाता. चकारादिन्द्रायापि छत्रादिकं दत्तवान्. त**तस्त्रिदशेन्द्रेण पूजितः. त्रिदश**पदं तेषां जरामृत्युरहितानामिन्द्रेण तेभ्योऽपि परमैश्वर्यदानसमर्थेन स्वामित्वेन पूजित इति भगवदुत्कर्षः सत्यभामायै प्रदर्शितः. सभार्यो भगवान् गत इति सभार्येणैव पूजितः. अन्यथा लोके विरुद्धमिव भवेत्, पूजायां सत्यभामाया वा न प्रवेशः स्यात्. चकाराद् देवैः देवपत्नीभिश्च. ननु भगवान् सर्वेश्वर इतीन्द्रादिभिः पूज्यते, सत्यभामा कथं पूजितेत्याशङ्क्याह **सप्रिय** इति, प्रियया सहितः. भगवत्प्रियत्वात् सापि पूजिता, अन्यथा भगवान् प्रीतो न भवतीति ।।३८।।

ततः स्त्रीगोष्ठ्यां शच्या सह वार्तायां पारिजातपुष्पाकाङ्क्षायां मनुष्यत्वेन

लेखः

ऐरावतेत्यत्र अन्येपीति, पाण्डुरेभ्योऽन्ये श्यामा गजा अपि तरस्विन इत्यर्थः. **तत्र दन्तादिष्वि**ति, मृगादिषु चतुर्दन्तत्वेऽपि दन्तादिषु गजाद् वैलक्षण्यमित्यर्थः ।।३७।।

१. स्वरूपवैलक्षण्यम्. २. भेदकं च.

शच्या अपकर्षे निरूपिते बहिर्मुखाया वचनमसहमानया प्रार्थितो भगवान् पारिजातमानीतवानित्याह **नोदित** इति.

नोदितो भार्ययोत्पाट्य पारिजातं गरुत्मति ।

आरोप्य सेन्द्रान् विबुधान्निर्जित्योपानयत् पुरम्।।३९।।

ततो भगवान् पारिजातसमीपे गत्वा सभार्यो गरुडारूढः तं **पारिजातमुत्पाट्य** [१]नरकगृहवत् तत्रापि भगवति विद्यमाने सर्वोत्कृष्टं स्थातुमयुक्तमिति तत्पुनर्गरुडे **समारोप्य** सोम इव भूमावानीतवान्. तद् इन्द्रादीनामनभिप्रेतमिति सेवका लीलानुसारेणैव स्वामिनः स्वकार्यं कर्तुं युक्ता इति सिद्धान्तमज्ञात्वा अस्मभ्यं दत्तं कथं हरतीति समागता युद्धं कर्तुम्. तदा **सेन्द्रान् विबुधान्** जित्वा तेषां प्रतिबन्धं निराकृत्य **पुरं** द्वारका**मुपानयत्,** नतु मध्ये त्यक्त्वा समागतो, दत्वा वा प्रार्थनायां कदाचिन्नानयेत्. मतान्तरभाषेयमिति पूर्वमेवावोचाम ।।३९।।

ततः स्त्रीवाक्यात् स्त्र्यर्थमेव तत्समानीतमिति ज्ञापयितुं सत्यभामाया गृहे स्थापितवानित्याह **स्थापित** इति.

स्थापितः सत्यभामाया गृहोद्यानोपशोभनः ।

अन्वगुर्भ्रमराः स्वर्गात् तद्गन्धासवलम्पटाः।।४०।।

गृहमुद्यानं च उप समीपे शोभयतीति, उभयोः शोभनं वा यस्मादिति **गृहोद्यानोपशोभनः** गृहोद्यानयोर्मध्ये स्थापितः. तस्य पारिजातस्य सर्वोत्कर्षमाह **अन्वगुर्भ्रमराः स्वर्गा**दिति. स्वर्गमपि परित्यज्य **तस्य यो गन्धः आसवः,** रसश्च गन्धएव वा, आसवो मादकः, **तस्मिन् लम्पटाः** विवेकेनापि तत्त्यागासमर्थाः. किञ्च नाम्ना ते भ्रममरणयुक्ताः, स्वर्गे तु तदुभयाभावः, तथापि समागता इति विषयोत्कर्ष उक्तः ।।४०।।

अस्मिन्नपि मते भगवत्कृतमेव युक्तं नत्विन्द्रकृतमिति तत्कृतं निन्दति

लेखः

ययाच इत्यस्याभासे **अस्मिन्नपि मते** इति, मतान्तरभाषायामपीत्यर्थः ।।४१।।

१. नरकवदिति पाठः.

ययाच इति.

ययाच आनम्य किरीटकोटिभिः

पादौ स्पृशन्नच्युतमर्थसाधनम्।

सिद्धार्थ एतेन विगृह्यते महान्

अहो सुराणां च तमो धिगाढ्यताम्।।४१।।

य इन्द्रः **अच्युतमर्थसाधनं ययाचे,** पश्चात् **सिद्धार्थः** सन् अर्थसाधकेनैव विगृह्यते. प्रसङ्गाद्याचनं वारयति आनम्येति प्रार्थनारूपम्. ननु मान्यः नमस्कृत्य याच्यते प्रसङ्ग इति, तत्राह **किरीटकोटिभिः पादौ स्पृशन्नि**ति, स्वापकर्षं भावयन्नपि ययाचे. किञ्च स्वयमसमर्थः भगवान् समर्थः नरकं हन्तुमिति जानन् तथा प्रार्थितवानिति अभिप्रायं द्योतयति **अच्युतमिति. अर्थस्य साधनं** [१]**यस्मादि**ति तस्मादेव कार्यसिद्धिः. समर्थोऽपि नान्यः कार्यं करोति. एवं महत्त्वेन भगवन्तं ज्ञात्वापि, पराक्रमं दृष्ट्वापि, स्वयं महानपि विगृह्यते. ननु कथं कारणविरुद्धं कार्यम्? तत्राह **अहो** इति. तथाप्युपपत्तिर्वक्तव्येति चेत्, तत्राह **सुराणां च तम** इति. सात्त्विकानां ज्ञानप्रधानानां केवलतमोरूपमज्ञानमिति. विरुद्धमनूद्य अर्थाद् आढ्यताहेतुत्वेन निरुच्यते. अत एव तां निन्दति **धिगाढ्यतामि**ति. श्रीसम्पत्तिरेवाज्ञानमूलमप्रतिहतं नत्वन्यत्, तत्र सुरत्वादिकं[२] बाधकमित्यर्थः ।।४१।।

शौर्यावेशं परित्यज्य कामावेशेन, अनन्तरूपत्वात् कामस्य, तत्तत्पूरकरूपेण तासु विवाह-रति-मानानि सम्पादितनवानित्याह त्रिभिः अथो इति.

अथो मुहूर्त एकस्मिन्नानागारेषु ताः स्त्रियः।

यथोपयेमे भगवांस्तावद्रूपधरोऽव्ययः।।४२।।

एकस्मिन्नेव मुहूर्ते सर्वतः समानफलत्वाय, कामनायास्तथात्वात्. **नानागारेषु ताः** स्थापयित्वा यथाव**दुपयेमे.** दृष्टिभ्रमादिपक्षान् वारयितुमाह **तावद्रूपधर** इति. तत्र सामर्थ्यं **भगवानि**ति. रूपाणामप्यविकृतत्वाय **अव्यय** इति. **यथा** गृह्योक्तप्रकारेण ।।४२।।

विवाहमुक्त्वा रमणमाह **गृहेष्वि**ति.

१. नरकवधादित्यर्थः. २. तत्त्वादिकं बाधकमिति पाठः.

गृहेषु तासामनपाय्यतर्क्यकृत्

निरस्तसाम्यातिशयेष्ववस्थितः।

रेमे रमाभिर्निजकामसम्प्लुतो

यथेतरो गार्ह(क)मेधिकांश्चरन्।।४३।।

तासां गृहेषु अनपायी नित्यं तिष्ठति. ता हि प्रमाणस्थकामानुसारेण न विवाहिताः किन्तु प्रमेयस्थानुसारेण. स हि पुष्टः निरन्तरश्च नित्यरमणात्मकः, अतो विवाहक्षणमारभ्य यावत्स्थिति नित्यरमणमेव तासु कृतवान्. विधिपरिपालनार्थमेव दशपुत्रोत्पादनं, तदत्र न वक्तव्यं, कामप्राधान्याद्, उत्पादने हि कामः क्षीयत इति. ननु निरन्तररमणे बहूनि दूषणानिह्न कार्यान्तरे व्याघातः, लोकानां सन्देहोत्पत्तिः, परस्परं तासामन्योन्यगोष्ठ्यां सन्देहः, तत्राह **अतर्क्यकृद**िति. यथा न कोऽपि तर्क उत्पद्यते कस्यापि तथा करोति. लोकप्रतीतिमेव विरोधेऽन्यथा जनयति. बहून्येव रूपाणीति केनचिद्रूपेणान्यत्रापि गच्छति. परमत्र विशेषकार्यं न करोति. अतः शाल्वादिषु विद्यमानोऽपि न युद्धं कृतवान्. कामार्थमेव स्थित इति कामसम्पत्त्यर्थं गृहान् वर्णयति **निरस्तसाम्यातिशयेष्वि**ति. स्वर्गादिष्वपि (न[१]) महिषीगृहाणां साम्यमतिशयो वा क्वचिदप्यस्ति. स्वयं **चावस्थितः** स्थिरः. वैयग्र्ये अस्थैर्ये च संततः कामः बाधितः स्यात्. एवं सर्वोपपत्तौ ताभिः सह रेमे. ननु भगवान् निरिन्द्रियः ब्रह्मानन्दरूपायां लक्ष्म्यामेव रमते, नत्वन्यत्रेति कथं रमणमित्याशङ्क्याह **रमाभिरि**ति. यावन्ति भगवद्रूपाणि तावन्त्येव लक्ष्मीः करोतीति तासु लक्ष्म्यास्तावतां रूपाणामावेशः. एवं करणे हेतुः **निजकामेन**

लेखः

गृहेष्वित्यत्र प्रमाणस्थेति. ''एवं व्यवायः प्रजया न रत्यै'' इत्यत्र प्रजार्थं तदङ्गत्वेन कामः सम्पादनीय इत्युक्तम्. अयं प्रमाणस्थः कामः. भोगार्थकः कामः प्रमेयस्थः. तथाच प्रजार्थं न विवाहिताः, अष्टभिरेव महिषीभिस्तत्सिद्धेः, किन्तु नानाविधविलासार्थं विवाहिता इत्यर्थः ।।४३।।

---

१. (न)चिह्नान्तर्गतः पाठः श्रीपुरुषोत्तमैः सूचितः, अन्यैस्तु क्वचिदप्यस्तीत्यत्र ''नास्तीत्यर्थः'' इति टिप्पणं कृतम्.

सम्प्लुत इति. सेनायामागतायां कामोऽप्याविर्भूतः. जीवकामव्युदासार्थं निजपदम्. एवं सति तासां सङ्कल्पो न सिध्येदित्याशङ्क्याह **यथेतर** इति. केवलप्राकृतत्वं वारयति **गार्हमेधिकांश्चरन्नि**ति, गृहमेधिधर्मानाचरन् श्रौतान् स्मार्तांश्च ।।४३।।

तासां मानसम्पत्तिं कृतवानित्याह इत्थमिति. अथवा द्वाभ्यां भगवच्चरित्रमुक्तम्. तथाकरणानन्तरं ताभिरप्येकं कामरसेन कृतम् एकं तु भक्त्येत्याह द्वाभ्याम् **इत्थमि**ति.

इत्थं रमापतिमवाप्य पतिं स्त्रियस्ता।
ब्रह्मादयोऽपि न विदुः पदवीं यदीयाम्।।
भेजुर्मुदाऽविरतमेधितयानुराग-
हासावलोक-नवसङ्गमजल्पलज्जाः।।४४।।

रमायाएव भगवान् **पतिः,** नत्वन्यासाम्. तद्दासाः जीवाएव अन्यासाम्. तं पतिं स्वयमवाप्य. पूर्वं बन्द्या गृहीतास्ताः, बन्दिग्रहणं तासामुपकारायैव जातमिति. **अविरतमेधितया मुदा** भगवन्तं **भेजुरि**ति सम्बन्धः. निरन्तरं सेवितवत्यः. ननु किमाश्चर्यं, स्त्रियो हि भर्तृसेवां कुर्वन्त्येवेति चेत्, तत्राह **ब्रह्मादयोऽपि न विदुः पदवीं यदीयामि**ति. मार्गमेव भगवतो न जानन्ति, कुतः सेवां करिष्यन्ति? अभिप्रेता हि सेवा कर्तव्या. अभिप्रायस्तु दुर्गमः. तदपि ज्ञात्वा सेवां कृतवत्य इत्यलौकिकं बोध्यते. तत्रापि न विधिकिङ्करतया किन्तु मुदा. औत्सुक्यान्मुदः प्रवृत्तिं वारयति **अविरतमेधितये**ति. भगवति तासां षड्भावानाह **अनुरागे**ति. अन्यथा भक्तिरसएव स्यात्, न कामरसः. प्रथमतोऽनुरागः चित्ते. ततो हासः भावप्राकट्यम्. ततोऽव**लोकनं** दृष्ट्या सङ्गः. ततो **नवसङ्गमो** नित्यं, नित्यनूतनत्वाद् भगवतः. ततो **जल्पाः** नानविधाः कथाः. तत उत्थितानां **लज्जा** कुलवधुभावप्राकट्यम्. अन्यथा अगुप्तो रसः रसाभासः स्यात्. **जातलज्जा** इति पाठः सुगमश्चिन्त्यः ।।४४।।

कामकृतमुक्त्वा भक्तिकृतमाह **प्रत्युद्गमे**ति.

प्रत्युद्गमासन-वरार्हण-पादशौच-
ताम्बूल-विश्रमण-वीजन-गन्धमाल्यैः।

लेखः

इत्थमित्यत्र **जल्पलज्जा** इत्यर्शआद्यजन्तम् ।।४४।।

केशप्रसार–शयनस्नपनोपहार्यै–

दासीशता अपि विभोर्विदधुः स्म दास्यम्।।४५।।

।।इति श्रीमद्भागवत–दशमस्कन्धे षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।

दूरादागच्छन्तं दृष्ट्वा यथाकथञ्चिदपि स्थिताः **प्रत्युद्गता** भवन्ति अग्रे गच्छन्ति. तत **आसनं** भगवते प्रयच्छन्ति. ततो **वरार्हणम**भीष्टं कुर्वन्ति यदाज्ञापयति. वरस्य वा विवाहसमये समागतस्य यथोपचाराः क्रियन्ते मधुपर्कादिः पाणिग्रहणादिर्वा. ततः **पाद**प्रक्षालनं तत**स्ताम्बूल**दानं ततो **विश्रमणं** पादसंवाहनं ततो **वीजनं** व्यजनादिभिः, ततो **गन्धमाल्या**दिदानम्. ततः स्वेच्छयोपविष्टस्य माल्यादिग्रथनार्थं **केशप्रसारः,** ततः **शयनम्,** ततः कामे तृप्ते स्नपनम्, तत उपहारः भक्ष्यभोज्यादिदानम्. कामार्थमेव हि स्त्रीगृहे गमनं नतु भोजनार्थम्, अतः कामानन्तरमेव भोजनं युक्तम्, अन्यथोभयमपि विरसं स्यात्. एवं द्वादशधोपचाराः प्रत्यहं कर्तव्याः, द्वादशधा मनसो वृत्तिपूरणार्थम्. एवं करणे तासां क्लेशात् रसोत्पादकता न स्यादित्याशङ्क्याह **दासीशता**[१] अपीति. अतस्ताभिः सुसंस्कृताः भगवतो दास्यं विदधुः. क्लिष्टो भगवानेताभिरेवं[२] सेवित इति सापेक्षसेवां कश्चिद् ब्रूयात्, तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **विभोरि**ति, सर्वतः समर्थस्य. एवं सर्वासां विवाहावधिसेवान्ताः[३] क्रिया निरूपिताः. मानापनोदनादिकं तु वक्तव्यं, तदुत्तराध्याये रुक्मिण्यामुक्त्वा सर्वत्रातिदेशं वक्ष्यति. यदैव भगवान् यस्मिन्नंशे तिरोहित इव भवति तत्रैव भगवत्कृतसंमाननात् मान उत्पद्यत इति स्थितिः ।।४५।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे दशमोऽध्यायः।।

लेखः

प्रत्युद्गमेत्यस्य व्याख्यानान्ते. पूर्वं''मथो मुहूर्ते'' इत्यस्याभासे अन्त्यश्लोकयोर्मानं वाक्यार्थ इत्युक्तं तद् व्युत्पादयन्ति य**दैव भगवानि**ति ।।४५।। इति दशमाध्यायव्याख्या।।

।।इति षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।

१.दासीनां शतं यासामिति समासः. २.तैरेवमिति प्रभूणां पुस्तके पाठः. ३.विवाहा विधिसेवान्ता इति पाठः.

।।चतुर्थो स्कन्धादितः सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।

वाचिकस्तु तिरोभावो रुक्मिण्यामुच्यते स्फुटः।
एकादशे निरोधार्थमन्यथा लौकिकं भवेत्।।(१)।।
सर्वथा कृतसेवायाः परीक्षापि निरूप्यते।
यथा प्राणे शरीरस्य स्थितिस्तद्वद्यथा भवेत्।।(२)।।
सान्त्वनं कायिकं त्वत्र निःसम्बन्धाद्यतो भयम्।
दोषाभावाय वाक्यं तु ईर्ष्या-मात्सर्यदोषनुत्।।(३)।।
निर्दुष्टायाः परिज्ञानमविरोधस्य वर्णनात्।
निरूप्यते यतः सा हि न कुतश्चिद् भ्रमं भजेत्।।(४)।।
शब्दार्थयोर्विरोधः स्यात् प्रामाण्ये सर्वथैव हि।
लक्षणायामपि तथा मुख्यार्थो बाधितो यतः।।(५)।।
अतो हि भगवद्वाक्यं दुर्ज्ञेयं सर्वथा मतम्।
यस्त्वेतस्य परिज्ञाता स न मुह्यति कर्हिचित्।।(६)।।

लेखः

एकादशे **यथा प्राणे** इति. **प्राणे** सति **यथा शरीरस्य स्थितिर्भव**ति **तद्वत्** सेवायां सत्यां रुक्मिण्याः शरीरस्य स्थितिरिति ज्ञानं यथा स्यात् तदर्थं **परीक्षा निरूप्यते** इत्यर्थः (२).

ननु वाचिकतिरोधाने **वाचैव** सान्त्वनमुचितम्, अतः ''पर्यङ्कादवरुह्याशु'' इत्यनेन कायिकसान्त्वनं कुतः कृतवानित्यत आहुः **सान्त्वनमि**ति. **यतो** हेतो**र्निःसम्बन्धसम्भावनया भयम्**. सम्बन्धश्चात्र कायिको, नतु वाचिकमात्ररूपः, त्रिविधविवाहस्य पूर्वमुक्तत्वात्. अतो दशम्यवस्थारूपदोषाभावाय **सान्त्वनं कायिकं** कृतवानित्यर्थः. तर्हि पूर्वमेव ''राजपुत्री''त्यादिवाक्यं किमर्थमुक्तवानित्यत आहुः वाक्यं त्विति. तर्हि दोषराहित्यं कथं ज्ञातं भवेदित्यत आहुः निर्दुष्टाया इति. भगवद्वाक्ये**ष्वविरोधस्य वर्णनाद्धेतोर्निर्दुष्टायाः परिज्ञानं निरूप्यते. यतो** हेतोः **सा** निर्दुष्टैव भगवद्वाक्येषु **भ्रमं न भजेत्**. निर्दुष्टाया एव भ्रमाभावो युक्त इति **हि**शब्दः. भ्रमस्वरूपमाहुः **शब्दार्थयोरि**ति (३-५).

पूर्वाध्यायान्ते सर्वभावेन स्त्रीणां सेवा निरूपिता. तस्याः परीक्षार्थमिदमारभ्यते. तत्र प्रथमं पूर्वषट्के निष्पन्ने उत्तरादिरूपं वीजनमाह **कर्हिचिदि**ति.

।।श्रीशुक उवाच।।

कर्हिचित् सुखमासीनं स्वतल्पस्थं जगद्गुरुम्।

पतिं पर्यचरद् भैष्मी व्यजनेन सखीजनैः ।।१।।

सुखमासीनमिति विश्रमान्ता सेवा निरूपिता. **स्वतल्पस्थमि**ति अग्रिमावश्यकत्वं निरूपितम्. कदाचिद् भगवान् रुक्मिण्या गृहे सभातः उत्थाय रात्रौ समागतः. ततः प्रत्युद्गमनादिप्रकारेण[1] स्वशय्यायामेवोपवेशितः. कामकलापूर्णं च तद्गृहं, तत्पित्रादिभिः प्रायेण तत्सुखार्थं सामग्री प्रेषितेति लक्ष्यते. अन्यथा भगवान् स्वदत्तायां सामग्र्यां नैवं वदेत्. सापि भावज्ञा नैवमभिमानेन सेवां कर्तुं प्रवर्तेत, अतोऽनभिप्रेतमेव स्वशय्यायां दीनभावमकृत्वा उपवेशितवती. भगवांश्च कथं तथा वदतीत्याशङ्कायामाह **जगद्गुरुमि**ति. स हि सर्वोपदेष्टा. भ्रमादन्यथाबुद्धौ जातायां तन्निवारणीयमिति जगद्गुरोः कार्यमेव तत्. पतित्वान्निःशङ्कं **पर्यचरत्. भैष्मीत्वात्** साभिमाना. **व्यजनेने**ति स्वयं व्यजनं गृहीत्वा. सखीजनैः सहिता स्वोत्कर्षबुद्ध्या ता अपि स्थापितवती ।।१।।

ननु तथापि सन्तोषे दुःखजननमयुक्तमिति चेत्, तत्राह **यस्त्वेतदि**ति.

यस्त्वेतल्लीलया विश्वं सृजत्यत्त्यवतीश्वरः।

स हि जातः स्वसेतूनां गोपीथाय यदुष्वजः।।२।।

उभयथापि भगवतो नैवंकरणे दोषः. आदावुत्पत्तिस्थितिप्रलयकर्ता. यथोत्पत्तिं हर्षादेः करोति स्थितिं वा तथा प्रलयमपि करोतीति हर्षादेर्नाशनं भगवत्कार्यमेव. किञ्च भगवान् **स्वसेतूनां** स्वकृतमर्यादानां धर्मादीनां **गोपीथाय**

लेखः

कर्हिचिदित्यस्याभासे **तत्र प्रथममि**ति. वीजनकथनेन प्रत्युद्गमादिषट्कमप्युक्तमेव, तदेव **सुखमासीनमित्यनेनानूदितमिति** भावः ।।१।।

---

१. प्रत्युद्गमनादिनेति पाठः.

रक्षणार्थमेवावतीर्णः, अन्यथा **अजस्य यादवेष्वव**तारो नोपपद्येत. ननु प्रलये कश्चन भगवत उद्योगो दृश्यते, समयश्च तादृश इति[१] चेत्, तत्राह लीलयेति. न तस्य उत्पत्त्यादिकरणे किञ्चित्साधनं मृग्यते किन्तु **लीलयै**व करोति. नापि **यदोः** पुष्टिस्थस्य विहितकालाद्यपेक्षा. नापि स्वभावमप्यन्यथाकृत्वा समागतस्य यदर्थमागतस्तत्करणमयुक्तं भवति ।।२।।

तर्हि देशवशात् कालवशाद्वा भगवांस्तथोक्तवानित्याशङ्क्य गृहं वर्णयति **तस्मिन्नन्तर्गृह** इति, तां च रसाधिकरणभूतां, षड्भिश्चतुर्भिर्द्वाभ्यां च.

तस्मिन्नन्तर्गृहे भ्राजन्मुक्तादामविलम्बिना।
विराजिते वितानेन दीपैर्मणिमयैरपि।।३।।
मल्लिकादामभिः पुष्पैर्द्विरेफकुलनादिते।
जालरन्ध्रप्रविष्टैश्च गोभिश्चन्द्रमसोऽरुणैः।।४।।
पारिजातवनामोद–वायुनोद्यानशालिना।
धूपैरगरुजै राजन् जालरन्ध्रविनिर्गतैः।।५।।

गृहमध्य इत्येकान्तता. तत्रापि **तस्मिन्निति** प्रसिद्धिः. तेन तत् कामस्थानमेव, नतु क्रोधादिस्थानम्. आदौ तस्योपरि शोभां वर्णयतिह्व **भ्राजन्मुक्तादाम्नां विलम्बनयुक्तेन वितानेन** चन्द्रातपेन **विराजिते.** परितो विलम्बीनि मुक्तादामानि यस्मिंश्चन्द्रातपे तेन विराजितं कामस्थानमेव भवति. **मणिमयैरपि दीपैः** परितो **विराजिते. मल्लिकादामभिः** केवलपुष्पैश्च सर्वतः. शृङ्गाररसानुभावकमाह **द्विरेफकुलानां नादितं य**त्रेति. **द्विरेफाणां वा कलं नादितम्.** चन्द्रोऽप्यत्यन्तमुद्बोधक इति तत्किरणानामन्तःप्रवेशमाह **जालरन्ध्रप्रविष्टैश्चेति. चन्द्रमसः अरुणै**रुदयकालीनैः किरणै रागयुक्तैः गवाक्षमार्गेणान्तःप्रविष्टैः **विराजि**ते. अलौकिकोद्बोधकमाह.

लेखः

तस्मिन्नन्तर्गृह इत्यस्याभासे **देशवशादि**ति, गृहमुत्तमं नास्तीत्यर्थः. एतत्परिहारार्थं गृहवर्णनम्. तस्यावर्णनेन परिहार्यामाशङ्कामाहुः **कालवशादि**ति. तस्या वयो भोगयोग्यतासम्पादकं जातं नास्तीत्यर्थः. **पारिजातेत्यत्र पूर्वप्रेषिते**ति.

---

१. इत्यनन्तरं ‘‘नत्वयं समयस्तादृश’’ इतीत्यधिकं क्वचिद् दृश्यते.

पारिजातकवृक्षाणां; पूर्वप्रेषितपारिजात-कल्पवृक्षस्य पोता: सर्वत्र स्थापिता **वनप्राया** जाता:, ते तस्य गृहस्य परितो वर्तन्त इति गवाक्षादिमार्गेण **तदामोद**युक्तो **वायुरपि** तत्र प्रविष्ट:, तेनापि विराजिते. तस्य शैत्यं मान्द्यं च वर्णयितुमाह **उद्यानशालिने**ति. उद्याने वाप्य: निर्झराश्च सन्ति. तत्रापि उद्यानं शाला यस्य, तेन मन्दतापि समायाति. सहजान्युद्बोधकान्युक्त्वा कृत्रिमान्याह **धूपैरिति. अगरुजै**: अगरुयुक्त-नानाविधद्रव्योद्भूतै:. **राजन्नि**ति विश्वासार्थम्. अन्त:स्थापित: स धूम:, नतु बहिष्ठोऽन्त:प्रविष्ट इति ज्ञापयितुं विशेषणमाह **जालरन्ध्रविनिर्गतैरि**ति ।।३-५।।

अध:शोभामाह पय:फेननिभ इति.

पय:फेननिभे शुभ्रे पर्यङ्के कशिपूत्तमे ।

उपतस्थे सुखासीनं जगतामीश्वरं पतिम्।।६।।

पय:फेनस्य निरन्तरमुच्छूनता विचित्रता शुभ्रता च. सूत्रोपनिबद्धं मध्ये परितो दन्तैर्हीरकैश्च निर्मितम्, तेन शुभ्रम्. **कशिपुना सुतरामुत्तमम्.** एवं सामग्रीं वर्णयित्वा रसदातारं भगवन्तं तत्र स्थितं वर्णयति. तत्र सुखं **यथा भवति तथा आसीनम्.** लोकवेदशङ्काभावार्थं विशेषणद्वयं **जगतामीश्वरं पतिमिति** ।।६।।

कुलवधूत्वादीश्वरत्वाच्च स्वत:प्रवृत्तिरयुक्तेति निकटे स्वयं स्थितेत्याह **वालव्यजनमादाये**ति.

वालव्यजनमादाय रत्नदण्डं सखीकरात् ।

तेन वीजयती देवी उपासांचक्र ईश्वरम्।।७।।

चमरी **वालस्य व्यजनं, रत्नानि दण्डे यस्य.** अनेन दासीत्वं स्वस्य प्रकाशितं, नतु नायिकात्वं, तथा सति धाष्टर्च्यं भविष्यतीति. पूर्वं सख्या हस्ते तत् स्थितम्, तदपि नापकर्षजनकमिति तस्य वर्णनम्. भगवति विलम्बमाने सखीहस्तात् स्वयं गृहीतवती **तेन वीजयती जाता;** तदप्युद्बोधकम्.

लेख:

आद्येऽध्याये ''सुधर्मां पारिजातं चे''त्यत्रोक्तस्येत्यर्थ:. **उद्यानं शाला यस्ये**ति मत्वर्थीयविवरणं नतु बहुव्रीहि: ।।३-५।।

सेवया ईश्वर: परितुष्यतीति तदपि कृतवतीत्याह उपासांचक्र इति. सेवनरूपं निकटेऽवस्थानमुपासनम् ।।७।।

मुख्य आलम्बनविभाव इति तां वर्णयति **सोपाच्युतमि**ति.

सोपाच्युतं क्वणयती कलनूपुराभ्यां

रेजेऽङ्गुलीय-वलय-व्यजनाग्र्यहस्ता।

वस्त्रान्तगूढकुचकुङ्कुमशोणहार-

भासा नितम्बधृतया च पराध्र्यकाञ्च्या।।८।।

अल्पचलनेन **कलनूपुराभ्यां क्वणयती** भवति. जघनादिभारात् स्थिरतया स्थातुमशक्ता किञ्चिच्चलनान्नूपुरशब्दं[१] करोति. एतादृशी निर्बन्धेन सेवां कुर्वाणापि **रेजे.** भगवन्निकटे समागच्छन्तं हस्तं वर्णयति **अङ्गुलीये**ति. **अङ्गुलीयानि वलयानि व्यजनाग्र्यं च हस्ते यस्या:. वस्त्रान्तेन गूढयो: कुचयोः कुङ्कुमेन शोणो यो हार: तस्य भासा रेजे. नितम्बधृतया बहुमूल्यकाञ्च्या च.** रसोत्पादक-स्थाननिरूपणार्थं स्थानद्वयवर्णनं, हस्तपादौ तु वर्णितौ पूर्वार्धेन ह्रएवं रसस्थानमादिमध्यावसानेषु वर्णितम्. भगवत: सुमुखत्वाभावात् न सापि सुमुखीति मुखमान्तरो भावश्च न वर्णित: ।।८।।

एवं रसार्थं देशकालादीनामानुगुण्येऽपि भगवति स रसो नोत्पन्न:. न हि भगवान् रसानुभवार्थं समागत: किन्तु धर्मरक्षार्थं निरोधार्थं च. तदत्र रसानुभवे क्रियमाणे बाधितं भविष्यतीति तद्दोषनिराकरणार्थं किञ्चिदुक्तवानित्याह **तां रूपिणीमि**ति.

तां रूपिणीं श्रियमनन्यगतिं च दृष्ट्वा

या लीलया धृततनोरनुरूपरूपा।

प्रीत: स्मयन्नलककुण्डलनिष्ककण्ठ-

वक्त्रोल्लसत् स्मितसुधां हरिराबभाषे।।९।।

भगवतो लक्ष्मीर्नियता अपरिहार्या च, तादृशीमपि न मन्यत इति वक्तुं तां वर्णयति. तां गुणत: प्रसिद्धाम्. **रूपिणीं श्रियमि**ति स्वरूपत उत्कृष्टाम्. **अनन्यगतिमि**ति भक्ताम्, अनेन भगवद्योग्यता निरूपिता. तस्या

---

१. नूपुरः शब्दम्.

गुणत्रयमपि ज्ञात्वा तथोक्तवानिति वक्तुमाह दृष्ट्वेति. आकृतिरसमाना भविष्यतीति तन्निराकरोतिह्र **या लीलया धृततनोरनुरूपं रूपं यस्या:** सा. तस्या गुणादिभि:

प्रीतः, अन्यथा गुणानां कार्यासाधकत्वेन अगुणत्वमेव स्यात्. अतस्तैर्गुणैः **प्रीतो**ऽपि भगवान् **स्मयन्** जातः, नह्येतादृशगुणवत्त्वे गर्व उचित इति, गर्वएवोपक्षीणा गुणा इति वा. अतएव **प्रीतोऽपि स्मयन्** जातः. यदा भगवान् सम्मुखः हास्यवदनोऽपि जातः तदा रुक्मिणी सुमुखं[१] ज्ञात्वा स्वयमपि तथा जातेत्याह **अलककुण्डल–निष्ककण्ठ–वक्त्रोल्लसत्स्मितसुधामि**ति. शरीरमिव मुखं सर्वतो वर्णयति. उपर्यलकाः, उभयतः कुण्डले. अधः पदकयुक्तः कण्ठः त्रिवल्यात्मकः स्वरूपतोऽपि सुन्दरः, अन्यथा क**ण्ठपदं** व्यर्थं स्यात्. एवं त्रिभिः कृत्वा सुन्दरं यद् वक्त्रं तत्र उल्लसत् स्मितमत्यन्तं प्रफुल्लरसमिव[२] स्मितमेव सुधा, महादेवेन दग्धमपि कामं जीवयतीति. तादृशी**माबभाषे**. तत्र हेतुर्ह**रिरिति**. स हि तस्या अपि दोषं दूरीकर्तुं यतते ।।९।।

भगवद्वाक्यान्याह **राजपुत्री**त्येकादशभिः. सप्तभिः स्वोत्कर्षः विपरीततया स्वस्य धर्माणां च निरूपितः, येन भगवान् सिध्यति. तन्निराकृत्य चतुर्विधपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं विपरीततया श्लोकचतुष्टयमाह.

।।श्रीभगवानुवाच।।

राजपुत्रीप्सिता भूपैर्लोकपालविभूतिभिः ।
महानुभावैः श्रीमद्भी रूपौदार्यबलोर्जितैः।।१०।।

तत्र प्रथमं तस्याः कृतमनभिनन्दन् श्रियं कीर्तिं च विपरीततया निरूपयति, तत्रापि प्रथमं श्रियम्. **राजपुत्री**ति सम्बोधनं जातिकुलोत्कर्षसूचकम्. **भूपैरीप्सिते**ति सौन्दर्यम्. **लोकपालविभूतिभिरि**ति माहात्म्यं गुणाश्च. तेषामुत्कर्षं, तदपेक्षयाप्यस्या उत्कर्षं, वक्तुमाह **महानुभावैरित्यादिपदत्रयेण**. उत्कर्षो द्विविधःह्व बाह्य आभ्यन्तरश्च. बाह्यो द्विविधःह्व अलौकिकौ लौकिकश्च. तद्द्वयमाह महाननुभावो येषां श्रीयुक्ताश्चेति. आन्तरमाह रूपेति. रूपं शरीरसौन्दर्यम्, **औदार्यमपेक्षितो** गुणः सर्वदोषनिवारकश्च, **बलं** क्षत्रियाणाम्

---

१. संमुखमिति पाठः. २. रस इव.

अपेक्षितं; **तैरूर्जिताः** अतिपुष्टाः. एवमेकेन सा स्तुता ।।१०।।

अगत्या तथा कृतमिति पक्षं वारयति तान् प्राप्तानिति.

तान् प्राप्तानर्थिनो हित्वा चैद्यादीन् स्मरदुर्मदान् ।
दत्ता भ्रात्रा स्वपित्रा च कस्मान्नो ववृषेऽसमान्।।११।।

बहूनां निर्देशो विचार्य ग्रहणाय, **सर्वेषामर्थित्वात्.** त्वदर्थित्वमेवापेक्षितमिति भाव:. **प्राप्तानि**ति शरीरेण सम्बद्धान्. एवं बहिरन्त:सम्बद्धान् परित्यज्य. तत्रापि तव समानत्वमप्यन्तर्बहिश्च. कामादिना शरीरेण च सम्बद्धा:. विवाहश्च समयोरेवेत्यग्रे वक्ष्यते. न च तेषामप्रसिद्धिरित्याह **चैद्यादीनि**ति. जनपदशब्दत्वादतिप्रसिद्धि:. **स्मरदुर्मदानि**ति देशकालाद्यपेक्षामपि परित्यज्य स्त्रीहितं कुर्वन्तीत्यर्थ:. तद्विवाहे लोकशास्त्रविरोधाभावमाह **दत्ता भ्रात्रा स्वपित्रे**ति, वाग्दत्ता. मुख्यतो भ्रात्रैव दत्तेति प्रथमं तन्निर्देश:. **स्वपित्रे**[१]**ति** तस्यैव सा कन्येति न स्वातन्त्र्यं स्वतो[२] दाने. ऐहिकार्थं तु विवाह:, तदैहिकं तेष्वेव युक्त्या शास्त्रेण लोकेन च सिद्धमिति तत्परित्यज्य **कस्मादेव** हेतो: नोऽस्मान् ववृषे वृतवती? अविशेषादिति चेत्, तत्राह **असमानि**ति. बहुवचनं सम्बन्धिकुलाभिप्रायम्. यथा राजान: त्वत्समा: तथा नाहम्. नाप्यहं राजसम: नाप्यस्मदीया:. तेन लौकिकार्थं वरणपक्षे लौकिकोत्कर्षाभावाद् आसक्त्यभावेन सुखाभावाच्च अलौकिकस्य प्रकृतेऽसम्भवात् **कस्माद्ववृषे?** हेतुश्चेदस्ति, वक्तव्य इति भाव: ।।११।।

नन्वीक्षैव३ हेतु:, सर्वोऽपि स्वेष्टमेव वृणुते, अतो वस्तुविचारो व्यर्थ इत्याशङ्क्य वस्तुनि दोषानाह **राजभ्य** इति.

रूपत: फलतश्चैव सम्मत्या युक्तिभिस्तथा।
चतुर्भिर्दूषणं प्राह चतुर्विधमिहाच्युत:।।(७)।।

राजभ्यो बिभ्यत: सुभ्रू: समुद्रं शरणं गतान् ।
बलवद्भि: कृतद्वेषान् प्रायस्त्यक्तनृपासनान्।।१२।।

तत्र प्रथमं स्वरूपदोषमाह. **राजानो** जरासन्धादय:, तेभ्यो **बिभ्यत**

---

१. स्वपित्रे तस्यैव सा कन्येति, स्वपित्रे तस्यैव संकल्पेनेति, तस्यैव संकल्प्येति पाठत्रयम्. २. स्वदान इत्यर्थ:. ३. इच्छा.

इति. न हि भयानकरसेनाविष्टानां सुखजनकत्वमस्ति. किञ्च समुद्रं शरणं **गतानि**ति. नह्यन्यं शरणं गतस्य स्वातन्त्र्यमस्ति. नह्यस्वतन्त्रस्य सुखसाधकत्वम्. सर्वान् यादवानालक्ष्य बहुवचनम्. कपटमानुषलीलेव यादवलीलाप्याश्रितेति तै: समानधर्मवचनं लीलायां युक्तमेव. लौकिकदृष्ट्यैव स्वीकृत इति तदुपयोगिप्रकारेण पदार्थनिरूपणेनापि शास्त्रीयो दोष:. तृतीयं दूषणं **बलवद्भि: कृतद्वेषानि**ति.

द्वेषमात्रस्य करणमयुक्तम्. फलपर्यवसाने तु न दूषणम्. **'बलवत्'**पदात् फलपर्यवसानाभावोऽपि सूच्यते. बहुभिश्च सह कलहः न युक्तः. सर्वतः शङ्काया विद्यमानत्वान्न स्वास्थ्यं लोकप्रतीत्या निरूपयति. सर्वबलवद्विरोधे फलमपि जातं सूचयति **प्रायस्त्यक्तनृपासनानि**ति. ययातिशापात् **त्यक्तं नृपासनं यैः** यादवैः. अर्जुनादिव्युदासार्थं **प्राय** इति. अतो राजकन्यया राजैव विवाह्यो मुख्यः. अथवा राजमित्रं, राजतुल्यो भवतीति. अथवा स्वदेशस्थितः खण्डमण्डलाधिपतिर्वा. अथवा निकृष्टपक्षे निर्भयः. नतु चतुर्विधदोषयुक्तः कश्चिदपि विवाह्यो भवति ।।१२।।

अविचार्य मोहात् नीतिं परित्यज्य विवाहे बाधकमाह **अस्पष्टवर्त्मनामि**ति.

अस्पष्टवर्त्मनां पुंसामलोकपथमीयुषाम् ।

आश्रिताः पदवीं सुभ्रूः प्रायः सीदन्ति योषितः।।१३।।

अथ यद्यलौकिकदृष्ट्या दूषणानि परिहृत्य विवाहं कुर्यात् तदा अलौकिकव्यवहारस्तया ज्ञातुमशक्य इति लौकिकपक्षाश्रयणे उभयभ्रष्टाः स्त्रियः सीदन्ति. अलौकिकानां लक्षणमाह **न स्पष्टं वर्त्म येषाम्.** यस्य हि रीतिर्ज्ञायते तदनुसारेण व्यवहर्तुं शक्यते. कदाचित् ते लोकानुसारेणापि व्यवहरन्तीति तेषां नियतमार्गज्ञानाभावेऽपि तदाश्रितो लौकिकमार्गो ज्ञायत इति कथमवसाद इति चेत्, तत्राह **अलोकपथमीयुषामि**ति. **अलोका** लोकातिरिक्ताः लोके स्थित्वापि अलौकिकानामेव मार्गमाश्रयन्ति. तेषां

लेखः

राजभ्यो बिभ्यत इत्यत्र **फलपर्यवसाने त्विति**. द्वेषफलं तेषां मारणं कर्तुं शक्येत चेद् द्वेषे न दूषणम्. परं तदेव न शक्यमित्याहुः **बलवत्पदादिति** ।।१२।।

लौकिकव्यवहारोऽप्यलौकिक इत्यर्थः. अतएव क्षणिकानामव्यवस्थितगतीनां **पदवीमाश्रिताः सीदन्ति. प्राय** इति. ता अपि चेत् तत्प्रवणास्तादृश्य एव भवेयुः, तद्व्यावृत्त्यर्थं प्रायग्रहणम् ।।१३।।

किञ्च यं न कोऽपि भजते तं यो भजते स सीदतीति वक्तुं मां न कोऽपि भजत इत्याह भगवान् **निष्किञ्चना** इति.

निष्किञ्चना वयं शश्वन्निष्किञ्चनजनप्रियाः।

तस्मात् प्रायेण न ह्याढ्या मां भजन्ति सुमध्यमे।।१४।।

ययोरात्मसमं वित्तं जन्मैश्वर्याकृतिर्भवः।

तयोर्विवाहो मैत्री च नोत्तमाधमयोः क्वचित्।।१५।।

धनिनएव स्त्रीणां प्रियाः, वयं तु **निष्किञ्चनाः**. नाप्यस्मदीयाः सकिञ्चना इत्याह **निष्किञ्चनजनप्रिया** इति. निष्किञ्चनाएव जनाः प्रिया येषां, निष्किञ्चनजनानां च स्वयं प्रियाः. अतः साक्षात् परम्परयापि धनाभाव उक्तः. एतत्प्रायिकं भविष्यतीत्याशङ्क्य सर्वजनीनं नियतमेतदित्याह **तस्मादि**ति. **आढ्या** धनेन सम्पन्नाः **प्रायेण न मां भजन्ति,** धननाशस्योभयथापि सम्भवात्. यद्यप्यस्मासु स्नेहं कुर्यात् तदा सर्वस्वमस्मदर्थं विनियुञ्ज्यात् तदापि निर्धनो भवेत्. यदि वास्मन्माहात्म्यं बुद्ध्वा आन्तरमेव भजनं कुर्यात् तदापि अस्माकं प्रियः स इति अस्माभिरेव स्वप्रियत्वसिद्ध्यर्थं स निर्धनः क्रियते. अत उभयथापि लोके प्रतिष्ठाकरमाढ्यत्वं नश्यतीति न भजन्ति. तव तु आढ्यत्वमेव स्वरूपमिति[१] स्वरूपनाशएव सम्भावित इति भावः. **प्रायेणे**[२]ति अम्बरीषादिव्युदासार्थम्. नीतिविरोधमाह **ययोरात्मसममि**ति. **सुमध्यमे** इति सम्बोधनं निर्धनगृहे स्थातुमशक्तिं बोधयति, कार्यकरणासामर्थ्याद् भोगाभावाच्च. अतएव समानएव विवाह्यः नासमान इति लौकिकं समानत्वं यैः सिध्यति तान् धर्मानाह. **ययोः** स्त्रीपुरुषयोर्मित्रयोर्वा समानं **वित्तं** भवति, समानं च कुले **जन्म** वयो वा, ऐश्वर्यं च समानम्, **आकृतिश्च** वयस्तारुण्यं **च, भव** उत्पत्तिर्वा. जन्म-भवयोः

---

१. रूपमिति पाठः. २. प्राय इति पाठः.

काल-देशकृतो भेदोऽनुसन्धेयः. सर्वथा साम्यं न युक्तमनुपपन्नं चेति आत्मपदम्. स्वयोग्यानुसारि साम्यमित्यर्थः, यथा चतुर्विंशतिवार्षिकः पतिः षोडशवार्षिकी कन्येति. पञ्च धर्माः समाः. ऐश्वर्येण सहिता आकृतिः. ''कन्या वरयते रूपमि''तिश्लोकेऽपि पञ्चापेक्षिता धर्मा उक्ताः. रूपमत्राकृतिः. वित्तं स्पष्टम्. श्रुतमैश्वर्यस्थानीयम्. कुलं जन्म. भवः समृद्धिः पक्वान्नस्थानीया, तदेवात्रापि ग्राह्यम्. तत्र लौकिकदृष्ट्या राजसमानं धनं नान्यस्य भवतीति साम्याभावः सिद्धः. जन्म; यादवानां तथा न कुलीनत्वमिति लोकप्रसिद्धिः. आकृतिरपि न गौरेति.

राज्याभावादेव नैश्वर्यम्, उद्भवोऽपि ततएव निवर्तते. दैवाज्जातेऽपि विवाहे मैत्री न तिष्ठतीति प्रकृते मैत्र्या अप्युपयोगाद् ग्रहणम्. **उत्तमाधमयोस्तु न क्वचिदि**ति क्वचिदपि नेत्यर्थः. क्वचिज्जातं वा न सुखकरं भवतीति वैलक्षण्यम् ।।१४-१५।।

तर्हि किमतः परं कर्तव्यमिति चेत् तत्राह **वैदर्भीति** द्वाभ्याम्.

वैदर्भ्येतदविज्ञाय त्वयाऽदीर्घसमीक्षया ।

वृता वयं गुणैर्हीना भिक्षुभिः श्लाघिता मुधा।।१६।।

एकेनाज्ञानं समर्थ्यते. ''अज्ञानात् कृतमकृतमेवे''ति हविर्विपर्यास इव पुनर्यथाकरणमित्युपाय इति प्रथममज्ञानमाह. **वैदर्भि** विदर्भराजदुहितः. अनेन सत्कुलप्रसूतत्वमुक्तम्. **अविज्ञाय वयं वृता** इति. एतत्तस्या अज्ञानसमर्थनं कार्यान्तरविधानार्थं, नतु दोषारोपार्थम्. ननु स्तोत्रद्वारा विज्ञापनया च तया पदार्था ज्ञायन्त एव, तत्कथमज्ञानमित्याशङ्क्याह **अदीर्घसमीक्षये**ति. न दीर्घा सम्यगीक्षा यस्याः. आपातत उत्कर्षं दृष्ट्वा अलौकिकमज्ञात्वा लौकिकं सुखं भविष्यतीति वरणाददीर्घदर्शित्वम्. वस्तुतस्तु भगवान् सर्वसंसारनिवारकः नतु संसारप्रद इति वस्तुतोऽप्यदीर्घदर्शित्वम्. तत्र हेतुमाह **गुणैर्हीना** इति, सगुणादेव संसारो भवति. ननु पूर्वं नारदादिभिः त्वदीयैः[1] अनन्तगुणपूर्णत्वेन भवान्[2] स्तुतः तत्कथं गुणैर्हीना इति चेत्, तत्राह **भिक्षुभिः श्लाघिता** इति. भिक्षवो हि न वस्तुस्वरूपं जानन्ति, परस्य कथमिष्टमनिष्टं वा भवतीति; स्वकार्यमात्रं पश्यन्ति, अन्यथा न याचेरन्. तदुक्तं पूर्वं ''नूनं

---

१. तदीयैरिति पाठः. २. भगवानिति पाठः.

स्वार्थपरो लोको न वेद परसङ्कटं यदि वेद न याचेते''ति सामान्यतो याचकदूषणम्. अतः स्वयं गुणातीता इति केवलं मोक्षार्थिनः संसारापेक्षिणोऽपि स्थाने स्तुवन्तीति भिक्षुभिः श्लाघिता इति दूषणम्. तत्रापि मुधा. तेषां स्वाचरणादेव पुरुषार्थोऽपि सिध्यतीति मोक्षेऽपि न मद्दानापेक्षा, परमभक्तानां तु सुतरामेव न मदपेक्षा. अतो मुधैव स्वरसात् ते स्तुवन्ति. ये पुनः संसारापेक्षिणः तैर्न तद् ग्राह्यम्. अतः स्वतः परतश्च अभिप्रायापरिज्ञानाद् भ्रमस्तवोत्पन्न इति अज्ञानादेव वरणमित्यर्थः ।।१६।।

तर्ह्यतः परं किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह.

अथात्मनोऽनुरूपं वै भजस्व क्षत्रियर्षभम्।

येन त्वमाशिषः सत्या इहामुत्र च लप्स्यसे।।१७।।

अथेति भिन्नप्रक्रमेण. पितृगृहे गत्वा पूर्ववत् कृत्वा **आत्मनोऽनुरूपं संसारैकप्रवणम्.** स्त्रियः संसारैकस्वभावा इति स्त्रीणां न मुक्तिरिति मर्यादा. स्त्री च भर्तृसायुज्यं प्राप्नोति. अतः समाने भर्तरि सर्वमेतदुपपद्यते न विषमइति, अन्यथा स्त्रीनाशो भर्तृनाशो वा स्यात्. स को वा वरणीय इत्याकाङ्क्षायां बहिर्मुखं निर्दिशति क्षत्रियर्षभमिति. ते हि बहिर्मुखाएव, अन्यथा निर्दयाः परघातं न कुर्युः. **क्षत्रियश्रेष्ठत्वात्** न कोऽपि वाच्यतां मन्यते. तेषां जये अन्यसम्बन्धिन्योऽप्याह्रियन्त इति न दूषणमपि. आकाङ्क्षा तु तेषां वर्तत इत्युक्तमेव. ततः किं स्यादित्याशङ्क्याह **येनेति. सत्या आशिषः** प्रवाहनित्या विषयाः तैरेव सिध्यन्ति, न त्वन्यैः. ऐहिकामुष्मिकफलरागरहितस्तु मत्परायण इति न मत्सेवया सर्वजन्मसु ऐहिकामुष्मिकफलसिद्धिः. अतः संसार्यैकस्वभाव-क्षत्रियर्षभवरणेनैव फलप्राप्तिरिति युक्तम्. **त्वमिति** मायारूपत्वमुक्तम्. कापट्यं तत्रैव सफलं भवति, नतु ब्रह्मणीत्यर्थः ।।१७।।

नन्वेवं कर्तव्ये सर्वज्ञेन त्वया किमित्यहमाहृतेति चेत्, तत्राह **चैद्येति** द्वाभ्याम्.

चैद्य-शाल्व-जरासन्ध-दन्तवक्त्रादयो नृपाः ।

मम द्विषन्ति वामोरु रुक्मी चापि तवाग्रजः।।१८।।

तेषां वीर्यमदान्धानां दृप्तानां स्मयनुत्तये ।

आनीतासि मया भद्रे तेजोऽपहृतयेऽसताम्।।१९।।

तान् तेषां दोषं च निरूपयति. आद्यन्तौ शापवशाद् द्वेषिणौ मध्यमौ देवतान्तरोपासकौ बहिर्मुखाविति चत्वार उक्ताः. तेन शापात् वा स्वभावाद्वा ये अन्यपराः ते **द्विषन्ती**ति. येऽप्यन्ये तानप्येतादृशधर्मवतः **आदि**शब्देन परिगृह्णाति. **नृपा** इति तेषां सर्वथा अमारणे हेतुः. **मम** सम्बन्धिनोऽपि मां द्विषन्ति. किञ्च त्वत्सम्बन्धिनोऽपीत्याह **रुक्मी चापी**ति. तव मुख्यः सम्बन्धी ज्येष्ठभ्राता. **चकारात्** तत्सम्बन्धिनः. सम्बन्धविशेषस्योक्तत्वात् ते तवापरिहार्या इत्यपि सूचितम्. अतस्तेऽस्मदीयास्त्वदीयाश्चेति तेषां गर्वलक्षणसन्निपातनिवृत्त्यर्थं त्वमानितेत्याह. **वामोर्वि**ति सम्बोधनाददुष्टत्वं च द्योतितम्. निवार्यं दोषमनुवदति **तेषां वीर्यमदान्धानामि**ति, वीर्यमदेन अन्धानाम्. यथा अन्धः निकटे स्थितमपि

गर्तं न जानाति अपितु पतत्येव तथा ते वैष्णवानलेषु पतन्तः मया निवारिता इति भावः. किञ्च **दृप्ताः** हृदयशून्या अपि. न वा प्रमाणं न वा विचारस्तेषामित्यर्थः. ताभ्यां जातो यः **स्मयः तस्य नुत्तये आनीते**ति समानयने हेत्वन्तरमिति. दोषाभावश्च पूर्वं प्रतिपादित इतीतरभजनं समर्थितं भवति. ननु तेषां [1]गर्वाभावस्तत्पराजयेनैव सिद्धो भवतीति किं मदाहरणेनेत्याशङ्क्याह तेजोऽपहृतय इति. तेषां **तेजोऽप्युपहर्तव्यम्. उपहृतये** नाशाय वा. जयपराजयावव्यवस्थिताविति शास्त्रेण कदाचिज्जातेऽपि पराजये न यावज्जीवं ग्लानिं मन्यन्ते. सत्प्रतिभाः सन्तः पुनरायान्ति च. एवं कृते तु गततेजसो भवन्तीति न तेषां पुनरुद्गमः. तेजोहरणं दोषाय भविष्यतीत्याशङ्क्याह **असतामि**ति. असतां तेजोनाशः युक्तएव ।।१८-१९।।

एवं रुक्मिण्या उपयोगमुक्त्वा स्वार्थं सा स्थापनीयेति पक्षं वारयति **उदासीना** इति.

उदासीना वयं नूनं न स्त्र्यपत्यार्थकामुकाः ।
आत्मलब्ध्यास्महे पूर्णा गेहयोर्ज्योतिरक्रियाः।।२०।।

नूनमिति नात्र सन्देहः युक्त्या कर्तव्यः. इषणात्रयं पर्यवसितं

---

१. गर्व इति पाठः.

स्त्री-पुत्र-धनरूपम्, तदपेक्षायामन्तस्तन्निवार्यरोगे तदपेक्षा भवति. पूर्णानन्दस्य स्वस्मिन् दोषाभावाद् औदासीन्यमेव. द्वेषाभावात् नापि त्याज्यम्. अतः स्वस्योपचयापचयाभावात् न **स्त्र्यपत्यार्थकामुकाः**. अत्र भगवत्सम्बन्धः नोभयेच्छाकृतः किन्त्वन्यतरेच्छाकृतएव. कार्यमुभयेच्छाधीनमिति तदनुरोधे भगवतः सकाशात् तत्कार्यमुत्पद्यते अननुरोधे तु नेति नावश्यकत्वं कार्यस्य. अनुरोधस्तु न नित्यः भिक्षुकेष्विव, अतोऽन्यत्र नित्यापेक्षिणो गमनमुचितम्. ''धर्मार्थकाममोक्षार्थं१ य इच्छेदि''त्यादिवाक्यमपि पृथगेव दानं बोधयति२, नतु क्रियायां भगवत्सम्बन्धम्. अन्यथा भगवांस्तद्दाता न भवेदेव, स्वस्य निर्बन्धसम्भवात्. अकामुकत्वे हेतुमाह **आत्मलब्ध्ये**ति. यद्यपि भगवति नायं हेतुः, आत्मत्वाद् अज्ञानादिव्यवधानाभावाच्च, ''आत्मलाभान्न परं विद्यते''इति श्रुतिरपि न फलस्य फलसम्बन्धं बोधयति, तथापि लौकिकोक्त्या सम्मतिप्रदर्शनार्थं तथोच्यते. यथा लब्धात्मानः न स्त्र्यादिकामुकाः एवं वयमिति. वाच्यं त्वेतावत् **पूर्णा आस्मह** इति. सर्वदैव वयं पूर्णास्तिष्ठाम इत्यर्थः, नित्यप्राप्त

एवात्मा हेतुत्वेनानूद्यत इति. ननु तथापि क्रीडार्थं समागतस्य क्रीडानिर्वाहार्थं कामना भवत्येवेति चेत्, तत्राह **गेहयोर्ज्योतिरक्रिया** इति. आविर्भूतमनाविर्भूतं वा तेजः स्वयं कार्ये न व्यापृतं भवति किन्त्वाविर्भूतं केनचिन्निमित्तेन स्वसम्बन्धिनं प्रकाशयति सम्बन्धिनएव च दोषं नाशयति, नतु स्वस्य काचिदपेक्षा आविर्भूतमिति. **गेहयो**र्देहगेहयोः; उभयमपि तुल्यमिति ख्यापयितुं समानशब्देन निर्देशः. ज्योतिरिव क्रियारहिताः **ज्योतिरक्रियाः**. अनेन तेजोवद् भगवदाविर्भाव इत्युक्तम्. अतः क्रिया विकारात्मिका नास्तीति नास्माकं काप्यपेक्षा. फलं च न नियतमिति फलापेक्षायामन्यानुसरणं कर्तव्यमिति सिद्धम् ।।२०।।

निःसम्बन्धं निरूप्य भगवान् निवृत्त इत्याह **एतावदुक्त्वे**ति.

लेखः

उदासीना इत्यत्र **दोषाभावादि**ति, कामाद्यभावादित्यर्थः. **गेहयोरि**ति सप्तमी, देहे गेहे च ज्योतिरिव क्रियारहिता इत्यर्थः ।।२०।।

---

१. धर्मार्थकाममोक्षाख्यमिति पाठः. २. पृथग्दाने तु ईश्वरत्वेन अन्यथाकरणसामर्थ्यान्न नित्यानुरोध इत्यर्थः.

।।श्रीशुक उवाच।।

एतावदुक्त्वा भगवानात्मानं वल्लभामिव ।

मन्यमानामविश्लेषात् तद्दर्पघ्न उपारमत्।।२१।।

इदमेव वाचा तिरोधानम्. तिरोधाने निमित्तमाह **आत्मानं वल्लभामिवे**ति. तत्रापि हेतुः **अविश्लेषात्.** यथा चैद्यादीनां दर्पहननार्थं एषा समानीता एवमेतस्या अपि दर्पनिराकरणार्थं सम्बन्धनिराकरणंह्व दर्पहेतुना सह सम्बन्धे विद्यमाने स्मयाभावो न भवतीति अनेनैव भविष्यतीति ज्ञात्वा ह्वकृतवानिति ज्ञापयति. **वल्लभा** भगवतोऽत्यन्तं प्रिया; प्रीतिविषयत्वादपेक्षिता इवेति. बहुस्त्रीकत्वात् कार्यस्यान्यथापि सिद्धेः. एकभार्यस्य यथा सा वल्लभा भवति तथा सा मन्यते[१], अन्यथा अविश्लेषो हेतुर्न स्यात्. अथवा अज्ञानेन भगवन्तं भजतीति प्रबोधार्थं भगवानेवं वदतीति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह आत्मानं **वल्लभामिवे**ति. भगवन्तं स्त्रियमिव मन्यते. ''यथा स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं कश्चन[२] वेदे''ति सुषुप्त्युपाख्याने शारीर आत्मा ''प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्त'' इति निरूपितम्.

''सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेने''त्यत्र विवृतम्. तस्य यथा प्रबोधः कार्यते[३] एवमस्या अपीति. अर्धवल्लभां वा आत्मानं मन्यत इति वेति. **उपारमत्** वाक्यात् कायिक-मानसव्यापाराच्च ।।२१।।

ततो यज्जातं तदाह **इती**ति त्रिभिः. सम्यग्ज्ञानवत्याः किञ्चिज्ज्ञानवत्याः मूर्च्छितायाश्च अवस्थाः क्रमेणोच्यन्ते. यतस्त्रिगुणा हि सा अतः सत्त्वादि तमोन्ता अवस्था वर्णिताः. प्रत्येकं गुणानां त्रैविध्यमिति त्रितयं त्रितयं

लेखः

एतावदुक्त्वेत्यत्र **दर्पहेतुने**ति. चैद्यादीनां दर्पे हेतुर्मायात्वाद् इयम्. तथाच तेषां **दर्पहेतुना** तया **सह** भगवतः **सम्बन्धे** तेषां स्मयनुत्तिर्न भवति किन्त्वधिकः स्मयो भवेदित्यर्थः. दर्पहेतुर्भगवत्सम्बन्धः प्रबलः सन्नधिकं दर्पं जनयेदिति भावः. अनेनेति, सम्बन्धनिराकरणेनेत्यर्थः. **कृतवानि**ति **सम्बन्धनिराकरणमिति** पूर्वमन्वयः. लौकिकसम्बन्धे भार्यां प्रति स्वयमेवान्यभजनं नोपदिशेदिति भावः ।।२१।।

---

१. मान्यते इति पाठः. २. किञ्चन इति प्रसिद्धः पाठः -सम्पा. ३. कार्यः.

निरूप्यते. तत्र प्रथमं सत्त्वे कार्यत्रयमाह.

इति त्रिलोकेशपतेस्तदात्मनः प्रियस्य देव्यश्रुतपूर्वमप्रियम् ।

आश्रुत्य भीता हृदि जातवेपथुश्चिन्तां दुरन्तां रुदती जगाम ह।।२२।।

इति पूर्वोक्तप्रकारेण निःसम्बन्धप्रतिपादकं वाक्य**माश्रुत्य** प्रथमं **भीता** जाता, त्यक्ष्यतीति. ततो **हृदये वेपथुः** कम्पोऽपि जातः. **दुरन्ता चिन्तापि.** चिन्ता सात्त्विकी, भयं तामसम्. त्रिलोक्याः ईशः, पतिश्च स्वस्यापि ह्यलौकिकवैदिकोत्कृष्टसम्बन्धौ निरूपितौ. तदेति[१] तस्यामवस्थायाम्. **तदि**ति वा प्रसिद्धं सर्वजनीनम्, अतः सत्यमपि कुर्यात्. केवलं लोकतो वेदतश्चैव सम्बन्ध इति न किन्तु स्वस्यापि रोचत इत्याह **प्रियस्ये**ति. ननु परिहासवचनमेतद्भविष्यतीति कथं भयमिति चेत्, तत्राह देवीति. देवतारूपा सा सत्यमेव भगवान् वदतीति ज्ञातवती. तर्ह्यभिप्रायं ज्ञात्वा दर्पं परित्यज्य कथं न प्रपन्नेत्याशङ्क्याह **अश्रुतपूर्वमि**ति. दर्पः सर्वदैव जायते, वाक्यं तु न कदाचिदप्येवं श्रुतम्. **तदप्यासमन्तात् श्रुत्वा** अभिप्रायतोऽर्थतश्च. अतः प्रथमतो भयं मनसि

जातं, हृदयस्थाने कम्पोऽपि जातः, इदं कायिकमिव बुद्धेः. अहङ्कारस्तु निवर्तनीयएव. चिन्ता चेतसः. **रुदती**ति रोदनमिन्द्रियाणाम्, अहङ्कारः तद्रूपेण निर्गत इति ज्ञापनार्थः. हेत्याश्चर्यं, कथं वाक्यमात्रेणैतामवस्थां प्राप्तवतीति. आन्तरमेतन्निरूपितम् ।।२२।।

बाह्यं निरूपयति **पदा सुजातेने**ति.

पदा सुजातेन नखारुणश्रिया भुवं लिखन्त्यश्रुभिरञ्जनासितैः ।

आसिञ्चती कुङ्कुमरूषितौ स्तनौ तस्थावधोमुख्यतिदुःखरुद्धवाक्।।२३।।

सुजातेनातिकोमलेन लक्षणयुक्तेन वा. तेन लक्षणानामुत्पादकस्य वा दोषमापादयन्ती तथा कृतवती. अथवा उत्कृष्टत्वात् चरणस्य नैवमनिष्टं भविष्यतीति ज्ञापनार्थं तथोच्यते. **नखारुणाश्रिये**ति नखेषु नखैः कृत्वा वा अरुणा श्रीर्यस्येति. अनेन नखानां मणिरूपत्वमुक्तम्. अयं सात्त्विक उत्कर्षः. सहजागन्तुकोत्कर्षयुक्तेन **पदा भुवं लिखन्ती**. चिन्ताकुलितायास्तथैव व्यापार इति भूमिं लिखन्तीति. भूम्यां किञ्चिल्लेखनं निषिद्धम्. भूमिं

१. तदैतस्यामवस्थायामिति पाठः.

भित्त्वान्तःप्रवेक्ष्यामीति भावेन तथा लेखनम्. इयं हि लौकिकी भाषा. लौकिकभावनिराकरणार्थमेव भगवता तथोक्तमिति य कश्चन भावः परमोत्कर्षं प्राप्तः फलपर्यवसायी भवतीति ज्ञापनार्थं तथोच्यते. अतस्तस्याः कायिकव्यापारो निरूपितः. मानसमाह **अश्रुभिः कुङ्कुमरूषितौ स्तनावासिञ्चती.** मनस्यतिशोकान्निरन्तरोत्पन्नान्यश्रूणि अञ्जनमपि भित्त्वा निर्गच्छन्तीति तस्या अतिरिक्तः सर्वोऽपि वर्णस्तैरपनीत इति सूच्यते. कुङ्कुमं कज्जलं च उभयमपहृतमिति **अधोमुखीति** च मानसमेव. **अतिदुःखेन रुद्धा वागि**ति वाचो निवृत्तिः. उभयोरल्पो व्यापारः. वाक्[१] तु निवृत्तैवेति ।।२३।।

बाह्याभ्यन्तरामवस्थामुक्त्वा देहस्य पातमाह **तस्या** इति.

तस्याः सुदुःखभयशोकविनष्टबुद्धे-
र्हस्ताच्छ्लथद् वलयतो व्यजनं पपात।
देहश्च विक्लवधियः सहसैव मुह्यत्
रम्भेव वातविहता प्रविकीर्य केशान्।।२४।।

आद्येन मानसपातश्च. **तस्या देहः पपात**. देहधारिका बुद्धिः प्रयत्नद्वारा; सा तु त्रिभिर्नष्टेति **सुदुःखभयशोका** निरूपिताः. **सुदुःखं** पुरुषोत्तमलक्षणविषयाभावाद् आनन्दरूपस्य भगवतस्तिरोभावाद्वा. भयं भगवानन्येभ्यो दास्यतीति. शोकः स्वस्य सर्वनाशात्. त्रिदोषेण बुद्धिनाशः. स स्वकीयं प्रयत्नाभावमपि करोतीत्याह **हस्तात् श्लथद्वलयतो व्यजनं पपाते**ति. कृशत्वात् श्लथद्वलयत्वम्. आदौ धर्मनाशः पश्चाद्धर्मिण इति क्रमेण ह्रास इति नालौकिकप्रकारेण तस्याः पातः. **व्यजनं** वीज्यमानं धारकप्रयत्ननाशात् **पपात.** अनेन स्थूलः प्रयत्नो नष्ट इत्युक्तम्. सूक्ष्मोऽपि नष्टः येन प्राणो धार्यत इत्याह **देहश्चे**ति. **देहश्च पपात.** चकारात् तत्सम्बन्धीन्याभरणादीन्यपि. इतोऽपि सूक्ष्मः कारणप्राणधारकोऽवशिष्यते. तस्मिन्निवृत्ते सर्वनाशो भविष्यतीति भगवत एतावद्दूरं परीक्षा. लौकिक्याः पुनर्जीवनमलौकिकं न युक्तमिति ततः पूर्वमेव प्रतीकारं

लेखः

तस्याः सुदुःखेत्यत्र लौकिक्याः पुनर्जीवनमिति. उत्तरार्धे

---

१. वक्तुमिति पाठः.

करिष्यति. सूक्ष्मा धारिका बुद्धिः स्वप्नेऽपि तिष्ठतीति कथं देहपात इति चेत्, तत्राह **विक्लवधिय** इति. सूक्ष्मापि बुद्धिर्वैक्लव्यं प्राप्तवती. विचारेण तदपनोदाभावमाह **सहसैव मुह्यदि**ति. ‘‘मुग्धेऽर्धसम्पत्तिरि’’ति न्यायेन अर्धं मृता, केवलमासन्यस्तिष्ठति. अतएव पतिता, न मृता. पतनादपि भयं भवतीति भयेन प्रयत्नाभिव्यक्तिमाशङ्क्य तन्निषेधार्थमाह **रम्भेव वातविहते**ति. वाय्वाघातेन यथा कदली भग्ना पतति; सर्वथा प्रयत्नरहिता स्वतोऽपि कोमला. **प्रविकीर्य केशानि**ति रम्भातुल्यत्वं निरूपितम्. अथवा मूर्च्छासमये शिरोभ्रमणं जातमिति केशग्रन्थिविस्रंसनात् केशविकीर्णता[1] जाता. केशा वेण्याकारेण न बद्धाः ।।२४।।

तदा भगवान् क्षणविलम्बे समाधानमशक्यमिति उपेक्षाभावं परित्यज्य तस्यामपेक्षाभावं कृत्वा शीघ्रं प्रतिक्रियार्थं प्रवृत्त **तद्दृष्ट्वे**ति.

तद्दृष्ट्वा भगवान् कृष्णः प्रियायाः प्रेमबन्धनम् ।
हास्यप्रौढिमजानन्त्याः करुणः सोऽन्वकम्पत।।२५।।

तस्याः पतनं दृष्ट्वा करुणायुक्तो भूत्वा **अन्वकम्पत**[२] तस्या दुःखनिवृत्तिमियेष. अभिप्रायानुसारेण यत् तयाग्रे निरूपितं तावद्वक्तव्यम्. ततश्च अभिमानाभावे ज्ञाते भगवान् कृपां कुर्यात्. यत्तु मध्ये मूर्च्छया पतनं तदभिप्रायाज्ञानात्. ईश्वरवाक्ये च यावत् सएव स्वाभिप्रायं न प्रकाशयति तावदर्थान्तरं न वर्णनीयम्, अतो लौकिकत्वात् तस्या अभिप्रायापरिज्ञानात् त्यागभयेन तथावस्थोचितैव. तदा भगवान् उत्तरेऽदत्ते अभिमानाभावे चाज्ञातेऽपि

लेखः

लोकधर्मपुरस्कारेण लीलाकरणात् तादृशलीलासम्बन्धिन्या अलौकिकप्रकारेण जीवनं न युक्तम्. पूर्वार्धे अलौकिकभावेन लीलाकरणात् तत्र व्रजस्थानां जीवनमलौकिकं सम्पादितवानिति द्वादशाध्याये तथैव निरूपितमिति भावः ।।२४।।

तद्दृष्ट्वेत्यत्र अनुकम्पामिति कृतवानिति शेषः. अनुकम्पापदार्थमाहुः दुःखेति. परदुःखप्रहाणेच्छायाः कृपापदार्थत्वादिति भावः ।।२५।।

---

१. केशा विकीर्णा जाता इति पाठः. २. अनुकम्पामिति लेखपाठः.

कृपामेव कृतवान्. तत्र हेतु**ः करुण** इति, दयायुक्तः. दयायामपि हेतुः **तद्दृष्ट्वेति. भगवानि**ति सर्वार्थाभिज्ञता. **कृष्ण** इति स्त्रीणां प्रियः तासामुद्धारार्थे आगतः कथं तां मारयेत् ननु बहव एव मूर्च्छिता भवन्ति वचसा त्रासिताः, किमत्राश्चर्यमिति चेत्, तत्राह **प्रियायाः प्रेमबन्धनमि**ति. सापि भगवतः प्रिया, भक्तत्वात्. तस्याश्च प्रेमातिशयः सम्बन्धाभावे ज्ञातएव प्राणपरित्यागरूपः. प्रेमैव बन्धनमिति भगवत्प्रेम्णैव सा बद्धा तिष्ठति, तदभावे ज्ञातएव पतितेति. ननु युक्तमेव तस्यास्तथात्वं, केनांशेन सन्तुष्टः सन्तोषहेतोराश्चर्यस्याभावाद् इत्याशङ्क्याह **हास्यप्रौढिमजानन्त्या** इति. हास्यरसे पूर्वपक्ष(स्य)सिद्धान्तन्यायेन पदार्थनिरूपणं प्रौढिः. तत्र भगवता पूर्वपक्षः कृतः. यतो रुक्मिणी न लौकिकी नापि लौकिकविषयमपेक्षते अतोऽवश्यं सिद्धान्तो वक्तव्यः. तद्वक्तुं न जानातीति मुग्धभावाद् बालानामिवाभिमानो न दोषायेति मूर्च्छां दृष्ट्वा स्वभावतोऽपि परमकारुणिकः अनुकम्पां कृतवान् ।।२५।।

ततो यत्कृतवांस्तदाह **पर्यङ्कादि**ति.

पर्यङ्कादवरुह्याशु तामुत्थाप्य चतुर्भुजः ।

केशान् समूह्य तद्वक्त्रं प्रामृजत् पद्मपाणिना।।२६।।

स्वयं शी**घ्रमवरुह्य पर्यङ्काद्,** हस्तद्वयेन **तामुत्थाप्य,** हस्तद्वयेन च केशान् समूह्य, एकेन हस्तेन **केशबन्धं धृत्वा** दक्षिणेन **तद्वक्त्रं प्रामृजत्. पद्मपाणिने**ति शीतलेनामृतस्रावेण, तेन तापापनोदः जीवनं च जातम्. स्पर्शेनैव प्राणाः समागताः ।।२६।।

ततः स्वस्थां सान्त्वयामासेत्याह **प्रमृज्ये**ति.

प्रमृज्याश्रुकले नेत्रे स्तनौ चोपहतौ शुचा ।

आश्लिष्य बाहुना राजन्ननन्यविषयां सतीम्।।२७।।

तेनैव पाणिना अश्रूणि **प्रमृज्य, अश्रूणां कला यत्र**. तत उत्थाप्यैव[१] धृत्वैव हस्तद्वयेन मध्ये एकेन[२] केशबन्धम्. उक्तां क्रियां कृतवान् अतः सान्त्वनपर्यन्तं चतुर्भुजएव स्थितः. प्रकर्षेण मार्जनम् अश्रूणि दूरीकृत्य परितः

---

१. उत्थायेति पाठः. २. डोरकेण केशबन्ध इति पाठः.

स्थितकज्जलस्य सर्वत्र स्थापनं तथैवान्यत्रापि. स्नेहप्रकाशार्थं त्यागाभावविश्वासार्थं च **बाहुना आश्लिष्य.** ननु स्वयमेव ''न स्त्र्यपत्यार्थकामुका'' इत्युक्त्वा पुनः किमर्थं तथा कृतवान्? तत्राह **अनन्यविषयामि**ति. न विद्यते अन्यो विषयो यस्याः. यद्ययमपि विषयो न भवेत् तदा शरीरनाशः स्यादिति ''ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहमि''ति तस्यास्तथात्वं ज्ञात्वा स्वप्रतिज्ञास्थापनार्थमेव तथा कृतवानित्यर्थः. ततश्च स्त्रीत्वेन न कामिता किन्त्वनन्यविषयत्वेन. किञ्च **सती** पतिव्रता, तदुपेक्षायां मर्यादाविरोधोऽपि स्यात्. **राजन्नि**ति सम्बोधनं भ्रमाभावाय, राजा हि पूर्णविषयो भवतीति ।।२७।।

सान्त्वयामास सान्त्वज्ञः कृपया कृपणां प्रभुः।

हास्यप्रौढिभ्रमच्चित्तामतदर्हां सतां गतिः ।।२८।।

किञ्च **सान्त्वयामासेति,** ततो वाक्यैः सान्त्वयामास. ननु स्वयमेव निःसम्बन्धं प्रतिपाद्य कथं सान्त्वनं कुर्यादित्याशङ्क्याह **सान्त्वज्ञ** इति. सान्त्वने हेतुः **कृपये**ति, नतु भयेन कथञ्चिदपि. **कृपणामि**ति दयायां हेतुः, नतु भार्याम्.

ननु धर्मद्वयस्य विद्यमानत्वात् कथं कार्पण्यमेव हेतुरित्यत आह प्रभुरिति, स हि स्वतः समर्थो न भार्यादिकमपेक्षते. **हास्यप्रौढिवाक्यैर्भ्रमच्चित्तामि**ति वाक्यसान्त्वने हेतुः, अन्यथा कायसान्त्वनेनैव चरितार्थता स्यात्. अतश्चित्तभ्रमोऽपि निवारणीयः. ननु तिष्ठतु चित्ते भ्रमः, किं स्यात्? अत आह **अतदर्हामि**ति. तद् द्विरूपतयावस्थानं नार्हतिह्न शरीरेण कृपां वाचा अकृपां च. शरीरे स्वास्थ्यं चित्तेऽस्वास्थ्यं वा. यतो भगवान् **सतां गतिः**. सन्तो हि निःसन्दिग्धा भवन्ति[1], भगवद्वाक्यविश्वासेन प्रवर्तन्ते ''द्विःशरं नाभिसन्धत्ते द्विःस्थापयति नाश्रितान्'' ''कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यती''ति. अतश्चित्तभ्रमापनोदनार्थं वाचा सान्त्वनं कर्तव्यम् ।।२८।।

तामेवाह त्रिभिः **मा मे**ति.

।।श्रीभगवानुवाच।।

---

१. भगवतीति पाठः.

मा मा वैदर्भ्यसूयेथा जाने त्वां मत्परायणाम्।
त्वद्वचः श्रोतुकामेन क्ष्वेल्याचरितमङ्गने।।२९।।

कायवाङ्मनसां पूर्वं पूर्वं बलिष्ठमिति कायेन सान्त्वने कृते फलरूपत्वात् तस्य वाचिकस्य दुर्बलत्वाच्च जातमेव सान्त्वनम्. परं कायवाचोः परस्परविरोधाद् भगवान्न विश्वसनीय इति स्यात्, तन्निषेधति हे **वैदर्भि, मां मासूयेथा** इति. दोषारोपेण मा पश्य. अथवा निष्कारणमेतावद्दुःखं दत्तमिति कदाचिदसूयां कुर्यात्. अन्यत्तु सहजमेव, न तेन कश्चिदुपकारं मन्यते. तर्ह्येवं वचनस्य प्रवृत्तिविरुद्धस्य कोऽभिप्राय इति चेत्, तत्राह **जाने त्वामि**ति. अन्यथाज्ञात्वा अन्यथावचनमभिप्रायं सूचयति. ननु निर्दुष्टा सर्वथा चेत् तदैवमपि दोषं न मंस्यत इति किं दोषनिराकरणेनेत्यत आह **वैदर्भी**ति. जन्मभूमिसम्बन्धात् कदाचिदेवमपि भावयेदिति, अन्यथा चित्तवृत्तिर्भगवता कृतेति तद्दर्पहननं क्ष्वेल्यर्थं च न परस्परं विरुध्यते. शब्दस्य त्रेधा वृत्तिःह्न मुख्या गौणी तात्पर्यवृत्तिश्चेति. लक्षणागौण्योस्त्वभेदः, तात्पर्ये वा अन्तर्भावः. तत्र मुख्यार्थबाधः दर्पहननपक्षे; क्ष्वेलिपक्षे च तुल्यः. ततः प्रासङ्गिको गौणः क्ष्वेल्यां पर्यवस्यति तात्पर्यं तु दर्पहनन इति उभयमविरुद्धम्. ''स्त्रीषु नर्मविवाहे चे''ति वाक्यात् मुख्यार्थरहितशब्दप्रयोगो न दोषाय. अन्यथा तात्पर्यादीनां वैयर्थ्यं स्यात्. ''परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं च मम प्रियमि''ति भगवद्वाक्याच्च. पूर्वपक्षन्यायेन बहिर्मुखत्वं लौकिकत्वं च

तस्यामारोप्य वाक्यानि प्रयुक्तानीत्यवोचाम. प्रासङ्गिकानि फलानि भगवान् निर्दिशति सान्त्वनार्थम्. मुख्यार्थो न विवक्षित इत्यत्र हेतुः **जाने त्वां मत्परायणामिति**. अहमेव

लेखः

मा मा वैदर्भीत्यत्र अन्यत्त्विति, लौकिकविषयाभावादिकमित्यर्थः. न **तेनेति**, लौकिकविषयादिना कश्चिदपि भक्त उपकारं न मन्यते अतस्तदभावकथनं सहजत्वान्न दुःखदं किन्तु त्यागबोधकं वाक्यं दुःखदमित्यर्थः. दोषं न मंस्यते इति. एतादृशवाक्याकथनेऽपि विषयान् न भावयिष्यतीत्यर्थः. एवमपीति, विषयभोगमपीत्यर्थः. **प्रासङ्गिकानि फलानीति**, दर्पहनने तात्पर्यात् तन्मुख्यं फलं स्वपरायणत्वज्ञानक्ष्वेलिकोपादीनि प्रासङ्गिकानीत्यर्थः. **मुख्यार्थ** परमयनं यस्याः. तर्हि कथने कोऽभिप्राय इति चेत्, तत्राह क्ष्वेल्याचरितमिति. **क्ष्वेली** परिहासः. परिहासार्थमेव हि गाल्यः[१] उत्पन्नाः अतः क्ष्वेल्यैवाचरितं तादृशवचनभाषणं कृतमित्यर्थः. तथाकरणे दोषाभावमाह अङ्गने इति. **अङ्गं** नयति प्रापयतीति[२] तादृश्या सह रसोत्पत्त्यर्थं वक्तव्यमेव. [३]प्रासङ्गिकत्वात् तदानीमेवैतदभावेऽपि न दोषः. अग्रे तु भविष्यति. दर्पस्तु भगवदीयतया स्वल्पो मृग्य एव, अन्यथा ज्ञानमार्गात् को विशेषः स्यात् परमुद्गतो नापेक्ष्यते. तस्मिन्निराकार्ये वक्ता ईश्वर इति सर्वोऽपि निवृत्तः, तदाधाराः प्राणा अपि; तदनभिप्रेतमिति पुनः प्रतिप्रसवमाह **जाने त्वामिति**. परन्त्वहमेव वल्लभेति न मन्तव्यमिति भावः. क्ष्वेल्याः प्रयोजनमाह **त्वद्वचः श्रोतुकामेनेति**. गूढं वाक्यमपि श्रोतव्यमिति भावः ।।२९।।

प्रयोजनान्तरमाह **मुखं चेति**.

मुखं च प्रेमसंरम्भ-स्फुरिताधरमीक्षितुम् ।

कटाक्षेपारुणापाङ्गं सुन्दरभ्रुकुटीतटम्।।३०।।

मुखं च ईक्षितुम्. गालिदाने हि लोकाः कुप्यन्ति, तथा त्वमपि कोपं करिष्यसीति कोपोत्पादनार्थं तथोक्तम्. प्रेमरसस्त्रिविधो भवतिह्व सात्त्विको राजसस्तामसश्च. सात्त्विकस्तत्र पुत्रादिसाधारणः. राजसः स्त्रियामेव धर्मसहितः. तामसस्तु जारएव भवति सहजः. स[४] भावः कदाचिदत्र द्रष्टव्य इति तदुत्पादनार्थं वचनम्. **प्रेम्णा यः क्रोधसंरम्भः तेन स्फुरितमधरं यत्र, कटाक्षेपा** वक्रदृष्टयः, तत्सहित**मरुणमपाङ्गं** नेत्रान्तं यस्य. **सुन्दरश्च भ्रुकुट्याः तटः**. मुखं रसालं

तामसं तदैव भवति, दृष्टिश्च सात्त्विकी तदैव रसाला, तदैव भ्रूभङ्गश्च रसालः ।।३०।।

लेखः

इति त्याग इत्यर्थः. **गाल्य** इति, विवाहाद्युत्सवे उच्यन्ते ता इत्यर्थः. **प्रतिप्रसवमाहे**ति. भगवज्ज्ञानस्य सिद्धविषयत्वात् तज्ज्ञानेन प्राणादीनां प्रतिप्रसवो जातः. प्राणादिस्थितिं विना भगवत्परायणत्वं न सिध्यतीति भावः ।।२९।।

---

१. गालीः. २. प्रार्थयतीति पाठः. ३. इतः पूर्वं ''प्रयोजने''त्यारभ्य ''तथोक्तमि''त्यन्ताः फक्किका लेखकभ्रमादत्र पतिताः. प्रभूणां पुस्तके तु ता अग्रिमश्लोकव्याख्यानारम्भे दृश्यन्ते. उचितं च तथैवेति. ४. स्वभाव इति पाठः.

ननु किमेवं वाक्काययोः श्रवणादिनेति चेत्, तत्राह **अयं** हीति.

अयं हि परमो लाभो गृहेषु गृहमेधिनाम् ।

यन्नर्मैर्नीयते यामः प्रियया भीरु भामिनि।।३१।।

गृहमेधिनां गृहेषु कामैकप्रधानेषु **अयमेव परमो लाभः,** अनिषिद्धः सन् पूर्णः कामरसः प्राप्यत इति. अतो यत्र रसाभासएव तत्र चेद्रसः प्राप्यते स कथं न परमो लाभो भवेत्? **गृहमेधिनामि**ति स्वभावतो रसाभाव उक्तः. **नर्मैः** परिहासवचनैः. **यामः** कालः याममात्रं वा. त्रियामा रात्रिः; तत्र निद्रार्थं यामद्वयं ततो याममात्रमेवावशिष्यते, **प्रियया** सहेति, प्रीतिस्त्वन्तरा, कायिकः साधारणः, वाचनिकं चेन्न स्यात् तदैकाङ्गविकलमिति सर्वथा परिहासो वक्तव्यः. नन्वेवं सति विरसता चेत् स्यात् तदाधिकं नश्येदित्याशङ्क्याह **भीर्विति** सम्बोधनम्. ''विशेषास्त्वङ्गना भीरुः कामिनी वामलोचना'' इति स्त्रीविशेषवाचित्वान्नैवं विरसं करोति. **भामिनीति लौ**किकं चातुर्यमुच्यते; तेन स्वभावतः गुणतश्चोत्तमेति नान्यथा करिष्यतीति भावः ।।३१।।

ततः स्वस्था भूत्वा भगवदभिप्रेतं कृतवतीत्याह सैवमिति द्वाभ्याम्.

।।श्रीशुक उवाच।।

सैवं भगवता राजन् वैदर्भी परिसान्त्विता ।

ज्ञात्वा तत्परिहासोक्तिं प्रियत्यागभयं जहौ।।३२।।

आदौ स्वास्थ्यमुच्यते. **सा** पूर्वं तथोक्ता तथाभूता च. ननु उभयमपि भगवद्वाक्यमेवेति कथमस्मिन्वाक्ये विश्वासः? पूर्वोत्तरभावस्त्वप्रयोजकः. यथा पूर्वत्र हेतुरुक्तः तथात्रापि मरणमनभिप्रेतं भविष्यतीति हेतुः कुतो न भवेत्, ततो निर्विचिकित्सं कथं प्रवृत्तिरित्याशङ्क्याह **भगवते**ति. स हि सर्वसमर्थो

लेखः

अयं हीत्यस्याभासे **श्रवणादिने**ति. श्रवणं च तदादिदर्शनं च तयोः समाहारस्तथा. तेनेति, तथाच ''वचः श्रोतुकामेने''त्युक्तेन वाचः श्रवणेन ''मुखं च ईक्षितुमि''त्युक्तेन कायस्य दर्शनेन चेत्यर्थः. व्याख्यानान्ते **नान्यथा करिष्यती**ति, **मनसि** वैरस्यं न ख्यापयिष्यतीत्यर्थः ।।३१।।

यथेच्छं करोतीति. **राजन्नि**ति पूर्ववत्. **वैदर्भी** स्वभावतो भक्तिप्रधाना राजसीति. **परितः सान्त्वनं** कायवाङ्मनोभिः. बाधकं च विरुद्धं वाक्यं **परिहासोक्तिं ज्ञात्वा** उदासीनत्वे चिन्तारहिता अलौकिकी. त्यक्ष्यतीत्येव स्फुरितबाधा[१] अभिप्राये ज्ञाते **प्रियत्यागभयं जहौ,** अन्यथा सशेषोऽभिमानो न भवेदिति. तया क्ष्वेल्यर्थतैव ज्ञाता नतु स्मयाभावार्थता, अतएव यथार्थत्वे प्रियत्यागेन यद् भयं तत् त्यक्तवती ।।३२।।

ततः स्वस्था भगवदभिलषितं किञ्चिदुक्तवतीत्याह **बभाष** इति.

बभाषे ऋषभं पुंसां वीक्षन्ती भगवन्मुखम् ।

सव्रीडहासरुचिर-स्निग्धापाङ्गेन भारत।।३३।।

पुंसामृषभं पुरुषोत्तमम्. अनेन भगवान् न स्त्रीपतिरित्युक्तम्. ततश्च स्त्रीबुद्धिः कापट्यं स्त्रीवश्यता च भगवतो निवारिता. एवं ज्ञात्वैव सा यथार्थं वदति, नतु साप्यन्यथा ज्ञात्वा अन्यथा वदति. तथा सत्यभिप्रायान्तरकल्पनायामनवस्था स्यात्. **वीक्षन्ती भगवन्मुखमि**ति दृष्ट्यैव परमः सन्तोषः वाच्यार्थस्फूर्तिरपि निरूपिता. अन्तर्गतं भावत्रयं आविष्कुर्वती तथोक्तवतीत्याह **सव्रीडे**ति. लज्जा स्वाभाविकी सात्त्विकी, हासो राजसः शृङ्गारप्रधानः. **रुचिरं**[२] **स्निग्धं यदपाङ्गं** तदपि गुणत्रययुक्तम्. तेन वीक्षन्तीति स्वान्तःस्थितभावोद्गिरणं[३] निरूपितम्. अत''श्चित्तमनेनैवाकृष्यत'' इति

वचनानि पोषकाण्येव भवन्ति, नत्वन्यार्थकल्पनया कदाचिदपि विरुद्धानि भवन्तीति भावः ।।३३।।

वचनान्याह पञ्चदशभिः **नन्वेवमि**ति, कला एवैताः त्रिविधमपि पञ्चविधं कामरसं प्रबोधयन्तीव.

।।श्रीरुक्मिण्युवाच।।

लेखः

बभाषे इत्यत्र **अतश्चित्तमि**ति, **सव्रीडे**त्यादिकथनाद् भावोद्गिरणेनैव चित्तमत्राकृष्यते. अतोऽन्यथाज्ञात्वा अन्यथा वदतीत्येवं चित्तविरुद्धानि वचनानि न भवन्तीत्यर्थः ।।३३।।

---

१. स्फुरिताबाधेति पाठः. २. पुँल्लिङ्गः पाठः क्वचिद् दृश्यते. ३. स्वान्तःस्वभावोद्गिरणमिति पाठः.

नन्वेवमेतदरविन्दविलोचनाह

यद्वै भवान् न भवतो सदृशी विभूम्नः।

क्व स्वे महिम्न्यभिरतो भगवांस्त्र्यधीशः

क्वाहं गुणप्रकृतिरज्ञगृहीतपादा।।३४।।

कथं भगवता तद्वाक्यश्रवणार्थं सूत्ररूपाणि वाक्यानि निरूपितानीत्याकाङ्क्षायां बहिरङ्गप्रकारं परित्यज्य अन्तरङ्गप्रकारेणैव तद्वाक्यव्याख्यानरूपाणि वाक्यानि श्रोष्यतीत्यवगत्य [१]तद्व्याख्यानमेवाह. अन्यथा ‘‘अप्रतिषिद्धमनुमतं भवती’’ति विरोधोऽङ्गीकृतः स्याद्, ईश्वरवाक्यं वा बाधितार्थमिति. अतो दोषनिराकरणार्थं प्रवृत्तो भगवान् तस्यां नैवं दोषं सम्पादयेत्. अतः स्ववाक्यान्येव इयं व्याचष्टामिति भगवदभिप्रायः. तत्र भगवता यदुक्तं, ‘‘कस्मान्नो ववृषेऽसमानि’’ति, तत्रार्थद्वयं सम्भवतिह्न हीनत्वेनोत्तमत्वेन वा. तत्रोत्तमत्वेनैव तत्पदं सार्थकमित्याह **नन्वेवमेतदि**ति. ‘असमानि’ति पदं परित्यज्य प्रथमं श्लोकद्वयमर्थतोऽङ्गीकृतमिति न तद्बाधनार्थं किञ्चिदुच्यते. प्रयोजनं त्वग्रे वक्तव्यं, दोषस्त्वादौ परिह्रियते. तमपि[२] शब्दं स्वरूपतोऽङ्गीकरोति. हे **अरविन्दविलोचन,** यद्वै निश्चयेन **भवानाह. नन्वि**ति कोमलसम्बोधनेन अर्थतो विचार्यमाणे प्रातीतिके स पूर्वपक्षएवेति ज्ञापयति. आदावेव नन्वित्युक्तत्वात् सर्वाण्येव वाक्यानि यथाश्रुतानि

पूर्वपक्ष एवेत्युक्तं भवति. एवमेतत् तथैव स्वार्थपरमित्यर्थः. सम्बोधनेन दृष्ट्यैव तापहारकः कथं वाक्यैस्तापं जनयिष्यतीति विरुद्धार्थपरित्यागो युक्त इति सूचितम्. वै निश्चयेन, नत्वेकदेशेनापि बाध्यते. ''असमानि''त्यस्य

लेखः

नन्वेवमित्यत्र. अत्र भगवद्वाक्यानि गौण्या वृत्त्या व्याख्यायन्ते. तात्पर्यार्थो दर्पहननं शक्योऽर्थः प्रातीतिक इति विभागः. **त्रिविधमपीति**, कायिक-वाचिक-मानसिकभेदेन त्रैविध्यम्. चुम्बनाश्लेष-नखक्षत-दन्तक्षत-ताडनभेदेन पञ्चविधत्वम्. **तद्वाक्येति,** तादृशवाक्येत्यर्थः. **इयमाकाङ्क्षा** रुक्मिण्याएव जाता तदा **इत्यवगत्य व्याख्यानमेवाहेत्यन्वयः. अतो दोषेति,** विरोधाङ्गीकाराद् बाधितार्थत्वस्वीकाराद्वा प्राप्तं **दोषं दोषनिराकरणार्थं** प्रवृत्तत्वात् **न सम्पादयेत्.**

---

१. तद्वाक्यख्यापनमिति पाठः. २. दोषरूपमपि.

व्याख्यानं **न भवतः सदृशीति**. न विद्यन्ते समा येषां, न समा इति वा ह्यएवमर्थद्वये प्रथमार्थ एव ग्राह्यः, भगवन्निरूपितं साम्यमन्यत्र नास्तीति. भगवांस्तु सर्वसमः, ''समः प्लुषिणे''त्यादिश्रुतेः. यथाकाशः सर्वसमो भवति, नत्वाकाशसमः कश्चित्. अतः अहं भवतः समा न भवामीति. तत्र हेतुः **विभूम्न** इति. विशिष्टो भूमा यस्येति, विगतो भूमा यस्मादिति वा. वैशिष्ट्यं सर्वतः, अन्यत्र भूमाभावे च असमानत्वं सिद्धमेव. भगवतो व्यापकत्वं सर्वश्रुतिसिद्धम्, गुणानां मायाया वा न तथेति सर्वजनीनत्वाद्धेतुरयं युक्तः. ननु तथापि त्वय्येव रमत इति तस्यापि रत्युत्पादिका त्वमेव महती समा वेत्याशङ्क्याह **क्व स्वे महिम्नी**ति. भगवान् सर्वदा स्वस्मिन्नेव रमते; अभितो रमणं तत्रैव. केनचिदंशेन कदाचिदेव कार्ये रमणम्. अत एव तत्कार्याण्यपि घटादीनि कदाचिदेव व्यापृतानि भवन्ति, नतु सर्वदा. **स्वे महिम्नि स्वपूर्णानन्दे**. इयं च सृष्टिरूपा माया, नतु मुख्या लक्ष्मीर्ब्रह्मानन्दरूपापि. तस्याएवांशो **मायेति न क्वचिद्विरोध**ः. यतो **भगवान्.** ननु समशो भवतु, तत्रापि को विशेष इति चेत्, तत्राह त्र्यधीश इति, त्रयाणां गुणानां तत्कार्याणां चाधीशः. नहीशितव्यैरीश्वरो रमते. तर्हि त्वमपि भगवति वा स्वस्मिन् वा रमसे अतः साम्यमेवोचितमिति चेत्, तत्राह

विभूम्न इत्यत्र विशिष्टो भूमा बाहुल्यं यस्येत्यर्थः प्रथमपक्षे, यस्माद्धेतोर्बाहुल्यं सर्वतो विगतम्; अन्यत्र बाहुल्यं नास्तीत्यर्थो द्वितीयपक्षे. वैशिष्ट्यं विवृण्वन्ति **सर्वत** इति. द्वितीयपक्षं विवृण्वन्ति **अन्यत्रेति**. ''भूमा सम्प्रसादादि''त्यधिकरणे श्रुत्युक्तमेव 'भूम'पदं भगवद्वाचकमुक्तम्, अन्यत्र तु बाहुल्यार्थकमपि भवतीति ज्ञेयम्. नन्वस्या अपि ''अर्धो वा एष आत्मन'' इतिवाक्याद् भगवदानन्दत्वमेव, अतः **क्व स्वे महिम्नी**ति कथमुपपद्यते इत्यत आहु **इयं चे**ति. एतद्वाक्यवक्त्री सृष्टिनिरूपिका आनन्दशक्तिरूपा मायेत्यर्थः. नन्वेवं सत्येतस्या मुख्यलक्ष्मीत्वं बाधितं भवेदित्यत आहुः **तस्या** एवेति. अस्या मुख्यत्वेऽपि अवस्थाविशेषकृत-दैन्याविर्भावात् तावदंशमेवादाय वाक्यमुक्तवतीति भावः ।।३४।।

क्वाहं गुणप्रकृतिरिति. मम तु प्रकृतिर्गुणाः, भगवतस्तु परमानन्दः. यथैको मृण्मयेन व्यवहरति, अपरः सौवर्णेनेति. अतः स्वरूपरमणमपि ममाप्रयोजकम्. भगवत्यपि रमणं क्वचिदपि परिच्छिन्नत्वान्ममैकदेशेनैव. न हि परिच्छिन्नः सर्वथा व्याप्तुमर्हति. किञ्च कार्यद्वारापि ममापकर्ष एवेत्याह **अज्ञगृहीतपादे**ति. यद्यपि मत्सेवका बहवः, मां चाकाङ्क्षन्ते संसाररूपां, तथापि ते अज्ञाः. श्रेष्ठाश्रयणमेव महत्त्वसूचकं, नत्वश्रेष्ठानां बहूनामपि. न हि बह्व्यो मक्षिकाः यं कञ्चिदपकृष्टमाश्रयन्तइति गरुडाश्रितभगवत्तुल्यो[१] भवति. **'गृहीतपाद'पदेन** दोषाभावोऽप्युक्तः. अनेनान्ये मत्सेवकाएवेति न तेऽपि मत्समाः. तेनान्यान् समत्वेनाभिप्रेत्य यद् भगवतोक्तं तदपि निवारितं ज्ञातव्यम् ।।३४।।

एवम् 'असम'पदं व्याख्याय ''राजभ्यो बिभ्यत'' इत्यर्धेन यद् भयं निरूपितं तदपि तथैवेति व्याचष्टे **सत्यमि**ति.

सत्यं भयादिव गुणेभ्य उरुक्रमान्तः
शेते समुद्र उपलम्भनमात्र आत्मा।
नित्यं कदिन्द्रियगणैः कृतविग्रहस्त्वं
त्वत्सेवकैर्नृपपदं विधुतं तमोऽन्धम्।।३५।।

रजसो धर्मा राजसा राजानः, ते हि निरन्तरं प्रकृत्येकस्वभावाः[२]. तेषु विद्यमानेषु न कदाचिदप्यात्मसुखस्फूर्तिः. ''सुखमस्यात्मनो रूपं सर्वेहोपरतिस्तनुरि''त्येव विवृतम्. अतः स्वानन्दानुभवे रजस्तमःप्रधानान् गुणान् परित्यज्य **समुद्रे** मुद्रासहिते यत्र गुणानां प्रवेशो न भवति तादृशे **उपलम्भनमात्रे**

केवले चिद्रूपे, ज्ञानं हि मायानिवर्तकं भवतीति. तत्राप्यन्तः यथा दूरादपि न कोऽपि पश्यति तथा लीनः सन् **आत्मा** सूक्ष्मो व्यापको भूत्वा. तदात्मकः सन्३ व्याप्नोतीति च ज्ञापयितुमपि 'आत्म'पदम्. ते त्वकिञ्चित्करा

लेखः

सत्यमित्यत्र सूक्ष्म इति, विरलावयवः सन् व्यापको भूत्वेत्यर्थः. तदात्मक इति, **गुणात्मकः** सन् शेते इति ज्ञापयितुमपि, गुणान् व्याप्नोतीति च ज्ञापयितुमप्यात्मपदमुक्तमित्यर्थः ।।३५।।

---

१. सो अपकृष्टाश्रितो गरुडाश्रितभगवत्तुल्यो भवति इति अर्थः -सम्पा. २. प्रवृत्त्येकस्वभावा इति पाठः. ३. तदात्मकं स न व्याप्नोतीति पाठः.

इति **भयादिवेत्युक्तम्**. तत्र हेतुः **उरुक्रमे**ति. यथाश्रुतमग्रे निराकरिष्यते. अनेनात्रापि द्वारकायाम् आत्मरमणार्थमेव स्थीयत इति गुणरूपेभ्यस्तेभ्यः पलाय्य समागमनं युक्तमिति समर्थितम्. यदप्युक्तं ''बलवद्भिः कृतद्वेषानि''ति तदपि सत्यमेव. व्याचष्टे **नित्यमिति. कदिन्द्रियाणां** कुत्सितेन्द्रियाणां **गणो येषु,** सर्वाण्येवेन्द्रियाणि बहिर्मुखानीति. ते हि बलवन्तो भवन्ति अदान्तैरिन्द्रियैः. वस्तुतस्तु दुर्बलाएव, इन्द्रियपरवशत्वात्. ते हि दुष्टाः काका इव स्प्रक्ष्यन्तीति तद्दत्तं न ग्राह्यमिति. वैदिकप्रकारेण कदाचित् ते यज्ञं कुर्युरिति, ''न द्विषतोऽन्नमश्नीयादि''ति तद्दत्तभागाभजनेऽपि न दोष इति, तदर्थं तैः सह सर्वथैव भवान् कलहं करोति. एतदेव दैत्यैः सह नित्यविरोधे निमित्तम्. ''प्रायस्त्यक्तनृपासनानि''ति व्याचष्टे **त्वत्सेवकैर्नृपपदं विधुतं तमोऽन्धमि**ति. त्वत्सेवकैरपि तत्पदं त्यज्यते, ततो ज्ञायते नृपसिंहासनमधममिति. तस्मिन्नुत्कृष्टे तत्प्राप्य पश्चात् त्वत्सेवारसमनुभूय तत्परित्यागो नोपपद्येत. अतो[१] भगवच्चरणसेवातो राज्यमपकृष्टमिति सिद्धम्. ततश्चापकृष्टे भगवान्न तिष्ठतीति युक्तमेव. यत्र भगवद्धर्मा अपि न तिष्ठन्ति तत्र कथं भगवांस्तिष्ठेत्, यत्र कमलादेर्गन्धोऽपि न सम्भाव्यते तत्र कमलस्थितिरिव? स्पष्टं तद्गतं दोषमाह **तमोऽन्धमि**ति. तत्रोपविष्टोऽन्धो भवतीति तम इव सद्विरोधी च भवतीति. ''प्रायः''पदं लौकिकदृष्ट्या अपेक्षितमिति न निराकृतम् ।।३५।।

यत्कार्ये [2]कारणदोषमङ्गीकृत्य प्रवृत्तौ दूषणं द्वयं हेतुत्वेनोक्तम् ''अस्पष्टवर्त्मनां पुंसामलोकपथमीयुषामि''ति, तदपि सत्यमिति व्याचष्टे **त्वत्पादपद्मेति.**

त्वत्पादपद्ममकरन्दजुषां मुनीनां

वर्त्मास्फुटं नृपशुभिर्ननु दुर्विभाव्यम्।

यस्मादलौकिकमिवेहितमीश्वरस्य

भूमंस्तवेहितमथो अनु ये भवन्तम्।।३६।।

''सीदन्ती''ति तु[3] फलमग्रे विवेचनीयम्. तव मार्गो न स्पष्ट इत्यास्ताम्. ये त्वच्चरणरजसा जातदेहा: त्वच्चरणरजोऽभिलाषिणो वा, त्वामुपासते, तेषामपि

---

१. तत इति पाठः. २. करणेति पाठः. ३. तुः नास्ति क्वचित्.

वर्त्मास्फुटम्. स्फुटत्वे तु तै: प्रतिबन्धान्न मननं[1] सिध्यति. यथा कालं वञ्चयित्वा भगवान् भक्तान् नेष्यत्यभिप्रेतानेव, तथा तेऽपि गुप्ताश्चरन्तीति त्वदुपासका: कर्मिणोऽपि गुप्ता भवन्ति. सुतरां चरणोपासका: ज्ञानिनः, सुतरामपि पादपद्मोपासका भक्ता:. तत्रापि भक्तिरसाभिज्ञाः मकरन्दनिषेवका:, तं रसमन्यो गृहीष्यतीति. अतो बहिर्विसदृशाचरणात् तेषामपि मार्गो न स्फुट:. अयं मार्गएव एतादृश इति अस्पष्टवर्त्मत्वं न दोषाय, अपितु गुणायैव, ''स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुण: परिकीर्तित: विपर्ययस्तु दोष: स्यादुभयोरेष निश्चय'' इति वाक्यात्. ननु तथापि लोके प्रसिद्धमेतद्दूषणमिति चेत्, तत्राह **नृपशुभिर्ननु दुर्विभाव्यमि**ति. युक्तमेवैतत्, नहि सर्वैरुत्कृष्टो मार्ग: ज्ञेयो भवति, तथा सति साधारण: स्यात्. विशिष्टास्त्वत्रापि जानन्त्येव, अन्यथा कथं तत्सेवका भवेयु: कथं वा तथा कुर्यु:? अतो ये नराकारा: पशव: अपुच्छशृङ्गाः, अन्य: सर्वोऽपि व्यवहार: पशुतुल्यएव, तैर्दुर्विभाव्यमेव. **नन्विति** युक्तमित्यर्थे सम्बोधनं, तेऽपि विवेकिनश्चेद् अग्रे ज्ञास्यन्तीति. प्रथमं दुर्विभाव्यत्वं पूर्वपक्षोऽपि, ''अलोकपथमीयुषामि''ति लोकवैलक्षण्यमपि दूषणं लोके प्रसिद्धं; तत्परिहरति **यस्मादलौकिकमिवे**ति. भगवानलौकिक: भगवद्धर्माश्च, अन्यथा भगवतो न किञ्चित्कार्यं स्याद्, भगवन्मार्गस्य वा. संसारस्यान्यथैव सिद्धत्वात् तन्निवारकं त्वलौकिकमेव. किञ्च लोकेऽपि साधारणस्येश्वरस्य च कृतौ वैलक्षण्यं प्रतीयते. न च तद्दोषाय भवति. तथा भगवतोऽपि **अलौकिकमिव ईहितम्.** ननु तथा सति कार्येषु लोका: सहाया

न भविष्यन्तीति चेत्, तत्राह **भूमन्निति**. त्वमेव महान्, किं तुच्छैरित्यर्थ:. किञ्च न सर्वथा अलौकिकं किन्त्वतिमूढानामेव तदगम्यम्, अन्यथा भगवत: सेवका: मार्गपारम्पर्यं च न स्यादित्याशयेनाह **अथो अनु ये भवन्तमि**ति. भगवतस्त्वीहितं शास्त्रेषु भाववर्णनाद् ज्ञातुमपि शक्यं, तदीयानां तु सुतरामेवाभिप्रायो न बुध्यत इति भिन्नप्रक्रम:. तस्मादलौकिकेऽपि बहव: प्रकारा: सन्तीति लोकवत् तदपि प्रसिद्धम्. तस्माद् यावन्तो गुणा लौकिके ततोऽप्यधिका अलौकिके इति नैतद्दूषणं किन्तु गुणएवेत्यर्थ:. साधनस्यादोषत्वे कार्यस्यान्यथात्वं परिहृतमेव, तथाप्यग्रे परिहरिष्यते ।।३६।।

---

१. न मतं, न गमनमिति पाठद्वयम्.

यदप्यभजनसम्मत्यर्थं स्वत: परतश्च धनाभावलक्षणं दूषणमुक्तं तस्याप्यन्यथार्थं व्याचष्टे **निष्किञ्चन** इति.

निष्किञ्चनो ननु भवान् न यतोऽस्ति किञ्चिद्
यस्मै बलिं बलिभुजोऽपि हरन्त्यजाद्या:।
न त्वां विदन्त्यसुतृपोऽन्तकमाढ्यतान्धा:
प्रेष्ठो भवान् बलिभुजामपि तेऽपि तुभ्यम्।।३७।।

'निष्किञ्चन'पदं यौगिकमत्र, नतु रूढं निर्धनार्थम्. योगमाह न **यतोऽस्ति किञ्चिदि**ति. **नन्वि**ति निश्चयेनैव; **भवान् निष्किञ्चन:** यस्य किञ्चन नास्ति किन्तु सर्वमेव. यतो हेतोर्वा किञ्चिन्नास्ति किन्तु सर्वमेवास्ति. यतो भिन्नं वा. अत्रापि ज्ञानोदये सर्वं भगवत: सकाशादल्पमेव भविष्यतीति यत: सर्वं किञ्चिदेवेति **नन्वर्थ:**. अथवा. निरुपसर्गो निर्गतार्थे, यतो भगवत: सकाशात् सर्वमेव निर्गतमिति. **नयत:** सर्वं प्रापयतो भगवत: सकाशात् किञ्चिदस्तीत्यर्थ:. ननु रूढिं परित्यज्य किमिति योग आश्रीयते इति चेत्, तत्राह **यस्मै बलिं बलिभुजोऽपि हरन्तीति**. न हि बाधितोऽर्थ: स्वीकर्तुं शक्यते. यथा प्रकरणवशात् 'सैन्धवा'दिपदेषु युद्धार्थं प्रवृतौ सिन्धुजत्वमेव पुरस्कृत्य अश्वएव प्रतीयते नतु लवणं तथात्रापि **बलिभु**ज इन्द्रादयोऽपि सर्वोपास्या **यस्मै बलिं हरन्ति.** चरणक्षालने अज: प्रसिद्ध इति तेनापि बलिर्दत्तो भविष्यति. चरणसेवका इति ज्ञापयितुं वा तदादित्वम्. अनेन स्वतो धनाभावपक्ष: परिहृत:. परतो धनाभावपक्षे सिद्धान्तमाह **न त्वां विदन्ती**ति. ज्ञात्वा हि भजनम्. नन्वज्ञानमपि

[1]दोषाभावप्रतिपादकमिति चेत्, सत्यं यदि प्रतिबन्धाभावेऽप्यज्ञानं भवेत्. अत्र तु त्वदज्ञाने हेतुरस्तीत्याह असुतृप इति. प्राणतर्पणएव व्यापृता न जानन्ति, ज्ञापनार्थं प्रयत्ने अवकाशाभावात्. नन्वनावश्यकत्वं तथा सति जातमिति प्राणापेक्षया अपकर्षाद् [2]अज्ञानमदोषायेवेति चेत्, तत्राह **अन्तकमि**ति, स हि मारकः सर्वसंहर्ता अतः सर्वैरेव ज्ञातव्यः. तथाप्यज्ञानं बहिर्मुखत्वादेव. हेत्वन्तरमप्याह **आढ्यतान्धा** इति, आढ्यतया अन्धाः. न हि चक्षुषि द्रव्यादिना पिहिते कश्चित्पश्यति.

---

१. दोषप्रतिपादकमिति पाठः. २. अज्ञानं दोषायेति पाठः.

तथाढ्यता सर्वत्र व्यापृता निरन्तरा अन्धत्वमेव सम्पादयति. परिमितमेव गुणो, नत्वपरिमितं धनम्. अजीर्णान्नवत्. अतो ज्ञानाभावात् परतो धनाभावो युक्तः. नह्यन्धत्वापादकं धनं भवति. यदप्युक्तं ''निष्किञ्चनजना एवास्माकं प्रियाः नत्वाढ्या'' इति स्वरुचिनिरूपणं[1] तदपि युक्तमेवेत्याह **प्रेष्ठो भवानिति. बलिभुजां** विरक्तानां देवानां वा भवान् प्रियः, पुरुषार्थसाधकत्वात्. **'अपि'**शब्देनोभये सङ्गृहीताः. तदनुगामिनश्च **तेऽपि तुभ्यं** त्वदर्थमेव जातास्तव प्रियाः. यो हि यदर्थमेवोत्पद्यते स तु तस्य प्रियः. नात्र 'अर्थ'शब्दो निवृत्तिवाची. अतोऽन्योन्यं प्रियत्वात् निष्किञ्चनाएव जनाः प्रियाः नतु धनवन्तः, पुरुषार्थापेक्षाभावाद् अतदर्थत्वाच्च. अनेन ''तस्मात् प्रायेण नह्याढ्या'' इत्यभजनं समर्थितम् ।।३७।।

यदुक्तं भगवता ''ययोरात्मसमं वित्तमि''ति विवाहयोग्यत्वाय, तत्र निर्णयमाह **त्वं वै समस्तपुरुषार्थमय** इति.

त्वं वै समस्तपुरुषार्थमयः फलात्मा
यद्वाञ्छया सुमतयो विसृजन्ति कृत्यम्।
तेषां विभो समुचितो भवतः समाजः
पुंसः स्त्रियाश्च रतयोः सुखदुःखिनोर्न।।३८।।

पुरुषार्थश्चेद्धर्मादिर्भवेद् उभयातिरिक्तः[2] तत्र जन्मादयः पञ्च विचारणीयाः, क्षेत्रबीजयोर्वैजात्ये फलानुत्पत्तेः. नतु फलसाधनयोर्जन्मादिकं तुल्यमपेक्ष्यते.

निष्किञ्चनो नन्वित्यत्र नात्र 'अर्थ'शब्द इति. अनुपदसंस्कृते **यदर्थमेवोत्पद्यते** इत्यत्रोक्तो **'अर्थ'**शब्दोऽन्यार्थनिवृत्तिवाची न, तथा सति भगवदर्थत्वाभावेन भगवत्प्रियत्वं न स्यात्. किन्तु भगवदर्थत्ववाचीत्यर्थः. 'अर्थ'शब्दस्य पञ्चमोऽर्थो निवृत्तिरिति तथाशङ्क्य निराकृतम्. पुरुषार्थेति, पुरुषार्थमयो भगवानिति वक्ष्यते, तेषां तदपेक्षा नास्ति किन्तु धनापेक्षैवेत्यर्थः ।।३७।।

त्वं वै समस्तेत्यत्र. उभयातिरिक्त इति, भार्यापुरुषातिरिक्त इत्यर्थः. भगवांस्तु पुरुषार्थरूपएवेति भावः. **साधनत्वेने**ति, पुरुषार्थसाधनत्वेन

---

१. स्वरुचेर्निरूपणं यस्मिन्नित्यर्थः. २. धर्मादिपुमर्थसाधनभूताभ्यां विवाह्याभ्यां भिन्न इत्यर्थः.

अतो लौकिकदृष्ट्यैव यो भवन्तं[१] साधनत्वेन मन्यते तं प्रत्येवैषा वाचो युक्तिः नत्वस्मान् प्रतीति असमतयाऽविवाहकथनं न मां प्रति न त्वा प्रतीति [२]प्रकरणादिदं वाक्यमुत्कर्षमेवार्हति, नतु प्रकरणे केनाप्यंशेन सम्बध्यत इत्यभिप्रायेणाह **त्वं सर्वपुरुषार्थमयः**. धर्मादयः पुरुषार्थाः त्वदवयवेषु वर्तन्ते, यथा गङ्गायां जलम्. ततोऽपि गङ्गा महती, तथा भवानिति **मयडर्थः**. साधनैः साधितास्तत्र भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह **फलात्मे**ति. पुरुषार्थाः साधनरूपा अपि भवन्तीति साधनफलरूपत्वं वा प्रतिपाद्यते. सर्वेषामेव वा फलानां त्वमात्मा. नहि परमानन्दे कश्चित् स्वाधिकारो नास्तीति विलम्बते. भगवतः फलत्वं साधनत्वं चार्षज्ञानेनोक्त्वा लौकिकबुद्ध्या तदनङ्गीकारं मत्वा तेषामप्यनुग्रहाय युक्तिमाह **यद्वाञ्छये**ति. फलाकाङ्क्षायामेव विरुद्धानां च परित्यागः, साधनानां च ग्रहणम्. नतु फलयोः, अन्यफलाकाङ्क्षया न ह्यन्यत्फलं त्यज्यते, वैषम्यादेकस्य सिद्धत्वादपरस्यासिद्धत्वात्. अतो राज्यं न फलं नापि फलसाधनं, तदुच्यते यद्वाञ्छयापि त्यज्यत इति. ननु तथापि राज्यमैहिकं फलं भवतीति तत्परित्यागे भ्रान्तत्वं स्यादित्याशङ्क्याह सुमतय इति. कृत्यं कर्तव्यम्. साधनसाध्यरूपत्वाद् भगवतः सएव ग्राह्यः नत्वन्य इति कृत्यं छेदनमर्हतीति सुमतित्वे हेतुरप्युक्तः. अतस्त्वदर्थमेव ये सिद्धाः तेषां तव च समाजो युक्त इत्याह तेषामिति. यद्यपि मैत्री विवाहश्च तेष्वपि न सम्भवति तथाप्येकगोष्ठ्यां सम्बन्धमात्रमपि युज्यत इति तन्निरूप्यते. विभो इति सामर्थ्यं, राज्यादिपरित्यागिनां परमसुकुमाराणां

लेखः

इत्यर्थः. **प्रकरणादि**ति, प्रकरणं भगवद्विवाहस्य. ''ययोरात्मसममि''ति वाक्यम् एतस्मात् प्रकरणाद् उत्कर्षमर्हति. बाधितत्वादत्र प्रकरणे प्रवेशमलभमानमन्यत्रोत्क्रष्टव्यं, लौकिकविवाहप्रतिपादकत्वेन वक्तव्यमित्यर्थः. गङ्गा महतीति. आधिदैविकी गृहेऽपि प्रकटा भवतीति जलापेक्षया महत्परिमाणेत्यर्थः. **फलयोरि**ति सिद्धयोरिति शेषः. **फलमि**ति सिद्धमिति शेषः. **छेदनमर्हतीति** **'कृत्य'**पदनिरुक्तिः. ''कृती छेदने'' इति धातोर्ण्यत्[३]. **अश्वं न** त्वेति.

---

१. भगवन्तम्. २. साधनप्रकरणात्. ३. क्यपिति पाठः.

सन्तोषजनने[१]. सम्यगुचितः समाजः राजमन्त्रिणामिव. सर्वथा आनुगुण्यं प्रतिपादयितुं दृष्टान्तमाह **पुंसः स्त्रियाश्चे**ति. यथा पुंसः स्त्रियाः समाजः, चकारान्मित्रयोः समानशीलव्यसनयोः. ''अश्वं न त्वा वारवन्तम्'' इतिवद् उपमार्थवाचकाभावेऽपि निरुक्तादिवोपमार्थत्वमुच्यते. तत्रापि प्रसङ्गं वारयति **रतयोरि**ति, सर्वक्लेशरहितत्वे सत्यन्योन्यं प्रीतयोः. प्रीत्यादिसद्भावेऽपि बाधकं चेद् भवेत् तदा न भवतीति व्यावर्तयति **सुखदुःखिनोर्ने**ति. एकः सुखी अपरो दुःखी रोगादिना, तयोः कथमपि न समाजः. अनेन दुःखिनोः सुखिनोर्वा समाज उक्तः ।।३८।।

यदप्युक्तं ''भिक्षुभिः श्लाघिता मुधे''ति अज्ञानसमर्थनार्थं तत्रापि निर्णयमाह **त्वं न्यस्तदण्डमुनिभिरि**ति.

त्वं न्यस्तदण्डमुनिभिर्गदितानुभाव–
आत्मात्मदश्च जगतामिति मे वृतोऽसि।
हित्वा भवद् भ्रुव उदीरितकालवेग–
ध्वस्ताशिषोऽब्जभवनाकपतीन् कुतोऽन्ये।।३९।।

'भिक्षुभिः' = परमहंसैरिति व्याख्येयम्. 'मुधे'ति फलाकाङ्क्षारहितैश्च. अन्यथा नारदादिषु लौकिकभिक्षुकत्वाभावाद् बाधितार्थता स्यात्. अन्ये च भिक्षवः न श्लाघां कुर्वन्ति. तदाह **न्यस्तो दण्डो** भुतेषु यैः. अनेन दोषाभाव उक्तः. ते च ते मुनयश्चेति गुणाः. व्यक्तवाण्या अपरोक्षवचनैः

लेखः

अयं नकार इवार्थकत्वेन निरुक्ते प्रथमाध्याये व्याख्यातः, तद्वदत्रापि उपमारूपार्थवाचकेवादिपदाभावेऽपि नकारस्यैवावृत्तस्योपमार्थकत्वमुच्यते. तथा च नकारस्यावृत्तिः; पूर्वनकारस्योपमार्थकत्वं रतयोरिवेत्यर्थः. द्वितीयस्य निषेधार्थकत्वम्, सुखदुःखिनोः समाज उचितो न भवतीत्यर्थः. **प्रसङ्गमि**ति, प्रसङ्गात् कार्यान्तरार्थे मिलितयोः स्त्रीपुंसयो समाजस्तथा रसजनको न भवतीत्यर्थः ।।३८।।

त्वं न्यस्तदण्डेत्यत्र. गदितानुभाव इति गदधातोरर्थमाहुः **व्यक्तवाण्येति**.

---

१. चर्मणि द्वीपिनं हन्तीतिवत् तादर्थ्ये सप्तमी.

(उक्तः[१]) अनुभावो यस्य. श्लाघामात्रं न किन्तु यथा कृतं तथेति '**अनुभाव**'पदेनोच्यते. तत् स्वानुभवसिद्धं तेषाम्, अन्यथा कथं तादृशा जाताः? अतस्तेषां वचनं सार्थकमिति तद्वाक्यैर्ज्ञात्वा भवान् समएव वृतः. समत्वे हेतुरात्मेति. यथा बहिर्दृष्टौ समत्वापादका जन्मादयः तथान्तर्दृष्टावात्मत्वमेव. न हि कस्यचिदपि स्वात्मा न समः. तर्हि वरणेन किमित्यत आह **आत्मदश्चे**ति. जीवाः खण्डितात्मान[२]एव स्थिताः, तेषामात्मानं स्वात्मानं वा प्रयच्छतीति. अनेन त्वं स्वात्मानं दास्यसीति ज्ञात्वैव मया **वृत** इत्युक्तम्. चकाराद् धर्मादीनपि. नन्वहं कथं तवात्मेत्याशङ्क्य साधारण्येनाह **जगता**मिति. **इति**बुद्ध्यैव वृतः. अतएव तेऽपि परित्यक्ता इत्याह हित्वा **भवद् भ्रुव उदीरितकालवेगध्वस्ताशिष** इति. न केवलं मयेदानीमेव भवान् वृतोऽन्यपरित्यागेन किन्तु पूर्वमेव लक्ष्मीस्वयंवरे **अब्जभवनाकपति**प्रभृतीन् परित्यज्य जन्मैश्वर्योत्कर्षयुक्तान् भवानेव वृत इति सम्बन्धः. तेषां परित्यागे हेतुमाह **भवतो भ्रूः** कालजनिका तस्याः सम्बन्धी तेनैवो**दीरितो यः कालः तस्य वेगेन ध्वस्ताः आशिषो येषाम्**. क्षणमपि विसम्मतौ भ्रूवक्रतायां सर्वनाशएव तेषां भवतीति किं तेषां वरणेन नहि मुमूर्षुः कयाचिद् व्रियते. ब्रह्मादीनामेव चेदियमवस्था कुतोऽन्ये वरणयोग्या भवन्तीत्याह **कुतोऽन्य** इति. अतो ज्ञात्वैव भवान् वृतः. नाप्यन्ये वरणीयाः. अन्यद् भगवदुक्तं नास्माकं बाधकम्, उदासीनत्वं च. आत्मात्मदत्वेन अस्मदिष्टमेव, अहमपि तथा भविष्यामीति ।।३९।।

एवं बाधकानि पदानि साधकत्वेन व्याख्याय वाक्यार्थं चोक्त्वा यथाश्रुतं भगवद्वाक्यं लोकदृष्टिपरत्वेऽपि विरुध्यते तस्माद्वाक्यानि विपरीततया स्वोत्कर्षमेव प्रतिपादयन्तीति वक्तव्यमित्यभिप्रायेणाह **जाड्यं वच** इति.

लेख:

अहमपि तथेति, भगवद्वरणे अहमप्यात्मलब्ध्या पूर्णा भविष्यामीत्यर्थ: ।।३९।।

---

१. उक्त इति नास्ति प्रभूणां पुस्तके. २. सर्वेषां जीवानामानन्दांशतिरोभावेन खण्डितात्मत्वात् तेषां ''ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती''ति स्वज्ञानेन तिरोहितानन्दप्रकारकरणेन आत्मानं ददासीति भावः.

जाड्यं वचस्तव गदाग्रज यश्च भूपान्
विद्राव्य शार्ङ्गनिनदेन जहर्थ मां त्वम्।
सिंहो यथा स्वबलिमीश पशून् स्वभागं
तेभ्यो भयाद्यदुदधिं शरणं प्रपन्न:।।४०।।

अत: परं पुनः सर्वे श्लोका: लोकदृष्ट्यापि विरुध्यन्त इति व्याख्यास्यते यतो विपरीततया स्वोत्कर्षमेव प्रतिपादयेयु:. तदा ध्वनिपरत्वेन तान्येव वाक्यानि योजितानि भवन्ति. यदुक्तं प्रथमतएव ''राजभ्यो बिभ्यत'' इति तत्रोत्तरमुच्यते. ''मुखं च प्रेमसंरम्भस्फुरिताधरमीक्षितुमि''ति भगवतोक्तत्वात् तामसप्रकारेणापि क्रोधाविष्टा वाक्यानि खण्डयतीति पूर्वस्माद्विशेष:. भयं हि जडस्य भवति. जाड्यादेव कम्पो दृश्यते. तत्र भगवति भयहेतोरभावात् वक्तुर्भयवाचक: शब्द:. भट्टानामिव शब्दस्यैव शक्तिद्वयं परिकल्प्य वक्तृत्वं वाच्यत्वं च. सार्थकता सम्पादनीयेत्याह **जाड्यं वच** इति. वचएव **जाड्यं** जडता भीतत्वमिति यावत्. तवेति भेदार्थमसमास:. ननु विद्यमाने वक्तरि मुख्यार्थं परित्यज्य वचोजडता कथं सम्पाद्यत इत्यत आह **गदाग्रजे**ति. यथा गदोत्पत्तिपर्यन्तं स्वयमभीतोऽपि क्रियां जडां सम्पादितवान् एवं वाचमप्यत्र तथा सम्पादयति. तेन भगवदिच्छयैव तथा कायिकवाचिकयोर्जातत्वान्न किञ्चिद् दूषणम्. **वच** इति वाच इति वचस इति वा छान्दसम्. अथवा

जाड्यं वच इत्यत्र **जाड्यादेवेति.** जाड्यं भयं हेत्वभावाद् भगवत्यनुपपन्नं वक्तरि शब्दे पर्यवस्यति. तथा च भयेन शब्दस्य कम्पो जातः अतः अभीतमपि भगवन्तं भीतं बोधयति शब्द इति भावः. **वक्तुरि**ति शब्दस्येत्यर्थः. शब्दस्य कथं वक्तृत्वमित्याशङ्क्य सम्मतिपूर्वकं व्युत्पादयन्ति **भट्टानामिवे**ति. **वचएव जाड्यमि**ति, वचसएव जडतेत्यर्थः. **क्रियां जडामि**ति भययुक्तामित्यर्थः. **वाचमपीति,** वाक्यमपि भययुक्तं सम्पादयतीत्यर्थः. इदं शक्तिद्वयकल्पनं पूर्वमीमांसायामुक्तं नतु व्यासाभिमतमित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुरथवेति. अस्मिन् पक्षे वच इति पञ्चम्यन्तम्. उपपत्तिस्तु छान्दसत्वेनोक्तैव. **यश्च त्वमेतादृशः स त्वं तेभ्यो भयादुदधिं शरणं प्रपन्न** इति **यद्** यस्मादतो वचसएव जाड्यमित्यन्वयः ॥४०॥

केनचिद्धर्मेण ज्ञानाभावेन लोके जडो भवति. प्रकृते तु जडत्वसम्पादकत्वं वचएव. केवलं वाक्यादेव प्रतीयते जाड्यं नत्वर्थत इत्यर्थः. चकारात्[१] पूर्वं बहुधा भगवज्जयं समुच्चिनोति. **यस्त्वं भूपान् शार्ङ्गनिनदेनैव विद्राव्य** पशुतुल्यान् कृत्वा मां जहर्थ. पशवएव हि शब्दमात्रेण पलायन्ते. पूर्वं निनदेनैवाभिभूय समाहृता[२], पश्चात् युद्धार्थं प्रवृत्तौ बलेन सर्वे हता इत्यविरोधः. ये हि शब्दमात्रेण पलायन्ते तेन तेभ्यो भयं सम्भाव्यते. **शार्ङ्गनिनदेने**ति हेतुरत्रोक्त इति पूर्वं धनुष्टङ्कारं[३] कृतवानिति लक्ष्यते. ‘‘राजन्यचक्रं परिभूये’’त्यत्र शार्ङ्गनिनदेनेति योजनीयम्. दैवाद् गृहीत्वा अनवहितेषु तेषु समागत इति पक्षं व्यावर्तयति **सिंहो यथे**ति. बलाद् ग्रहणदोषं व्यावर्तयति **स्वभागमि**ति. अदत्तस्यापि ग्रहणे दोषाभावं सामर्थ्यं चाह ईशेति. यथा क्लृप्तोऽपि भागो दैवैर्न गृह्यते अहुतश्चेत्; तथेश्वरो[४] न भवतीत्यर्थः, लोके स्वभागस्य बलादपि ग्रहणं दृष्टमिति. **मां त्वमि**ति प्रत्यक्षं प्रमाणमुक्तम्. **पशूनि**ति सिंहव्यावृत्तिः. न हि सिंहस्य कन्या सिंहेन बलाद् गृहीतुं शक्या, यद्यपि स्वभागरूपा. देवादीनां रक्षाभावाय **स्वबलिमि**ति. स्वार्थमेव देवैः क्लृप्तमिति. यथा सिंहः पशून् विद्राव्य स्वभागभक्षकान् व्याघ्रादीन् नादेनैव निवार्य स्वभागं कुम्भस्थलस्थमांसं हरति एवं निःशङ्कं हृतवतः ते कथं भयमिति? भयवाक्यमनुवदति विरुद्धार्थमिति वक्तुं तेभ्यो भयाद्युदधिं **शरणं प्रपन्न** इति. यस्मात् तेभ्यो भयात् त्वमुदधिं शरणं प्रपन्नः, अस्मद् वचोजाड्यमित्यर्थः. उत्तरवाक्यगतो यच्छब्दः तच्छब्दं नापेक्षत इति न तच्छब्दाध्याहारः. पशुतुल्येभ्यो

विद्रावितेभ्यो भयवचनं बाधितार्थं भवत्येवेति विपरीततयैवार्थो वक्तव्य इति भावः. अनेनैव ‘‘बलवद्भिः कृतद्वेषानि’’ति व्याख्यातम्. न हि पशवः पलायनपरा बलवन्तो भवन्ति. स्वयमेव त्यक्तनृपासनत्वमुत्कर्षएव ।।४०।।

यदुक्तं भगवता ‘‘अस्पष्टवर्त्मनामि’’ति ‘‘तन्मार्गानुवर्तिनः सीदन्ती’’ति, तत्राप्यन्यार्थप्रतीतेः अवाक्यार्थधीजनकत्वाद् ध्वनिप्रकारेणैव निर्णय इत्याह **यद्वाञ्छये**ति.

यद्वाञ्छया नृपशिखामणयोऽङ्ग–वैन्य–

---

१. चकारादिति प्रभुपुस्तके नास्ति. २. समाहूताः. ३. टाङ्कारमिति पाठः. ४. इतरः.

जायन्त–नाहुष–गयादय ऐकपत्यम्।
राज्यं विसृज्य विविशुर्वनमम्बुजाक्ष
सीदन्ति तेऽनुपदवीं त इहास्थिताः किम्।।४१।।

‘योषित’ इति पदमुपलक्षकम्; तेन पुरुषा अपि सीदन्तीति वक्तव्यम्. [१]स्त्रीपदमप्रौढानन्यवृत्तीति. अवसादस्तत्रैव लयः. भगवानग्रे गत इति तेन मार्गेण जिगमिषया **राज्यादिकं विसृज्य** राज्यादिभ्यो भगवद्दर्शनं महदिति **तद्वाञ्छया नृपशिखामणयः** अम्बरीषप्रभृतयः **वनं विविशुः**. भगवति समागतेऽपि ते न समागता इति पूर्वमपि न व्याघुट्यागता इति **पदवीमन्वेव** अवसन्नाः भगवन्मार्गएव मार्गप्रदर्शका इव स्थिताः. अन्यथा भगवन्मार्गो न प्रवर्तेत. अतः अवसादवाक्यं यथार्थं तथापि बहवएव प्रवर्तन्त इति न दूषणम्. नन्वेकत्र निरूपणे कृते कथं सर्वत्र युज्यते? तत्राह ते **इहास्थिताः किमिति. ते** अङ्गादयः. **अङ्गः** पृथोः पितामहः. **वैन्यः** पृथुः. **जायन्तो** भरतः जयन्त्याः पुत्रः. **नाहुषो** ययातिः. **गयः** प्रियव्रतवंशजः. एते **इह आस्थिताः किम्?** आमरणान्ते किं गृहएव स्थिताः अपितु वने प्रविष्टाः तत्रैवावसन्नाः? तेन विपरीतार्थे ये गृहे स्थिताः त एवावसन्नाः नतु त इति वाञ्छामात्रेण स्वकीयं सिद्धमपि राज्यं परित्यज्यन्ति, वने स्वावसादमपि[२] सहन्ते, तत्र भगवन्तं प्राप्य अधमराज्यपरित्यागः किमाश्चर्यमिति भावः ।।४१।।

‘‘निष्किञ्चना वयं शश्वदि’’ति भयन्यायेनैव निवारितमपि लक्ष्म्याश्रयत्वेन तन्निवारयन्नाढ्याभजनमपि विपरीततया व्यावर्तयति **कान्यं श्रयीते**ति.

कान्यं श्रयीत तव पादसरोजगन्धम्

आघ्राय सन्मुखरितं जनतापवर्ग्यम्।

लक्ष्म्यालयं त्वविगणय्य गुणालयस्य

लेखः

यद्वाञ्छयेत्यत्र पूर्वमपीति, भगवदागमनात् पूर्वमपि नागताः आगमनानन्तरमपि नागता इत्यर्थः ।।४१।।

---

१. 'स्त्रीपदमत्र प्रौढे'ति पाठः. २. अवसादम्.

मर्त्या सदोरुभयमर्थविविक्तदृष्टिः।।४२।।

का वा स्त्री **तव पादसरोजगन्धमाघ्राय अन्यं** लशुनामेध्यरूपम्[१] आश्रयेत? अनेनोत्कर्षविषयः तत्र स्वरुचिश्चेति निरूपितम्. क्वचिन्निन्दितमप्येतादृशं भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **सन्मुखरितमि**ति, सद्भिर्मुखरवद् भगवच्चरणारविन्दो वर्णित इति. फलसाधकत्वमाह **जनतापवर्ग्यमि**ति. **जनतायाः** प्राणिमात्रस्य **आपवर्ग्य**मपवर्गमभिव्याप्य यावत्सुखं तत्सर्वं **यस्मादि**ति. प्रमाणं फलं चोक्तम्. किञ्च स्त्रीणां मुख्या लक्ष्मीः सम्पत्तिरूपा च. तस्यास्तदेव गृहमिति स्त्रीभिः सर्वाभिस्तत्रैव स्थातव्यम्. नन्वेवं सति कथं सर्वासाम् अन्य एव भर्तारः? तत्र '**तु**'शब्देन पूर्वपक्षं निराकरोति **अविगणय्ये**ति. समागतमुपस्थितं भगवन्तमविगणय्य कापि नान्यं श्रयते. किञ्च मर्त्या स्वयं मरणधर्मा मरणनिवर्तकमात्मदं भगवन्तमेव सेवितुमर्हति, नतु स**दोरुभयं** सर्वदैव कालादेः सकाशाद् अधिकं भयं यस्येति. महद्भयं मरणात्मकं; स्वस्य कदाचिद् वा तद् भवेत्, सेव्यस्तु सर्वदैव तादृशभयवानित्यभजने हेतुरुक्तः. किञ्च **गुणालयस्य तव** अनन्तगुणानामालयरूपो भवानेव. ततो या गुणरूपा भविष्यति सा त्वामेव श्रयते, दोषरूपा त्वन्यमिति स्थितिः. ननु बह्व्यएव गुणरूपाः अन्यमपि भजन्ति, अन्यथा भगवत्समानकाले अन्येषां विवाहो न स्यात्, तत्राह **अर्थे विविक्ता दृष्टिः यस्या** इति. अविचारेण अर्थविवेचनासामर्थ्येन वा अन्यभजनम्. प्रयोजनतारतम्यदृष्टौ तु मर्त्यायाः गुणरूपायाः लक्ष्म्यंशायाः पूर्वोक्तन्यायेन भगवदाश्रयणमेव युक्तमित्यर्थः. अनेन समताविवाहः साधारणः, उत्कृष्टविवाहएव

कर्तव्य इति ''तयोर्विवाहो मैत्री'' इति पक्षः परिहृतः. अन्यथा लक्ष्म्यादीनां विवाहो नोपपद्येत ।।४२।।

लेखः

कान्यं श्रयीतेत्यत्र मुखरवद् वर्णयन्ति मुखरयन्ते, ''प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमि''ति बाहुलकाण्णिङ्. तथावर्णितं मुखरितमित्यर्थः. अपवर्गमभिव्याप्येत्यापवर्ग्यम्, अव्ययीभावः. तथा वर्तते इत्यापवर्ग्यं सुखं; ''प्रत्यक्षा क्रिये''तिवदर्शआद्यच्. जनतायास्तद्यस्मादिति विग्रहमभिप्रेत्याहुर्जनताया इति ।।४२।।

---

१. मेध्यगन्धरूपम्.

''वैदर्भ्येतदविज्ञाये''त्यस्योत्तरमाह **तं त्वानुरूपमि**ति.

तं त्वानुरूपमभजं जगतामधीशम्
आत्मानमत्र च परत्र च कामपूरम्।
स्यान्मे तवाङ्घ्रिशरणं सृतिभिर्भ्रमन्त्या
यो वै भजन्तमुपयात्यनृतापवर्गः।।४३।।

अज्ञानेन विवाहे हि अन्यवरणं कर्तव्यं भवेद्; ज्ञात्वैव वृत इति स्वज्ञातमर्थमनुवदति. तं पूर्वोक्त-लक्ष्मीपतित्वादि-धर्मयुक्तम्. **त्वामि**ति, तादृश एवावतारेऽपि न प्रच्युतस्वरूपस्त्वम्. ननु तथापि समविवाहएव उचित इति चेत्, तत्राह **अनुरूपमि**ति. मम तु त्वमनुरूपएव, उत्कृष्टत्वात्. तव परमहं नानुरूपा. तस्मादयमुपालम्भः न मां प्रति वक्तव्यः. किञ्च अतिनिकृष्टैरपि ईश्वरः सेव्यएव स्वशक्त्यनुसारेण, तदाह **जगतामधीशमि**ति. किञ्च सर्वेषामात्मा सेव्यः, सर्वं स्वार्थमिति. भवांस्त्वात्मा. किञ्च पुरुषार्थप्रदः सेव्यः, स भवानित्याह **अत्र च परत्र च कामपूरमि**ति. **च**कारादिहलोके परलोकसुखानि प्रयच्छति स्वर्गादिसुखानि, परलोके च जातिस्मरणादिना ऐहिकं फलं प्रयच्छतीति चकारौ. **कामम**भिलषितार्थं, तस्य पूररूपं पूरयति प्रवाहरूपं वा. ननूक्तं ''वयमुदासीना'' इति, अतः कामाभावात् कथं त्वत्कामपूरणमिति चेत्, तत्राह **स्यान्मे तवाङ्घ्रिशरणमि**ति. **(सृतिभिर्भ्रमन्त्या)** संसारे निराश्रये परिभ्रमन्त्या मम तव चरणः आश्रयोऽस्तु. कामनापूरणाद्यभावेऽपि चरणे आश्रयत्वं न विहन्यते.

नन्वाश्रयमात्रेण भगवांश्चेन्न किञ्चित् कुर्यात् तदा किं भवेदित्याशङ्क्याह **यो वै भजन्तमुपयात्यनृतापवर्ग** इति. अनृतापवर्गो मोक्षः विशेषेण अप्रार्थितोऽपि भगवता अदत्तोऽपि भगवद्भक्तमुपयाति, भगवच्चरणामोद इव. अनृतस्य भगवत्यपवर्गएव. तत्र गतः सीमान्ते गत इव तदभावमवश्यं प्राप्नोति. अतो विशेषफलाभावे[१]ऽपि मोक्षस्तु सिद्ध एव इति ।।४३।।

नन्वेतावदेव चेत् प्रार्थ्यं तदा विषयभोगानन्तरमन्यभजनेऽपि शास्त्रार्थानुसारेणापि भजने मोक्षो भवेद्, अत उभयं परित्यज्य विषयाधिकारिणः कथं मद्भजनमिति चेत्, तत्राह **तस्याः स्युरिति.**

---

१. फलभावे इति पाठः.

तस्याः स्युरच्युत नृपा भवतोपदिष्टाः।
स्त्रीणां गृहेषु खर-गो-श्व-बिडाल-भृत्याः।।
यत्कर्णमूलमरिकर्षण नोपयाता।
युष्मत्कथा मृडविरञ्च्यसभासु गीताः।।४४।।

सत्यं; या तादृशी प्राकृती तस्याः पतयः त्वया गणिताः चैद्यादयो भवन्तु सर्वथा विषयपूरकाः, या केवलं विषयानपेक्षते. सर्वाएव अपेक्षन्ते इति चेत्, **तत्राह यत्कर्णमूलं नोपयाता युष्मत्कथा** इति. कथानां कर्णप्रवेशे यथा विषयाभिलाषा गच्छति तद् वक्ष्यति. कथं राज्ञां सर्वथा विषयपोषकत्वं न भगवत इति वैलक्षण्यं निरूपयति **स्त्रीणां गृहेष्विति**. स्त्रीणां शयन-भोजन-विहार-मलत्यागादि-गृहेषु ये स्वोत्कर्षं परित्यज्य तत्सेवापरा भृत्या भवन्ति, यथा गृहदासाः. दास्येऽपि चतुर्धा विशेषमाह **खरादिपदैः**. गर्दभो हि तदपेक्षितं जलादिकं[१] तत्कर्तव्यं स्वयं करोति. तथा ये भार्याकर्तव्यं स्वयं कुर्वन्ति निरालस्याः. यथा वा गावो वृषभाः शकटैस्ता वहन्ति दुह्यन्ति वा, स्वसर्वस्वं प्रयच्छन्ति इष्टदेशेषु स्वयं भारमूढ्वा, तथा ताः प्रापयन्ति. यथा वा श्वानः रात्रौ गृहस्वामिनि शयाने स्वयमनिद्रः तत्पालनं करोति तथा नीचा भूत्वा शरीरेण पालयन्ति. एवं स्थिति-गति-शयनेषु सेवकत्वमुक्तम्. एवमपि सति यदि भोगस्तुल्यो भवेद् भोगार्थं वा भवेत् तदा न काचिच्चिन्ता किन्तु तच्छेषस्य निकृष्टस्यैव तदुच्छिष्टस्य तदनुपयुक्तस्य वा भोग इति बिडालदृष्टान्तमाह. स हि स्त्रीणां पादयोः भक्षणयाचनार्थम् अनेकां चेष्टां करोति. ततस्ता दुग्धं पीत्वा भाण्डनिर्यासमिव प्रयच्छन्ति कदाचित्. तथा ये निकृष्टा

नियतभोगाः तादृशैरेव स्त्रीणां भोगः सम्पादयितुं शक्यते. विषयाभिलाषिण्यः तादृशमेवापेक्षन्ते. कथाः कर्णे साधारण्येन प्रविशन्ति सर्वेषामेवेति यादृशप्रवेशेन कार्यं कुर्वन्ति तद्वक्तुमाह **कर्णमूलमिति**. अन्तःप्रवेशे मूलसम्बन्धः कथानाम्. विषयाभिलाषनाशकत्वे हेतुमाह **अरिकर्षणे**ति. विषं यान्तीति विषयाः अरयः, तान् कर्षत इति शत्रुनाशको विषयनाशको भवति. तत्कथास्तद्रूपाः. ता अप्यच्युताः स्वनाशशङ्कारहिताः, विषयैस्तन्नाशः

---

१. जलहरणादिकमित्यर्थः.

कर्तुं न शक्यत इति. तत्रापि बहुरूपाः एकरूपाद् भगवतोऽतिबलिष्ठाः. तत्राप्युप समीपे स्वयमेव समागता बह्व्यः. **युष्मत्कथा** इति समासेन तासां नित्यं भगवत्सहभाव उक्तः. तासां विषयनिवर्तकत्वे युक्तिमुक्त्वा प्रमाणमाह **मृडविरञ्च्यसभासु** गीता इति. प्रलयोत्पत्तिकर्तारौ तौ. तदुभयं तदधीनमेवेति तेषामपेक्षितम्. तत्सभासु गीयते यत् तयोर्दुर्लभमभिलषितं च. प्रत्यहं क्रियमाणासु सर्वास्वेव सभासु भगवत्कथाएव गीयन्ते. अनेन तयोरपि उत्कृष्टो भगवानिति निरूपितम्. ताभ्यां कथानां फलं निर्णीतमिति प्रमाणनिरूपणे तथोक्तं, तावेव हि मुख्याविति. अनेन स्त्रीणां शापो निरूपितःह्व या भगवत्कथा न शृणोति सा तादृशं पतिं प्राप्नोतीति. सामान्यतः स्त्रियो दुष्टा इति हि योनिदोषं मत्वा भगवानेवं निराकरोतीति सा मन्यते. अन्यथा पुरुषान् असमानपि भजने अनिषिध्य मामेव कथं निषेधतीति? ।।४४।।

तर्हि तासामैहिकं सुखं तैर्भविष्यति; ऐहिकामुष्मिकयोस्तुल्यत्वादप्रयोजकः शाप इत्याशङ्क्याह **त्वगि**ति.

त्वक्–श्मश्रु–लोम–नख–केश–पिनद्धमन्तर्–
मांसास्थि–रक्त–कृमि–विट्–कफ–पित्त–वातम्।
जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढा
या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री।।४५।।

न हि शवालिङ्गने कश्चन भोगोऽस्ति. स्वप्ने तथा दर्शने मृत्युर्भवति. अग्निप्रवेशे तु शवालिङ्गने स्पष्टएव मृत्युः. यदि तस्मिन् देहे चेतनः कश्चिदिन्द्रियवान् भवेत् तदा स न गर्दभादिभावं प्राप्नुयात्. अतः केवलं शवएव परं **जीवच्छवः**. प्रसिद्धात् प्राणा अत्र विशिष्टाः. न केवलं शवत्वमात्रमेव दूषणं

किन्तु अवयवशोऽपि[1] विचारे तत् [2]दुष्टमित्याह बाह्याभ्यन्तरभेदतः. तस्य शवस्य परित**स्त्वक्.** ऊर्ध्वं लम्बितभागे श्मश्रूणि यथाष्टदिशः पूर्वभागः. सर्वत्र **लोमानि** यथा तृणानि. अन्तेषु **नखाः,** यथा प्राकारे **शृङ्गाणि** शूलानि वा. पश्चात् **केशाः.** एवं सर्वतो बहिः **पिनद्धम्.** अन्तस्तु **मांसं** तस्याप्याधारभूत**मस्थि** च. तत्रापि मध्ये नाडीषु

---

१. अवयवांशोऽपि. २. दुष्ट इति पाठः.

लोहितम्. नाड्यो बहिरप्यायान्तीति रुधिरं मांसाद् बहिरप्युपलभ्यते. वस्तुतस्त्वन्तः. तत्र च **कृमयः** क्षुद्रा जीवाः. ततोऽपि मध्ये पुरीषम्. **कफपित्तवाताः** शास्त्रसिद्धा रोगादिसूचकाः. एवं दृष्टादृष्टदोषा निरूपिताः. नन्वेतादृशं चेत् कुत्सितं तदा कथं भजेतेत्याशङ्क्याह **कान्तमतिरिति.** अयं कान्तः परमसुन्दर इति तस्मिन्नुत्कृष्टबुद्धिः. ननु प्रत्यहं मलादिरूपत्वं दृश्यत इति कथं तस्मिन् कान्तबुद्धिः स्यात्? तत्राह **विमूढे**ति. ननु सर्वासामेव स्त्रीणामियमेव व्यवस्थेति साधारण्यादस्यैव 'भोग'शब्दवाच्यत्वात् सुखजनकत्वस्य दृष्टत्वात् तादृशेनैव सुखं भविष्यतीति व्यर्थं तद्दोषनिरूपणमिति चेत्, तत्राह **या ते पदाब्जमकरन्दमि**ति. यथा श्रोत्रं कथा गृह्णाति तथा घ्राणमपि भगवन्तमासेव्य भगवच्चरणारविन्दरजो गृह्णाति चेत् तदा शवं न गृह्णाति. यो हि कमलगन्धमाजिघ्रति[1] स शवगन्धात् विचिकित्सते. विशेषानभिज्ञस्तु काकादिः न विचिकित्सत इति नायं सर्वात्मना भोगरूपः. स्त्रीपदं पतिव्रताव्युदासार्थम्, सा हि धर्मार्थमेव भगवद्बुद्ध्या तं भजत इति. नापि तस्या विषयापेक्षा ।।४५।।

एवमितरभजने स्त्रियं पुरुषं च निन्दित्वा स्वस्य विषयाधिकार एवेति सर्वथा विषयाभावे केवलमोक्षाधिकारात्[2] स्वस्यापि प्रवृत्तिर्व्यर्थेत्याशङ्क्याह अस्त्वम्बुजाक्ष मम ते चरणानुराग इति.

अस्त्वम्बुजाक्ष मम ते चरणानुराग

आत्मन्रतस्य मयि चानतिरिक्तदृष्टेः।

यर्ह्यस्य वृद्धय उपात्तरजोऽतिमात्रो

मामीक्षसे तदु ह नः परमानुकम्पा।।४६।।

अम्बुजाक्षेति दृष्ट्यैव परमसुखदातृत्वं निरूपितम्. **ते चरणानुरागो ममास्तु.** उभयोरनुरागे उभयोः सुखं भवति स्पर्शादिना, नत्वननुरागे. तत्र भगवतः चेद् मयि

नानुरागः तदा पूर्णानन्दत्वात् मत्स्पर्शादिकृतसुखाभावेऽपि न काचित् क्षतिः; **मम** तु पूर्णानन्दत्वाभावाद् अन्यत्र स्पर्शे धाष्ट्र्यं भवतीति चरणस्पर्शे विरोधाभावात् तत्रानुरागोऽस्तु. प्रार्थनायां लोट्. मम तइति

---

१. आघ्राति. २. केवलमोक्षाधिकाराभावादिति पाठः.

अव्यवहितसम्बन्धः प्रार्थनाधिकारे हेतुः. भगवतो नापेक्षित इति द्वितीयस्य स्नेहः कदाचित् प्रतिबन्धकत्वेन अनपेक्षितः स्यात्. ततो भगवदिच्छाभावे रागो न भवेदिति प्रार्थना. भगवतोऽनपेक्षत्वे हेतुः **आत्मन्रतस्ये**ति. तर्ह्यात्मारामो विषयेष्विव त्वय्यपि भगवान् सम्बन्धं न करिष्यतीत्याशङ्क्याह **मयि** चेति. यथा भगवानात्मनि रमते एवं प्रपञ्चेऽपि रमते. तत्र प्रपञ्चस्य मूलं स्वरूपमहमिति सृष्टिप्रलययोः सिद्धत्वात् मत्सङ्गं न बाधिष्यत इत्यर्थः. नन्वेवं सति संसारिणामात्मारामाणां च को विशेष इति चेत्, तत्राह **अनतिरिक्तदृष्टेरि**ति. सर्वात्मनो भगवतः आत्मनि वा मयि वा न अतिरिक्ता दृष्टिर्यस्य. सर्वस्यैव आत्मत्वादेकैव दृष्टिः सर्वत्र. तर्हि तव कथं स्त्रीरूपः पुरुषार्थः सिध्येत्? अन्यथा स्त्रीत्वं व्यर्थं स्यादिति चेत्, तत्राह **यर्ह्यस्य वृद्धय** इति. **यर्हि** भगवान् **अस्य** जगतो **वृद्धये आत्ता रजसः अतिमात्रा** अधिकमात्रारूपः कामः येन. तर्हि **मामीक्षिष्यते,** ''वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वे''ति. तर्हि तदैव नोऽस्मभ्यं सर्वशक्तिभ्यः **परमानुकम्पा** अस्मासु महती कृपेत्यर्थः. ''मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहं सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारते''ति वाक्यात्. ईक्षणेनैव चिच्छक्त्याधानमुक्तम्. सम्बन्धस्तु भगवता सह नित्य इतीक्षणमेव विशेषः ।।४६।।

एवमुदासीनत्वेऽपि स्वस्य सर्वपुरुषार्थसिद्धिमुक्त्वा सुखप्रस्तावनायां भगवानकस्मादेवं यदुक्तवान् तत्र को हेतुरित्याशङ्क्य, परीक्षार्थं तेषामुपयोग इति भावं वर्णयति द्वाभ्यां **नैवालीकमहं मन्य** इति.

नैवालीकमहं मन्ये वचस्ते मधुसूदन।
अम्बायाइवहिप्रायः कन्यायाःस्याद्रतिःक्वचित्।।४७।।
व्यूढायाश्चापि पुंश्चल्या मनोऽभ्येति नवं नवम्।
बुधोऽसतीं न बिभृयात् तां बिभ्रदुभयच्युतः।।४८।।

यथाश्रुतार्थत्वेऽपि ते वचः अहमलीकं न मन्ये. असम्भावितवच**नमलीकम्. मधुसूद**नत्वात् परमसमर्थस्य सर्वापेक्षारहितस्य क्लिष्टकरणे प्रयोजनाभावात् परीक्ष्यैव सम्बन्धः कर्तव्य इति सूचितम्. सम्भावनायां स्त्रीत्वमेव हेतुः. यतः महति कुले जातायाः काशिराजसुताया **अम्बायाः कन्याया इव क्वचित्** साल्वे **रति**र्दृश्यते. अम्बा अम्बिका अम्बालिकेति तिस्रः काशिराजकन्याः भीष्मेण विचित्रवीर्यार्थे स्वयंवरे[१] आहृताः. ततो ज्येष्ठा भीष्मं प्रति स्वाभिप्रायमुक्तवती ''साल्वे मन्मन'' इति. ततो भीष्मेण प्रेषिता साल्वेन अन्याहृतेति अगृहीता पुनर्भीष्मं प्राप्ता. परशुरामवाक्यादपि भीष्मेणासङ्गृहीता तपसा देहं त्यक्त्वा शिखण्डी भूत्वा भीष्मवधार्थमुत्पन्नेति भारतकथा. **व्यूढाया अपि पुंश्चल्याः**. जन्मसंस्काराद् ग्रहैर्वा बहुपुरुषसम्बन्धिनी भवति. ततस्तस्या **मनः नवं नवं पुरुषमभ्येति**. तदवश्यं परीक्षणेन ज्ञातव्यम्. तत्र प्रयोजनमाह **बुधः असतीं न बिभृयादि**ति. **तां बिभ्रदुभयच्युत** इति बाधकम् ।।४७-४८।।

एवं साभिप्रायं प्रकारद्वयेन भगवद्वाक्यानि व्याख्यातानि. तत्र व्याख्याने सान्त्वनार्थं प्रकाशितं स्वाभिप्रायं तया वर्णितं श्रुत्वा, अनन्यत्वं परिज्ञाय, दीनत्वस्य हीनभावत्वस्य च प्रकाशितत्वाद् गर्वाभावमपि ज्ञात्वा, सन्तुष्टो भगवान् तस्या वाक्यमभिनन्दति **साध्व्येतदि**ति.

।।श्रीभगवानुवाच।।

साध्व्येतदभिज्ञाय त्वं राजपुत्रि प्रलम्भिता ।

मयोदितं यदन्वात्थ सर्वं तत्सत्यमेव हि।।४९।।

एतद् व्याहृतमुक्तं **साध्वेव.** हे **साध्वी**ति वा. पूर्वमेव त्वमेवं वक्ष्यसी**त्यभिज्ञाय प्रलम्भिता** वक्रोक्त्या वञ्चिता. एवं वचने सामर्थ्यं **राजपुत्री**ति. साध्वीत्येतदमर्मेति ज्ञापितम्. व्याख्यानं यथाव्याख्यातमेवेत्याह **मयोदितं यदन्वात्थे**ति. उदितस्यानुवचनं व्याख्यानम्. अतः **मयोदितं यदन्वात्थ** व्याख्यातवती **तत्सर्वं सत्यमेव. हि** युक्तश्चायमर्थः, अन्यथा वाक्यानामसम्बद्धार्थता स्यात् ।।४९।।

प्रसन्नः सन् प्रार्थितचरणारविन्द-रतिदानप्रस्तावे बह्वेव प्रयच्छति **यान्यान् कामयसे कामा**निति.

यान् यान् कामयसे कामान् मय्यकामाय मानिनि।

सन्ति ह्येकान्तभक्तायास्तव कल्याणि नित्यदा।।५०।।

१. स्वयंवरार्थे आनीता इति पाठः.

मत्सम्बन्धिनः सर्वएव सकामा निष्कामाश्च व्यवहाराः निष्कामा एव. सिद्धवदनुवादेनायं वरो दत्तः. **यान् कामान् कामयसे तानकामाय कामयस इति,** यतो मयीत्यावृत्त्या योजना. वीप्सा नानाविधत्वाय. तस्मात् तव कामा निष्कामा भवन्त्वित्युक्तं भवति. **मानिनी**ति सम्बोधनं मानापनोदनार्थमेवमुच्यते इति सूचयति, निष्कामा मानवती न भवतीति. एवं कामानां निष्कामत्वमुक्त्वा सर्वानेव कामान् प्रयच्छति **सन्ति** हीति. अर्थात् कामाः. तत्र दानव्यतिरेकेणैव विद्यमानत्वे हेतुः **एकान्तभक्ताया** इति. **हि** युक्तश्चायमर्थः, या ह्यनन्यभक्ता सा सर्वं प्राप्नोतीति. एकान्ते वा भजते साप्यपेक्षितं कामसुखं प्राप्नोतीति. तवेति तत्रानुभवो निरूपितः. **कल्याणी**ति स्वरूपयोग्यता विवाहितत्वाद् भाग्यं चोक्तम्. नित्यदेति सर्वदा; छान्दसः ।।५०।।

तदा पतनक्रियया यज्जातं तदप्याह **उपलब्धं पतिप्रेमे**ति.

उपलब्धं पतिप्रेम पातिव्रत्यं च तेऽनघे।

यद्वाक्यैश्चाल्यमानाया न धीर्मय्यपकर्षिता।।५१।।

परित्यागसम्भावनायामेव शरीरत्यागस्य कृतत्वात् **पतिप्रेम उपलब्धम्. पातिव्रत्यं चोपलब्धं,** व्रतभङ्गे मरणमेवाङ्गीकृतमिति. **च**कारान्मयि स्थिरापि बुद्धिः, मत्स्पर्शेनैव जीवनस्य प्राप्तत्वात्. चकाराद् हेत्वन्तरमप्याह **यद्वाक्यैरि**ति. **यस्मात्** कारणात् **वाक्यैश्चाल्यमानाया** अपि तव **धीः मयि नापकर्षिता** अपकर्षं न प्राप्तवती. सर्वथाभावस्तु दूरापास्तः ।।५१।।

तया यद् विरक्ततया भक्तिमार्गानुसारेण भक्तिमेवोररीकृत्य कादाचित्कः कामः समर्थितः तदेव युक्तं, नतु लौकिकवद् मद्भजनमिति स्वयं सम्मतिं वक्तुं विपरीते बाधकमाह **ये मां भजन्ती**ति.

ये मां भजन्ति दाम्पत्ये तपसा व्रतचर्यया।

लेखः

यान् यान् कामयसे इत्यत्र **यतो मयि इत्यावृत्त्ये**ति. यतस्ते कामा **मयि** अतो**ऽकामाये**त्यावृत्तम्, **मयी**तिपदमकामत्वे हेतुत्वेनोक्तमित्यर्थः ।।५०।।

कामात्मानोऽपवर्गेशं मोहिता मम मायया।।५२।।

दाम्पत्ये दम्पत्योरिव भावार्थे. भक्तिमार्गे एवं नास्तीति अन्यत्र भगवद्भजनं न लोकसिद्धमिति स्वयं कर्ममार्गे[1] तत् वक्तुं साधनमाह **तपसा व्रतचर्यये**ति. तप: पुरुषस्य, व्रतचर्या स्त्रिय:. कथं भगवन्तमपि तथा भजन्ति? न हि शैत्यार्थं कश्चिद् वह्निं सेवत इति तत्राह **कामात्मान** इति. **कामात्मान:** काममेव पुरुषार्थं मन्यन्ते. भगवा**नपवर्गेश:** मोक्षदाता. एवं विरुद्धयो: सेव्यसेवकयोरपि सतो: यद् भजनं सिध्यति तन्मायामोहनेनैवेत्याह **मोहिता मम मायये**ति ।।५२।।

साधारणसेवकानां स्थितिमुक्त्वा ये पुनर्विशेषेण भगवन्तं प्राप्ता: तेऽपि चेत् सकामा भवेयु: तदा कालेन तेषां बुद्धिर्नाश्यत इति निन्दति मां **प्राप्य मानिनी**ति.

मां प्राप्य मानिन्यपवर्गसम्पदं

वाञ्छन्ति ये सम्पद एव तत्पतिम्।

ते मन्दभाग्या निरयेऽपि ये नृणां

मात्रात्मकत्वान्निरय: सुसङ्गम:।।५३।।

अपवर्गस्य सम्पद् यस्मात्. मानिनी[2]ति सम्बोधनं मानस्य विद्यमानत्वान्न त्वं प्रार्थयिष्यसीति सूचितम्. ये केवलमैहिकसम्पदएव प्रार्थयन्ति ते **मन्दभाग्या:**. यथा मन्दभाग्यो निधिमपि प्राप्य पाषाणइति पदा प्रक्षिपति ह्वएतन्मन्दभाग्यस्य लक्षणम्. ननु विषया अपि दुर्लभा: स्त्री-धनादय:, तत्कथं मन्दभाग्यत्वमिति चेत्, तत्राह ये विषया **निरयेऽपि नृणां** भवन्ति. तत्र हेतु: **मात्रात्मकत्वादि**ति. न हि क्वचिद् विषयाभावोऽस्ति, श्वादियोनावपि विषयोपभोगस्य[3] दृष्टत्वात्. दु:खं तु विषयसम्बन्धे नियतम्. तारतम्यं त्वप्रयोजकम्.

लेख:

ये मामित्यत्र **अन्यत्रे**ति. लोकास्तु कामात्मान:, **भक्तिमार्गे एवं नास्ति** कामात्मत्वं **नास्तीति** हेतो: कर्मादिमार्गेभ्यो**ऽन्यत्र** भक्तिमार्गे भजनं लोकप्रसिद्धं न भवतीत्यर्थ: ।।५२।।

---

१. कर्ममार्गे नेति पाठ:. २. मानवती. ३. विधयोपभोगस्येति प्रभुपुस्तकपाठ:.

तर्हि तादृशो निरयोऽपि सम्पत्तियुक्त: समीचीन इति चेत्, तत्राह **निरय: सुसङ्गम** इति. सुष्ठु सङ्गमो यस्येति न तदर्थं तप: कर्तव्यं मद्भजनं वा. अत: अक्लेशसिद्धे

क्लेशकरणाद् दुर्भाग्यत्वम्. पूर्णादल्पप्रार्थनायां मन्दभाग्यत्वं वा स्यादिति तथा न भावनीयमित्युपदेशः ।।५३।।

तया यदुक्तं ''मामीक्षसे तर्हि नः परमानुकम्पे''ति तदभिनन्दति **दिष्ट्येति**.

दिष्ट्या गृहेश्वर्यसकृन्मयि त्वया

कृतानुवृत्तिर्भवमोचनी खलैः।

सुदुष्करासौ सुतरां दुराशिषो

ह्यसुंभराया निकृतिंजुषः स्त्रियाः।।५४।।

असकृन्मयि त्वया या **अनुवृत्तिः कृता** सा **दिष्ट्या कृता,** यतः सा **भवमोचनी. गृहेश्वरी**ति सम्बोधनं लोकप्रसिद्धसंसारसुखं तव सिद्धमेवेति सूचयति. अनुवृत्तिर्नामोदासीनेऽपि भगवति तदनुसरणम्. तत् प्रथमं पत्रप्रेषणेनात्मसमर्पणरूपा. ततो रुक्मिवधे प्रार्थनया वाक्समर्पणरूपा. तत इदानीं मूर्च्छया मनःसमर्पणरूपा. [1]स्वाभिप्रायप्रतिपादकैर्वाक्यैश्च सर्वसमर्पणरूपा. ईश्वराद् भिन्नतया स्थितौ संसारः ''ईशादपेतस्ये''त्युत्तरत्र वक्ष्यते. अत इयं भवमोचनी भवति. ननु किमाश्चर्यं, भार्या करोत्येवेति चेत्, तत्राह **खलैः सुदुष्करे**ति. दुष्टैः रुक्मिप्रभृतिभिः कृत्वा सुतरां दुष्करा. **खला** दुष्टस्वभावाः मात्सर्येण परकार्यनाशकाः. किञ्च अन्तरपि तव बाधकं न जातमित्याह **दुराशिष** इति. दुष्टा प्राकृती आशीर्यस्य[2] तस्याः मदनुवृत्तिः सुतरामेव दुर्लभा. **तत्राप्यसावेता**दृशी. तत्रापि **असुंभरायाः** प्राणपोषिकायाः. तत्रापि **निकृतिंजुषः** नरकसेविकायाः. **स्त्रिय**श्च; अन्तःकरण-प्राणेन्द्रिय-शरीर-दोषाणां प्रत्येकसद्भावेऽपि दुर्लभा समुदाये किं वक्तव्यमित्यर्थः. इमामेवोपपत्तिं हिशब्द आह ।।५४।।

एतादृश्योऽन्या अपि बह्व्यः सन्तीति स्त्रीणामपि मध्ये तामुत्कृष्टत्वेन स्तौति **न त्वादृशीमिति.**

---

१. साभिप्रायेति पाठः. २. यस्या इति पाठः.

न त्वादृशीं प्रणयिनीं गृहिणीं गृहेषु

पश्यामि मानिनि यया स्वविवाहकाले।

प्राप्तान्नृपानविगणय्य रहो अहो मे

प्रस्थापितो द्विज उपश्रुतसत्कथस्य।।५५।।

प्रणयिनी गृहिणी दुर्लभा. लौकिकधर्माभिनिविष्टा गृहिणी. तथाभूतापि परमप्रेमयुक्ता आत्मनोऽप्यधिकस्नेहवती दुर्लभा भवति. **गृहेषु** गृहस्थाश्रमेषु मम बहुरूपेषु. **न पश्यामी**ति तादृश्या अभावे प्रमाणम्. **मानिनी**ति मानसद्भावेन अन्यासक्तिनिवृत्तिः अपकीर्तिलेशस्याप्यसहनं च सूच्यते. कथमित्याकाङ्क्षायामुपपादयति **यया स्वविवाहकाले प्राप्तान् (नृपान्)** सर्वप्रकारेण शिशुपालादी**नविगणय्य, रह** एकान्ते **द्विजः प्रस्थापितः**. नापि मया सह परिचयः, किन्तु **उपश्रुता सद्भिः कृता कथा यस्य, सत्कथा** वा. अहो आश्चर्ये, नह्येतादृशं क्वचिदपि लोके जातमिति. स्वयंवरे तु वरणं युक्तं नत्वेतादृशम्, अन्याः सर्वाएव लौकिकप्रकारेणानीताः. अनेन सम्बन्धप्रकारः त्वत्सदृशो नान्यासामिति निरूपितम् ।।५५।।

अपराधसहनं च त्वत्सदृशं नान्यासामित्याह **भ्रातुर्विरूपकरणमि**ति.

भ्रातुर्विरूपकरणं युधि निर्जितस्य
प्रोद्वाहपर्वणि च तद्वधमक्षगोष्ठ्याम्।
दुःखं समुत्थमसहोऽस्मदयोगभीत्या
नैवाब्रवीः किमपि तेन वयं जितास्ते।।५६।।

विवाहसमये रुक्मिणो ज्येष्ठ**भ्रातुर्विरूपकरणं** मुण्डनम्, तत्रापि **युधि निर्जितस्य. प्रोद्वाहपर्वणी**त्युभयत्र सम्बध्यते. यद्यपीयं[१] कथा प्रद्युम्नोत्पत्तेः पूर्वमेवह्न अन्यथा भगवान् अन्यभजनं न वदेत्. न हि पुत्रपौत्रादियुक्ता क्वचिदेवमुच्यते. प्रथमसङ्गएव एवं भवति. सर्वथा ह्रदयानभिज्ञदशायां तस्या अपि पतनादिसम्भवः, नतु निरन्तरप्रवृत्तौ. अनिरुद्धविवाहे तु[२] **अक्षगोष्ठ्यां तद्वधः,** तदुत्तराध्याये वक्ष्यते ह्नतथापि यथा तया आर्षज्ञानेन सर्वं निरूपितं तथा भगवानपि तां तादृशीं मत्वा भाव्यर्थमपि सिद्धवत्कारेण

---

१. प्रस्तुताध्यायस्था. २. तुः नास्ति.

निरूपयति. भूतप्रत्ययस्तु लङ्प्रयोगः. ''छन्दसि लुङ्लङ्लिटः''इति दश–लकारार्थेषु भवन्तीति आवृत्त्या योजनायां द्वितीयवाक्ये भविष्यदर्थे ज्ञातव्यः. ताभ्यां **समुत्थं दुःखमसह** इत्यपि[१] तथा. अस्मदयोगः अस्मत्सम्बन्धो निवर्तिष्यत इति भयेन[२] उत्पत्तिबलिष्ठ–भ्रातृसम्बन्धापेक्षयापि अस्मत्सम्बन्धाभावशङ्कापि महतीति सर्वोत्तमा त्वमेव. चकारात् मध्ये प्रद्युम्नविवाहादौ तदवगणनादि

संगृह्यते. **समुत्थं दुःखं** सोढुमशक्यम्. बलभद्रोपदेशात् समुत्थमिति ज्ञायते. एकक्रियोपात्तत्वाद् द्वितीयमपि तादृशमेव. **तेन** दुःखसहनेन **ते** त्वया **वयं जिताः. तव वय**मित्यपि. जयोऽप्यङ्गीकृतः त्वदीयत्वं च ।।५६।।

अन्यदेकं तव चरित्रम् अनन्यदपि अनुपमेयमपि जयाद्यङ्गीकारेऽप्यप्रतीकार्यमपीत्याह **दूत** इति.

दूतस्त्वयात्मलभने सुविविक्तमन्त्रः

प्रस्थापितो मयि चिरायति शून्यमेतत्।

मत्वा जिहास इदमङ्गमनन्ययोग्यं

तिष्ठेत तत् त्वयि वयं प्रतिनन्दयामः।।५७।।

आत्मलभने कृष्णप्राप्त्यर्थम्. **सुष्ठु विविक्तो मन्त्रो यस्य** तादृशो द्विजः **प्रस्थापितः.** अनेन मयि सिद्धवद् विश्वासः प्रथमतएव कृत इति निरूपितम्. ततो मयि चिरायति विलम्बमाने **एतद्** जगच्छून्य**मेव मत्वा इदमङ्गं** शरीरम**नन्ययोग्यं** केवलं भगवदेकभोग्यं **जिहास** इति **मत्वा द्विजः प्रस्थापित** इति पूर्वेणैव सम्बन्धः. प्रस्थापनसमयएव एते पक्षा विचारिताः इति एतत् **त्वय्येव तिष्ठेत.** विध्यर्थोऽयं, नास्य प्रतीकारः सम्भवतीति. अप्रयोजकत्वेन तथात्वमाशङ्क्य निराकरोति **तत् त्वय्येव तिष्ठेत, वयं तु प्रतिनन्दयाम** इति. अस्मिन्नर्थे वयं ऋणिन इति भावः ।।५७।।

एवं सान्त्वनं कृतमुपसंहरन् अन्यास्वप्येवंभावम् अतिदिश**त्येवमि**ति द्वाभ्याम्.

।।श्रीशुक उवाच।।

एवं सौरतसंलापैर्भगवान् देवकीसुतः।

---

१. 'इत्यपि. तथा' इति छेदः प्रभुपुस्तके. २. भावेन.

स्वरतो रमया रेमे नरलोकं विडम्बयन्।।५८।।

अथान्यासामपि विभुर्गृहेषु गृहवानिव।

आस्थितो गृहमेधीयान् धर्मान् लोकगुरुर्हरिः।।५९।।

।।इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।

सौरताः सुरतयोग्याः **संलापाः,** येन सुरतं वर्धते. **भगवानि**ति लीलायां योग्यता. **देवकीसुत** इति स्त्रीणां प्रियार्थे भक्तहितैकसाधकत्वात् तथा करोतीति

सूचितम्. **स्वरतोऽ**पि **रमया** लक्ष्म्या रुक्मिण्या सह रेमे, नतु वाक्यैरेव निवृत्तव्यापारः. परब्रह्मणस्तद्युक्तमाशङ्क्य लीलानुकरणमाह **नरलोकं विडम्बयन्नि**ति. अन्यथा नरोऽयमिति लोकानां प्रतीतिर्न स्यात्. अतिदिशति **अथान्यासामपी**ति. अयमेव न तास्वपि प्रकारः किन्त्वतिरिक्तस्तत्तद्योग्यः, तदाह अथशब्दः. **अन्यासामपि** रुक्मिणीव्यतिरिक्तानां **गृहेषु गृहवानिव** प्राकृत इव तदनुकरणं कुर्वन् **गृहमेधीयान् धर्मानास्थितः** लौकिकान् वैदिकांश्च. विडम्बनार्थं लौकिकाश्रयणम्, तत्पूर्वमुक्तम्. वैदिकाश्रयणे विशेषमाह **लोकगुरुरि**ति. तथागत्य सर्वकरणे बहुकालस्थितौ च हेतुः **हरिरि**ति ।।५९।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे एकादशोऽध्यायः।।

लेखः

एवं सौरतेत्यत्र लीलायां योग्यतेति. षड्गुणैर्लीलाकरणादिति भावः. **न** तु **वाक्यैरेवे**ति. वीजनलीलायामेतावज्जातम्; ततो गन्धमाल्य-केशप्रसार-शयनस्नपनोपहारान् स्वीकृतवानित्यर्थः ।।५८।। इत्येकादशाध्यायव्याख्या समाप्ता।।

।।इति सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।

।।पञ्चमो स्कन्धादितः अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।

द्वादशे रमणं प्राह पुत्रपौत्रयुतस्य हि।
प्रसङ्गान्मारणं चोक्तं रुक्मिणः प्रतिबन्धनुत्।।(१)।।
भगवान् केवलं लोके क्रीडार्थं न समागतः।
किन्तु सर्वोद्धारणाय तदुद्वाहेऽपि मारणम्।।(२)।।
कलौ शुद्धक्षत्रियो हि न स्थाप्य इति निश्चयात्।
पापं विवाहमकरोत् फलं तस्याप्यसूचयत्।।(३)।।
देवकीप्रीतये वंशः स्थाप्य एवेति तत्तथा।
तदानीं सर्वधर्माणां सम्यक् स्थितिनिरूपणे।।(४)।।
''दशास्यामि''ति वाक्येन दशपुत्रनिरूपणम्।
यथोक्तं श्रुतिसिद्धं हि कर्तुं नान्यः क्षमो भवेत्।।(५)।।
लोकवेदौ पुरस्कृत्य रमणं तत्तथोच्यते।।

पूर्वं लौकिकं रमणमुक्तम्, इदानीं वैदिकं रमणमाह एकैकश इति ''कथं रुक्म्यरिपुत्राये''त्यन्तेन. धर्मो हि द्विविधःह्न विहितकरणं निषेधपरिपालनं च. त्रयीद्विषो हन्तव्या इति नोपेक्षितव्या इति दैत्यानां रुक्मिप्रभृतीनां वधोऽप्यतोऽग्रे निरूप्यते. तत्र प्रथमं ''दशास्यां पुत्रानाधेही''ति वेदवाक्यात् सर्वास्वेव दशपुत्रान् नाधिकान् न न्यूनांश्चोत्पादितवानिति निरूप्यते.

।।श्रीशुक उवाच।।

एकैकशस्ताः कृष्णस्य पुत्रान् दश दशाबलाः।

लेखः

द्वादशे कारिकायां **प्रतिबन्धनुदि**ति. भगवद्भजने प्रतिबन्धको रुक्मी स्वरूपाज्ञानपर्वरूपः, तन्मारणेन भजनप्रतिबन्धनिवृत्तिर्जातेत्यर्थः (१). **फलमि**ति, रुक्मिणो वधः पापविवाहफलमित्यर्थः (३). तादृशविवाहेनाशुद्धत्वमपि सम्पाद्य वंशस्थापने हेतुमाहुः **देवकीप्रीतये** इति.

भगवत्सदृशसुतवरणं वंशस्थापनाभिप्रायेणैवेति भाव:. **स्थितिनिरूपणे** इति ह्वनिमित्तसप्तमीयम्, धर्मस्थितिनिरूपणार्थमित्यर्थ: (४).

अजीजनन् अनवमान् पितु: सर्वात्मसम्पदा।।१।।

भगवत **एकैकश:** स्त्रियः ताः सर्वाएव **कृष्णस्य** स्वप्रियस्य **अबला:** स्त्रिय: **दश दश पुत्रान् अजीजनन्. तासु[१] पुत्रजनने भगवत: सर्वोऽपि भावोऽस्तीति ज्ञापयति पितु: अनवमान्** अन्यूनान्. केनचिदंशेन तथात्वं वारयति **सर्वात्मसम्पदे**ति. **सर्वा** या: **आत्मसम्पद:** शरीरेन्द्रियादिसम्पत्तय: ता: समुदिता: प्रत्येकं भवन्तीति ज्ञापयितुमेकवचनं; तासामेवोत्कर्ष इति कदाचित् स्यात् तन्निवृत्त्यर्थम् ।।१।।

प्राकृतत्वमाह पञ्चभि: **गृहादनपगमि**ति.

गृहादनपगं वीक्ष्य राजपुत्र्योऽच्युतं स्थितम् ।

प्रेष्ठं न्यमंसत स्वं स्वम् अतत्तत्त्वविद: स्त्रिय:।।२।।

आदौ साभिमाना जाता:. तत्र हेतु: **गृहादनपगं** भगवन्तं **वीक्ष्ये**ति. सर्वदा गृहएव भगवांस्तिष्ठति. भगवत्सम्बन्धेऽपि तथा दोषोत्पत्तौ औत्पत्तिकराजकन्यात्वं हेतु:. **अच्युत**त्वात् न स्वत: सुरतविच्छेदो अत: स्वेच्छापूरकत्वं च ताभिर्ज्ञातम्. व्यापकत्वेनागमनमाशङ्क्य लौकिकन्यायेन तथात्वमित्याह **स्थितमि**ति, गृहेष्वेव लौकिकवत् स्थितम्. एवं भगवतो गुणत्रयेण कृत्वा आत्मानं **प्रेष्ठं** भगवत: प्रिय**ममंसत**. ननु सत्यमेव, आत्मा प्रेष्ठ: भगवतो[२]ऽप्यात्मैवेति, तत्राह **अतत्तत्त्वविद** इति. तस्य तत्त्वं तत्तत्त्वं च न जानन्ति. भगवदभिप्रायं वस्तुतत्त्वं च न जानन्तीत्यर्थ:. यत: स्त्रिय: ।।२।।

तत्सम्बन्धाद् भगवतोऽपि कदाचित् तद्धर्मसम्बन्ध: स्यादित्याशङ्क्य निराकरोति **चार्वब्जकोशे**ति.

चार्वब्जकोश–वदनायत–बाहुनेत्र–

सप्रेमहास–रसवीक्षित–वल्गुजल्पै:।

लेख:

गृहादनपगमित्यस्याभासे प्राकृतत्वमिति लौकिकभाववत्त्वमित्यर्थ: ।।२।।

---

१. सुपुत्रजनने इति पाठः. २. भगवान्.

संमोहिता भगवतो न मनो विजेतुं

स्वैर्विभ्रमैः समशकन् वनिता विभूम्नः।।३।।

भगवद्धर्मैः **संमोहिताः** भगवन्तं व्यामोहयितुं **न समशकन्.** स्वयं **वनिताः** वनं प्राप्ताः, यत्र संसाराटवी सम्पद्यत इति. स तु **विभूमा** विगतो भूमा यस्मादिति. स्वयमुज्जटप्रायाः स तु सर्वाधिवास इति यावत्. तासु भगवतः षड्धर्मान् मोहकानाह. **चार्वब्जकोशवद् वदनम्, आयता बाहवः, नेत्रे च, सप्रेमहासः, रसपूर्वकं वीक्षितं, वल्गुजल्पाः** मनोहरकथाः. पूर्णरसाख्यापनार्थं **चार्वब्जकोशत्वम्.** परिष्वङ्गक्रिया पूर्णेति ख्यापयितुं **आयत**पदम्. नेत्रं सौन्दर्यार्थं भिन्नम्. तद्धि स्वरूपतोऽपि रसोद्बोधकम्. एतत्त्रयं कायिकं रसार्थम्. मानसिकमाह **सप्रेमहासरसवीक्षितम**िति. प्रेम हास्यं रसवीक्षितानीति त्रयम्. स्नेहाभावे तन्न रसालं भवतीति सहभावो निरूपितः. हासो रसोद्बोधकः, रसवीक्षितानि प्रलोभकानि. *वाचनिकान्याह **वल्गुजल्पैर**िति. मनोहरार्थानि[१] वाक्यानि स्वपक्षस्थापकानि[२] परपक्षदूषकाणी[३]ति तान्यपि त्रिविधानि[१-३]. एवं कायवाङ्मनोभिः **सम्मोहिताः** अतएव दुर्बलाः **भगवतो मनो विजेतुं** वशीकर्तुं **नाशकन्.** अनेन भगवच्चित्तं तासु नासक्तमित्युक्तम् ।।३।।

नापि क्षोभं जनयितुं शक्ता इत्याह **स्मायावलोके**ति.

स्मायावलोक–लवदर्शनभावहारि–

भ्रूमण्डलप्रहित–सौरतमन्त्रशौण्डैः।

पत्न्यस्तु षोडश–सहस्रमनङ्गबाणै–

र्यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शेकुः।।४।।

आसक्तिरन्या मनःक्षोभोऽन्यः. कदाचिद् वशीकरणार्थं भावानुत्पाद्य कथञ्चित् स्वमोहमपि प्रतिबध्य विलम्बमाना भवेयुः. तथाकरणेऽपि न क्षोभका जाता इति सम्बन्धासम्बन्धाभ्यां भगवति दोषमुत्पादयितुं न शक्ता इति निरूप्यते. **स्मायावलोकः** गर्वपूर्वकं दर्शनं, तेन सम्बन्धे विलम्बं सूचयन्ति. मानापनोदनार्थमुपेक्षां बाधितुं **लवदर्शनानि** च कुर्वन्ति. कटाक्षैः

---

* कायिकानीति पाठः.

अलसवलितादिभिः स्वासक्तिं कुर्वन्ति. ततो **भावहारि भ्रूमण्डलं** कुर्वन्ति. तेन यथैव भगवतो भावो मनोधर्मः स्वस्मिन्नासक्तं भवति तादृशं कामशास्त्रसिद्धं भ्रूमण्डलं कुर्वन्ति. तैस्त्रिभिः[1] **प्रहिता** याः चेष्टाः. **सौरतमन्त्रैश्च शौण्डाः** बलिष्ठाः, सुरतोद्बोधकानि यानि गुह्यभाषणानि. अनेन दृष्टादृष्टसाधनानि निरूपितानि. सर्वाश्च **पत्न्यः** यथासुखं प्रवृतौ सङ्कोचरहिताः प्रतिबन्धरहिताश्च. तत्रापि षोडशसहस्रं **षोडशकलस्य** मनसः सहस्रप्रकारेण व्यामोहनसमर्थाः. अनङ्गबाणाः चेष्टासहितावयवविशेषाः, यैर्जयो भवत्येव. मन्त्रसहिता बाणाः कार्यसाधका इति ब्रह्मास्त्रादिषु प्रसिद्धिः. मण्डलीकृतकार्मुका दृष्टद्वारा, तथा दृष्टिमुष्ट्योरेकत्वाय लवदर्शितानि, वीररसाविष्काराय स्मायावलोक इति. एवं सर्वसाधनसम्पत्तियुक्तैरपि बाणैः **यस्येन्द्रियं** मनश्च **विमथितुं** ग्लानियुक्तम् अस्तम्भयुक्तं वा कर्तुं **न शेकुः**. सहजानामेतादृशेऽर्थे जयो न भवतीति कठिनदुर्गस्थेषु राजधर्मेषु कापट्यं निरूपितमिति **कुहकैः** कपटधर्मैरपि न शक्ताः ।।४।।

एवं तासां दोषं[2], तत्सम्बन्धेन भगवति दोषाभावं च, प्रतिपाद्य भगवत्सामर्थ्येनैव तासु धर्मः स्थापित इति पुत्रोत्पादनमुक्त्वा ''पतिमेकादशं कृधी''ति वेदवाक्यानुसारेण भगवत्सेवां कृतवत्य इत्याह द्वाभ्याम् **इत्थमिति**.

इत्थं रमापतिमवाप्य पतिं स्त्रियस्ता
ब्रह्मादयोऽपि न विदुः पदवीं यदीयाम्।
भेजुर्मुदाविरतमेधितयानुराग-
हासावलोक-नवसङ्गमलालसाढ्यम्।।५।।

लेखः

स्मायावलोकेत्यत्र स्मयास्यायं स्मायस्तादृशोऽवलोक इत्यर्थः. लवमीषन्मात्रं दर्शनं लवदर्शनमित्यर्थः. **मण्डलीकृते**ति, भ्रुवस्तादृशाकारत्वादिति भावः. **दृष्टिमुष्ट्योरि**ति. मुष्ट्या यथा धनुर्धृत्वा बाणः प्रक्षिप्यते तथा दृष्टिं भ्रूपर्यन्तां विधाय कटाक्षबाणाः प्रक्षिप्यन्ते इत्यर्थः. **कठिने**ति, कठिनदुर्गस्थेषु जनेषु सत्सु राजधर्मेषु मध्ये कापट्यमपि राजधर्मो निरूपित इत्यर्थः ।।४।।

---

१. ततो भावैस्त्रिभिरिति पाठः. २. दोष इति पाठः.

प्रत्युद्गमासनवरार्हणपादशौच–

ताम्बूलविश्रमण–वीजन–गन्धमाल्यैः।

केशप्रसार–शयनस्नपनोपहार्यै–

र्दासीशता अपि विभोर्विदधुः स्म दास्यम्।।६।।

पूर्वमेतच्छ्लोकद्वयं व्याख्यातं विवाहप्रसङ्गे उक्तमपि पुनः स्वस्थाने तदेवोक्तवान्. तस्मात् सर्वोऽप्यर्थः सएव. भ्रमव्यावृत्त्यर्थं पाठविशेषमाह **लालसाढ्यमि**ति. पूर्वमनुरागादयः स्त्रीनिष्ठाः, इदानीं भगवन्निष्ठाः. **अनुरागपूर्वको हासो** मानसः, **अवलोक** ऐन्द्रियः, **नवसङ्गमः** कायिकः ह्वत्रिभिरपि या **लालसा** तदिच्छाविशेषः तया **आढ्यो** भगवान्. स्त्रीनिष्ठानेतान् धर्मान् स्वस्मिन् भावयतीति भगवन्निष्ठा धर्माः. **प्रत्युद्गमा**दिभिः **दास्यं** च **विदधुः**. सेवा तदपेक्षिता कामकृता, दास्यं साधारणमिति विशेषः. स्त्रीत्वं भक्तत्वं च देहमन्तःकरणं च कृतार्थीकृतवत्य इत्यर्थः ।।५–६।।

विधिप्राधान्यात् विधिसिद्धानामष्टमहिषीणां पुत्रान् गणयितुमारभते, येन भगवान् धर्मरक्षार्थमेतावद्रूपो जातइति तन्नामग्रहणे राज्ञः पापक्षयो भवतीति. तदर्थं प्रसिद्धान्यपि नामानि निरूपयति.

तासां या दशपुत्राणां कृष्णस्त्रीणां पुरोदिताः ।

अष्टौ महिष्यस्तत्पुत्रान् प्रद्युम्नादीन् गृणामि ते।।७।।

तासां कृष्णस्त्रीणां दशपुत्राणाम्. सर्वाएव दशपुत्रयुक्ताः. तासां मध्ये याः पूर्वमुक्ता अष्टौ महिष्यः रुक्मिणीप्रभृतयः **तत्पुत्रान् प्रद्युम्नादीन् ते** त्वद्धितार्थं **गृणामि**. अन्याः कामकृता इति न तेषां नामग्रहणम् ।।७।।

चारुदेष्णः सुदेष्णश्च चारुदेहश्च वीर्यवान्।

सुचारुश्चारुगुप्तश्च भद्रचारुस्तथापरः।।८।।

चारुचन्द्रो विचारुश्च चारुश्च दशमो हरेः।

प्रद्युम्नप्रमुखा जाता रुक्मिण्यानवमाः पितुः।।९।।

चारुदेष्णादयो नव प्रद्युम्नानन्तरभाविनः. यथा नामावयवास्तद्गुणाः. **वीर्यवानि**ति विशेषणं सुन्दरदेहस्य शौर्यशङ्काभावेनोक्तम्. चकाराः सर्वत्र पूर्वधर्मसमुच्चयार्थाः, अन्तिमः कन्यासमुच्चयार्थः. अन्येऽपि कन्यासमुच्चयार्था इति केचित्, यदनन्तरं कन्या तत्र चकार इति. **तथे**ति वीर्यवान्. तेन सह

वीर्यवत्त्वमाशङ्क्य पृथगुपदिशति **अपर** इति. **परः** सर्वेभ्यः श्रेष्ठो वा. **दशम** इति क्रमोऽत्र विवक्षित इत्युक्तम्. **हरेः** सकाशात् **प्रद्युम्न एव प्रमुखो येषाम्. रुक्मिण्या जाताः** करणमात्रं रुक्मिणी, नत्वेते मातृपुत्रा इति. तत्र हेतुः यतः **पितुरनवमाः. अवमो** न्यूनभावः ।।८-९।।

भानुः सुभानुः स्वर्भानुः प्रभानुर्भानुमांस्तथा।

चन्द्रभानुर्बृहद्भानुरतिभानुस्तथाष्टमः।।१०।।

श्रीभानुः प्रतिभानुश्च सत्यभामात्मजा दश।।

भानुप्रभृतयो दश सत्यभामायाः. **तथे**ति. यस्य कर्माणि न प्रसिद्धानि सोऽपि प्रसिद्धवदेव ज्ञातव्य इति **तथे**त्युच्यते क्वचित्. **अष्टम** इति तस्य स्वतन्त्रता महत्त्वं च, सङ्ख्यायां पृथगुपदेशात्. **सत्यभामात्मजा** इति परिज्ञानार्थमेव मातृनिरूपणम्, सर्वेषां पुत्राणां सर्वासु मातृव्यवहारस्तुल्य इति ।।१० १/२।।

साम्बः सुमित्रः पुरुजिच्छतजिच्च सहस्रजित्।।११।।

विजयश्चित्रकेतुश्च वसुमान् द्रविडः क्रतुः।

जाम्बवत्याः सुता ह्येते साम्बाद्याः पितृसंमताः।।१२।।

साम्बादयो दश **जाम्बवत्याः सुताः. एते** इति तेषां देवतात्वात् निरूपणसमये उपस्थितिमाह. पुनः **साम्बाद्या** इति वचनं दशानां द्विःस्वभावत्वं द्योतयति. ततो भगवतोऽसम्मतिमाशङ्क्य पितृसम्मतिमाह **पितृसम्मता** इति ।।११-१२।।

वीरश्चन्द्रोऽश्वसेनश्च चित्रगुर्वेगवान् वृषः।

आमः शङ्कुर्वसुः श्रीमान् कुन्तिर्नाग्नजितेः सुताः।।१३।।

श्रुतः कविर्वृषो वीरः सुबाहुर्भद्र एकलः।

शान्तिर्दर्शः पूर्णमासः कालिन्द्याः सोमकोऽवरः।।१४।।

सुघोषो गात्रवान् सिंहो बलः प्रबल ऊर्ध्वगः।

माद्र्याः पुत्रा महाशक्तिः सह ओजोऽपराजितः।।१५।।

श्रीमानिति विशेषणम्. **नाग्नजितेः** सत्यायाः पुत्राः. **श्रुता**दयो दश **कालिन्द्याः. एकल** इति विशेषणम्, एकएव सन् सर्वान् शत्रून् लातीति. **सोमकस्त्वव‍रो** दशमः सङ्ख्यापूरणार्थं पश्चादुत्पन्नः. **सुघोषादयः माद्र्याः**

लक्ष्मणायाः **पुत्राः**. **ऊर्ध्वग** इति नाम. महाशक्तिरेकः, **सहो** भिन्नः, **ओज**श्च. **अपराजित** इति नाम ।।१३-१५।।

वृको हर्षो१ऽनिलो गृध्रो वर्धनोऽन्नाद एव च ।

महाशः पावनो वह्निर्मित्रविन्दात्मजाः क्षुधिः।।१६।।

वृकादयो दश मित्रविन्दायाः. महाश२ इति नाम. **क्षुधि**र्दशमः सङ्ख्यापूरकः ।।१६।।

सङ्ग्रामजिद् बृहत्सेनः शूरः प्रहरणोऽरिजित्।

जयः सुभद्रो भद्राया वाम आयुश्च सत्यकः।।१७।।

दीप्तिमांस्ताम्रपत्राद्या रोहिण्यास्तनया हरेः।।

सङ्ग्रामजिदादयो दश **भद्रायाः**. **सत्यको** दशमः. **रोहिणी** षोडशसहस्राणी शताधिकानां मुख्या. क्वचिदेषैवाष्टमहिषीमध्य इति भद्रायाः स्थाने मन्त्रशास्त्रे प्रसिद्धा. तस्या **दीप्तिमान्** पुत्रः अष्टमहिषीपुत्रतुल्यः. तेनैकाशीति पुत्राः एकाशीतिभक्तिप्रकारा इव भगवता प्रकटीकृता इति द्योतितम्. **ताम्रपत्राद्या रोहिण्यास्तनयाः** साधारणाः. अस्या दशपुत्रागणनमन्यासां दशपुत्रत्वख्यापकम् ।।१७ १/२।।

पौत्रान् निरूपयन् एकं निरूप्य तत्सदृशा अन्य इत्यतिदिशति **प्रद्युम्नाच्चानिरुद्धोऽभूदि**ति.

प्रद्युम्नाच्चानिरुद्धोऽभूद् रुक्मवत्यां महाबलः।।१८।।

पुत्र्यां तु रुक्मिणो राजन् नाम्ना भोजकटे पुरे।

एतेषां पुत्रपौत्राश्च बभूवुः कोटिशो नृप।

मातरः कृष्णजातानां सहस्राणि च षोडश।।१९।।

रुक्मवती रुक्मिणः पुत्री मातुलकन्या. प्रद्युम्नस्तत्रैव कियत्कालं स्थितः तत्रैव विवाहं कृत्वा पुत्रमुत्पादितवान्. शत्रुगृहे कथमेकाकी स्थित

---

१. दर्कः. २. महांश इति पाठः.

इति शङ्कां वारयति **महाबल** इति. चस्त्वर्थे. भगवदाविष्टात् **प्रद्युम्नादनिरुद्धो** जात इति ज्ञापयितुं **च**कारः, अन्यथा कामाज्जातोऽप्रयोजकः स्यात्.

मायावत्यामुत्पादनं वारयति **पुत्र्यां तु रुक्मिण** इति. मायावत्या नामान्तरमावेशो वा स्यादिति तुशब्दः असम्भावनां व्यावर्तयति. **राजन्निति** सम्बोधनं प्रद्युम्नस्य द्वारकाप्रेषणाभावं द्योतयति. सोऽपि राजा तत्रैव जामातरं दुहितरं च स्थापितवानिति. **पुरे** स्वनगरे, **नाम्ना भोजकटे.** एकं पौत्रमुक्त्वा अन्यानतिदिशति **एतेषां पुत्रपौत्राश्च** पुत्राः पौत्राश्च कोटिशो जाताः; न तेषु दशसङ्ख्यानियमः. सर्वेषामैकमत्यार्थमाह **मातरः कृष्णजातानामिति**. सर्वेषामेव भगवत्पुत्राणां सर्वाएव भगवत्स्त्रियो मातरः. यथा जननी तथैव सर्वा इति सापत्न्याभावो निरूपितः. चकारादष्टोत्तरशतम् ।।१८-१९।।

रुक्मिकन्याविवाहः असम्बद्ध इति तत्र हेतुं पृच्छति **कथमिति**.

।।राजोवाच।।

कथं रुक्म्यरिपुत्राय प्रादाद् दुहितरं युधि ।

कृष्णेन परिभूतस्तं हन्तुं रन्ध्रं प्रतीक्षते ।।

एतदाख्याहि मे विद्वन् द्विषोर्वैवाहिकं मिथः।।२०।।

विवाहः स्नेहकृतः. पुत्रः पितुरिति अर्यपेक्षया **अरिपुत्रो** द्वेष्यो भवति. **दुहिता** चात्यन्तं प्रिया. द्वेषकारणमाह **युधि कृष्णेन परिभूत** इति. विस्मृतो द्वेष इति चेत्, तत्राह **हन्तुं रन्ध्रं प्रतीक्षत** इति, अद्यापि द्वेषव्यापारान्न निवृत्तः. **रन्ध्रमिति** साक्षाद्विरोधे असामर्थ्यं सूचितम्. प्रसिद्धसम्बन्धहेतोरभावाद् हेत्वन्तरं पृच्छति **एतदाख्याहीति**. **विद्वन्निति** कथने ज्ञानं हेतुभूतं निर्दिशति. **द्विषोः** परस्परं द्वेषविषययोः मिथो वैवाहिकं विवाहसम्बन्धिव्यवहरणं कारणं वा ।।२०।।

नन्वेतत्पूर्वं न श्रुतं समाध्यभावादधुना न चिन्त्यत इति तज्ज्ञानं

लेखः

अनागतमित्यस्याभासे **समाध्यभावादिति**. एतन्निरूपणस्य माहात्म्याप्रतिपादकत्वेन समाधिभाषात्वाभावादित्यर्थः. व्याख्याने **कालो** हीति. इदं लौकिकं कालाधीनमेव, भगवल्लीलायाएव कालानधीनत्वमिति भावः ।।२१।।

कथमिति चेत्, तत्राह **अनागतमतीतं** चेति.

अनागतमतीतं च वर्तमानमतीन्द्रियम् ।

विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः।।२१।।

योगिनां देशकालव्यवधायकानि ज्ञाने न प्रतिबन्धकानि. यथा चक्षुःसन्निकर्षः प्रत्यासत्तिः प्रत्यक्षे तथा सर्वत्र योगिनां योगजधर्मः प्रत्यासत्तिः. कालो हि वस्तूनि नयति, यथा नदी जलम्. यद्यपि जलमभिज्ञानद्रव्यसहितं क्वचिद्देशे स्थितं तस्मिन् समये तद्देशस्थितः पश्यति, तथापि प्रदेशान्तरे गतं न पश्यति तद्देशस्थितः. सहगतो वा तदपि पश्यति. यथा वा मनुष्यैर्द्रष्टुमयोग्यमपि देवाः पश्यन्ति, यथा सर्वैराच्छन्नं कालज्ञाः पश्यन्ति, एवं सर्वसामर्थ्ययुक्तो योगएव सर्वसमर्थः. **वर्तमान**स्य विशेषण**मतीन्द्रियमि**ति. **अतीतं** यन्नानुभूतम्. **अनागतं** यद् ज्ञापकरहितम्. **च**कराद् धर्मान्तरमापन्नम्. **विप्रकृष्टं** देशव्यवहितम्. निकटस्थमपि व्यवहितं भित्त्यादिना. सर्वमेव योगिनः **सम्यक् पश्यन्ति.** ध्यानेन ज्ञानं ज्ञानिनां; **योगिनां** तु भगवत इव योगजधर्मे प्रकटे सर्वज्ञत्वमिति ।।२१।।

तत्र प्रद्युम्नविवाहे हेतुद्वयमाह **यद्यप्यनुस्मरन्नि**ति द्वाभ्याम्.

।।श्रीशुक उवाच।।

यद्यप्यनुस्मरन् वैरं रुक्मी कृष्णावमानितः ।

व्यतरद् भागिनेयाय सुतां कुर्वन् स्वसुः प्रियम्।।२२।।

वृतः स्वयंवरे साक्षादनङ्गोऽङ्गयुतस्तया ।

राज्ञः समेतान् निर्जित्य जहारैकरथो युधि।।२३।।

स्वसुः प्रियं कुर्वन् इत्येकं, **स्वयंवरे** कन्ययैव **वृत** इत्यपरम्. तत्र प्रथममुपपादयति. **कृष्णावमानि**तः **वैरमनुस्मरन् यद्यपि** वर्तते तथापि **स्वसुः प्रियं कुर्वन् भागिनेयाय** भगिनीपुत्राय मातृपक्षपातिने **सुताम**दात्. अनुरोध्या स्वसा. साह्व पूर्वमपकृता तदभिप्रायमज्ञात्वा, पश्चाद् ज्ञात्वा ह्वकथं प्रसन्ना भवतीति विचार्य, प्राणश्च तया रक्षित इति, स्वकन्यां तत्पुत्राय प्रायच्छत्. प्रियं प्रियाय चेद् दीयते तदा प्रसन्नः सर्वोऽपि भवतीति. द्वितीयमाह **वृतः स्वयंवरे साक्षादिति**. यद्वशादन्येऽपि व्रियन्ते सएव साक्षात् पूर्व**मनङ्गः** अतः कयाप्यवृतः इदानी**मङ्गयुतो** जात इति **तया**भिज्ञया[१] **वृतः.** स्वयंवरे वृतो न प्रत्याख्यायत इति स महाभिमानी कन्यायाः स्वयंवरं कृतवान्, पश्चाद् विधानपूर्वकमपि सन्तोषेण दत्तवानिति **व्यतरदि**त्युक्तम्. तस्य रूपमेव महत् न पौरुषं भविष्यतीत्याशङ्क्याह राज्ञः समेतान्निर्जित्य जहारेति. **युधि** सावधानान्, तत्रापि मिलितान् सर्वान् नितरां जित्वा. **एकरथ** इत्यसहायः. हत्वा मातुलगृहमेव गत इति पूर्वश्लोकानुरोधादवसीयते. एकरथत्वादिधर्मैः प्रतीत्या पितुरधिकत्वमुक्तम् ।।२२-२३।।

एवं धर्मप्रस्तावे पुत्रस्योत्पत्तिं विवाहं चोक्त्वा कन्यादानमपि भगवत्कृतमाह **रुक्मिण्यास्तनयामि**ति.

रुक्मिण्यास्तनयां राजन् कृतवर्मसुतो बली ।

उपयेमे विशालाक्षीं कन्यां चारुमतीं किल।।२४।।

कृतवर्मा यादवः, **बली**ति नाम. **विशालाक्षीमि**ति सौन्दर्यं, **चारुमतीमि**ति नाम. **कन्या**माहूय दत्ताम्. **रुक्मिण्यास्तनयामि**त्यनेन अन्यासामपि कन्या उक्ताः सन्तीति तथा तासां विवाहोऽपि ज्ञातव्यः. **विशालाक्षीमि**ति सौन्दर्यं तस्या विवाहे प्रयोजकमुक्तम्, नतु महतः कन्यात्वम्. **चारुमतीमि**ति नाम्ना अन्या अपि कन्याः सन्तीति सूचितम्. तेन रुक्मिण्याः पञ्चकन्याः पञ्चचकारैरुक्ताः[२] अध्यवसेयाः. अन्यासामपि यथाचकारं कन्यका ज्ञेयाः. **किले**ति प्रसिद्धे; न तु व्यासादिभिरेतदुपदिष्टमिति महत्त्वाख्यापकत्वात् केवलं लौकिकत्वात् ।।२४।।

ततोऽनिरूद्धस्तत्रैव भोजकटे जातः. तस्यापि विवाहं तत्रैवाह **दौहित्रायानिरुद्धाये**ति.

दौहित्रायानिरुद्धाय पौत्रीं रुक्म्यददाद्धरेः ।

रोचनां बद्धवैरोऽपि स्वसुः प्रियचिकीर्षया।।

जानन्नधर्मं तद्यौनं स्नेहपाशवशं गतः।।२५।।

स्वकुलस्थां कन्यामन्यो विवाहं मा करोत्विति. तस्या नाम **रोचने**ति. साप्यनिरुद्धस्य मातुलकन्या. तावता द्वेषः शान्तो भविष्यतीत्याशङ्क्याह

---

१. अभिज्ञाय. २. अष्टमनवमश्लोकस्थैः ह्वसम्पा.

बद्धवैरोऽपीति. **स्वसुः प्रियचिकीर्षयेति** पूर्ववद्धेतुः. यावज्जीवं यदेव किञ्चिदुत्कृष्टं तदेव भगिनीप्रीत्यर्थं दत्तवानित्यध्यवसीयते. अन्यथा पुनः पुनः तद्धेतुत्वेन नोच्येत. ननु तस्मै[१] देयं दत्तवान्, कथमेतावता स्वसा प्रीता भवतीति चेत्, तत्राह **स्वसुः प्रियचिकीर्षया जानन्नधर्मं तद्यौनमि**ति. स्त्रीसम्बन्धः अधर्मो भवति. ‘‘माता पितामही यस्य तथैव प्रपितामही तिस्र एककुले जाताः सोऽभिशस्तो निगद्यत’’ इति तस्यामुत्पन्नस्याभिशस्तिदोषात् **तद्यौनमधर्मरूपं** भवति. अधर्ममप्यङ्गीकृत्य स्वसुः प्रियार्थे दत्तवान्. ननु निषिद्धाचरणे कथं प्रियम्? न वा तत्प्रियं प्रियं भवतीत्याशङ्क्याह **स्नेहपाशवशं गत** इति. स्नेहे सर्वमेव

समीचीनं भासते. उभयो: परमस्नेहात् तद्गतो दोषो न भासते. अतो जानन्नपि एवं कृते प्रियं भवतीत्युभयोर्लौकिकबुद्ध्या तथा कृतवानित्यर्थ: ।।२५।।

अयं विवाह: लौकिकवदिति दत्तायां कन्यायां वरयात्रिका: भगवदादय: सर्वएव समागता इत्याह **तस्मिन्नभ्युदय** इति.

तस्मिन्नभ्युदये राजन् रुक्मिणी रामकेशवौ ।

पुरं भोजकटं जग्मु: साम्बप्रद्युम्नकादय:।।२६।।

विवाहोत्सवे रुक्मिणी मुख्या, निमित्तत्वात्. ततो लौकिकमिति ज्येष्ठानुक्रमेण **राम**कृष्णौ पुरत्वमापन्नं **भोजकट**स्थानं प्रतिज्ञास्थानं **जग्मु:**. **रामकेशवाविति** ययोर्गमनमसम्भावितं तौ निरूप्य **साम्बप्रद्युम्नादय**: वरयात्रिका निरूप्यन्ते. सुन्दर: साम्ब इति प्रद्युम्नादपि प्रथमं निर्दिष्ट:. **क**प्रत्ययोऽनादरे, निषिद्धवात् ।।२६।।

निषिद्धाचरणस्य फलमाह **तस्मिन्निवृत्त उद्वाह** इति.

तस्मिन्निवृत्त उद्वाहे कालिङ्गप्रमुखा नृपा: ।

दृप्तास्ते रुक्मिणं प्रोचुर्बलमक्षैर्विनिर्जय।।२७।।

कन्यादानानन्तरं वरयात्रायामपि सिद्धायां कलिङ्गदेशाधिपति: देशनाम्नैव प्रसिद्ध: स्वत: स्नेहेन तूष्णीम्भूतमपि **रुक्मिणं प्रोचु:**. यतो **दृप्ता:**. नापि तस्य तथा करणे किञ्चित्प्रयोजनमस्ति ।।२७।।

---

१. कस्मै इति पाठः. कथमस्मै इति स्यात् पाठः.

नन्वक्षजय: कथमेकान्ततो ममैव भविष्यतीत्याशङ्कायामाह अ**नक्षज्ञ** इति.

अनक्षज्ञो ह्ययं राजन्नपि तद्व्यसनं महत्।

इत्युक्तो बलमाहूय तेनाक्षै रुक्म्यदीव्यत।।२८।।

शतं सहस्रमयुतं रामस्तत्रादधे पणम् ।

तं तु रुक्म्यजयत् तत्र कालिङ्ग: प्राहसद् बलम्।।

दन्तान् संदर्शयन्नुच्चैर्नामृष्यत् तद् हलायुध:।।२९।।

ये हि वैदिककर्मपरा धर्मपरा वा ते ह्य(न)क्षज्ञा भवन्ति. बलस्यानुभयरूपत्वात् युक्तमेवाक्षाज्ञानमिति **हि**शब्द:. **राजन्निति** सम्बोधनात् त्वमक्षज्ञ इति. **अपि तद्व्यसनं महदिति** अज्ञो न क्रीडिष्यतीति शङ्कां वारयति. अत आदौ प्रवृत्त:

पश्चान्न निवर्तिष्यत इति पराजितो भविष्यति. एवमुपपत्त्या प्रबोधितः तथा कृतवानित्याह **इत्युक्त** इति. बलः पूर्वं ज्ञानोपदेशात् सान्त्वनाद् हित इति **बलमेवाहूय** भगवतः सकाशात् पृथक्कृत्य रुक्मी दुर्बुद्धिरदीव्यत. तत्राक्षान् गृहीत्वा **रुक्मी** प्राह ''पणः क्रियतामि''ति. भिन्ना सङ्ख्या चतुर्दिक्ष्वक्षेषु लिख्यते. तत्र कस्यचित् समसङ्ख्या कस्यचिद् विषमसङ्ख्येति पूर्वमेव प्रतिज्ञाय क्रीडार्थं प्रवृत्तौ. ततोऽक्षहस्तेन रुक्मिणा आज्ञप्तः **शतं सहस्रमयुतम्** उत्तरोत्तरं दशगुणं **रामस्तत्र पणमादधे. तं तु** पणं स्वानुकूलतया अक्षान् पातयित्वा **रुक्मी अजयत्.** तत्रानक्षज्ञता **कालिङ्गेन** प्रथमतो निरूपितेति **बलं प्राहसत्.** तदपि हसनं प्रकटमित्याह **दन्तान् संदर्शयन्नुच्चैरि**ति. **त**न्मनसि कापट्येन हसतीति **हलायुधो नामृष्यत्.** ननु नीतिज्ञेनावश्यं हास्यं सोढव्यं, तत्राह **हलायुध** इति ।।२८-२९।।

ततो लक्षं रुक्म्यगृह्णाद् ग्लहं तत्राजयद् बलः।

जितवानहमित्याह रुक्मी कैतवमाश्रितः ।।३०।।

ततो ''वारत्रयानन्तरं जये वा पराजये वा विपर्यस्य[1] अन्यः पातयेदि''त्यक्षशास्त्रात् कपटादिशङ्कानिवृत्त्यर्थं बलः स्वयमक्षान् गृहीत्वा अपातयत्. ततः अयुताद् दशगुणं **रुक्मी लक्षं ग्लहं** पणात्मकं द्रव्यं

१. विपर्ययस्येति पाठः.

प्रतिज्ञातवान्. तत्र तस्यां क्रीडायां **बलः अजयत्**. एकान्ते क्रीडतीति न स्वकीयाः साम्बादयः साक्षिणः, परं तदीयाएव सर्वे. अत एकवारमेव भूयान् पराजयो जात इति, द्यूते मृषा भाषणं न विगीतमिति, **जितवानहमित्याह रुक्मी.** तानक्षान् विपरीततया धृत्वा प्रदर्श्य **कैतवमाश्रितः** कपटेनैव जेष्यामीति निश्चित्य मृषोक्तवान् ।।३०।।

मन्युना क्षुभितः श्रीमान् समुद्र इव पर्वणि ।

जात्यारुणाक्षोऽतिरुषा न्यर्बुदं ग्लहमादधे।।३१।।

तदा **मन्युना क्षुभितस्त**दसहमानः. देयाभावादसहनं भविष्यतीत्याशङ्क्य निराकरोति **श्रीमानि**ति, पूर्णधनः. निवार्यमाणोऽपि सहजएव तादृश इति तस्मिन् काले तथैव युक्तमिति दृष्टान्तमाह **समुद्रः** पौर्णमास्या**मिवे**ति. स हि पूर्णं चन्द्रमभिमुखो गच्छति. तथायमपि मच्छिष्यएव मत्तोऽप्युत्कर्षं वाञ्छति अनृतं च वदतीति चन्द्रमिव जिघृक्षुर्जातः. **जात्या** स्वभावेन च **अरुणाक्षः** अक्रुद्धोऽपि

क्रुद्ध इव प्रतीयते, क्रोधे तु का वार्तेत्यर्थः. **अतिरुषा** सुतरामरुणाक्षो जातः अतो मनसि मारणीयोऽयमिति भावो निरूपितः. ततो वारत्रयं क्रीडितव्यमिति पुनरक्षान् बलो गृहीतवान्. तदा रुक्मी **न्यर्बुदं ग्लहमादधे** प्रतिज्ञातवान् दशकोटिमितम्. वारत्रयेण यावद् दशगुणं तावत् सकृदेवादधे, यथैकानृतेनैव[१] सर्वमनृतं भवति ।।३१।।

तं चापि जितवान् रामो धर्मेण च्छलमाश्रितः ।

रुक्मी जितं मयात्रेमे ब्रुवन्तु प्राश्निका इति।।३२।।

पूर्ववत् **तं चापि रामो जितवान्.** अभिज्ञतया न किन्तु दैवगत्येत्याह **धर्मेणे**ति. तदा महतीं विनष्टिं दृष्ट्वा **छलमाश्रितः** कापट्यमेव कर्तव्यमिति निश्चित्य **रुक्मी** आह. चकारेण 'आहे'ति पूर्वक्रिया आकृष्यते. **मया जितमत्रेमे प्राश्निका ब्रुवन्त्वित्या**ह. प्राश्निकानामपि स्वानुगुण्यवचने बलस्य स्वज्ञानमेव भ्रान्तमिति प्रतीतिः स्यात्. तदर्थं प्राश्निकानां सभासदां; येषामग्रे प्रश्नः सम्भवति सन्दिग्धे ते प्राश्निकाः. तत्र देशादिदेवाः साक्षिण इति कालिङ्गादिषु ते अनिविष्टाः, दुष्टत्वात् तेषाम् ।।३२।।

---

१. यथैकावृतेन.

तदाब्रवीन्नभोवाणी बलेनैव जितो ग्लहः ।

धर्मतो वचनेनैव रुक्मी वदति वै मृषा।।३३।।

तत्रत्यानां वचनात् पूर्वमेव आकाशवाणी सर्वदेवतामयी सन्देहनिवृत्त्यर्थमाह **बलेनैव जितो ग्लह** इति. यद्यप्यक्षक्रीडां न जानाति तथापि **धर्मतः** जितवान्. **वचनेनैव** केवलेन धर्मरहितेन **रुक्मी वदति. वै** निश्चयेन, नात्र सन्देहः कर्तव्यः. लौकिकत्वमपि तद्वाक्यस्य निवारयति **मृषे**ति. लौकिकाः अप्येतादृशे न मृषा वदन्ति ।।३३।।

तामनादृत्य वैदर्भो दुष्टराजन्यचोदितः ।

सङ्कर्षणं परिहसन् बभाषे कालचोदितः।।३४।।

ततः को वायं कृत्रिमः शब्दः प्रमाणं साक्षात् प्राश्निकेषु विद्यमानेष्विति **तामनादृत्य दुष्टराजन्यैः** ''तथैव वक्तव्यम् इदं नाङ्गीकर्तव्यमि''ति प्रेरितः **सङ्कर्षणं परिहसन् बभाषे**. यतो **वैदर्भः न** धर्मप्रधानदेशस्थः, दुःसङ्गश्च. स हि जगदेवाकर्षति लयार्थं; तादृशसामर्थ्यवन्तं परिहसन् कटाक्षहास्यादिभिः

अयुक्तमुक्तवान्. ननु वचनस्य किं प्रयोजनं; तूष्णीं स्थातव्यम् उत्थाय वा गन्तव्यमिति, तत्राह **कालचोदित** इति. भगवता गोपालत्वं समर्थितमिति तदन्तर्याम्यपि तथैव प्रेरितवान् ।।३४।।

नैवाक्षकोविदा यूयं गोपाला वनगोचराः ।

अक्षैर्दीव्यन्ति राजानो बाणैश्च न भवादृशाः।।३५।।

बाल्ये हि विद्याभ्यासः, क्षत्रियाणां च शस्त्राभ्यासः, तस्मिन् समये वने गोचारणमेव कृतमिति लोकविश्वासार्थं मर्मभेदमाह **यूयं नाक्षकोविदाः**[1] यतो **गोपालाः**. न हि सर्वविद्यासु सर्वे अभिज्ञाः तस्माद् **वने गोचरा** एव. उभयमपि ज्ञायत इति चेत्, तत्राह **अक्षैर्दीव्यन्ति राजान** इति, अभ्यासव्यतिरेकेण न विद्या समायातीति. अक्षाणामप्रयोजकत्वमाशङ्क्य, द्यूतक्रीडापरा अधमा इति शङ्काव्युदासार्थं जयसाधकत्वाद् बाणे (ऽ)तुल्यतां वक्तुमाह **बाणैश्चे**ति. ननु क्षत्रिया वयमित्युभयं जानीम इति चेत्, तत्राह **न भवादृशा** इति. परगृहे पुष्टा आबाल्यं नीचकर्मणि नियुक्ताः नाक्षबाणकोविदा

---

१. अक्षविदा इति पाठः.

भवन्तीति निषेधति **न भवादृशा** इति ।।३५।।

रुक्मिणैवमधिक्षिप्तो राजभिश्चोपहासितः ।

क्रुद्धः परिघमुद्यम्य जघ्ने तं नृप संसदि।।३६।।

ततः सर्वैरेव[1] ''सत्यं वदती''त्युक्ते उपहासे च कृते कालप्रेरितो बलः तत्रैव दैवगत्या कालमुद्गररूपं **परिघमुद्यम्य संसदि** सभायामुपविष्टमेव **तं जघ्ने.** पक्षपातिभिः तस्य पक्षः पोषणीय इति ज्ञापयन्निव सभायामेव जघ्ने. **नृपे**ति राज्ञां तथाकरणं युक्तमिति ज्ञापयति, **क्रुद्ध** इत्यविचारः. **परिघमुद्यम्ये**त्यन्या क्रिया निवर्तिता. चकारात् तदीयैः सेवकैरप्युहसितः ।।३६।।

वाक्यापराधे वधं कृत्वा मानसिकापराधे ताडनमाह **कलिङ्गराजमि**ति, येनोपहसितः.

कलिङ्गराजं तरसा गृहीत्वा दशमे पदे ।

दन्तानपातयत् क्रुद्धो योऽहसद् विवृतैर्द्विजैः।।३७।।

पलायमानं तं **दशमे पदे** धृत्वा. क्रियाशक्तिः प्राणस्येति ''नव वै पुरुषे प्राणा'' इति श्रुतेः प्राणानुरोधेन नव प्रयत्नानुपेक्ष्य दशमे पदे तं गृहीतवान्. ततो

लोकेभ्यः दन्ताः प्रदर्शिता इति पुनः प्रदर्शननिवृत्तये **दन्तानपातयत्**. अत्रापि **क्रुद्ध** इत्यविचारः. तस्य दोषमाह **योऽहसदि**ति. **विवृतैर्द्विजैरि**ति दन्तानामेव पातने हेतुः ।।३७।।

अन्ये निर्भिन्नबाहूरुशिरसो रुधिरोक्षिताः।

राजानो दुद्रुवुर्भीता बलेन परिघार्दिताः।।३८।।

अन्येऽप्यनुमोदनकर्तारः **निर्भिन्नाः बाहवः ऊरवः शिरांसि च येषां** तादृशा जाताः. तत्राभिज्ञानं **रुधिरोक्षिताः** रुधिरेणोक्षिता इति. ततो भीताः सन्तः **दुद्रुवुः**. स्वतोऽपि भयेन पलायने बलोत्कर्षो न भवतीति पलायने तत्क्रियां साधनमाह **परिघार्दिता** इति ।।३८।।

नन्वेवमनर्थे पौत्रविवाहे जाते भगवता किं कृतमित्यत आह **निहत** इति.

---

१. सर्व एवेति पाठः.

निहते रुक्मिणि श्याले नाब्रवीत् साध्वसाधु वा ।

रुक्मिणीबलयो राजन् स्नेहभङ्गभयाद् हरिः।।३९।।

एकएव श्यालो हतः; विवाहे श्यालः पावित्र्यहेतुर्भवति अतः किञ्चिद् वक्तव्यम्. धर्मस्थापनायां दुष्टो मारणीयएव अतो न वक्तव्यमेव. तदुभयं निषेधति **श्याले निहते साधु असाधु वा नाब्रवीदि**ति. ननु ''अप्रतिषिद्धमनुमतं भवती''ति तूष्णीम्भावेऽपि बलभद्रपक्षः स्यात्, तत् किं साध्ववचनेनेति चेत्, तत्राह **निहत** इति. कृते कार्ये वचनं व्यर्थमेव स्यात्. अनेन वक्तव्यो भवति असाधु कृतमिति, तथापि नोक्तमिति सूच्यते. तत्र हेतुः **रुक्मिण्याः स्नेहभङ्गभयादि**ति. भक्तत्वेऽपि मायायाः कार्यरूपा अविद्येति उत्पत्तिविचारेण स्नेहभङ्गः सम्भाव्यते. ततः प्रपन्नायाः तथात्वे ममापि तथात्वमुचितमिति सर्वथा स्नेहे भग्ने भक्तिमार्गो नश्यतीति भयम्. नन्वीश्वरस्य नष्टेऽपि मार्गे किं भयमिवेति चेत्, तत्राह **हरिरि**ति. स हि सर्वदुःखहर्ता, अन्यथा सर्वेषां दुःखं न गच्छेदिति. तथैवासाध्ववचने **बलस्य स्नेहभङ्गभयं हेतुः**. तस्य स्नेहभङ्गे अवतारप्रयोजनं न भवेदिति. भगवद्व्यतिरिक्तानामन्यधर्मः प्रवर्तत इति स्नेहभङ्गसम्भवः, शक्तिर्विभक्तेति ।।३९।।

उभयोर्विनियोगमुक्त्वा त्रिषूत्साहरहितेषु सत्सु शिष्टानां कृत्यमाह **ततोऽनिरुद्धमि**ति.

लेख:

निहते रुक्मिणीत्यत्र **तत्र हेतुरि**ति. असाधुत्वेन वक्तव्यत्वे साधुत्वाकथने इत्यर्थः ।।३९।। इति द्वादशाध्यायव्याख्या समाप्ता ।।

ततोऽनिरुद्धं सह सूर्यया वरं रथं समारोप्य ययुः कुशस्थलीम् ।
रामादयो भोजकटाद्दशार्हाः सिद्धाखिलार्था मधुसूदनाश्रयाः।।४०।।

।।इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः।।

तदीयानां प्रतिबन्धनिवृत्तये रामः पुनरादित्वेन गृहीतो वरयात्रिकाणाम्. **सूर्यया** नवोढया **सह रथं समारोप्ये**ति दुःखितत्वाद् बलात् समारोपणमुक्तम्, मातामहः पितामहो मारित इति. **कुशस्थलीमि**ति प्रदेशस्य विषमत्वं सूचितम्. **दशार्हा** यादवविशेषाः, तां दशामर्हन्तीति. शिष्टानामुभयमपीष्टमित्याह **सिद्धाखिलार्था** इति. शत्रुमरणमिष्टप्राप्तिश्च अखिलार्थाः. तथात्वे हेतुः **मधुसूदनाश्रया** इति. एवं धर्मप्रस्तावे अनिरुद्धो धर्मरक्षक इति तत्कथायां दुष्टनिवारणमुक्तम् ।।४०।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे द्वादशोऽध्यायः।।

।।षष्ठः स्कन्धादितो एकोनषष्टितमोऽध्यायः।।

निरोधे राजसफले देवानां विजयः स्फुटः।
निरूप्यते यतो रुद्धाः नान्यं सम्भावयन्ति हि।।(१)।।
त्रयोदशे ततोऽध्याये हेतुस्तस्य निरूप्यते।
अनिरुद्धप्रसङ्गेन धर्मः सिध्यति तेन हि।।(२)।।
सर्वथाप्युपकारित्वात् सर्वतो भयशङ्कया।
परमानन्दरूपत्वात् सफलो राजसः स्मृतः।।(३)।।
अनिरुद्धो निरोद्धव्यो निरुद्धो येन केनचित्।
तन्मूलाः सर्व एवैते विनिरुद्धा भवन्ति हि।।(४)।।

सर्वदेवजयार्थं प्रथममनिरुद्धस्य बन्धनं निरूप्यते, निरुद्धं मनः सर्वहेतुर्भवतीति. तत्रानिरुद्धबन्धनं कालेनैवेति उषोपाख्यानमुच्यते. कालेऽपि विषयवैचित्री हेतुरिति चित्रलेखा नेत्री.

स्वप्नेऽपि चेत् प्रसङ्गः स्याद् बद्धो भवति मानवः ।
अन्येन वा तथा ज्ञातः किमु साक्षात् तथाविधः।।(५)।।

लेखः

त्रयोदशेऽध्याये **अनिरुद्ध** इति. **येन केनचिन्निरुद्धः अनिरुद्धो** भगवता स्वस्मिन् **निरोद्धव्य** इत्यर्थः. तत्र हेतुः **तन्मूला** इति, **एते** भक्तानामिन्द्रियादयः **सर्वे अनिरुद्धमूलाः,** तस्य मनोधिदेवत्वादिति भावः (४).

कालेनैवेतीति. दैत्यानां कालसेवकत्वेन कालरूपत्वात् तत्पुत्र्या उषाया अपि कालरूपत्वमिति भावः. **कालेऽपी**ति, कालस्य हेतुत्वेऽपि **विषयवैचित्री** मुख्यो **हेतुः** तस्यां सत्यां मनोबन्धनं सम्यग्भवतीति भावः.

प्रसङ्ग इति, कालोपासकैर्दैत्यैरसद्भिः प्रसङ्ग इत्यर्थः. अतएव अनिरुद्धबन्धने कालस्य हेतुत्वमुक्तमिति भावः. **साक्षादि**ति, जाग्र**द्दशा**यामपि दुःसङ्गवानित्यर्थः (५).

बाणः पुत्रशतेत्यस्याभासे **प्रथमिमि**ति. अनिरुद्धस्य बन्धने हेतुः उषा, तस्याः सम्बन्धनिरूपिका चित्रलेखा; सामान्यनिर्देशात् पुल्लिङ्गकथनम्.

प्रथमम् अनिरुद्धबन्धनहेतुसम्बन्ध-निरूपकनयनार्थं[1] प्रस्तावनामाह **बाण: पुत्रशतज्येष्ठ** इति सप्तदशभि:.

।।श्रीशुक उवाच।।

बाण: पुत्रशतज्येष्ठो बलेरासीन् महात्मन:।

सहस्रबाहुर्वाद्येन ताण्डवेऽतोषयन्मृडम् ।।१।।

पुत्राणां शतमध्ये ज्येष्ठ आसीत्. भगवता स बद्ध इति तन्निष्कृतिसूचनार्थं भगवदंशोऽनिरुद्ध: तत्पुत्रेण बद्ध इति सूचयितुं **बले: पुत्रत्वं** निरूप्यते. ननु तेनैव कथं न बध्यते? तत्राह **महात्मन** इति, स हि महात्मा नापकरोति. **पुत्रशतज्येष्ठ** इति तत्कृतं पितृकृतमेवेति ज्ञापयति. बलेरिवास्यापि बन्धशङ्कापि व्यावर्त्यते, पार्ष्णिग्राहा बहव: सन्तीति. तथापि भगवता सह विरोधे न सामर्थ्यं भवतीति तस्य महादेवोपासनमाह **सहस्रबाहुरि**ति. सहस्रबाहुत्वं च तत्कृपयैव. तेन बहुधा लब्धप्रसाद: महादेवात् स इति सूचितम्. ताण्डवे उत्साहवृद्ध्यर्थं वाद्यभूयस्त्वमपेक्ष्यते. तत्र बहुभिर्वादने व्यधिकरणप्रयत्नानां समता न भवतीति, एकेन बहुवाद्यकरणं तोषहेतुर्भवतीति, **सहस्रबाहुभिर्वाद्यै: ताण्डवे मृडमतोषयत्** ।।१।।

तुष्टस्य कृत्यमाह **भगवानि**ति.

भगवान् सर्वभूतेश: शरण्यो भक्तवत्सल: ।

वरेण छन्दयामास स तं वव्रे पुराधिपम्।।२।।

वरदानसामर्थ्यं **'भगवच्'**छब्देनोक्तम्. तद्दत्तं कोऽप्यन्यथा न करिष्यतीति सूचयितुमाह **सर्वभूतेश** इति, सर्वनियामक:. सएव भूतश्चेत् शरीरसम्बन्धेन जात: साहङ्कार: तदावश्यमहङ्कारनियामकवश्यो भवति. अहङ्कारे सात्त्विकादिव्युदासं मत्वा आह **सर्वे**ति. सामर्थ्याप्रतिघातौ निरूप्य दातृस्वभावं निरूपयति

लेखः

तत्कृतं नयनमनिरुद्धस्य, तदर्थमित्यर्थ:. **इति सप्तदशभिरि**ति, इतिश्लोकमारभ्याग्रिमै: सप्तदशभिरित्यर्थ:. पूर्वार्धाष्टमाध्याये ''ततस्तु भगवान् कृष्ण'' इतिश्लोकप्रतीके टिप्पण्यामेवं व्याख्यातं, तद्रीत्यात्राप्युच्यते.

---

१. निश्चयार्थम्.

शरण्य इति. शरणार्हः सएव भवति यः प्रपन्नदुःखनिवारकः. तथाप्युचितदाता चेत् परिमितमेव यच्छेदिति विशेषदानार्थमाह **भक्तवत्सल** इति. यथा वत्सला गौरन्तःस्थितमपि दुग्धं तल्लोभेनान्येभ्योऽपि यच्छति तथा भगवान् भक्तेभ्यः अदेयमपि यच्छतीति ''वरं ब्रूही''ति **छन्दयामास.** छन्दनं कामचारनियोगः. तत **स** गुह्यं चिकीर्षुर्बाणः सर्वत्र स्वयं गच्छन् शत्रुबाहुल्याद् गृहरक्षार्थं चिन्ताकुलितः **तं** महादेवं **पुराधिपं** पुररक्षकं **वव्रे.** अनेन तस्य पुरस्य सर्वाभेद्यता निरूपिता. तेन देवादीनामपि तत्र प्रतीकारो निवर्तितः ।।२।।

तर्हि तादृशस्य कथं नाश इत्याशङ्क्य तस्यैव क्रोधेनेति वक्तुं प्रसङ्गान्तरमाह **स एकदे**ति षड्भिः.

स एकदाह गिरिशं पार्श्वस्थं वीर्यदुर्मदः ।
किरीटेनार्कवर्णेन संस्पृशंस्तत्पदाम्बुजम्।।३।।
नमस्ये त्वां महादेव लोकानां गुरुमीश्वरम्।
पुंसामपूर्णकामानां कामपूरामराङ्घ्रिपम्।।४।।

गिरिशो महादेवः, तत्रैव गिरौ शेते इति निरन्तरस्थित्या धाष्टर्यं सूचितम्. **पार्श्वस्थमि**ति तत्रापि भक्तकृपया तस्यैव पार्श्वे वर्तमानम्, तेन सुतरामेव तस्य स्मयः. **वीर्यस्य दुष्टो मदो यस्य,** उपजीव्यातिक्रमकर्ता[१] वीर्यस्मयेन विवेकरहितस्य कृत्यमाह **किरीटेनार्कवर्णेने**ति. विनीतो हि मुकुटोष्णीषादिकं स्थापयित्वा साष्टाङ्गं प्रणतः विज्ञापयेत्. अयं तु किरीटमेव परिधाय, तत्राप्यग्निवर्णं स्पर्शेऽत्यन्तपरुषम्. तेन चरणाम्बुजमतिकोमलं स्पृशन् आह **नमस्ये** इति. स्तौति वाचा नमस्कारो वा. **महादेवे**ति न त्वत्सदृशोऽन्योऽस्ति य उपास्यः स्यादिति. लोकानां गुरुमिति, उपदेष्टा फलदाता च भवानेवेति साधनफलरूपत्वं निरूपितम्. तेन त्वमेव प्रार्थनीयः न त्वन्य इति प्रार्थनायां हेतुरुक्तः. किञ्च प्रार्थितं सर्वमयुक्तमपि प्रयच्छति, नापि यत्किञ्चित्प्रार्थनायामपि क्रोधं मन्यत इति दृष्टान्तमिवाह **पुंसामपूर्णकामानामि**ति. देवतान्तरतपः-प्रभृतिसाधनैः यदा कामना न सिद्धा भवन्ति तेषां सर्वोपायपरिभ्रष्टानामाश्रयमात्रेण सर्वपूरक**ममराङ्घ्रिपवत्** कल्पवृक्षवत् **कामपूरः** अमराङ्घ्रिपः यः[२] ।।३-४।।

---

१. उपजीव्यातिक्रमवतः. २. य इति नास्ति क्वचित्.

एवं प्रार्थितार्थसिद्ध्यर्थं व्याजेन युद्धं याचते दो:सहस्रं त्वया दत्तमिति.

दो:सहस्रं त्वया दत्तं परं भाराय मेऽभवत् ।

त्रिलोक्यां प्रतियोद्धारं न लेभे त्वदृते समम्।।५।।

क्रियाशक्तिबाहुल्यार्थं सहस्रं बाहवो दत्ताः ते निर्विषया: सार्थका न भवन्ति. विषयस्तु समानेनाधिकेन वा सङ्ग्राम:, तदभावाद् **भाराय परमभवत्.** यथा शीताभावे वस्त्राणि भारायन्ते, युद्धाभावे वा शस्त्राणि. वैयर्थ्यं प्रकटयति **त्रिलोक्यां प्रतियोद्धारमि**ति. तर्हि शशशृङ्गाभावे किं चक्षु: निष्फलं तद्वद् विद्यमानैरेव यथायोग्यं क्रियतामित्याशङ्क्य, समेनैव युद्धं कर्तव्यमिति समस्य तव विद्यमानत्वात् त्वदृते अन्यं समं न लेभे. अनेन भगवान् अस्ति परं स न इन्द्रियविषय इति न लेभ इत्युक्तम् ।।५।।

तर्हि मास्तु, सुप्यतामित्याशङ्क्याह **कण्डूत्ये**ति.

कण्डूत्या निभृतैर्दोर्भिर्युयुत्सुर्दिग्गजानहम् ।

अन्वयां चूर्णयन्नद्रीन् भीतास्तेऽपि प्रदुद्रुवु:।।६।।

निभृता: पूर्णा:, अत: स्थातुमशक्ता:[१]. तर्हि युद्धाभावे अन्यएव कश्चित् कण्डूतिनिवृत्त्यर्थमुपाय: क्रियतामित्याशङ्क्य, दिग्गजानहं युयुत्सु: **चूर्णयन् अद्रीन् अन्वयाम्.** पर्वता अपि चूर्णीकृता:. दिग्गजा अपि युद्धार्थमन्विष्टा:. बलमुभयथा क्षीणं भवतिह्न शौर्यरूपं युद्धेन, बलरूपं पराक्रमेण. तत्राचेतनाश्चूर्णीभूता:[२] चेतनास्तु पलयिता इति वैयर्थ्यमेव जातमित्यर्थ: ।।६।।

एवं गर्वं श्रुत्वा क्रुद्धो भगवानित्याह तच्छ्रुत्वेति.

तच्छ्रुत्वा भगवान् क्रुद्ध: केतुस्ते भज्यते यदा।

त्वद्दर्पघ्नं भवेन्मूढ संयुगं मत्समेन ते ।।७।।

भगवान् सर्वज्ञ: महादेव: **क्रुद्ध:** ''आहे''ति पूर्वोक्तैव क्रिया अनुवर्तनीया. **यदा ते केतु भज्यते** तदेव तवाभिज्ञापकं युद्धप्राप्तौ. केतुर्ध्वज: वंशस्य[३]. कन्या जारोपभुक्ता 'भग्नकेतुरु'च्यते. अकस्माद्रसस्थे तस्मिन् केतुभङ्गश्च तदा **त्वद्दर्पघ्नं** त्वद्दर्पहननार्थमेव **संयुगं मत्समेन** भगवता भविष्यति. मया सम: भगवान्; सर्वसम इति महादेवेनापि सम: ।।७।।

---

१. अशक्या:; अन्तर्भावितण्यर्थ:. २. चूर्णीकृता इति पाठ:. ३. वंश:, यस्य कन्येति पाठ:.

एवं युद्धसम्भवमाकर्ण्य प्रीतो जात इत्याह **इत्युक्त** इति.

इत्युक्तः कुमतिर्हृष्टः स्वगृहं प्राविशन्नृप ।

प्रतीक्षन् गिरिशादेशं स्ववीर्यनशनं कुधीः।।८।।

महादेवेनैवमुक्तः **हृष्टो** जातः यतः **कुमतिः**. तस्य महादेववाक्ये विश्वासमाह **स्वगृहं प्राविशदि**ति. स्वयमुद्यममकृत्वा स्वगृहं प्रविष्टः **गिरिशादेशं प्रतीक्षन्** आस्ते. यद्यपि स आदेशः स्ववीर्यनाशकः तथापि **कुधीः** ।।८।।

तस्य केतुभङ्गप्रकारमाह **तस्योषा नाम दुहिते**ति.

तस्योषा नाम दुहिता स्वप्ने प्राद्युम्निना रतिम्।

कन्यालभत कान्तेन प्रागदृष्टश्रुतेन वै ।।९।।

अत्र पुराणान्तरे उषा पत्यर्थं पार्वतीं प्रार्थितवती. ततः सा तुष्टा अद्य यः स्वप्ने त्वां भजिष्यति स तव पतिरिति पार्वत्योक्ता. आधिदैविकः प्राद्युम्निरूपो भगवान् स्वप्नसृष्टौ मायिकीं[१] तामालिङ्ग्य स्वभावं तत्र स्थापितवान्. ततः सा वस्तुत आधिदैविकेन **प्राद्युम्निना रतिमलभत. कन्या**या रतिर्व्रतभङ्गहेतुर्भवति. मनोरथमात्रत्वं निवारयति **कान्तेने**ति. तर्हि भावनयैव मनोरथतुल्यः स्वप्नः तथा जात इत्याशङ्क्याह **प्रागदृष्टश्रुतेने**ति. प्राक् ततः स्वप्नात् पूर्वं न दृष्टः श्रुतो वा कदाचिदपि तया[२]. वै निश्चयेनेति दैवोपपत्तिरुक्ता ।।९।।

सा तत्र तमपश्यन्ती क्वासि कान्तेति वादिनी ।

सखीनां मध्य उत्तस्थौ विह्वला व्रीडिता भृशम्।।१०।।

ततस्तस्या व्रतसमाप्तिं कृत्वा गते स्वप्नान्ते उत्थिता **तत्र** शय्यायां स्वप्नस्य समानदेशे **तमनिरुद्धमपश्यन्ती** क्वासि कान्तेति भाषन्ती **सखीनां मध्ये उत्तस्थौ.** सा हि परितः सख्यो[३] मध्ये शेते. गुप्तं सखीषु अन्वेषयन्तीव सा उत्थिता. उत्थिताया अप्युपभोगलक्षणमाह **विह्वले**ति. अन्तर्व्रीडिता. **भृशमत्यर्थं** स्वावस्थां स्मृत्वा ।।१०।।

पूर्वमेव पार्वत्या चित्रलेखा नाम योगिनी तस्याः सखी निष्पादिता, यया तस्या मनोरथः सर्वोऽपि सिद्धो भवति. यद्यप्यन्या अपि जिज्ञासां

---

१. मायिक्याम् इति मु.पाठः –सम्पा. २. तदा. ३. सखीमध्य इति पाठः.

कृतवत्य: तथापि सा प्रयोजिकेति चित्रलेखाया उपाख्यानमुच्यते **बाणस्य मन्त्री**ति.

बाणस्य मन्त्री कुम्भाण्डश्चित्रलेखा च तत्सुता।

सख्यपृच्छत् सखीमूषां कौतूहलसमन्विता ।।११।।

मन्त्र्यधीनं राज्यमिति स महादेवेन दत्त इति ज्ञापितम्. **कुम्भाण्ड** इति नाम, नतु कुम्भाकारावण्डाविति. तस्य दुहिता चित्रलेखा. चकारादन्या अपि तस्य कन्या उषासख्य:. सखी उषाया:. उभयोरन्योन्यसखित्वे न गोप्यं किञ्चिदवशिष्यते वक्तव्ये इति **सखीमूषामि**त्युक्तम्. अद्यैव पार्वत्युक्तम् अद्यैवेयं विह्वलेति कौतुक**समन्विता** ।।११।।

तस्या वाक्यमाह कान्तं मृगयस इति.

कान्तं मृगयसे सुभ्रु कीदृशस्ते मनोरथ: ।

हस्तग्राहं न तेऽद्यापि राजपुत्र्युपलक्षये।।१२।।

सुभ्रु इति भ्रूभङ्गादिभावो दृश्यत इति अकन्यात्वं तस्या आह. ननु कान्तान्वेषणं युक्तमेवेति चेत्, तत्राह **कीदृशस्ते मनोरथ** इति. मनोरथे कृते स्वप्ने तथा दृश्यत इति दृष्टएव उपाय इति तं मनोरथमेव पृच्छति. कश्चिन्मनोरथो भविष्यतीति चेत्, तत्राह **हस्तग्राहमि**ति. हस्तो गृह्यते अनेनेति **हस्तग्राह:** पति:, अस्मिन्निति विवाहो वा. अद्यापि ते विवाहं **न लक्षये**. कस्याश्चिद् बाल्यएव विवाहो भवति, पश्चात् सखीभि: सम्बन्ध:, तदापि विवाहो जात इति लक्ष्यते. विवाहे तु कुलकन्याया: तत्र मनोरथो युक्तो भवति. '**राजपुत्री**'तिपदात् निरोधेन यथेच्छया सम्बन्धो निवारित: ।।१२।।

उत्तरमाह **दृष्ट** इति.

।।उषोवाच।।

दृष्ट: कश्चिन्नरवर: श्याम: कमललोचन: ।

पीतवासा बृहद्बाहुर्योषितां हृदयङ्गम:।।१३।।

कश्चिद् विशेषतो निर्वक्तुमशक्य:. **नरवर:** मनुष्यश्रेष्ठ:. सर्वेषामाकृतिर्भिन्नेति स न देव: नापि दैत्य: अन्यो वा किन्तु नरश्रेष्ठएव. स्वप्ने कात्स्र्यानभिव्यक्तिरिति केवलं भ्रम: स्यात्, तत्प्रकृते नास्तीति

आकृतिरूपगुणादीन् वर्णयति. सर्वलक्षणसम्पन्ननरत्वम् आकृति:, **श्याम** इति रूपं, **कमललोचन** इति सौन्दर्यं, **पीतवासा** इति भूषितत्वं, **बृहद्बाहु**रिति भोगयोग्यता, **योषितां हृदयङ्गम** इति संभोगसामर्थ्यम्[१] ।।१३।।

ननु दर्शनमात्रेण कथं कान्तत्वम्? तत्राह.

तमहं मृगये कान्तं पाययित्वाधरं मधु ।

क्वापि यात: स्पृहयतीं क्षिप्त्वा मां वृजिनार्णवे।।१४।।

तमहं मृगये कान्तमिति, स मम कान्तो जात: अतो मृगये. कथं जात इत्याकाङ्क्षायामाह **पाययित्वाधरं मधु** इति. अनेन सर्वेऽपि सम्बन्धा निरूपिता:. बहुधा सम्बन्धे हि सामर्थ्यक्षये स्त्रिया: पुरुषाधरपानम्. अनेन बहुकालावस्थानं सूचितम्. तत: **क्वापि यात:** न तु विलीन:, भोगलक्षणानां विद्यमानत्वात्. विशेषसुखमदत्वा गत इति युक्तमन्वेषणमिति वक्तुमाह **स्पृहयतीं मां वृजिनार्णवे क्षिप्त्वे**ति. रसेच्छामुत्पाद्य तदपूरणाद् दु:खम् ।।१४।।

तत: सख्या: प्रतिज्ञामाह **व्यसनं तेऽपकर्षामी**ति.

।।चित्रलेखोवाच।।

व्यसनं तेऽपकर्षामि त्रिलोक्यां यदि भाव्यते।

तमानेष्ये नरं यस्ते मनोहर्ता तमादिश।।१५।।

इत्युक्त्वा देव-गन्धर्व-सिद्ध-चारण-पन्नगान्।

दैत्यविद्याधरान् यक्षान् मनुजांश्च यथालिखत्।।१६।।

मनुजेषु च सा वृष्णीन् शूरमानकदुन्दुभिम्।

व्यलिखद् रामकृष्णौ च प्रद्युम्नं वीक्ष्य लज्जिता।।१७।।

यदि त्रिलोक्यां स: तदा **ते व्यसनमपकर्षामि**. कथमित्याकाङ्क्षायामाह **भाव्यत** इति, चित्रे मया लिख्यते. तत्र **यस्ते मनोहर्ता तमादिश.** तमहमानयिष्यामीति व्यसनापकर्षणप्रकार:. यद्यपि ‘‘नरवर’’ इति विशेषकथनात् देवादीनां लेखनमसङ्गतं तथापि देवादयो रूपान्तरेणोपभोगार्थमायान्तीति देवादयो नररूपाएवात्र लिख्यन्ते. ऊर्ध्वादध:पर्यन्तं स्त्रीणां दृष्टि: अत आदौ देवलेखनम्. एते त्रिगुणास्त्रयो गुणा: देवादयो नव सामान्यतो लिखिता:. **च**कारान्मनुष्येषु

---

१. स्वभोगसामर्थ्यमिति पाठः.

सर्वप्रकारा:, देवादिष्वपि वा. मनुष्येषु श्यामत्वादिधर्मा उक्ता इति तत्साम्यं यादवेष्वेव वर्तत इति **मनुजेषु सा वृष्णी**नलिखीत्. ततोऽपि हृदयङ्गमादिधर्मै: उत्तरोत्तरवैशिष्ट्यरूपत्वात् वृष्णिषु **शूरमलिखत्.** तस्य च पुत्र**मानकदुन्दुभिं** वसुदेवम्. तत्र यद्यपि रामो न श्याम: तथापि रूपान्तरेण तथा कुर्यादिति **रामो**ऽपि लिखित:. रामकृष्णौ **चेति च**कारात् गदादयोऽपि लिखिता:. प्रद्युम्नं लिखितं **वीक्ष्य** ईषद्वैलक्षण्यात् तत्पुत्रो भवितुमर्हतीति निश्चित्य विल**ज्जिता.** यद्यपि भगवान् तादृशमकृत्रिमं रूपं कर्तुं शक्त: तथापि मर्यादायामेकैकस्य गुणस्याभिव्यक्त्यर्थम् एकएव पदार्थो निर्णीयते. ततो यादृशो गुणोऽनिरुद्धनिदानभूत: तेनानिरुद्धो निष्पादितएव. अन्य: क्रियमाण: कृत्रिमएव भवतीति वैलक्षण्यं भवत्येव. आधिदैविको दृष्ट इति, अनिरुद्धो वा स्वयं मायया तथा आगत इति न वैलक्षण्यं लज्जया ज्ञातवतीह्न एतत्पुत्रो भविष्यतीति. भर्तृपितामहादिभ्यो न लज्जेति लौकिका: ।।१५-१७।।

ततोऽनिरुद्धोऽकृत्रिमो लिखित इत्याह **अनिरुद्धमिति.**

अनिरुद्धं विलिखितं वीक्ष्योषावाङ्मुखी ह्रिया ।

सोऽसावसाविति प्राह स्मयमाना महीपते।।१८।।

विशेषेण लिखितं सहजरूपं स्वप्नदृष्टसमानं दृष्ट्वा, उषा तं साक्षादेव मत्वा, पूर्वसम्बन्धं स्मृत्वा, अधोमुखी जाता. तत आदरेण अन्यं मा लिखत्विति **स एवासावसावि**ति द्विरुक्तवती. **स्मयमाने**ति तस्या: प्राप्स्यामीति हर्ष: सूचित:. **महीपते** इति सम्बोधनं भ्रमाभावाय ।।१८।।

ततो वरं निश्चित्य तमानेतुं गतेत्याह चित्रलेखेति.

चित्रलेखा तमाज्ञाय पौत्रं कृष्णस्य योगिनी ।

ययौ विहायसा राजन् द्वारकां कृष्णपालिताम्।।१९।।

कृष्णस्य पौत्रमिति स्त्रीणां हितकारी भविष्यति. स्वयं च **योगिनी** तस्याग्रे रमणं योगाभ्यासेन ज्ञातवती. अतएव **विहायसा ययौ,** अन्यथा रक्षकैर्गमनागमनाशक्ते:. **राजन्नि**ति सावधानार्थम्. **कृष्णपालितामि**ति. तदानीं कृष्णएव पालक: पुराध्यक्ष: स्वयं जात: इदमेव कार्यमुद्दिश्य. अन्यथा देवै: सानुभावैश्च रक्षिता पुरीति नान्य: प्रवेशमर्हति ।।१९।।

तत्र सुप्तं स्वपर्यङ्के प्राद्युम्निं योगमास्थिता ।

गृहीत्वा शोणितपुरे सख्यै प्रियमदर्शयत्।।२०।।

तत्रापि भगवदिच्छया अनिरुद्धोऽपि न जागर्ति, अन्यथा सएव न गच्छेत्. **स्वपर्यङ्क** इति निर्भरनिद्रात्वाय. ननु राजन्याः सावधाना भवन्ति, कथमेवं निर्भरनिद्रात्वम्? तत्राह **प्राद्युम्निमि**ति. स हि प्रद्युम्नस्य पुत्रो निर्भयः. प्रद्युम्नोऽपि हृतः सोऽपि हृतो, भगवदिच्छयेति वा. पराभवः स्त्रीप्राप्तिश्चोभयत्र तुल्या. शक्तिह्रासस्तु नैमित्तिक इति बोध्यते. सापि तं नेतुं लौकिकमुपायं परित्यज्य **योगमास्थिता**. अलौकिक उपायो **योगः**. **आस्थितिः** सर्वभावेन तत्रातिभरं दत्वा. गृहीत्वा पर्यङ्कात् तमेव बालकमिव. अप्रबोधो योगानुभावः. **शोणितपुरे** इति नाम्नैव भयानकत्वमुक्तम्. **सख्यै** उषायै. तस्याः **प्रियम**निरुद्धम् ''अयं तव प्रिय'' इति प्रदर्शितवती ।।२०।।

सा च तं सुन्दरवरं विलोक्य मुदितानना ।

दुष्प्रेक्ष्ये स्वगृहे पुम्भी रेमे प्राद्युम्निना समम्।।२१।।

तत्र गतः प्रबुद्धः स्त्रीमण्डले. ततः **सा मुदितानना** तेन सह **रेमे**. चकारात् सोऽपि तया सह. मुदिताननेति तस्या भयाद्यभाव उक्तः, विषयसौन्दर्यात्. लौकिकोऽपि हेतुरस्तीत्याह **दुष्प्रेक्ष्ये स्वगृह** इति, स्त्रियः सर्वाः कन्यायां तस्मिंश्चानुरक्ताः ऐकमत्यं प्राप्ताः, मात्रादयोऽपि. **प्राद्युम्निने**ति सर्वथा कामपूरकत्वम् ।।२१।।

निलीय क्लेशरमणं व्यावर्तयति **पराध्र्ये**ति.

पराध्र्यवासःस्रग्गन्ध-धूपदीपासनादिभिः ।

पानभोजनभक्ष्यैश्च वाक्यैः शुश्रूषयार्चितः।।२२।।

पराध्र्यान्यमूल्यानि सर्वाण्येव. **धूपदीपासनादिभिरि**ति देववत् पूजनमुक्तम् ह्व स्नातस्य **प्रथमं वस्त्रं** ततः **स्रजः** ततो **गन्ध** इति.

लेखः

तत्र सुप्तमित्यत्र पराभव इति, शत्रोः पराभव इत्यर्थः. **शक्तिह्रास** इति, प्रद्युम्नः स्वयमेव शत्रुं हत्वा स्त्रियमानीतवान्, अयं तु स्वयं बद्धः पश्चाद् भगवता मोचित इति शक्तिह्रासो निमित्तवशात्, कालेन तत्रापि विषयवैचित्र्या मनोबन्धो युक्तएवेति पूर्वमुक्तत्वादित्यर्थः ।।२०।।

केशेषु संस्कारार्थं **धूपः** ततो गृहे प्रविष्टस्य आरात्रिकं तत उपवेशनार्थमासनम्. ततः **पानभोजनभक्ष्याणि. पानं** मादकरुच्युत्पादकद्रव्यकृतम्. **भोजनं** प्रकृतम्. भक्ष्यं ताम्बुलादि. अथवा कदाचित् पानं कदाचिद् भक्ष्याणि. चकारात् तत्सम्बन्धीनि. मानसस्तु सिद्धएवेति बाह्या एते निरूपिता:. **वाक्यै**रिति **वाचनि**की. शुश्रूषा कायिकी. सर्वभावेनार्चितः ।।२२।।

सोऽपि तासां इच्छानुरोधी जात इत्याह **गूढः कन्यापुर** इति.

गूढः कन्यापुरे शश्वत् प्रवृद्धस्नेहया तया ।

नाहर्गणान् स बुबुधे ऊषयापहृतेन्द्रियः।।२३।।

शश्वत् निरन्तरमुपचाराणां [१]प्रतायमानत्वादनुरोधः. **प्रवृद्धस्नेहये**ति निरन्तरं साधनेषु हेतु:. तस्य क्रियान्तरस्मरणाभावायाह **नाहर्गणान्स बुबुध** इति. **ऊषये**ति पूर्वस्त्रीणामप्यस्मरणं सर्वोत्तमैषेति च द्योतितम्. **अपहृतं** वशीकृतं तदधीनं जातमिन्द्रियं यस्य ।।२३।।

तां तथा यदुवीरेण भुज्यमानां हतव्रताम्।

हेतुभिर्लक्षयांचक्रुरापीतां दुरवच्छदैः।।२४।।

भटा आवेदयाञ्चक्रू राजंस्ते दुहितुर्वयम्।

विचेष्टितं लक्षयामः कन्यायाः कुलदूषणम्।।२५।।

ततः पुरुषोपभुक्ता गर्भकृतैर्लक्षणैः भोगकृतैरेव वा हतं **व्रतं यस्याः**. कन्याया ब्रह्मचर्यं व्रतं; तदा **हतव्रतां** तां **लक्षयांचक्रुः**. यदुवीरेणेति निर्भरो भोग उक्तः, तेन स्पष्टानि चिह्नानि. **आसमन्तात् पीतां** पीतवर्णां, श्रमाद् गर्भेण वा स्त्रीणां तथात्वं भवति. **दुरवच्छदैरिति** आच्छादयितुमशक्यैः धर्मैः रूपेण च ज्ञात्वा. स्वापराधशङ्कया **भटा आवेदयाञ्चक्रुः**. तेषां रक्षकाणां कन्यान्तःपुराधिकारिणां वाक्यमाह **राजन्नि**ति. अयुक्तं कथं श्राव्यत इत्याशङ्क्य सम्बोधनेन पश्चान्महदनिष्टं सूचयन्ति. विचेष्टितं व्यभिचारम्. **लक्षयाम** इति प्रमाणं तर्कितमात्रम्. नन्वस्तु, को दोष इति चेत्, तत्राह **कुलदूषणमि**ति. यद्यपि पापादिना न तेषां भयं तथापि दैत्याः न व्यभिचारिणो भवन्तीति तेषां कुले व्यभिचारो दूषणम्, यथा देवानामनृतम् ।।२४-२५।।

तर्हि कः समायातीति शङ्कायामाहुः **अनपायिभिरि**ति.

---

१. प्रतीयमानत्वात्, प्रगायमानत्वादिति पाठौ.

अनपायिभिरस्माभिर्गुप्तायाश्च गृहे प्रभो ।

कन्याया दूषणं पुम्भिर्दुष्प्रेक्षाया न विद्महे।।२६।।

स्वतो विवाहं व्यावर्तयन्ति **कन्याया** इति. अनेन तर्कितस्यार्थस्य युक्त्या [१]बाधोऽप्युक्तः. अतएव **दूषणं** लक्षयामः, **न विद्महे** च. अन्यथा निर्धारे तेऽपि हन्तव्याः स्युः ।।२६।।

ततो निर्धारार्थं स्वयं प्रवृत्त इत्याह **तत** इति.

ततः प्रव्यथितो बाणो दुहितुः श्रुतदूषणः ।

त्वरितः कन्यकागारं प्राप्तोऽद्राक्षीद् यदूद्वहम्।।२७।।

प्रकर्षेण व्यथितः शस्त्रादिभ्योऽपि. ततस्**त्वरितः कन्यकागारं प्राप्तः** प्रथमं **यदूद्वहमेव** दृष्टवान्. सर्वानेव यदून् उद्वहतीति महाशूरत्वं यदुकुलोत्पन्नत्वं च ज्ञातवान् ।।२७।।

तद्दृष्टमनिरुद्धं वर्णयति, निर्भयत्वाय, **कामात्मजमि**ति.

कामात्मजं तं भुवनैकसुन्दरं

श्यामं पिशङ्गाम्बरमम्बुजेक्षणम्।

बृहद्भुजं कुण्डलकुन्तलत्विषा

स्मितावलोकेन च मण्डिताननम्।।२८।।

स्त्रीणामत्यन्तहितार्थाय **कामात्मज**त्वमुक्तम्. **भुवनैकसुन्दरमि**ति सर्वेषामेव मोहकम्. **श्यामं पिशङ्गाम्बरं** पीताम्बरमिति भगवत्सारूप्येण भगवदीयत्वं ज्ञापितम्. **अम्बुजेक्षणमि**ति दृष्ट्यैव सर्वाह्लादकत्वमुक्तम्, **बृहद्भुजमिति** भोगयोग्यता वीरत्वं च. स्वभावतोऽप्ययं महानिति **कुण्डलकुन्तलैर्मण्डितमाननं यस्ये**त्युक्तम्. **स्मितावलोकेने**ति मनोहरस्वभाव उक्तः. अनेन सर्वलक्षणसम्पूर्णोऽयं वर इत्युक्तम् ।।२८।।

तस्य चौर्येण व्यभिचारसम्बन्धं निवारयति.

दीव्यन्तमक्षैः प्रिययाऽभितृष्णया

तदङ्गसङ्गस्तनकुङ्कुमस्रजम्।

बाह्वोर्दधानं मधुमल्लिकाश्रितां

तस्याग्र आसीनमवेक्ष्य विस्मितः।।२९।।

१. बोध इति पाठः.

यथा कृतविवाहौ स्त्रीपुरुषावक्षैः क्रीडतः एवं **प्रियया** सह तदेकनिष्ठया **अक्षैर्दीव्यन्तम्.** सा च क्रीडा न क्रीडार्था किन्तु रसपोषिकेत्याह **अभितृष्णये**ति. **अभितः तृष्णा यस्याः,** सर्वतः सम्बन्धं वाञ्छतीति. अभितृप्तया वा; सम्भोगनितान्ततृप्तया. **अभिनृम्णया** वा. 'नृम्णमि'ति प्रकाशनाम. वैदिकशब्दो 'नृम्णं' ''नृम्णाय नृम्णमि''त्यत्र प्रसिद्धम्. प्रकाशमाने प्रकाशमानमित्यर्थः. अभितः प्रकाशमानया, न तु सङ्कोचेन केनचिदप्यंशेन स्थितया. तत्सम्बद्ध एव क्रीडतीति सर्वसन्देहनिवृत्त्यर्थमाह **तदङ्गसङ्गस्तनकुङ्कुमस्रजमि**ति. तस्या अङ्गसङ्गेन यत् कुचकुङ्कुमं स्रजि सम्बद्धं तादृशीं **स्रजं बाह्वोर्मध्ये दधानम्.** अत्यन्तरसालसमये दृष्टवानिति. **मधुयुक्ता या मल्लिका तयाश्रितां स्रजमिति** तत्र भ्रमरादिसम्बन्धो निरूपितः. गन्धेन रूपेण च मल्लिका रसपोषिका. **तस्यैवाग्रेऽप्यासीनं** बाणेऽप्यागते तथैवासीनमित्यर्थः. स्वस्याग्र आसीनमिति वक्तव्ये तस्य तथा विचारो न जात इति शुकएवाह **तस्याग्रेऽप्यासीनमि**ति. अतएव **विस्मितः** ।।२९।।

ततो युद्धार्थं तदीया असहमानाः प्रवृत्ता इत्याह **स तं प्रविष्टमि**ति.

स तं प्रविष्टं वृतमाततायिभि–
र्भटैरनीकैरवलोक्य माधवः।
उद्यम्य मौर्वं परिघं व्यवस्थितो
यथान्तको दण्डधरो जिघांसया।।३०।।

अन्तः**प्रविष्टं** तं श्वशुरम्. **आततायिभिर्वृतमि**ति शस्त्रपाणिभिः सह समागच्छन्तम्. मारयिष्यतीति निश्चित्य; (माधवः) मधुवंशोत्पन्नः अन्यस्यापि स्वसम्बन्धेन मदं **जनयति, किं पुनः** स्वस्य साक्षात् अतो युद्धार्थमेकाकी प्रवृत्त इत्याह उद्यम्य मौर्वं परिघमिति. लोहबद्धं तृणविशेषबद्धं वा. **मौर्वी** काचित् तृणजातिर्लोहजातिर्वा. **विशेषेणावस्थितः.** सर्वथा निकटगमने प्राणान् गृहीष्यतीति ज्ञापनार्थमाह यथान्तको दण्डधर इति. **जिघांसया व्यवस्थित** इति स्वरूपेण भयानकत्वं निवारितम् ।।३०।।

ततो यज्जातं तदाह **जिघृक्षये**ति.

जिघृक्षया तान् परितः प्रसर्पतः
शुनो यथा सूकरयूथपोऽहरत्।

ते हन्यमाना भवनाद्विनिर्गता

निर्भिन्नमूर्धोरुभुजाः प्रदुद्रुवुः।।३१।।

धर्तव्यएवायं न तु हन्तव्य इति परितः समागताः. ततः स्वयमपि तान् **परितः प्रसर्पतः अहरत्** हृतवान् दूरे नीतवान् अहनद् वा. यथा दन्तैर्निकटे गत्वा शुनो हन्ति. नतु केनचित् पराभूतः. दूरादेव तेषां शब्दाः नतु निकटे समागन्तुं शक्ताः. ततो यज्जातं तदाह **ते हन्यमाना** इति. **नितरां भिन्ना मूर्धा ऊरुर्बाहवश्च येषामि**ति हननासहने हेतुः. अतः प्रथमं सङ्कीर्णत्वाद् **भवनाद् विनिर्गताः** पुनस्तत्रापि निर्भिन्नावयवाः **प्रदुद्रुवुः** ।।३१।।

तेषु निवृत्तेषु अलौकिकप्रकारेण तं निगृहीतवानित्याह **तं नागपाशैरिति**.

तं नागपाशैर्बलिनन्दनो बली

घ्नन्तं स्वसैन्यं कुपितो बबन्ध ह।

ऊषा भृशं शोकविषादविह्वला

बद्धं निशम्याश्रुकलाक्ष्यरौदिषीत्।।३२।।

।।इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे एकोनषष्टितमोऽध्यायः।।

बलिनन्दन इति पितुर्वैराद् बन्धनं कृतवान्. **नागपाशा** अवतारविशेषे भगवतोऽपि तथात्वं सम्पादयन्ति, किमुत तदंशानाम् ततोऽनिरुद्धाद् बली. दैवेन बलेन बन्धने हेत्वन्तरमप्याह **घ्नन्तं स्वसैन्यमि**ति. यदि न मारयेत् तदा जिज्ञासां कृत्वा पश्चात् तथा अयुक्तत्वं नास्तीति स्वतो महादेवं वा पृष्ट्वा विवाहवदनुमोदनं कुर्यात्. अतः स्वसैन्यं मारयतीति जामाता भवतीति विनिश्चित्य बन्धनमेव कृतवान्. तच्च बन्धनं दूरे गतस्य, तदाह **ऊषा भृशमि**ति. आश्चर्यं तस्य बन्धनं **निशम्य** भर्तृत्वे सन्देहाभावा**दश्रुकलाक्षी** सती स्वाभिप्रायं ज्ञापयन्ती अरोदीत्. अनेन तस्य जारत्वं परिहृतम् ।।३२।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे त्रयोदशोऽध्यायः।।

लेखः

ऊषा भृशमित्यस्याभासे **तदा**हेति. **निशम्ये**ति श्रवणकथनेन दूरे गतस्य बन्धनमाहेत्यर्थः ।।३२।। इति त्रयोदशाध्यायव्याख्या समाप्ता ।।

।।इति एकोनषष्टितमोऽध्यायः।।

।।सप्तमो स्कन्धादितः षष्टितमोऽध्यायः।।

चतुर्दशे तु विजयः शिवादीनां निरूप्यते।
निरोधो राजसः पूर्णो भविष्यति यतः फले।।(१)।।
भक्तवत्सलता दृष्टा न निरोधः[१] क्वचित्तथा।
अतोऽन्यनाशशङ्कापि भजनान्तरबाधिका।।(२)।।
न बाधते हरिः क्वापि विरुद्धोऽपि कथञ्चन।
अक्लिष्टत्वाय तु हरेरुपेक्षात्र निरूप्यते।।(३)।।
प्रद्युम्नवत्तु तस्यापि नयनेन्वेषणं नहि।
अत्रापि नारदः प्रोक्तः प्रमाणं चिन्तनाधिके।।(४)।।
सर्वभावेन युद्धाय ज्वरोपाख्यानमुच्यते।
तामसस्तु ज्वरोऽत्रैव समुत्पन्नस्तथोत्तमः।।(५)।।
[२]शीतरोरौ पृथक् पूर्वमुत्पन्नौ मिलितौ नहि।

लेखः

चतुर्दशेऽध्याये कारिकायां **भक्तवत्सलतेति**. सर्वत्र भगवतो भक्तवत्सलता दृष्टा परन्तु भक्तार्थं देवान्तरेण सह भगवतो **विरोधो न दृष्टः. अतो** हेतोर्भगवद्**भजनस्य अन्तरे** मध्ये **बाधिका अन्यतो** देवान्तरात् स्वस्य **नाशशङ्कापि** भक्तानां भवेदिति शेषः. अतस्तादृशशङ्कानिवृत्त्यर्थं देवान्तरविजयोऽत्र निरूप्यते इति भावः (२).

ननु भगवान् नारदवाक्यं विना स्वतएव कुतो न प्रवृत्त इत्यत आहुः **न बाधत** इति. **कथञ्चन** केनचिदंशेन विरोधविषयीकृतोऽपि भगवान् स्वतः **क्वापि न बाधते.** तर्हि भक्तोपेक्षादोषः स्यादित्याशङ्क्य तत्तात्पर्यमाहुः **अक्लिष्टत्वाय त्विति**. अक्लिष्टकर्म[३]त्वबोधनार्थमित्यर्थः. **प्रमाणमिति**. प्रद्युम्नवदनिरुद्धस्यापि प्रमाजनको नारद इत्यर्थः (३-४).

तामसस्त्विति, वक्ष्यमाणविधः शिवकलारूप इत्यर्थः. **'तु'**शब्देन प्रसिद्धो ज्वरः पूर्वमेवोत्पन्न इति तद्व्यावृत्तिः कृता. **तथोत्तम** इति, वैष्णवो

---

१. विरोध इति लेखपाठः. २. शीतज्वरौ, शीताररौ, शीतारात्रौ इति पाठाः. ३. धर्मत्व-.

अतो हि भगवानत्र मेलयामास सर्वथा।।(६)।।

पूर्वाध्यायान्ते बन्धनमुक्तम्. एवं शोणितपुरकथायां जातायां द्वारकाकथा वक्तव्येति हेतुत्वेन पूर्वोक्तां कथामाह **अपश्यतां चानिरुद्धमि**ति.

।।श्रीशुक उवाच।।

अपश्यतां चानिरुद्धं तद्बन्धूनां च भारत ।

चत्वारो वार्षिका मासा व्यतीयुरनुशोचताम्।।१।।

चकारेण गमनप्रकारज्ञानादयः सङ्गृहीताः. अनिरुद्धोऽपि चेन्निरुद्धः तदा सर्वमन्यथा भविष्यती[१]ति शोकः. **तद्बन्धूनां च**कारादन्येषाम्. **भारते**ति विश्वासार्थम्. तूष्णीम्भावे हेतुः **चत्वारो वार्षिका मासा व्यतीयुरि**ति, वर्षायां युद्धादिगमनं बाधितमिति. **अनुशोचतामित्यन्तः** तदेकपरत्वम्. अप्रसिद्धत्वात् लौकिकप्रकारेण न प्रमाणं सिद्धमित्यन्वेषणेऽपि नोपलब्धिः ।।१।।

अतो नारदवाक्याद् वैष्णवप्रीत्यर्थं कलहार्थमुद्यता इत्याह **नारदादि**ति.

नारदात् तदुपाकर्ण्य वार्तां बद्धस्य कर्म च ।

प्रययुः शोणितपुरं वृष्णयः कृष्णदेवताः।।२।।

तद् वृत्तान्तं फलितं बन्धनं वा. **वार्ताम्** आदितः कथां **बद्धस्य वार्तां कर्म च** तत्कन्यया सह रमणं **च**काराद्युद्धं च. ततः **शोणितपुरं प्रययुः** युद्धार्थम्. ननु महादेवाधिष्ठितं तद् अतस्तद्विरोधसम्भवात् कथं गता

लेखः

ज्वर इत्यर्थः. **पूर्वमुत्पन्नावि**ति, शीतोष्णज्वरौ पूर्वमुत्पन्नौ, ज्वरे शिवकलात्वमधुना जातमिति विभागः (५-६).

अपश्यतामित्यत्र अनिरुद्धोपीति. मनोधिदेवस्यासुरनिरोधे सर्वेषां मनोऽसुरसम्बन्धि भविष्यतीत्यर्थः. **प्रमाणमि**ति, प्रमाहेतुरभिज्ञापकं न किञ्चित्सिद्धमित्यर्थः ।।१।।

वैष्णवप्रीत्यर्थमिति, वैष्णवानां शोक उक्तस्तन्निवृत्त्यर्थम्. अतएव भगवदाज्ञाया अपि प्रतीक्षा न कृतेति भावः ।।२।।

१. भवतीति पाठः.

यादवा इत्याशङ्क्याह **कृष्णदेवता** इति, कृष्णएव देवता येषाम्. अनेन सामर्थ्यमपि द्योतितम् ।।२।।

लौकिकं सामर्थ्यं वक्तुं महतां नामानि गृह्णाति **प्रद्युम्न** इति.

प्रद्युम्नो युयुधानश्च गदः साम्बोऽथ सारणः।

नन्दोपनन्दभद्राद्या रामकृष्णानुवर्तिनः।।३।।

अक्षौहिणीभिर्द्वादशभिः समेताः सर्वतो दिशम्।

रुरुधुर्बाणनगरं समन्तात् सात्वतर्षभाः।।४।।

युयुधानः सात्यकिः **गदो** बलभ्राता **साम्बो** भगवत्पुत्रः ह्यएते महारथाश्चत्वारः मुख्या गणिताः. अथ भिन्नप्रक्रमेण प्रकीर्णकान् गणयति अथेति. चकारात् तदीयाः सारणादयो भगवद्भ्रातरः तेऽपि चत्वारो गणिताः. एवमष्टविधा आदिभूता येषां मुख्यानां गौणानां च. सर्वएव **रामकृष्णानुवर्तिनः** नतूद्धताः स्वतन्त्रा वा. उभयोर्ग्रहणं सम्पूर्णशक्त्यर्थम्. तेषां स्वाभाविकं बलं द्वादशाक्षौहिणीयुतम्. **समेता** मिलिताः अन्योन्यवैमनस्यं परित्यज्य **सर्वतो दिशं रुरुधुः. बाणनगरमिति** प्रसिद्धम्. **समन्तादि**ति न क्वचित्सेनाया विच्छेदः. **सात्वतर्षभा** इति न तेषां क्वचिद् भयमिति सूचितम् ।।३-४।।

गतमात्राः पूर्वमेव तदपराधस्य सिद्धत्वात् परितो नाशयाञ्चक्रुरित्याह **भज्यमाने**ति.

भज्यमान-पुरोद्यान-प्राकाराट्टाल-गोपुरम् ।

प्रेक्षमाणो रुषाविष्टस्तुल्यसैन्योऽभिनिर्ययौ।।५।।

पुराणि मध्यखण्डाः, यथा महानगरेष्ववान्तरपुराणि भवन्ति. **उद्यान**मुपवनं **प्राकारः** आवरणं **अट्टालाः** सौधगृहोपरिभागाः **गोपुरं** पुरद्वारम् ह्यएतानि **भज्यमानानि यस्य** नगरस्य. भगवदीयैः कृतं स्वनगरं तथाविधं दृष्ट्वा स्वप्रौढिख्यापनार्थं तुल्यमेव बलं गृहीत्वा **अभिनिर्ययौ** नगरात्. हीनबलत्वे अप्रतिष्ठा स्याद्, अधिकबलत्वे पलायनं सम्भाव्य तन्निषेधार्थं तुल्यबल एव निर्गतः ।।५।।

ततो भ्रान्तः स इति मत्वा कृष्णस्तत्र रक्षकः ततः कोऽपि न हतो भविष्यतीति स्वयमप्यत्र पार्ष्णिग्राहो जातः शिव इत्याह **बाणार्थमि**ति.

बाणार्थं भगवान् रुद्रः ससुतः प्रमथैर्वृतः ।

आरुह्य नन्दिवृषभं युयुधे रामकृष्णयोः।।६।।

मिथ्यात्वाय **भगवत्त्वम्,** रुद्र इति रुद् रोगान् द्रावयतीति. **ससुतः** कार्तिकेयसहितः, तेन सर्वेऽपि देवाः अत्र समागता इति बोद्धव्यम्. स हि चमूपतिः. **प्रमथैर्वृत** इति स्वभूतगणावृतत्वमुक्तम्. दैत्यत्वाद् बाणस्य दैत्याः सहजाः. अनेनैकत्र भगवान् संवत्सरात्मककालसहितः अन्यत्र सर्व एवेति बहुत्वमप्रयोजकत्वं चोक्तम्. **आरुह्य नन्दिवृषभमि**ति, स्वस्य वृद्धं बलीवर्दमारुह्य नाट्यमिव[१] कुर्वन् **रामकृष्णयोर्युयुधे** ताभ्यां सह. वस्तुतस्तयोरेवायम् ।।६।।

ततो युद्धं वर्णयति द्वाभ्याम् **आसीदि**ति.

आसीत् सुतुमुलं युद्धमद्भुतं रोमहर्षणम्।

कृष्णशङ्करयो राजन् प्रद्युम्नगुहयोरपि।।७।।

कुम्भाण्डकूपकर्णाभ्यां बलेन सह संयुगः।

साम्बस्य बाणपुत्रेण बाणेन सह सात्यकेः।।८।।

सुतुमुलमत्यधिकं निरन्तरशस्त्रपातसहितम्. **रोमहर्षणं** श्रुते रोमाञ्चो भवतीति. विशेषत आह **कृष्णशङ्कर**योरिति. **राजन्नि**ति कदाचिन्महान्तोऽपि युद्धं कुर्वन्तीति. **प्रद्युम्नगुहयोः** उभयोः पुत्रयोः. **कुम्भाण्डकूपकर्णौ** दैत्यसिद्धौ, उभाभ्यां **बलेन सह संयुगः. साम्बस्य बाणपुत्रेणे**ति, बाणपुत्र इत्येव प्रसिद्धिः नतु नाम्नेति. **बाणेन सह सात्यकिर्महारथः** ।।७-८।।

पञ्चद्वन्द्वान्युक्त्वा तस्य युद्धस्य सर्वोत्कर्षं वक्तुं ब्रह्मादीनामप्याश्चर्याद् दर्शनमित्याह **ब्रह्मादय** इति.

ब्रह्मादयः सुराधीशा मुनयः सिद्धचारणाः ।

गन्धर्वाप्सरसो यक्षा विमानैर्द्रष्टुमागमन्।।९।।

देवानामीशा इन्द्रादयः **मुनयः** सनकादयः **सिद्धाः** कपिलादयः ह्यएते त्रिविधा उत्तमाः. **सिद्धचारणाः गन्धर्वाप्सरसो यक्षाश्चे**ति त्रिविधा निकृष्टाः. एवं षड्विधेषु निरूपितेषु सर्वएव निरूपिता भवन्ति. विमानैरागमनं युद्धाभिनिवेशेन देहविस्मरणेऽपि अपातार्थम् ।।९।।

---

१. नाट्यमेव.

ततः प्रतिपक्षाणां खण्डनमाह **शङ्करानुचरानि**ति.

शङ्करानुचरान् शौरिर्भूत-प्रमथ-गुह्यकान् ।

डाकिनीर्यातुधानांश्च वेतालान् सविनायकान्।।१०।।

देवास्तु तदीयाएवेति शङ्करानुचराएव ताडिताः यैः पूर्वं प्रतिज्ञा कृता. **शौरिरि**ति पितृनाम्ना निर्देशः. **भूताः प्रमथाः गुह्यका** इति त्रयः **डाकिनी**रित्यादित्रयः ।।१०।।

भूतमातृपिशाचांश्च कूष्माण्डान् ब्रह्मराक्षसान्।

द्रावयामास तीक्ष्णाग्रैः शरैः शार्ङ्गच्युतैर्भृशम्।।११।।

पृथग्विधानि प्रायुङ्क्त पिनाक्यस्त्राणि शार्ङ्गिणे।

प्रत्यस्त्रैः शमयामास शार्ङ्गपाणिरविस्मितः।।१२।।

भूतमातृपिशाचाश्च कूष्माण्डा ब्रह्मराक्षसाः विनायकाश्चेति द्वादशधा भवन्ति. तान् सर्वानेव कालग्रस्तान् **तीक्ष्णाग्रैः शरैः शार्ङ्गच्युतैरि**ति समर्थैर्हेतुभिः कृत्वा **भृशं द्रावयामास**. तत्प्रहारैः व्यथिताः पलायनपरा जाताः. ततो भृत्येषु निवृत्तेषु **पिनाकी** पिनाकेन **पृथग्विधान्यस्त्राणि शार्ङ्गिणे** भगवते **प्रायुङ्क्त**. आदौ तुल्यतानिरूपणार्थं धनुर्द्वयग्रहणम्. भगवान् पुनस्तस्य निराकरणमेव कृतवान् नतु तं दूरीकृतवानित्याह **प्रत्यस्त्रैरि**ति. लौकिकत्वाय[1] **शार्ङ्गपाणिरि**ति. **अविस्मित** इति जयेऽपि गर्वाभाव उक्तः लौकिकाभिनिवेशद्योतकः ।।११-१२।।

विशेषत आह **ब्रह्मास्त्रस्य च ब्रह्मास्त्रमि**ति.

ब्रह्मास्त्रस्य च ब्रह्मास्त्रं वायव्यस्य च पार्वतम् ।

आग्नेयस्य च पार्जन्यं नैजं पाशुपतस्य च।।१३।।

चकारात् सर्वएव ब्रह्मास्त्रभेदा गृहीताः. नात्र पूर्वात् परबलीयस्त्वं किन्त्वस्त्राभिज्ञानं बलं च प्रयोजकमिति लौकिकेऽपि भगवदुत्कर्षएव. **वायव्यस्य चे**त्यत्रापि तथा. **पार्वतास्त्र**मेव तस्य निवारकं, वायोर्वाय्वन्तरस्य निवारकत्वाभावात्. **आग्नेयस्य च पार्जन्यम्,** जलेनैवाग्निः शाम्यतीति. षष्ठ्यन्तस्य शमनार्थं प्रथमान्तं प्रायुङ्क्तेति योजना. **पृथग्विधानि प्रायुङ्क्तेत्यत**एव अनुवृत्तिः. **नैजं** नारायणास्त्रं **पाशुपतस्य** निराकरणार्थं

१. युद्धस्य तथात्वायेत्यर्थः.

प्रायुङ्क्तेति. दृष्ट एवान्धकारस्य निवारकः सूर्यः, तथैव सत्त्वं तमसः. चकारेणावान्तराण्यस्त्राण्यपि परिगृहीतानि ।।१३।।

मोहयित्वा तु गिरिशं जृम्भणास्त्रेण जृम्भितम्।

बाणस्य पृतनां शौरिर्जघानासिगदेषुभिः।।१४।।

ततः क्षीणास्त्रं **जृम्भणास्त्रेण** मोहयामास. जृम्भणाख्यो गणस्तृतीये निरूपितः; तदस्त्रं तद्दैवत्यम्. तुशब्दस्तु[1] मोहाभावपक्षं व्यावर्तयति. तत्र हेतुः **गिरिशमि**ति, महामोहः पर्वतेष्वेव प्रतिष्ठितः. **जृम्भितमि**ति देवताया अनुभावो दर्शितः, अन्यथा अलौकिकप्रकारेण मोहसम्भावना स्यात्. ततो महादेवे मोहात् परावृत्ते तूष्णीम्भूते शयाने प्रतिकूले वा ततो **बाणस्य पृतनां शौरिर्जघान** लौकिकप्रकारेण **असिगदेषुभिः** सर्वथा छेदकमारकाल्पच्छेदकैः ।।१४।।

तत एवं भगवद्युद्धमुक्त्वा तथान्येषामाह **स्कन्द** इति.

स्कन्दः प्रद्युम्नबाणौघैरर्द्यमानः समन्ततः ।

असृग् व्यमुञ्चन् गात्रेभ्यः शिखिनापाक्रमद् रणात्।।१५।।

बाणसमूहैरर्द्यमानः असृग्व्यमुञ्चन् मूर्च्छित इव **शिखिना** हेतुना कृत्वा **रणादपाक्रमत्** मयूरस्तं गृहीत्वा पलायित इत्यर्थः ।।१५।।

बलभद्रस्तु विचाराभावात् मारितवानेवेत्याह **कुम्भाण्ड** इति.

कुम्भाण्डः कूपकर्णश्च पेततुर्मुशलार्दितौ ।

दुद्रुवुस्तदनीकानि हतनाथानि सर्वतः।।१६।।

मुशलेन पीडितौ द्विधा विदीर्णौ सकृत्प्रहारेणैव अग्रमध्यभागभेदेन **पेततुः** भूमौ मृतावेव. तत्स्पष्टं ज्ञापयति **दुद्रुवुस्तदनीकानीति**, तयोरनीकानि. तौ हि सेनापती, हतौ नाथौ येषाम्. **सर्वत** इति केचिद् भ्रमाद् भगवत्कटकेऽपि गता इति वैक्लव्यं प्रदर्शितम् ।।१६।।

एवं तयोर्वधे बाणः स्वयमागत इत्याह **विशीर्यमाणमि**ति.

विशीर्यमाणं स्वबलं दृष्ट्वा बाणोऽत्यमर्षणः ।

कृष्णमभ्यद्रवत् सङ्ख्ये रथी हित्वैव सात्यकिम्।।१७।।

---

१. शब्दोऽस्येति, शब्दस्तस्येति पाठद्वयम्.

सामान्ययुद्धं परित्यज्य विशेषत: कथं युद्धं करोतीति क्रोधः. ततः **सात्यकिं हित्वैव कृष्णमभ्यद्रवत्.** अत्र त्यागो''ऽहं त्वया सह युद्धं न करिष्यामी''ति, अन्यथा तेन प्रतिरुद्धः स्यात्. ''अलौकिकं प्रकारं प्रदर्शयिष्यामी''ति लौकिकपरित्यागः ।।१७।।

तस्य तं प्रकारमाह **धनूंष्याकृष्ये**ति.

धनूंष्याकृष्य युगपद् बाण: पञ्चशतानि वै ।

एकैकस्मिन् शरौ द्वौ द्वौ सन्दधे रणदुर्मदः।।१८।।

साधनानां बहुत्वेऽपि प्रयत्न एक एवेति तस्य शीघ्रता श्लाघ्यते. **युगपद् धनूंष्याकृष्य बाणासु**रः **पञ्चशता**नि योजयित्वा **आकृष्य** धनु:परीक्षां कृत्वा **एकैकस्मिन् धनुषि** एकेन हस्तेन **द्वौ द्वौ शरौ सन्दधे.** तदैकदा सहस्रं बाणा भवन्ति. ननु किमित्येवमेकदैव बहुसाधनप्रक्षेपं करोतीत्याशङ्क्याह **रणदुर्मद** इति, रणे दुष्टो मदो यस्येति. न हि मत्तः सम्बद्धं करोति, सुतरां दुष्टो मत्तः ।।१८।।

अल्पेनैव निराकरणमाह **तानि चिच्छेदे**ति.

तानि चिच्छेद भगवान् धनूंषि युगपद् हरिः ।

सारथिं रथमश्वांश्च हत्वा शङ्खमपूरयत्।।१९।।

युगपदेकबाणेन कमलिनीशतपत्रवेधवत् सर्वाण्येव **धनूंषि** छिन्नानि, ततः **सारथिं रथमश्वांश्च.** तेनैव न क्षतमात्रं बाणकार्यं किन्तु **हत्वा.** ततोऽपि युद्धादनिवृत्तं वीक्ष्य तदन्तःकरणे भयजननार्थं **शङ्खमपूरयत्,** ''यस्य ध्वनिर्दानवदर्पहन्ते''ति. ततो भीतः पलायनेऽप्यशक्तः लज्जया रिपोः स्वपश्चाद्भागमदर्शयन् तथैव स्थितः ।।१९।।

तन्माता कोटरा नाम नग्ना मुक्तशिरोरुहा ।

पुरोऽवतस्थे कृष्णस्य पुत्रप्राणरिरक्षया।।२०।।

ततस्तस्य महादेवगणत्वे पार्वत्या अंशरूपा तस्य धर्मतो माता अभूत्. गणमातृसमाना, धात्रीमातृतः धर्ममातृतश्च विशिष्टा सा. ततः सा क्वचित्

लेखः

धनूंष्याकृष्येत्यत्र साधनानामिति, बाहूनामित्यर्थः ।।१८।।

'पार्वती'त्युक्ता पर्वतोद्भवा तदंशभूता[१] वा, नाम्ना **कोटरा,** मातृगणे पठिता ''कोटरा रेवती ज्येष्ठे''त्यत्रापि प्रसिद्धा, **नग्ना** भूत्वा **मुक्तशिरोरुहा पुत्रप्राणरिरक्षया कृष्णस्य पुरोऽवतस्थे.** अनेन तस्य देवसाहाय्यं द्योतितं धर्मनिष्ठा चोक्ता. अनेन गणमातेयमिति निरूपणात् साक्षाज्जननी या अशना, या वा तत्पत्नी विन्ध्यावलिः ते उभे निरस्ते ।।२०।।

तस्यास्तथाकरणेन यज्जातं तदाह **ततस्तिर्यङ्मुख** इति.

ततस्तिर्यङ्मुखो नग्नामनिरीक्षन् गदाग्रजः ।

बाणश्च तावद् विरथश्छिन्नधन्वाविशत् पुरम्।।२१।।

''नग्नां स्त्रीं प्रकटस्तनीमि''ति निषेधात् **अनिरीक्षन् तिर्यङ्मुखो जातः.** किञ्च **गदाग्रजः.** ततो भगवति परावृत्ते **बाणश्च** पराङ्मुखो भूत्वा **पुरमविशत्** पदातिः पलायितः, **विरथश्छिन्नधन्वे**ति. चकारात् तदीयाः सर्वएव गताः ।।२१।।

एवं २प्रथमयुद्धमुक्त्वा द्वितीयराजसयुद्धार्थं, भगवच्छङ्करयोः, प्रस्तावनामाह **विद्राविते भूतगण** इति.

विद्राविते भूतगणे ज्वरस्तु त्रिशिरास्त्रिपात् ।

अभ्यपद्यत दाशार्हं दहन्निव दिशो दश।।२२।।

यदैव भगवान् तिर्यङ्मुखः तदैव स भावस्त्यक्त इति महादेवोऽपि मोहादुद्गतः. तत आत्मविस्मरणात् साधनसेवकभूतानां भूतानां पलायनं दृष्ट्वा स्वस्य वैदिकभावेन आध्यात्मिकरूपं रुद्रं ज्वरम् उत्पादयामासेत्याह. ''रुद्रः पशूंश्छमायेते''त्यत्र रुद्रो ज्वर उक्तः, ''न तस्य रुद्रः पशूनभिमन्यत''

लेखः

ततस्तिर्यङ्मुख इत्यत्र **किञ्चे**ति. निषेधात् तिर्यङ्मुखः गदाग्रजत्वाच्च तिर्यङ्मुख इति समुच्चयः. गदाग्रजत्वेनोद्भवहेतुत्वमुक्तं, नग्नदर्शनं त्वमङ्गलत्वादनुद्भवकरमिति भावः ।।२१।।

प्रसवयुद्धमिति, यस्माद् युद्धान्तरं भविष्यति तादृशं प्रसवरूपं युद्धमित्यर्थः. **द्वितीये**ति, रूपान्तरेण युद्धमित्यर्थः.

१. तद्देशभूतेति पाठः. २. प्रसवयुद्धमिति लेखपाठः.

इत्यत्रापि. वैदिकमार्गेणापि भगवता सह युद्धं कर्तव्यमिति प्रवृत्त्यर्थं **विद्राविते भूतगण** इति. अतएव ज्वरोत्पत्तिरत्र नोक्ता, रूपान्तरेण रुद्र एव ज्वर इति. तुशब्दोऽन्यं ज्वरं व्यावर्तयति. स **त्रिशिराः त्रिपाच्च दाशार्हं** शरणागतरक्षामणिं कोटराहितार्थे परावृत्तम**भ्यपद्यत**. स्वसामर्थ्यं [१]प्रकटयन्निवाह **दहन्निव दिशो दशेति** ।।२२।।

तदा भगवान् सर्वरूपोऽपि तन्निवारककर्मरूपं परित्यज्य प्रकारान्तरेण पूर्वोत्पन्नं शीतं ज्वरं च योजयित्वा असृजदित्याह **अथ नारायणो देव** इति.

अथ नारायणो देवस्तं दृष्ट्वा व्यसृजज्ज्वरम्।
माहेश्वरो वैष्णवश्च युयुधाते ज्वरावुभौ।।२३।।
माहेश्वरो समाक्रन्दत् वैष्णवेन बलार्दितः।
अलब्ध्वाभयमन्यत्र भीतो माहेश्वरो ज्वरः।।
शरणार्थी हृषीकेशं तुष्टाव प्रयताञ्जलिः।।२४।।

तं ज्वररूपं महादेवं **दृष्ट्वा**. स ज्वरो रुद्रोऽष्टमूर्तेः शिवस्य कलारूपः, ''यास्ते अग्ने घोरास्तनुवः क्षुच्च तृष्णा च अस्नुक्य अनाहुतिश्च अशनया च पिपासा च सेदिश्चामतिश्च एतास्ते अग्ने घोरास्तनुव'' इति श्रुतेः. ''ताभिरमुं गच्छ योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म'' इति श्रुत्यर्थवशात् रुद्रेण प्रेरितास्तास्तनुव एकीभूताः ज्वरत्वमापन्ना भगवत्समीपं गताः. ततो नारायणो देवः पुरुषो यज्ञरूपः ''पुरुषो ह वै नारायण'' इति तस्माद् देवतारूपमग्निं निःसारयितुं वृत्रादिवाग्निषोमौ **ज्वरं व्यसृजत्**. श्रुतावपि ''इन्द्र

लेखः

विद्राविते भूतगण इत्यत्र **प्रवृत्त्यर्थमि**ति. भूतगणावृते देशे वैदिकप्रकारो न प्रवर्तेतेत्यर्थः ।।२२।।

तन्निवारककर्मरूपमिति. ''न तस्य रुद्र'' इत्यत्र ज्वरनिवारकं कर्मोक्तम्; तद्रूपं = प्रकारं परित्यज्येत्यर्थः. **शीतं ज्वरं चे**ति, पूर्वं रूपं शीतम् उत्तरं रूपं वेदे 'रूर'शब्दवाच्यो ज्वरस्तदुभौ मेलयित्वेत्यर्थः ।।२४।।

१. प्रकटयन्नेवागत इत्याहेति पाठः.

आत्मनः [1]शीतरोरावजनयदि''त्यत्र आत्मा भगवानेव यज्ञः तत्प्रार्थनयैवासृजदिति. ततो ज्वरयोः परस्परं युद्धमासीदित्याह **माहेश्वरो वैष्णवश्चे**ति. उभौ प्रसिद्धौ, यथा विष्णुशिवौ पूर्वं युयुधाते तथा तदीयावपीति. उभयोर्ज्वरत्वात् युद्धं समानं तथापि देवतायाएव प्राबल्यात् **माहेश्वरः वैष्णवेन बलेनार्दितः** सम्यगाक्रन्दत् रोदनं कृतवान्. रुद्रप्रकृतित्वात् तामसएव पीडितो रोदिति, नेतरौ[2]. कृतेऽपि रोदने तत्पीडायामनिवृत्तायां वैष्णवाद् **भीतः** स्वमूलभूतं पूर्वमेव पराजितं मत्वा **शरणार्थी सन् हृषीकेशमेव** शरणं गतः. अङ्गीकारार्थं **तुष्टाव; हृषीकेशमि**ति भगवता तथैव प्रेरितः. किञ्च **अन्यत्राभयमलब्ध्वा** पूर्वबाधां स्मृत्वा भीतश्च. अङ्गीकारार्थं **शरणार्थित्वम्.** अन्तःकरणस्य तत्परत्वमनेन निरूपितम्. **प्रयताञ्जलिरि**ति कायिको व्यापारो नम्रत्वरूपः ।।२४।।

तस्य स्तोत्रमाह चतुर्भिःह्व

स्वरूप-बल-कार्याणि जानतो मम सर्वथा।
रक्षा त्वयैव कर्तव्येत्येवंरूपा स्तुतिः कृता।।(७)।।

तत्र प्रथमं स्वरूपमुक्त्वा नमस्यति.

।।ज्वर उवाच।।

नमामि त्वानन्तशक्तिं परेशं सर्वात्मानं केवलं ज्ञप्तिमात्रम् ।
विश्वोत्पत्तिस्थानसंरोधहेतुं यत् तद् ब्रह्म ब्रह्मलिङ्गं प्रशान्तम्।।२५।।

शास्त्रसिद्धं स्वरूपं परिदृश्यमानादन्यदिति शङ्कां व्यावर्तयितुं **त्वामि**त्याह, इदमेव तदिति वक्तुम्. नन्वष्टमूर्तेर्ज्वरोऽयं सर्वसंहारकशक्तिरूपः कथमन्यं स्तौतीत्याशङ्क्य तस्य माहात्म्यमाह **अनन्तशक्तिमि**ति, अनन्ता शक्तयो यस्येति. ननु कालादेर्ब्रह्मादेर्वा साहाय्ये रक्षा भविष्यतीति किं शत्रोर्महतः शरणगमनेनेत्याशङ्क्याह **परेशमि**ति, ब्रह्मादीनामपि नियन्ता. ननु तथापि मरणं वरं नतु शत्रोः शरणगमनमित्याशङ्क्याह **सर्वात्मानमि**ति. स हि सर्वेषामात्मा नतु शत्रुः. अनेन वैषम्यनैर्घृण्ययोः परिहृतयोरपि प्रकृतिसम्बन्धात्[3] सर्वात्मनोऽप्यन्यथाभावमाशङ्क्य तन्निराकरोति **केवलमि**ति, न प्रकृत्यादिभिः

---

१. शीतरूराविति पाठः. २. नेतरः. ३. प्रकृत्यैतिसम्बन्धादिति पाठः.

सम्बद्धं जीववत्. ननु प्रादुर्भूतस्य काममयत्वात् कथं केवलत्वम्? तत्राह **ज्ञप्तिमात्रमि**ति. चिद्रूपएवायं प्रकट इति स मन्यते. औडुलोमिवदात्मानं चैतन्यमात्रं मन्यते, साङ्ख्यवद् वा. उभयोर्वैलक्षण्यं जीवत्वब्रह्मत्वकृतम्. सर्वेषामेव दैत्यांशानां तत्पक्षपातिनां च चिन्मात्रपक्षएव सम्मतः. तत्र केषाञ्चिद् जगत्कर्तृत्वं न भगवतः किन्तु प्रकृत्यादेरिति. तत्पक्षपातो भविष्यतीत्याशङ्क्य निराकरोति **विश्वोत्पत्तिस्थानसंरोधहेतुमि**ति. विश्वस्य सृष्टि-स्थिति-प्रलयहेतुस्त्वमेव. केवलादेव अविकृतात् सर्वं जायत इति चिन्तामण्यादौ दृष्टमिति चिन्मात्रस्यापि हेतुत्वं मन्यते श्रुतिसिद्धत्वात्. अतएवास्मिन्नर्थे अलौकिककर्तृत्वे प्रमाणमाह यत्तदिति. लोकवेदप्रसिद्धम्. यत् लोके प्रसिद्धं तदेव वेदे प्रसिद्धमिति. ननु कृष्णं पुरस्कृत्य न लोकवेदयोः प्रसिद्धिः क्वचिद् दृष्टा, तथाभूतशब्दस्याश्रुतत्वात्, तत्राह ब्रह्मेति. ब्रह्म त्वमेव व्यवहार्यत्वात् कथमित्याशङ्क्याह **ब्रह्मलिङ्गमि**ति, जगत्कर्तृत्व-तन्निर्वाहकत्व-सेतुत्व-विधरणत्वादीनि तल्लिङ्गानि तान्येवात्र सन्तीति. अत्रापि प्रमाणमाह **प्रशान्तमि**ति. प्रकर्षेण शान्तिः प्रत्यक्षसिद्धा, अन्यथा स्वतन्त्रः समर्थः किमस्मदादेः अपेक्षां कुर्यात् प्रशान्तत्वेन च ब्रह्मधर्मा लक्ष्यन्ते, धर्मैश्च ब्रह्मत्वम्, ततो लोकवेदसमन्वयः, तेन जगत्कर्तृत्वमिति. गुणा उत्तरार्धे निरूपिताः दोषाभावाश्च पूर्वार्धे ह्यएवं निर्दोषपूर्णगुणविग्रहत्वं निरूपितम् ।।२५।।

अनेन सर्वसामर्थ्यं भगवतएव सर्वत्र, नान्यस्येति सिद्धमपि प्रतीत्या कालादीनां बलं सिद्धमनूद्य तन्निराकरणेनैव निराकरोति **कालो दैवमि**ति.

कालोदैवंकर्मबीजः(/जीवः)स्वभावो द्रव्यंक्षेत्रंप्राणआत्माविकारः।

लेखः

नमामि त्वेत्यत्र प्रकृतिसम्बन्धादिति. स्वरूपतो वैषम्यनैर्घृण्याभावेऽपि प्रकृतिसम्बन्धात् तथा स्यादित्यर्थः. **उभयोरि**ति, जीवभगवतोश्चिद्रूपत्वे समानेऽपि जीवत्वब्रह्मत्वकृतं वैलक्षण्यम्. जीवत्वमंशत्वं ब्रह्मत्वं व्यापकत्वमित्यर्थः. **तत्पक्षपात** इति, तत्पक्षे पातस्तत्पक्षाश्रयणं भविष्यतीत्यर्थः. **अतएवे**ति, युक्त्यगम्यत्वादेवेत्यर्थः. **ब्रह्मलिङ्गमि**ति, ब्रह्मणो लिङ्गानि यस्येत्यर्थः ।।२५।।

तत्सङ्घातो बीजरोहप्रवाहस्त्वन्मायैषा तन्निषेधं प्रपद्ये।।२६।।

कार्यकारणरूपाणि वस्तुतस्त्वमेव. तेषु भिन्नतया प्रतीत्या यत्सामर्थ्यपरिकल्पनं तदपि **त्वन्मायैषा.** अन्यथा सर्वप्रमाणसिद्धे कथमन्यथाकल्पनं सम्भवति? तत्र **काल**ः सर्वकारणमिति ज्योतिःशास्त्रादन्वयव्यतिरेकाभ्यां च निश्चीयते. तदवान्तरभेदा ग्रहाः कालावयवास्तदिन्द्रियरूपाः **दैवमि**त्युच्यन्ते. ततो धर्मशास्त्रे तत्सर्वं **कर्म**वशादिति सामान्यविशेषकर्मभ्यां सर्वकार्योत्पत्तिमाहुः. साङ्ख्याः सर्वत्र बीजस्वभावमेव कारणमाहुः. अन्येऽपि **स्वभाव**वादिनः. जडकार्यकारणवादिनामेवं सिद्धान्तः. जीवकार्यवादिनां मते **जीवस्वभाव** इति पाठः, सर्वमेव **जीवात्मकमि**ति. यद्यप्ययं ब्रह्मवादे निराकृतः तथापि पूर्वपक्षएव निराकृत इति सर्वजीवपक्षोऽपि युक्तएव. कालादयः पञ्च वा सामान्यकारणभूताःह्व **कालो** गुणक्षोभकः **दैवं** प्राण्यदृष्टं **कर्म** जन्मनिमित्तं भगवद्रूपं सामान्यं **जीवो** भोक्ता **स्वभावः** परिणामहेतुरिति जीवः स्वभाव इतिपाठे. कार्यमाह **द्रव्यमिति. द्रव्यं** तत्त्वानि. तेषां कार्यं देहः **क्षेत्रम्.** तत्र प्राणः सर्वहेतुः. तस्यापि प्रभु**रात्मा.** अहङ्कारः पुराध्यक्षो. **विकारः तत्सङ्घात**श्च देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपः आद्यः. ततो **बीजरोहप्रवाहः** बीजभावापन्नानां तेषामेव रोहः अङ्कुरोत्पत्तिः, कार्यमिति यावत्, तस्य प्रवाहोऽनादिसिद्धः बीजाङ्कुरन्यायः. एतत्सर्वं भिन्नतया अखण्डत्वात् त्वत्तः परिज्ञातं[१] **त्वन्मायैव एषा** एवंबुद्धिरूपा भवति. तस्या व्याप्तिः कामवज्जीवेष्वेव. अतो मायावशात् त्वमेव तथा भवसीति निराकरणार्थमाह **तन्निषेधमि**ति. तस्या निषेधो यत्रेति. अतः सर्वसमर्थं त्वामेव **प्रपद्ये** ।।२६।।

लेखः

कालो दैवमित्यत्र यद्यप्ययमिति, चित्कारणतापक्ष इत्यर्थः. **पूर्वपक्षे** इति, ''न विलक्षणत्वादि''ति सूत्रस्य पूर्वपक्षत्वादिति भावः. एते पञ्चापि प्रमाणसिद्धाः अतो ज्योतिःशास्त्रादिमतभेदेन विकल्पो न युक्त इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः **कालादय** इति. **अतो मायावशादि**ति. **अत** इतिपदं **निराकरणार्थमित्यनेनान्वे**ति ।।२६।।

---

१. परिज्ञानमिति पाठः.

एवं स्वरूपसामर्थ्ये निरूप्य विशिष्टं कार्यमवतारकृतं निरूपयति **नानाभावैरि**ति.

नानाभावैर्लीलयैवोपपन्नैः देवान् साधून् लोकसेतून् बिभर्षि ।

हंस्युन्मार्गान् हिंसया वर्तमानान् जन्मैतत् ते भारहाराय भूमेः।।२७।।

नटवत् मत्स्यादिभावान् बिभर्ति आनन्दरूपः; भावमात्रेण तथा जायत इति **भाव**पदम्. तत्रापि नटवत् क्लेशेन न पदार्थसम्पादनं किन्त्विच्छयैव तथात्वमित्यर्थः. तेषां प्रयोजनमाह **देवान् साधून् लोकसेतून् बिभर्षी**ति. त्रिविधा एते. साधवो भूमिष्ठाः. धर्ममर्यादाः सेतवः, ते भूमेरधएव निरूपिताः ''खाता हि वेदिरि''ति. अनेन त्रिलोकस्थितभक्तरक्षार्थम् अवतारा इत्युक्तं भवति. एवं गुणार्थतामुक्त्वा दोषाभावार्थतामाह **हंस्युन्मार्गानि**ति. **उन्मार्गा** धर्ममार्ग**विरोधिनः**. **किञ्च** हिंसया वर्तमानान् मारणै**कस्वभावान्**. **अत एतत्** ते **जन्म** तादृशमुभयं कुर्वदपि विशेषकार्यमपि करोतीत्याह **भारहाराय भूमेरि**ति. भारहारो भारहरणम्. अवतारान्तराणि भूम्युपजीवकानामेव दोषाभावं गुणं च सम्पादयन्ति, अयं त्ववतारः भूमेरेव भारं दूरीकरोति. उपलक्षणमेतत्, परमानन्दं च सम्पादयन्ति ।।२७।।

एवं स्तुत्वा प्रार्थयितुं स्वदुःखं (वि)ज्ञापयति **तप्तोऽहमि**ति.

तप्तोऽहं ते तेजसा दुःसहेन शान्तोग्रेणात्युल्बणेन ज्वरेण ।

तावत् तापो देहिनां तेऽङ्घ्रिमूलं नो सेवेरन् यावदाशानुबद्धाः।।२८।।

ते दुःसहेन तेजसा क्रूरेण **ज्वर**रूपेण ''नाग्नेर्हि ताप'' इति न्यायमपि बाधित्वा **संतप्तोऽहम्.** न हि दृष्टे अनुपपन्नं नाम. ननु वैष्णवं तेजः न तापं जनयति, तत्राह **शान्तोग्रेणे**ति. बहिः शान्तः अन्तरुग्रः, अन्यथा वैष्णवतेजसो न दैत्यनिवारकत्वं[१] स्यात्. यथा भगवान् ''चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं'' तथायं धर्मो ज्वरस्यापि ज्वरः निवर्तकः प्रवर्तकश्चेति आनुगुण्यसिद्ध्यर्थं तापमेव निवारयितुं तथानिरूपणम्. **अत्युल्बणमसह्यं**, क्रूरादपि क्रूरत्वात्.

लेखः

तप्तोऽहमित्यत्र **तथायं धर्म** इति. शीतरूररूपं भगवत्तेज इत्यर्थः.

---

१. दैत्यनिराकरणत्वमिति पाठः.

ननु ज्वरे निवृत्ते तापो निवर्तिष्यते, अतो ज्वरएव प्रार्थनीयः; न हि शस्त्रे प्रयुक्ते शस्त्रपीडितः शत्रुं प्रार्थयते, इत्याशङ्क्य निराकरोति तावत्ताप इति. देहाभिमानिनां

तावदेव तापः यावत् तेऽङ्घ्रिमूलं नो सेवेरन्. अनेनान्यथा तापनिवृत्तिर्न भवतीत्यप्युक्तम्. ज्ञानेऽपि तापनिवृत्तौ अङ्घ्रिमूलाश्रयणमेव हेतुरिति किमन्तर्गडुना ज्ञानेनेति भक्तेरुत्कर्षोऽप्युक्तः. तर्ह्यसेवने को हेतुः? तत्राह **आशानुबद्धा** इति. भगवच्चरणारविन्दासेवायां[1] न कामः प्रतिबन्धकः किन्तु तच्छक्तिराशा. अतो नैराश्याभावात् सर्वत्र तत्तदाशापि न पूर्यत इति तयानुबद्धाः. **यावदि**त्ययमनुबन्धः सान्त इति निरूपितम्. [2]आशायोगेनाशा सत्या भवति तदा पूर्णा सती निवर्तते. कामनिवृत्तौ तु निवर्ततएव, विषयदोषदर्शनादपि निवर्तते. तन्निवृत्तौ बहवः प्रकारा इति सम्भावनाया विद्यमानत्वात् **यावदि**त्यवधिरुक्तः. अग्निरूपः काम इति तेन तापस्तावदेवेत्यपि युक्तम् ।।२८।।

एवं विज्ञापितो भगवान् गुह्यकर्ता मृत्योरयं ज्येष्ठः भ्रातेति तं स्थापयितुं नियमबन्धेन निरूपयति **त्रिशिरस्ते प्रसन्नोऽहमि**ति.

।।श्रीभगवानुवाच।।

त्रिशिरस्ते प्रसन्नोऽहं व्येतु ते मे ज्वराद् भयम् ।

यो नौ स्मरेत संवादं तस्य त्वन्न भवेद् भयम्।।२९।।

त्रीणि शिरांसि यस्येति वातपित्तश्लेष्माणः धातुवैषम्यात्, न कर्माणि

लेखः

शत्रुं प्रार्थयत इति, किन्तु शस्त्रस्यैव निष्कासनाद्युपायं करोति. तथा ज्वरस्यैव प्रार्थनाद्युपायः कर्तव्य इत्यर्थः. **न कामः प्रतिबन्धक** इति. भगवद्विषयकस्य कामस्य भजनसाधकत्वात् काममात्रं न प्रतिबन्धकं किन्तु तद्विशेषः अप्राप्तवस्त्वभिलाषरूपा आशा प्रतिबन्धिका. भगवत आत्मत्वेन सर्वदा प्राप्तत्वात् तद्भिन्नाभिलाषस्यैव आशात्वमिति भावः. **आशात्यागेने**ति. ''ततो वै ते सत्याशा भविष्यती''त्यत्राशायाः सत्यत्वेन निवृत्तौ स्वर्गप्राप्तिरुक्ता ।।२८।।

---

१. चरणारविन्दसेवायामिति पाठः. २. आशात्यागेनेति लेखपाठः.

(वा), कालकर्मस्वभावा वा शिरांसि भवन्ति. अतः सम्बोधनेन तस्याक्षयत्वं निरूपितम्. **अहं प्रसन्न** इति तव सर्वमेव कार्यं सेत्स्यतीत्युक्तम्. यदर्थं प्रार्थितः तदाह **व्येतु ते मे ज्वराद् भयमि**ति. परं यथा मदीयात् तव न भयं तथा त्वत्तोऽपि

न मदीयानां भयमित्याशयेनाह **यो नौ स्मरेत संवादमि**ति. नौ आवयोः स्तोत्रप्रसादरूपः संवादः. तस्य त्वत् त्वत्तः **भयं न भवेदि**ति भगवदाज्ञा ।।२९।।

एवं कृतार्थः सन् भगवदाज्ञां प्राप्य व्याजेनात्र कस्यापि भयं न कर्तव्यमिति ज्ञापितः स्वस्थानमेव जगाम मृत्योः समीपम्.

इत्युक्तोऽच्युतमानम्य गतो माहेश्वरो ज्वरः ।

बाणस्तु रथमारूढः प्रागाद् योत्स्यन् जनार्दनम्।।३०।।

इत्युक्त इति. **अच्युत**त्वाद् वाक्यमपि तथा. ततो **माहेश्वरो ज्वरो गतः.** तस्मिन् गते महादेवात् लब्धवरः दैवं बलमाश्रित्य युद्धार्थमागत इत्याह **बाणस्त्वि**ति. **तु**शब्दः पूर्वागमनाद् विशेषमाह. बाणोऽपि बाणवज्जनार्दन इति जनार्दनं योद्धुं योधयितुम् ।।३०।।

ततः प्रत्येकं बाहुषु नानाशस्त्रा(स्त्रा)णि स्थापयित्वा युयुध इत्याह **ततो बाहुसहस्रेणे**ति.

ततो बाहुसहस्रेण नानायुधधरोऽसुरः ।

मुमोच परमक्रुद्धो बाणांश्चक्रायुधे नृप।।३१।।

नानायुधानि बिभर्तीति ततश्चक्रायुधं प्रति नानायुधानि मुमोच. ननु भगवता पूर्वमस्य प्राणरक्षा कृतेति कथं शस्त्राणि मुमोच? तत्राह **परम्**

लेखः

त्रिशिरस्त इत्यत्र **धातुवैषम्यादिति,** धातुवैषम्यजनितत्वाद् ज्वरस्य वातादयएव शिरांसि नतु सात्त्विकादित्रिविधकर्माणि कालादयो वेति पक्ष इत्यर्थः. **अत** इति, अतः परमित्यर्थः ।।२९।।

बाणस्त्वित्यत्र बाणोऽपीति. बाणासुरोऽपि बाणेन शरेण यथादृष्टद्वारैव कार्यं क्रियते तथा जनार्दनोऽपि भगवान् दृष्टद्वारेणैव कार्यं करोतीति ज्ञात्वा अहं तु दैवबलवान् जात इति मत्वा तादृशं योद्धुं प्रायादित्यर्थः ।।३०।।

अक्रुद्ध इति. **मुमोच परं** वस्तुतस्त्व**क्रुद्धः,** अन्यथा परमत्वं क्रोधविशेषणं न सम्भवति. समासे वा असामर्थ्यं स्यात्. **चक्रायुधमित्यनेन** चक्रेण सर्वनिराकरणं द्योतितम्, एकतः सहस्रमायुधानि एकतः सुदर्शनमिति ।।३१।।

समतां प्राप्तां परिहरति **तस्यास्यत** इति.

तस्यास्यतोऽस्त्राण्यसकृत् चक्रेण क्षुरनेमिना ।

चिच्छेद भगवान् बाहून् शाखा इव वनस्पतेः।।३२।।

अस्त्राण्यस्यतः क्षिपतः. लौकिकप्रकारार्थं **क्षुरनेमिना चक्रेण चिच्छेद** दशशतानि **बाहून्.** मध्ये शिरश्छेदनं प्राप्तं निराकरोति **शाखा इवे**ति. **वनस्पतेः** तेन महानिति न शिरश्छिन्नं किन्तु तस्य प्रसरणनिराकरणार्थं **शाखा इव बाहूनेव चिच्छेद,** बाहवएव वरप्राप्ता इति ।।३२।।

ततः स्ववरदत्तबाहुच्छेदने महादेवः सर्वोपायपरिभ्रष्टो भगवन्तं स्तोतुं प्रवृत्त इत्याह **बाहुष्विति.**

बाहुषु छिद्यमानेषु बाणस्य भगवान् भवः ।

भक्तानुकम्प्युपव्रज्य चक्रायुधमभाषत।।३३।।

केवलं जये रुद्रादीनामभजनं[1] नायाति, जयस्यानियतत्वात्. तद्दत्तवरच्छेदेऽपि तथा. स चेत् स्वतः स्वसामर्थ्याभावं निश्चित्य भगवन्तमेव प्रार्थयेत् तदा सर्वथा अन्ये सेवकाः भगवानेव स्वामीति निरोधः फलति नान्यथेति विज्ञापयितुं रुद्रस्तुतिः. **भगवानि**त्युपायपरिज्ञानार्थमुक्तम्. अन्यार्थं स्वस्य लब्धप्रतिष्ठस्य हीनत्वावलम्बने हेतुमाह **भक्तानुकम्पीति. उपव्रज्य** निकटे समागत्य, असम्मतिश्चेद् अन्ततो मां मारयतु नतु भक्तमिति ज्ञापयितुम्.

लेखः

तत इत्यत्र **न सम्भवती**ति. पदार्थः पदार्थेनान्वेतीति नियमः. क्रोधस्तु पदार्थैकदेश इति भावः. अस्य नियमस्य प्रायिकत्वेन समाधाने दूषणान्तरमाहुः **समासे** वेति. कर्मधारये कर्तव्ये **परम**पदस्य क्रुद्धविशेषणत्वाभावेन विशेषणविशेष्ययोः परस्परानन्वयरूपमसामर्थ्यं स्यात्. तथाच समासएव न भवेत्, ''समर्थः पदविधिरि''त्यनुशासनादिति भावः ।।३१।।

---

१. अभिजनमिति पाठः.

अनेन भक्तहितार्थमेव पूर्वं लौकिकवैदिकप्रकारेण साहाय्यं कृतमिति ज्ञापितम्, तदभावे स्तोत्रेणापि तथा करोतीति. **चक्रायुधमि**ति छिन्नेष्वपि बाहुषु चक्रं गृहीत्वैव तिष्ठतीति शिरच्छेदमपि कुर्याद् अतः **अभाषत** ।।३३।।

तस्य स्तोत्रमाह द्वादशभिः संवत्सरात्मक-कालातिक्रमार्थं **त्वं हि ब्रह्मे**ति.

यादृशो भगवान् कृष्णः स योगेनैव गम्यते।
दृश्यमानस्तु शास्त्रेण विसंवादी हि दृश्यते॥(८)॥
इति ज्ञापयितुं प्रोक्ता भूम्यादीनां तथाङ्गता।
अङ्गान्यपि हरेर्लोके भिन्नानीति विदुर्यतः॥(९)॥
अस्मदर्थं च भगवान् समागत इति स्तुतिः।
निर्दोषपूर्णगुणकोऽप्यस्मदादिभिरीयते॥(१०)॥
यथाधिकारं तत्रापि हेतुर्हि भगवान् परः।
अन्तरायस्त्वदज्ञाने यदासीत् तस्य च स्वयम्॥(११)॥
प्रकाशको महान् साक्षादतोऽस्माकं हितो भवेत्।
कृष्णेच्छयैव सर्वेषामेव बुद्धिविपर्ययः॥(१२)॥
अन्यथा धनपुत्रादौ कथं मुग्धा विवेकिनः।
तस्मात् पूर्वापराधानां क्षमा नित्या हरौ परे॥(१३)॥
तथापि चेन्न सेवन्ते व्यर्थजीवास्तु ते मताः।

लेखः

त्वं हि ब्रह्मेत्यत्र **दृश्यमान** इति, मानुषत्वेन प्रतीयमान इत्यर्थः. भूम्यादीनामिति, मूले नभस आदित्वेऽपि भूमेश्चरणरूपत्वात् तदारभ्यैव व्याख्यानं युक्तमिति भावः. तृतीयश्लोकार्थमाहुः **अङ्गान्यपी**ति. लोके रोमकेशादीनां मृतत्वग्रूपत्वेनाङ्गत्वाभावेऽपि भगवति रोमादीनामङ्गत्वमेव, अतो लोकप्रकारप्रतीतावपि **हरेरङ्गानि** लोकप्रकाराद् भिन्नानीति **यतो विदु**स्ततो रोमादीनामप्यङ्गनिरूपणएव निरूपणमाहेति शेषः. **अस्मदर्थं** चेति, शिवस्य वेदरूपत्वाद् वैदिकधर्मपालनार्थं चकारात् खलनिग्रहार्थमित्यर्थः. पञ्चमश्लोकार्थमाहुः **निर्दोषे**ति. एतादृशोऽप्यस्मदादिभिः **यथाधिकारमेवेयते** इत्यर्थः (८-११).

अनेन भजनं प्रोक्तं बाणोऽपि भजते यतः।।(१४)।।

प्राकृताभजने हेतुर्दुरदृष्टं निरूप्यते।

वयं तु लोकरीत्यैव भवदुत्कर्षहेतवे।।(१५)।।

युद्धार्थमागताः किन्तु भक्ताएव न संशयः।

प्रकटेन प्रकारेण शरणागतिरुच्यते।।(१६)।।

तादृशस्य हितं यस्मात् कर्तव्यमिति सार्थना[१]।।

।।श्रीरुद्र उवाच।।

त्वं हि ब्रह्म परं ज्योतिर्गूढं ब्रह्मणि वाङ्मये।

यं पश्यन्त्यमलात्मान आकाशमिव केवलम्।।३४।।

आदौ लोकदृष्ट्या दृष्टो भगवान् न ज्ञातो भवतीति भगवत्स्वरूपमुक्त्वा स योगेनैव ज्ञातव्य इत्याह. **त्वं** निश्चयेन **ब्रह्म. (हि)** युक्तश्चायमर्थः, अन्यथा लौकिकवैदिकप्रकारा व्यर्था न भवेयुः. प्रमेयमेव हि प्रमाणाद् बलिष्ठम्. एतदाह **हि**शब्दः. ननु तथापि प्रमाणात् कथं बलिष्ठमिति[२] चेत्, तत्राह **परं ज्योतिरि**ति. ''किंज्योतिरयं पुरुष'' इति ब्राह्मणे सूर्यादिनिराकरणप्रस्तावे वागपि निराकृता ''शान्तायां३ वाचि किंज्योतिरयं पुरुष''इतिवाक्यादतः **परं ज्योति**र्भगवानेव. तर्ह्येवं सति साक्षात्पुराणपुरुषः परमात्मा देवक्यामवतरिष्यति सएव वेदार्थ इति कथं न वेदे श्रूयते? तत्राह **गूढं ब्रह्मणि वाङ्मय** इति. वेदैस्तथैव प्रतिपाद्यते परं गुप्तप्रकारेण. अतएव गुप्तत्वाद् भगवानाह ''वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य'' इति. तर्हि कथं निश्चयेन प्रवृत्तिरित्यत आह **यं पश्यन्ती**ति. ते हि प्रथमतो गूढं ज्ञात्वा सूक्ष्मदर्शनार्थं **अमलात्मानो** भवन्ति. ततः पाञ्चभौतिकेषु घटपटादिषु **आकाशमिव** अप्रकटमपि शून्यवत् प्रतिभासमानं सर्वत्र पश्यन्ति. तर्हि सङ्घातप्रविष्टं४ तं जीवरूपं जानीयुः तत्राह **केवलमि**ति, नतु सङ्घाताविष्टम् ।।३४।।

एवं भगवत्स्वरूपमुक्त्वा विश्वरूपं वदन् प्रमाणप्रतिपादितप्रकाराद् अन्यथाज्ञानं प्रत्यक्षतो न प्रमाणविरोधीति ज्ञापयति **नाभिर्नभोऽग्निरि**ति द्वाभ्याम्.

नाभिर्नभोऽग्निर्मुखमम्बुरेतो द्यौः शिर्षमाशाश्रुतिरङ्घ्रिरुर्वी।

१.सार्थतेति प्रार्थनेत्यपि पाठौ ह्रसम्पा. २.बलिष्ठमपीति पाठः. ३.सुप्तायाम् इति मु.पाठः ह्रसम्पा. ४.सङ्घातप्रतिष्ठितम्.

चन्द्रो मनो यस्य दृगर्क आत्मा अहं समुद्रो जठरं भुजेन्द्रः।।३५।।

रोमाणि वृक्षौषधयोऽम्बुवाहाः केशा विरञ्च्यो धिषणा विसर्गः ।

प्रजापतिर्हृदयं यस्य धर्मः स वै भवान् पुरुषो लोककल्पः।।३६।।

आदौ मध्ये दृष्टिर्भवतीति तन्**नभो** भगवतो [1]**नाभि**स्थानमित्याह. ततो रूपवती दृष्टिर्भवतीति ''रूपमग्नौ प्रतिष्ठितमि''ति **अग्निर्मुखमि**त्युक्तम्. ततो रूपप्रसङ्गे स्त्रियो मुख्यतेति विषयं निरूपयितुं अम्बुनिरूपणम्. एकाश्रयं वा वाचो रसनमिति तदाधारत्वेन जलनिरूपणम्. सृष्टिक्रमेण वा त्रिवृत्करणे अग्न्यनन्तरं ''जलमिति रेतो भगवतः विश्वस्य भगवान् पिते''ति जलमेव बीजमिति तथोच्यते. तत उपरि सर्वतोऽधश्चेति भूमिं त्रिधा निरूपयतिह्न **द्यौः शीर्षम् आशाः** परितः ताः **श्रुतिः** श्रवणेन्द्रियम् **उर्वी** पृथ्वी **अङ्घ्रिः**. सर्वत्र जात्यपेक्षायामेकवचनम्. माहात्म्यज्ञापनार्थं वा इन्द्रियप्रकरणत्वात् चन्द्रादीनां निरूपणम्. अयं चन्द्रो यस्य मनः, अर्को दृक् अहङ्कार आत्मा हृदयम् समुद्रो जठरम् इन्द्रो भुजाः वृक्षौषधयो रोमाणि. रोमसु सूक्ष्मस्थूलभेदोऽस्तीति द्वयोर्निरूपणम्. अम्बुवाहा मेघा भगवतः केशाः. यएव कश्चित् सर्वात्मकत्वेन वक्तव्यः स एवं निरूप्यते. तद्धर्मे वेदमूलको धर्म इति वेदात्मके शिवे निरूपितम्. ततः सन्देहे प्रमेये भगवतैव प्रदर्शितं सर्वात्मकत्वमक्रूराय. ततोऽत्र प्रमाणेन वेदेनान्यथाबुद्धिनिराकरणार्थं निरूप्यत इति वक्तव्यप्रयोजनयोर्भेदात् न पौनरुक्त्यम्. **विरञ्च्यो** ब्रह्मा भगवतो **धिषणा** बुद्धिः. **विशेषेण सर्गो यस्मादि**ति गुह्येन्द्रियं चतुर्मुखः **प्रजापतिः. धर्मो यस्य हृदयम्.** एवं सर्वोत्कर्षमुक्त्वा अन्ते सम्बन्धिनं निरूपयतिह्न सर्वत्रानुषङ्गार्थं[2] तथादिमध्ययोः उपासनाव्यावृत्त्यर्थम् आधिदैविकत्वादि–

लेखः

नाभिर्नभ इत्यत्र **रूपमग्नावि**ति, रूपस्य तेजस्तन्मात्रारूपत्वादिति भावः. **अम्बुनिरूपणमि**ति, रेतोरूपमम्बु विषयं निरूपयितुं निरूपितमित्यर्थः. **तद्धर्मे** इति, सद्धर्मनिरूपकोऽष्टमे स्कन्धे तन्निरूपितमित्यर्थः. **प्रमेये** इति, स्वरूपे इत्यर्थः. **तत** इति, द्वयेऽपि तदनन्तरमित्यर्थः. सर्वत्रानुषङ्गप्रयोजनमाहुः

---

१. नाभिस्थलं सङ्घातप्रतिष्ठितमिति पाठः. २. अनुषङ्गार्थे इति पाठः.

भेदाभावार्थं चह्न एतादृशः **पुरुषो** यो नारायणः **स**एव भगवान् ।।३५–३६।।

एवं विश्वरूपमुक्त्वा तादृशस्यावतारे प्रयोजनमाह **तवावतारोऽयमि**ति.

तवावतारोऽयमकुण्ठधामन् धर्मस्य गुप्त्यै खलनिग्रहाय।

वयं च सर्वे भवतानुभाविता विभावयामो भुवनानि सप्त।।३७।।

अकुण्ठो वैकुण्ठः; स्वरूपप्रच्युतस्य समागमनं निवारयति सम्बोधनेन. **अयं तवावतारो धर्मस्य गुप्त्यै खलनिग्रहाय च.** उभयार्थमवतारः; यत्र विरोधः तत्रोभयसमर्थनं विचारणीयमिति निरूप्यते. मदुक्ता भुजा धर्मः, स च खलः; उभयमत्र समाधेयम्. ननु प्रमाणभूतोऽपि भवान् पक्षपातेन करणादप्रमाणं जात इति शङ्कां वारयति **वयं चेति. जगतो भवायेति** पाठेऽपि उद्भवार्थमयं मारणीय इति सिद्ध्यति. येन वा धर्मेणोद्भवो भवति; दैत्यांशनिराकरणपूर्वकेण हि तथा. **वयं च भवतैव सर्वार्थे अनुभाविताः** तथा भावनया प्रेरिताः संस्कृता **वा सप्तभुवनानि विभावयामः.** वयं तत्त्वाधिष्ठातृदेवाः ब्रह्माण्डदेवा वा. सर्वत्रैव यदि वयं त्वद्भावभाविताः तदा अस्मिन्नेव कः सन्देहो भवेत् अनेन केवलतामसभावकत्वमिति पक्षो निवारितः. अधस्तात् सप्तभुवनेषु तदनुभावः सिद्ध इति उपरितनान्येव सप्तभुवनानि गृहीतानि ।।३७।।

ननु तथापि ममाग्रे अयमपकारं करिष्यति ततो मया मारणीय इति अस्मिन्ननुभावो न युक्त इति चेत्, तत्राह **त्वमेक आद्य** इति.

त्वमेक आद्यः पुरुषोऽद्वितीयस्तुर्यः स्वदृग्घेतुरहेतुरीश्वरः।

प्रतीयसेऽथापि यथाविकारं स्वमायया सर्वगुणप्रसिद्ध्यै।।३८।।

लेखः

तथादिमध्ययोरिति. आदौ मध्ये चैतद्व्यावृत्त्यर्थमेतदभावार्थं च तथा सर्वत्रानुषङ्ग इत्यर्थः ।।३५-३६।।

तवावतारोऽयमित्यत्र **मदुक्ता भुजा** इति. मया वरत्वेन दत्ता भुजा वेदरूपेण मया दत्तत्वाद् धर्मरूपा इति भावः. **उपरितनान्येवेति,** अधःस्तनाभिप्रायेण सप्तत्वव्याख्याने ''भगवतानुभाविता'' इति कथनं व्यर्थं स्यात्, तामसत्वेन तेषां स्वतएव भावनसम्भवादिति भावः ।।३७।।

यद्यपि भवान् सर्वत्र एकएव पूर्णगुणश्च तथापि यावन्ति रूपाणि जगति प्रसिद्धानि घटपटादीन्यपि तत्र कारणे विचार्यमाणे भगवानेव स्वस्यैकमेकं धर्मं मुख्यतया परिगृह्य तथाविधो जात इति मन्तव्यम्. तथा सति सहस्रभुजरूपो बाणो

येन (गुणेन) भवति सएव गुणः कारणभूतोऽङ्गीकर्तव्य इति तथैव करणमुचितम्. अस्माकं सर्वत्र भेदप्रतीतावपि **त्वमेक**एव. न हि निम्बबुद्ध्या भक्षिता शर्करा तिक्ता भवति. तस्यैकत्वं साधयति आद्य इति. यथैकएव व्रीहिः अङ्कुरादिभावेन सहस्रं व्रीहयो भवन्ति तथैक एव भगवानाद्यः कारणभूतः. सङ्घातोत्पत्त्यर्थं व्रीहिवत्. निराकारतामाशङ्क्य कारणस्य बीजात्मकस्य स्वरूपमाह **पुरुष** इति. तस्य कारणतायां स्त्र्यपेक्षामाशङ्क्याह **अद्वितीय** इति. कार्यकारणवैलक्षण्यं कार्यवैचित्र्यं च चिन्तामणाविव अत्राप्यध्यवसेयम्. तस्योपादानत्वमविकृतत्वं च निमित्तत्वं च पूर्वमेव साधितम्. अतएव जगतो अनुपास्यतापि सिद्धा. ब्रह्मत्वे च जगतः 'तज्जलान्' त्वमेकं दृष्टान्ते[1] स्थितिप्रलयावन्यत्रेति निदर्शनमात्रत्वम्. बहवो दृष्टान्ता एकीभूताः भगवति सर्वलक्षणां बुद्धिं सम्पादयन्ति. तर्कमात्रमूलत्वे अप्रामाण्यं स्यादिति दृष्टान्ताभावाच्च श्रुत्यैकसमधिगम्यमेव ब्रह्मेति स्थापितम्. कादाचित्कत्वेऽपि भगवानेव हेतुः. अन्यस्मिन् कारणत्वेन परिकल्प्यमाने या उपपत्तिः सा भगवत्येव सम्पादनीया, सर्वसमर्थत्वाद् ब्रह्मणः. भिन्नाधिकरणत्वे यथा विरोधपरिहारः तथैकाधिकरणत्वेऽपि. युक्त्यपेक्षायामपि पत्रदारुनिर्यासपुष्पफलेषु बीजमेकमेव कारणं सर्वविलक्षणं दृष्टमिति तस्यैव परम्परया साक्षाद् वा

लेखः

त्वमेक इत्यत्र. भगवतः सर्वत्रैकरूपत्वाद् अत्रानुभावो युक्तोऽत्र नेति विभेदो नास्तीत्यर्थः. **कार्यकारणे**ति, कार्यमचेतनमुपादानं चेतनमिति वैलक्षण्यमित्यर्थः. **अतएवे**ति, नहि चिन्तामणिनिर्मिताः पदार्थाः फलदत्वेनोपास्यन्ते किन्तु चिन्तामणिरेव फलदत्वेनोपास्यते इति दृष्टान्तादित्यर्थः. **ब्रह्मत्वे चे**ति, जगतो ब्रह्मत्वे तज्जलान्तत्व(/न्त्व)मेव हेतुरिति शेषः. भिन्नाधिकरणत्वे इति, **भिन्नोपादानकत्वे** इत्यर्थः ॥३८॥

---

१. चिन्तामणिदृष्टान्ते इति अर्थः -सम्पा.

कारणत्वमध्यवसीयते तथा श्रुतत्वाद् ब्रह्मणोऽप्यध्यवसेयम्, अवधृतप्रामाण्यवेदात्. तथा सति श्रुतिर्यथार्था समर्थिता भवति. वैयर्थ्यं च स्यात्, प्रत्यक्षानुमानादिभिरेव वैदिकार्थस्यापि सिद्धेः. सङ्केतस्तु निरूपकग्रहणादेव, अन्यथा तत्तन्मते आत्मादिपदानां सङ्केतः अलौकिकार्थानामसङ्गतः स्यात्.

अतोऽद्वितीयपुरुषएव **आद्यो** जगत्कारणम्. एवं भगवतः जगत्कारणत्वमुपपाद्य तत्रोत्पत्तिस्थितिप्रलयाएव कार्यत्वेन सिद्धा इति मोक्षसाधकत्वं भगवतो वदन् पुनर्विशेषणान्तरमाह **तुर्य** इति, समाधिगम्यः. यथा जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तयः स्थित्युत्पत्तिप्रलयाभिज्ञापिकाः एवं तुर्यावस्थापि मोक्षाभिज्ञापिका, तस्यां प्रादुर्भूतो भगवान् मोक्षद इति. तस्य मोक्षदाने प्रकारमाह **स्वदृगि**ति. यथाद्वितीयः पुरुषो जगत्कारणं तथा **स्वदृक्** स्वस्मिन्नेव दृष्टियुक्तः आत्मानुभवतुष्टः मोक्षहेतुरिति. ननु स्वमोक्षमेव साधयेत्, नतूपासकानामन्येषां, तत्राह **हेतुरि**ति. अन्येषामपि मोक्षे स्वदृक्त्वे तुर्यत्वे च सएव हेतुः. तर्ह्यन्यस्यास्मदादेः स्वयं स्वस्य ततोऽपि मूलभूतः कश्चिद् भविष्यतीत्याशङ्क्याह **अहेतुरि**ति, न तस्य कश्चिद्धेतुरस्ति. ननु यथा भगवान् स्वेच्छया सर्वं भवतीत्युच्यते एवं सर्वोऽपि सर्वं भवतु, अभेदश्च श्रुत्या प्रतिपाद्यत इति, तत्राह ईश्वर इति. स हि सर्वसमर्थोऽपि स्वयं तथैव मूलभूतः. कार्यरूपस्तु स्वस्मादेव जायते, सर्वसामर्थ्यस्य विद्यमानत्वाद्, ईश्वरेच्छाया नियन्तुमशक्यत्वाच्च. एवं सर्वसामर्थ्यमलौकिकत्वं निर्दोषपूर्णगुणविग्रहत्वमुपपाद्य सर्वत्र पूर्णगुणकोऽपि **यथाविकारम्** इक्षुक्षीराम्ललवणादि-विकारमनतिक्रम्य **प्रतीयसे**. सर्वात्मना अप्रतीतौ भगवन्मायैव नियामिका. ननु तस्याः स्वातन्त्यास्वातन्त्याभ्यां पुनः स दोषस्तदवस्थ इति चेत्, तत्राह **सर्वगुणप्रसिद्ध्या** इति. अन्यथा भगवदीयाः सर्वे गुणाः प्रत्येकं न प्रसिद्धा भवेयुः. यथा षड्रसापि हरीतकी नीरसैव, निसर्गतः कोऽपि रसः सर्वविलक्षणो न प्रतीयत इति, तथैव भगवान् सर्वत्र सर्वगुणप्राकट्ये कृसरवत् प्रतीयेत. अतो भगवदिच्छारूपया मायया सर्वत्र पूर्णगुणकोऽपि यथाविकारं प्रतीयते. तथैव लीलायां यादवत्वमात्रं प्रकटयितुमाविर्भूतो नान्यान् धर्मान् प्रकटितवान् इत्यस्मदादीनामप्यज्ञानमिति भावः ।।३८।।

ननु सर्वत्र कारणेषु कार्योत्पत्तौ कारणप्रत्यक्षता दृश्यते, नत्वप्रत्यक्षान्मृदादेः घटादिकमुत्पद्यते, तथा पदार्थोत्पत्तौ कारणत्वेन ब्रह्मप्रतीतिः स्यात्; तदभावात् प्रत्यक्षविरोधात् कथं कारणतेत्याशङ्क्याह **यथैव सूर्य** इति.

यथैव सूर्यः पिहितश्छायया स्वया छायां च रूपाणि च सञ्चकास्ति।

एवं गुणेनापिहितो गुणांस्त्वमात्मप्रदीपो गुणिनश्च भूमन्।।३९।।

मेघाः सूर्योद्भूता इति श्रुतिः. ''यावदादित्यस्तपति रश्मिस्ताभिः पर्जन्यो वर्षती''ति श्रुतेः सूर्यएव पर्जन्यः, अन्यथा सवितृत्वं न स्यात्. ततः सूर्यादुत्पन्ना अपि मेघाः यथा सूर्याच्छादकाः एवं जगदपि भगवदुत्पन्नमपि भगवदाच्छादकम्.

यथा तान् मेघान् मेघान्तर्जायमानां वृष्टिं तस्याप्यधोभूमिं भूमिष्ठांश्च पदार्थान् स्वयमदृष्टोऽपि प्रकाशयति एवं सर्वकारणभूतो भगवानेव सर्वत्र सर्वप्रकाशक इति न काप्यनुपपत्तिः. **छायया** मेघैः. चकारात् तत्कार्यां वृष्टिम्. मेघानां पृथक्त्वं निवारयति **स्वये**ति. **रूपाणि** घटादीनि. चकारात् तैर्जायमानां क्रियामपि लौकिकीं वैदिकीं च प्रकाशयति. **एवं गुणेन** स्वयमेव तथाभूते**नापिहितो**ऽपि सर्वथा गुप्तोऽपि गुणान् कारणभूतान् **गुणिनः** कार्याणि च प्रकाशयति, **आत्मप्रदीपश्च** भवति. सर्व(था)सामर्थ्यार्थं सम्बोधनं **भूमन्नि**ति ।।३९।।

भगवत्कारणतायां हेत्वन्तरमप्युपपादयति **यन्मायामोहितधिय** इति.

यन्मायामोहितधियः पुत्रदारगृहादिषु ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रसक्ता वृजिनार्णवे।।४०।।

विवेकिनोऽपि विषयान् दृष्ट्वापि दुःखदान् तत्रैवासक्ता भवन्ति. तत्रेष्टसाधनतायाः लौकिके कारणत्वात् तदभावेऽपि प्रवृत्तेरवश्यं कारणान्तरम्

लेखः

यन्मायेत्यस्याभासे **हेत्वन्तरमि**ति. पुत्रादिषु प्रवृत्तिर्भगवत्कारणतायां हेत्वन्तरं भगवानेव स्वशक्त्या मायया पुत्रादिषु प्रवर्तयतीत्यर्थः. ननु क्लृप्तस्येष्टसाधनताज्ञानस्यैव हेतुता, नतु भगवत इत्याशङ्क्य व्युत्पादयन्ति **विवेकिनोऽपी**ति. इदमेव विवृण्वन्ति तत्रेत्यादिना. **तत्र** पुत्रादिष्वित्यर्थः. एतस्य **प्रवृत्तेरि**त्यनेनान्वयः. **तदभावेऽपि** इष्टसाधनत्वाभावेऽपीत्यर्थः. तथा आक्षिपति. प्रत्यक्षभ्रमस्य प्रत्यक्षमेव विशेषज्ञानं बाधकमिति दिङ्मोहादौ दृष्टमिति चेत्, तत्राह **प्रसक्ता वृजिनार्णव** इति. दृष्ट्वापि तद्गतदोषान्, अनुभूयापि दुःखं, **पुत्रदारगृहादिषु उन्मज्जन्त्युत्पद्यन्ते,** ''अन्ते या मतिः सा गतिरि''ति तत्रैवासक्ताः **निमज्जन्ति** आसक्त्यैव तत्र स्थिता यावज्जीवं तत्रैव म्रियन्ते. ''प्रजामनु प्रजायन्त'' इति पुत्रादुत्पद्यन्ते, पुत्रार्थमेव च क्वचित् म्रियन्ते च. तथैव भार्यायां पुत्ररूपेणोत्पद्यन्ते, भार्यार्थं म्रियन्ते च. गृहे१ तूत्पत्तिमरणे प्रसिद्धे. **आदि**शब्देनाश्वगर्दभादिष्वपि ''अन्ते या मतिः सा गतिरि''ति भरतवत् तत्राप्युत्पद्यन्ते म्रियन्ते च. तस्मादेवं महामोहहेतुः भगवच्छक्तिरेव काचिदङ्गीकर्तव्या या प्रत्यक्षशास्त्रैरप्यनुल्लङ्घ्या ।।४०।।

इदानीम् अर्धभगवत्कृपायुक्तानां शोचन्नाह **देवदत्तमि**ति.

देवदत्तमिमं लब्ध्वा नृलोके अजितेन्द्रियः।

यो नाद्रियेत त्वत्पादौ स शोच्यो ह्यात्मवञ्चकः।।४१।।

भगवता विवेकेन्द्रियादियुक्तं शरीरं दत्तं यस्मै सोऽपि चेद् अर्धकृपायुक्तः पूर्णार्थं न यतेत, स मोहितैरपि शोच्यो भवति. **देवेन** भगवता **दत्तं,** भगवदिच्छयैव **नृलोके** मनुष्यदेहे समागत इति. तर्ह्यनादरे को हेतुः? तत्राह **अजितेन्द्रिय** इति. इन्द्रियजयाभावाद् इन्द्रियैरपकृष्टोऽन्यत्र गच्छति अतो न सेवते. ननु तर्हि तस्य को दोष इति चेत्, तत्राह **नाद्रियेते**ति,

---

लेखः

चेष्टसाधनत्वाभावेऽपि पुत्रादिषु **प्रवृत्तेर्हेतोः** सा प्रवृत्तिः **कारणान्तरं** भगवन्तमेव कारणत्वे**नाक्षिपतीत्यर्थः. प्रत्यक्षे**ति, एतस्मात्पूर्वं नन्विति शेषः. ननु वस्तुत इष्टसाधनत्वाभावेऽपि तथाज्ञानं भ्रमात्मकं तिष्ठत्येवातः प्रवृत्तिः, विशेषज्ञानं भ्रमनिवर्तकमिति हेतोर्विशेषज्ञाने चाप्रवृत्तिरत इष्टसाधनताज्ञानस्य कारणता नतु भगवत इत्याशङ्क्य वृजिनार्णवे प्रसक्ताएव भवन्तीत्याहेत्यर्थः. **प्रत्यक्षमेवे**ति, नतु तदर्थमलौकिकमपेक्षित**मित्येव**कारः. अतो निवृत्तावपि न भगवान् कारणमित्यर्थः. भ्रमात्मकमपीष्टसाधनताज्ञानं नास्ति तथापि प्रवर्तन्ते इत्याहुः **दृष्ट्वापी**ति ।।४०।।

---

१. गृहेऽप्युत्पत्तिमरणे इति पाठः.

आदरमपि न करोति, तत्रासक्तिर्नियामिकेति. अतो विद्यमानमपि साधनम् अन्यथा नाशयतीति **स शोच्यो** भवति **आत्मवञ्चकश्च. 'हि'**शब्दसूचिता युक्तिरुक्ता. परार्थं तथा करोतीत्याशङ्क्य तदभावार्थं१ निराकरोति आत्मानमेव वञ्चयतीति. उपकारस्तु पर्यवसानवृत्त्या आत्मगाम्येव भविष्यतीति यत्रात्मवञ्चनं न भवति तत्रैव परार्थकरणं युक्तम्, अन्यथा स्वयमेवात्मघाती स्यात्, किं तस्योपकारेण? ।।४१।।

अप्राप्तभगवन्तं निन्दित्वा प्राप्यापि यस्त्यजति तं निन्दतिह्न भगवदिच्छां मायां स्तोतुम्, अन्यथा वाक्यभेदप्रसङ्गःह्न **यस्त्वां विसृजत** इति.

यस्त्वां विसृजते मर्त्य आत्मानं प्रियमीश्वरम्।

विपर्ययेन्द्रियार्थार्थं विषमत्त्यमृतं त्यजन्।।४२।।

प्रयोजनाभावमाशङ्क्याह **मर्त्य** इति, मरणधर्मा. आवश्यकत्वा**यात्मे**ति. प्रियं प्रीतिविषयम्; अनावश्यकेऽपि प्रीतिवशादादरः क्रियते. तत्रापि **ईश्वर**मन्यथा मारकम्. एवं प्रकारत्रयेण वस्तुतो बाह्याभ्यन्तरव्यवहारेण च आवश्यकं **विसृजते** त्यजति. तत्रापि **विपर्ययेन्द्रियार्थार्थम्. विपर्यया** अनात्माऽप्रियानीश्वराः, ते च ते इन्द्रियार्थाश्च रूपादयः. न हि कश्चिन्नदीं तितीर्षुर्नौकां दत्वा शिलां गृह्णाति, नौकां त्यक्त्वा वा; शिलार्थमेव वा नौकां त्यजति. तस्य गतिमाह **विषमत्त्यमृतं त्यजन्निति**ह्व म्रियमाणोऽमृतं प्राप्य तद्दत्वा यथा विषं गृहीत्वा भक्षयति तस्य या अवस्था सा एतस्यापीति भावः ।।४२।।

तथा भवदादीनामपीत्याशङ्क्याह अहं ब्रह्मेति.

लेखः

देवदत्तमित्यत्र **परार्थमि**ति, इन्द्रियहितार्थं तथा करोति. तथाच परार्थसाधकत्वं गुणएव स्यादित्यर्थः. **तदभावार्थमि**ति, एवंकरणाभावार्थम् एतादृशपरार्थस्य कर्तव्यतां निराकरोतीत्यर्थः ।।४१।।

अन्यथा वाक्यभेदप्रसङ्ग इति. निन्दायां तात्पर्यकथने ''त्वं हि ब्रह्मे''त्यस्याभासे द्वादशश्लोकानामपि स्तुतिरूपोऽर्थ उक्तो बाधितो भवेदित्यर्थः.

---

१. 'तदभावार्थमि'ति क्वचिन्नास्ति.

अहं ब्रह्माथ विबुधा मुनयश्चामलाशयाः।
सर्वात्मना प्रपन्नास्त्वामात्मानं प्रेष्ठमीश्वरम्।।४३।।

यथार्धकृपायुक्ताः अन्ये भ्रान्ताः, यथा वा प्राप्यापि विषयप्रवणाः, तथा न वयं किन्तु **(अथ)** भिन्नप्रकारमाश्रिताः. भगवतः सात्त्विकत्वादितरौ समानौ प्रथमं गणयति **अहं** रुद्रो **ब्रह्मा** चेति. ततो हीनास्तन्नियम्या **विबुधाः**. अधिकारिणो निरूप्य ज्ञानपरान् निरूपयति **मुनयश्चे**ति. तेषां पृथङ्निरूपणे हेतुः **अमलाशया** इति, साधनपराः सिद्धाश्चेति वा. अमलाशया **मनुष्याः**. मुनयः सनकादयोऽपि तथा. एते त्रिविधा अपि; चकारादेतदनुसारिणः सर्वे परिगृहीताः, ते वयं **सर्वात्मना त्वां प्रपन्नाः**. स्वस्य प्रवृत्तौ हेतुभूतं ज्ञानं निर्दिशति **आत्मानं प्रेष्ठमीश्वरमि**ति. पूर्वस्मात् प्रेमातिशयो विशेषः; तेनैव साधनानि अन्यानि सम्पन्नानि ।।४३।।

साम्प्रतं विरोधमाशङ्क्य तत्परिहारार्थं शरणं व्रजामीत्याह **तं त्वामि**ति.

तं त्वां जगत्स्थित्युदयान्तहेतुं

समं प्रशान्तं सुहृदात्मदैवतम्।

अनन्यमेकं जगदात्मकेतं

भवापवर्गाय भजाम देवम्।।४४।।

एवं सर्वोपास्यं निर्दोषपूर्णगुणविग्रहं **त्वां भजाम**. **तमि**ति श्लोकद्वयार्थः परिगृहीतः; लोकवेदप्रसिद्धम्. **त्वां** परिदृश्यमानम्. **जगत्स्थित्युदयान्तहेतुमि**ति ब्रह्मत्वाय जगत्कारणत्वमुक्तम्. बहिर्दोषाभावाय **समम्, प्रशान्तमि**ति अन्तर्दोषभावाय. **सुहृदि**ति विश्वासार्थम्, **आत्मे**ति भयाभावाय. दैवतमिति

लेखः

अहं ब्रह्मेत्यत्र भगवतः सात्त्विकत्वादिति. सात्त्विककल्पे भगवान् विष्णुरूपः सन् कार्यं करोति. तथाचात्र भगवतो विष्णुरूपत्वात् सात्त्विकत्वमित्यर्थः. **पूर्वस्मादि**ति, पूर्वश्लोकोक्तस्य प्रियो अस्मदादीनां प्रेष्ठ इति पूर्वस्मात् स्वस्य प्रेमातिशयो विशेष 'इष्ठन्'प्रत्ययेनोक्त इत्यर्थः ।।४३।।

तं त्वामित्यत्र लोकवेदेति. स्वस्य वेदरूपत्वादहं **ब्रह्मे**त्यनेन

इष्टसिद्धये. भावकृतवैलक्षण्याभावायाह **अनन्यमि**ति. न विद्यते अन्यो यस्मादिति, यस्य वा. अन्यबुद्धिः भगवतो, न कस्मिंश्चिद् यत **एक**एव. कार्यमपि न ततः पृथक्, यतोऽयं **जगतः आत्मा केत**श्च. विशेषतो भजनस्य अपराधनिवर्तकत्वे प्रार्थिते इष्टमग्रे प्रार्थयितुमशक्यमिति सर्वस्यापि दोषस्य निवृत्तिरूपं मोक्षमेव प्रार्थयति **भवापवर्गाये**ति. एवं शरणागमनलक्षणं भजनं निरूपितम् ।।४४।।

विज्ञापनामाह **अयं ममेष्ट** इति.

अयं ममेष्टो दयितोऽनुवर्ती मयाऽभयं दत्तममुष्य देव ।

सम्पद्यतां तद् भवतः प्रसादो यथा हि ते दैत्यपतौ प्रसादः।।४५।।

इष्टानुवृत्तिर्लोकसिद्धा. **दयित** इति प्रीतीविषयः इच्छा रुचिश्च निरूपिते. **अनुवर्ती**ति सर्वहेतुः, सर्वदा मामनुवर्तत इति तेन मयाप्यनुवृत्तिः कर्तव्येति. **अमुष्याभयं मया दत्तमि**ति वाचनिकम्. एवं कायवाङ्मनोभिरयमनुरोध्य इति

सर्वथा त्वया कृपा कर्तव्येत्याह **सम्पद्यतामि**ति. **तत्** तस्मात् कारणाद् भवतः प्रसादः सम्पद्यताम्. अथवा मदुक्तं त्वदुक्तमेव अतः स पूर्वोक्तः प्रसादः सम्पद्यताम्, आवयोर्भिन्नभावाभावात्. प्रसादं विशिनष्टि **यथा हि ते दैत्यपतौ** प्रह्लादे **प्रसाद** इति ।।४५।।

ततो भगवान् प्रीतः कृतं कृतमेवेति वाचा शिवसान्त्वनं कृतवानित्याह **यदात्थे**ति.

लेखः

वेदप्रसिद्धिरुक्ता तत्पूर्वेण च लोकप्रसिद्धिरित्यर्थः. **भावकृते**ति, कस्मिंश्चिदन्या दृश इति वैलक्षण्यमनन्यत्वान्नास्तीत्यर्थः ।।४४।।

अयं ममेष्ट इत्यत्र **इति वाचनिकमि**ति. तथा **चानुवर्ती**ति कायिकम् **इष्टो दयित** इति मानसमिति भावः. भगवतान्यः प्रसादो न सम्पादित इत्याशयेन पक्षान्तरमाहुः **अथवे**ति. मदुक्तएव अस्य प्रसादः सम्पद्यतां, तस्यान्यथाभावो मा भवत्वित्यर्थः ।।४५।।

कृतं कृतमेवेति, भुजच्छेदस्तु कृतएव, अवशिष्टं तिष्ठत्वित्यर्थः.

।।श्रीभगवानुवाच।।

यदात्थ भगवंस्त्वं नः करवाम प्रियं तव।

भवता यद् व्यवसितं तन्मे साध्वनुमोदितम्।।४६।।

भगवन्निति सम्बोधनमभेदाभिप्रायेण; स हि भगवन्तमपृथक्त्वेन भजते. **त्वं यदात्थ तन्नोऽ**स्मान् प्रति तद्युक्तमेवेति. नोऽस्माकं वा त्वम्. अतः **प्रियं करवाम**, स्वकीयानां **प्रियं कर्तव्यमेवे**ति. तवेति, वस्तुतस्तव वाक्यं च समर्थनीयम्. तदिदानीं बाहुच्छेदनाभावमाशङ्क्य पूर्वोक्तं स्मारयति **भवता यद् व्यवसितमि**ति, "त्वद्दर्पघ्नं भवेन्मूढ संयुगं मत्समेन ते" इति, **तत्साध्वेवानुमोदितम्**. कृतं तु त्वयैव, तच्छस्त्रद्वारा अनुमोदनमात्रं कृतमिति ।।४६।।

अभयं यत् प्रार्थ्यते तत्राह **अवध्योऽयं ममाप्येष** इति.

अवध्योऽयं ममाप्येष वैरोचनसुतोऽसुरः।

प्रह्लादाय वरो दत्तो न ते वध्यो मयान्वयः।।४७।।

प्रह्लादान्वयत्वज्ञापनाय पुरुषत्रयमाह **वैरोचनसुत** इति. विरोचनात्मजस्य बलेः सुतोऽयं बाणः. किमतो यद्येवम्? तत्राह **प्रह्लादाय वरो दत्त** इतिह्न **ते अन्वयो मया न वध्य** इति. ननु भक्ते कथमेवं वचनम्? तत्राह असुर इति, **असुरा** हन्तव्याएवेति. अनेन भक्तकृपालुत्वं भक्तापेक्षया

लेखः

यदात्थेत्यत्र. **नोऽस्माकं वे**तिपक्षे मूले यदस्माद्धेतोरित्यर्थः. **बाहुच्छेदनाभावमि**ति. जातस्य बाहुच्छेदनस्याभावो निवृत्तिः, पुनः बाहुप्ररोह इदानीं स्यादित्याशङ्क्येत्यर्थः. **कृतं त्विति**, भगवतो व्यवसायएव कृतिः, क्रिया त्वनुमोदनमात्रम्. यथा व्यवसायेनैव द्रौणादयो हताः. अतएव ''द्रोणं च भीष्मं चे''ति वाक्यम्. तदनन्तरं युद्धादिकं तु लोकप्रतीत्यर्थं तस्यैवानुमोदनम्. तथा सर्वत्रेति ज्ञेयम् ।।४६।।

अवध्योऽयमित्यत्र कथमेवं वचनमिति. निषेधस्य सम्भावनाहेतुकत्वाद् वरसम्भावनाबाधकं१ निषेधवचनं कथमुक्तवानित्यर्थः ।।४७।।

---

१. वधसम्भवाबोधकमिति पाठः.

आधिक्येन सूचितम्ह्न स त्वेकस्यैव प्राणरक्षामाह अहं तु वंशस्यैव कथयामीति ।।४७।।

तर्हि कथं छेदनमिति चेत्, तत्राह **दर्पोपशमनाये**ति.

दर्पोपशमनायास्य प्रवृक्णा बाहवो मया।

सूदितं च बलं भूरि यच्च भारायितं भुवः।।४८।।

प्रकर्षेण छेदनं बाहुमूलकं१, ते **वृक्णाएवे**ति न तस्य प्रतीकारः. सेनावधस्य क्लिष्टकर्मत्वमाशङ्क्य निमित्तान्तरमाह **यच्च भुवो भारायितं,** चकाराद् भक्तानां बुद्धिनाशकं, तत्सर्वमेव **बलं सूदितं** मारितम् ।।४८।।

तर्हि मत्प्रार्थनायां को विशेष इत्याशङ्क्याह **चत्वारोऽस्य भुजाः शिष्टा भविष्यन्तीति**.

चत्वारोऽस्य भुजाः शिष्टा भविष्यन्त्यजरामराः।

पार्षदमुख्यो भवतो न कुतश्चिद् भयोऽसुरः।।४९।।

मद्दत्तं सहजं भुजद्वयं, त्वद्दत्तमागन्तुकं भुजद्वयमिति **चत्वारोऽस्य भुजाः** छिद्यमानेषु भुजेषु अव**शिष्टा भविष्यन्ति**. अनेन सुदर्शनं प्रक्षिप्तं साम्प्रतं छिनत्तीति सूचितम्. अधिकभुजद्वयदाने हेतुः **पार्षदमुख्य** इति. तयोः कालान्तरेऽपि नाशाभावायाह **अजरामरा** इति, देवत्वं निरूपितम्. युक्तमेव, **पार्षदमुख्यो भवत** इति. **न कुतश्चिद् भय** इति, **असुर**त्वेऽपि न मत्तो न मदीयाद् न गुणेभ्यो भयमित्यर्थः ।।४९।।

एवमभये दत्ते भगवत्कृपावलोकितः स्वोचितं कृतवानित्याह **इति लब्ध्वे**ति.

इति लब्ध्वाऽभयं कृष्णं प्रणम्य शिरसाऽसुरः।

प्राद्युम्निं रथमारोप्य सवध्वा समुपानयत्।।५०।।

अभयं लब्ध्वा कृष्णं प्रणम्य कन्यादाने सन्तुष्टो भविष्यतीतिह्न शिरसेति तस्यैतदेव महत् यतोऽयमसुरः ह्न **प्राद्युम्निं** भगवत्पौत्रम् अर्थाद् बन्धनादिकं त्याजयित्वा वरमिवालङ्कृत्य **वध्वा** उषया सह **समुपानयत्**

---

१. मूलतः.

सम्यक् भगवत्समीपमुपानयत्. एतदर्थमेव समागत इति तावता सन्तुष्टः ।।५०।।

अक्षौहिण्या परिवृतं सुवाससमलङ्कृतम्।

सपत्नीकं पुरस्कृत्य ययौ रुद्रानुमोदितः।।५१।।

अक्षौहिण्या परिवृतमिति, पारिबर्हम् अक्षौहिणी सेना. **सुवाससमलङ्कृतमि** ति वस्त्राभरणानि. ततो भगवत्कृत्यमाह **सपत्नीकं** तं पौत्रं **पुरस्कृत्य. रुद्रेणानुमोदितः,** अन्यथा दण्डमिव तद्ग्रहणं रुद्रो मन्येत. **कृष्णोऽनुमोदित** इति पाठे अर्थाद् रुद्रेण. अनेन तस्मिन् भगवत्प्रसादो निरूपितः. जाम्बवत इव शिक्षार्थं निग्रह इत्यापि सूचितम् ।।५१।।

सिद्धार्थस्य भगवतः पुनरागमने पुरीं वर्णयति, विवाहोत्सवे पुरी न वर्णितेति, **स्वराजधानीमि**ति.

स्वराजधानीं समलङ्कृतां ध्वजैः सतोरणैरुक्षितमार्गचत्वराम्।
विवेश शङ्ख ानकदुन्दभिस्वनैरभ्युद्यतः पौरसुहृद्द्विजातिभिः।।५२।।

अनेन विधिवद्विवाहः तेन द्वारकायामेव कृत इति सूचितम्. **स्वस्य राजधानी**ति समागमने विलासा उक्ताः. ध्वजैः **सतोरणैरलङ्कृतामित्युपर्यलङ्कारः, उक्षितमार्गचत्वराम**ित्यधः. गन्धोदैः उक्षिताः सिक्ताः मार्गाः चत्वराण्यङ्गणानि च यस्याः. मध्ये शोभामाहह्व **पौरसुहृद्द्विजातिभिः शङ्ख ानकदुन्दभिस्वनैः** सहितैर**भ्युद्यतः**. पौरास्तामसाः सुहृदो राजसाः; सर्वैरभ्युपगमनम्, अयं विवाहः सर्वसम्मत इति ज्ञापयितुम् ।।५२।।

लेखः

स्वराजधानीमित्यस्याभासे **विवाहोत्सवे** इति, विवाहार्थं निर्गमने इत्यर्थः. व्याख्याने **अनेने**ति, पुर्या अलङ्कारकथनेनेत्यर्थः ।।५२।।

प्रकरणं समाप्तमिति ज्ञापयितुम् एतदुपाख्यानश्रवणफलमाह **य एतत् कृष्णविजयमि**ति.

य एतत् कृष्णविजयं शङ्करेण च संयुगम् ।
संस्मरेत् प्रातरुत्थाय न तस्य स्यात् पराजयः।।५३।।

।।इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे षष्टितमोऽध्यायः।।

प्रत्यहं **य एतत् स्मरेत् तस्य पराजयो ने**न्द्रियान्तःकरणैर्भवति. भगवता निरुद्धानां विस्मृतप्रपञ्चानां भगवदासक्तियुक्तानां कालादिभिरुपद्रवे राजसानामुद्वेगो भवतीति फलनिरूपणे तदवश्यं वक्तव्यम्. उपायश्चानेन निरूपितःह्व पराजयसम्भावनायाम् एतत् स्मर्तव्यमिति ।।५३।।

इति भागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे चतुर्दशोऽध्यायः।।

।।श्रीकृष्णार्पणमस्तु।।

लेखः

य एतदित्यत्र. **निरुद्धानामित्य**स्य विवरणमग्रिमपदद्वयेन ।।५३।।

इति चतुर्दशाध्यायव्याख्या समाप्ता।।

।।इति षष्टितमोऽध्यायः।।

।।इति श्रीमद्भागवत–दशमोत्तरार्ध–राजसफलप्रकरणं समाप्तम्।।

।।प्रथमं परिशिष्टम्।।

आद्यसम्पादकोंकी प्रस्तावनाएँ

श्रीश्रीनाथद्वारसांप्रदायिकसंस्कृतग्रन्थरत्नमाला ।

ग्रन्थाङ्कः १.

श्रीसुबोधिनी ।

(दशम–उत्तरार्ध–राजस–साधन–प्रकरणम्।)

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रणीता ।

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतलेखसमेता ।

विद्याविलासिश्रीश्रीनाथद्वाराधीशश्रीमद्गोस्वामिकुलतिलकश्रीमद्गोवर्धन–
लालजीमहाराजचरणानां द्रव्यसाहाय्येन 'भृगुपुरस्थ मूलचन्द्र
तुलसीदास तेलीवाला,बी.ए.,एल्एल्. बी., वकील हाइ
कोर्ट' 'सुरतिस्थ धैर्यलाल व्रजदास सांकलीया, बी.ए.
एल्एल्. बी., वकील हाइ कोर्ट' इत्येताभ्यां
संशोध्य 'निर्णयसागर' मुद्रणालये
मुद्रयित्वा प्रकटीकृता

श्रीवल्लभाब्दाः ४४४. संवत् १९७९.

मूल्यं रुप्यकद्वयम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

प्रस्तावना ।

श्रीमत्याः सुबोधिन्या एतत्प्रकरणस्य मुद्रणं यस्मिन् संयोगे जातं तन्निवेदनमत्रावश्यकम् । गतवर्षे (संवत् १९७८) चैत्रे सुरतिपुरे

श्रीमद्गोस्वामिश्रीव्रजरत्नानां ज्येष्ठसूनुश्रीगोविन्दानां यज्ञोपवीतमहोत्सवो जातः । तस्मिन्नेवावसरे श्रीमद्बालकृष्णचरणकमलेषु निजमूर्ध्नि विराजमानेषु प्रभुषु श्रीमन्महाराजचरणैः श्रीव्रजरत्नैः 'छप्पनभोग' इति महामनोरथः कृतः । अयं प्रसङ्गो द्विविधप्रस्तावेनापूर्वो जातः । प्रायः सर्वगोस्वामिबालकानां तत्रागमनं जातम् । तेनास्मिन्नुत्सवे शोभाप्यपूर्वा जाता । 'छप्पनभोग'मङ्गीकुर्वन्तं श्रीमत्प्रभुचरणखेलनस्वरूपं श्रीमद्बालकृष्णप्रभुं यज्ञोपवीतधारण ेनाचार्यपदवीमारोढुकामं श्रीगोविन्दं च द्रष्टुकामाः, तेन च निजनेत्रे सफलयितुकामा असंख्याता वैष्णवास्तत्रागतवन्तः । अस्मिन्नेवावसरे श्रीमद्गोस्वामिकुलतिलकश्रीमद्गोवर्धनलालजीमहाराजचरणानां तत्सूनुश्रीदामोदराणां चागमनं तत्र जातम् । श्रीमद्गोस्वामिकुलतिलकैः श्रीगोवर्धनलालचरणैः 'मालवीवाडी' इत्यत्र निजनिवासः कृतः । 'छप्पन'भोगदिवस एवास्माकं गमनं तत्राभूत् । पितरं पुत्रं च द्रष्टुकामान् संघशो गच्छतो वैष्णवान् दृष्ट्वा तद्दर्शनार्थं जिगमिषास्मद्धृद्यभूत् । हरीच्छया वयमपि तत्र गतवन्तः । श्रीमन्महाराजचरणानां तत्पुत्राणां चरणस्पर्शार्थमत्युत्सुकान् वैष्णवान् नियमयन्तं भगवद्धर्मपरायणं 'पेटलादी'रणछोडदासमपि तत्र दृष्टवन्तः । तेन वयं श्रीमन्महाराजसंनिधौ नीताः । आचार्यासनपृष्ठभागे चोपवेशिताः । तत्र चास्माभिः श्रीमन्महाराजेभ्यः पुण्यपत्तने श्रीमद्वैष्णवपरिषदि निजसूनुश्रीदामोदरलालचरणद्वारा यावदुपलब्धसाहित्यसमेतायाः श्रीसुबोधिन्या मुद्रणार्थं कृतायाः प्रतिज्ञायाः संस्मारणं कृतम् । तदर्थं चत्वारिंशत्सहस्रमुद्रिकापरिमितव्ययकरणार्थं स्वयं ज्ञापितप्रसन्नताया अपि संस्मारणं कृतम् । एतस्मिन्नवसरे 'केसरीया'मण्डल्याः 'पुष्टिमार्गीय बेण्डस्य' आगमनं तत्राभूत् । तेन च महान् कोलाहलोपि जातः । परस्परं परमानन्देन वार्तालापं कुर्वत्सु वैष्णवेषु मुद्रणविषयरूपगम्भीरविचारस्य तत्स्थलमभूमिरभवत् । तदा श्रीदामोदरलालैरस्मभ्यं ज्ञापितमद्य यदेतद्विषयस्य विचारोत्र कर्तुमशक्यः । एतदर्थमेकान्तस्थलमपेक्षितम् । तदर्थं द्वितीयदिने प्रातःकाले अस्माभिस्तत्र गन्तव्यमित्याज्ञप्तम् । तस्मिन्नेव दिने रात्रौ त्रिवादनानन्तरं 'छप्पनभोग'मङ्गीकुर्वाणस्य श्रीमद्बालकृष्णप्रभोर्दर्शनमभूत् । वैष्णवानां समूहस्य भूयस्त्वात् मुहूर्तानन्तरमस्माभिर्दर्शनसौभाग्यं प्राप्तम् । तदैव प्रातःकालोपि जातः । अत एव दर्शनानन्तरं वयं श्रीगोवर्धनलालचरणानां समीपे गतवन्तः । निजाज्ञानुसारेण शयनगृहादागच्छतां श्रीगोवर्धनलालचरणानां श्रीदामोदरलालानां च दर्शनमभूत् । तैश्च वयं एकान्तस्थलं नीताः । श्रीसुबोधिनीमुद्रणविषयकचर्चोपस्थितौ श्रीगोवर्धनलालमहाराजैरुक्तमद्य

'श्रीरणछोडलालाः श्रीसुबोधिनीमुद्रणं कुर्वन्ति, अत एव किमर्थमस्माभिर्मुद्रणं कर्तव्यम् ।' अस्माभिरुक्तमृह्व 'सत्यम्, तथापि तैः दशमपूर्वार्धमारब्धम्, तन्मुद्रणं कदा सम्पन्नं भविष्यतीति न ज्ञायते, तदसंपन्ने तूत्तरार्धमुद्रणस्याशा दूरतरा भाति' । श्रीदामोदरलालैश्चोक्तमेतद्युक्तम्, यदि श्रीरणछोडलालैः पूर्वार्धमुद्रणं क्रियते, अस्माभिरुत्तरार्धमुद्रणं कर्तव्यमिति । आग्रहपूर्वकं विनतिरपि तैर्महाराजचरणेभ्यः कृता । महाराजैश्च तदा सहर्षमुत्तरार्धमुद्रणव्ययदानं स्वीकृतम् । श्रीनाथद्वारं गत्वा मासानन्तरं तैश्च द्रव्यमपि तदर्थं प्रेषितम् । तद्द्रव्येणास्माभिरेतन्मुद्रणं समारब्धम् । एतेनास्मिन् मुद्रणे श्रीमद्गोस्वामितिलकश्रीमद्गोवर्धनलालजीमहाराजचरणानां तत्सूनुश्रीमद्दामोदराणां संप्रदायोपरि परमोपकारः संपन्नः । तेषामेव कृपया वैष्णवभगवदीयैः दशमोत्तरार्धराजससाधनप्रकरणश्रीसुबोधिन्या लेखसमेताया दर्शनसौभाग्यं प्राप्तं भवति । एतदनन्तरं मुद्र्यमाणस्य राजसफलप्रकरणस्यापि दर्शनसौभाग्यं प्राप्स्यते । एवं श्रीमन्महाराजचरणानां श्रीसुबोधिनीमुद्रणविषयिण्या उपरिनिर्दिष्टायाः प्रतिज्ञायाः सफलत्वायापेक्षितं सामर्थ्यं श्रीमदाचार्यचरणा अस्मभ्यं दास्यन्तीति प्रार्थयामहे ।

एवं मुद्रणार्थं भगवत्कृपया द्रव्यलाभे सति तदनन्तरं एतद्ग्रन्थस्य शुद्धं प्रामाणिकं पाठादि कथं संपादनीयं तदर्थं वयं प्रवृत्तिं कृतवन्तः । पण्डितगट्टूलालाजीसंग्रहतः पुस्तकद्वयं समुपलब्धम् । तत्रैकं तु श्रीपुरुषोत्तमचरणैर्वाचितं निजश्रीहस्ताक्षरैश्च शोधितम् । विरामास्तत्र श्रीपुरुषोत्तमैरेव दर्शिताः । प्रायोस्माभिस्त एवात्रादृताः । क्वचिच्च श्रीपुरुषोत्तमैर्निजश्रीहस्ताक्षरैष्टिप्पणमप्यस्मिन् पुस्तके लिखितम् । तदपि मुद्रणेस्माभिः संगृहीतम् । अस्मिन् पुस्तके मूलश्लोकास्तु न सन्ति । अत्यन्तं शुद्धमेतत्पुस्तकम् । द्वितीयं पुस्तकमपि प्राचीनं शुद्धं च । अस्मिन् मूलश्लोकाः सन्ति । कैश्चिन्महानुभावैरेतत्पुस्तकं वाचितं शोधितं च । तृतीयं पुस्तकं श्रीमद्गोस्वामिश्रीवल्लभलालानां शास्त्रिवसन्तरामेण संपादितम् । अस्मिन् पुस्तके मूलश्लोका अपि सन्ति । प्रायःशुद्धमेतत्पुस्तकं शुद्धं च । चतुर्थं भगवद्धर्मपरायणदर्भावतीस्थमोहनलालेन दत्तम् । इदं पुस्तकं प्राचीनं शुद्धं च । श्रीमद्गोकुले तेन विक्रयेण प्राप्तम् । अस्मिन् मूलश्लोका वर्तन्ते । क्वचिच्च टिप्पणमपि । प्रत्येकश्लोकस्य विवरणं यत्र समाप्तं भवति, तदप्यत्र सूक्ष्मेक्षिकया प्रदर्शितम् । तत्सर्वमत्र संगृहीतम् । इदं पुस्तकमपि केषाञ्चिन्महानुभावानामेव । पञ्चमं श्रीवृन्दावने नित्यस्वरूपब्रह्मचारिणा मुद्रितम् । एतत्पञ्चपुस्तकसाहाय्येन मुद्रणमस्माभिरारब्धम् । द्वात्रिंशत्तमपृष्ठपर्यन्तं मुद्रणं कृतम्, तथापि मुद्रितपाठाः

प्रामाणिका वा न वेत्यत्र क्वचित् संदेहः समजनि । पाठानां प्रामाणिकत्वं निःसन्दिग्धत्वं च कथं संपादनीयमिति प्रश्न उपस्थितः । यदि मूलपुस्तकेनास्य संवादः स्यात्, तदा प्रामाणिकत्वं निःसंदिग्धत्वं च संपन्नं भवेत् । मूलं श्रीमदाचार्यश्रीहस्ताक्षरलिखितं तच्छिष्यश्रीमाधवभट्टलिखितं वा पुस्तकं तु नास्माभिः प्राप्तम् । दशमोत्तरार्धारम्भस्थप्रकीर्णपत्रद्वयं तु दृष्टं श्रीमद्गोस्वामिनीश्रीकृष्णप्रियाणां कृपया, तथापि शोधनं तु न ततो जातम् । उत्तरार्धश्रीसुबोधिन्या मूलपुस्तकं मुम्बापुर्यां श्रीगोकुलाधीशजीमन्दिरे सेवायां विराजत इत्यपि श्रुतम् । श्रीगोपिकावल्लभास्तदर्थं विज्ञापिताः । तथापि भगवदिच्छया तत्पुस्तकस्योपयोगोस्मिन्मुद्रणे न जातः । तत्सौभाग्यं नास्माभिः प्राप्तमिति खेदो भवति । श्रीमन्महाप्रभुचरणकृपया तदपि कदाचित् सेत्स्यतीति संतोषः । यद्यप्येवं श्रीमदाचार्याणां मूलपुस्तकं तु नोपलब्धम्, तथापि श्रीमत्प्रभुचरणानां श्रीविठ्ठलदीक्षितानां तु प्राप्तमेव । एतत्प्राप्तिश्च सुरतिस्थश्रीमद्गोस्वामिश्रीव्रजरत्नलालचरणकृपयैवाभूत् । तेषां महानुभावानां महोदारचरितं तु विस्मर्तुं नैव शक्यतेऽस्माभिः । गतपोषशुक्लैकादश्यां शनिवासरे वयं मुम्बातः सुरतिं गताः । तत्र गत्वा श्रीमन्महाराजचरणान् विज्ञापितवन्तः । तैश्च शोधनार्थं सर्वोपि प्रबन्धः कृतः । दिनपञ्चकपर्यन्तं श्रीमत्प्रभुचरणानां पुस्तकस्य साक्षात्संबन्धेन विस्मारितलौकिकव्यापारा वयं जाताः । अस्मिन् पुस्तके प्रायः सर्वत्र श्रीमत्प्रभुचरणमूलपुस्तकस्था एव पाठा आदृताः । एतेनास्य पुस्तकस्य पाठेषु प्रामाणिकत्वं सेत्स्यते । यदि सांप्रदायिकानामेतत्पुस्तकपठने तच्छुद्ध्या संतोषः क्वचिद्भवेत्, तदा तैः श्रीमद्गोस्वामिश्रीमद्व्रजरत्नानामेव परमोपकारः स्वीकर्तव्य इति प्रार्थयामहे । यतस्तत्कृपां विना शुद्धत्वं प्रामाणिकत्वं चास्य पुस्तकस्य संपादितं नैव स्यादिति ।

एतत्प्रकरणस्य प्रथमं मुद्रणं गतश्रावणस्यामले पक्ष एकादश्यां समारब्धम् । एतन्मुद्रणे एकवर्षसमयोपि न जातः । मुद्रणं च शीघ्रं संपन्नम् । अत्र कारणत्वेन मोहमयीस्थश्रीमद्गोस्वामिश्रीगोकुलनाथचरणकृपैव वर्तते । तैश्च महानुभावैः मुद्रणार्थं स्वयं संपादितं पुस्तकमस्मभ्यं दत्तम् । तेन च मुद्रणपुस्तकसंपादनक्लेशो भूयानस्मदीयो दूरीकृतः । शैघ्र्यं च मुद्रणेऽस्माभिः संपादितम् । भट्टबलभद्रशर्मभिरौदार्येण प्रतिबन्धजनकः संकोचस्त्यक्त इति तेभ्यो भगवदीयेभ्योपि धन्यवादान् प्रदद्मः ।

पूर्वार्धश्रीसुबोधिनीवत् उत्तरार्धश्रीसुबोधिन्याः सम्यगध्ययनं सांप्रदायिकैर्न कृतमिति तद्विवरणानां विरलत्वादनुमीयते । पूर्वार्धे तु साहित्यं विपुलम् । श्रीसुबोधिनीस्थपाठा अपि तत्र प्रायो निश्चिताः । उत्तरार्धे तु यत्र यत्र सन्देहः पाठे, तत्र तत्र वाचकैर्निजनिजरुच्यनुसारेण पाठाः सूचिताः । अस्माभिस्तु प्रायः सर्वत्र श्रीमत्प्रभुचरणपुस्तकस्था एव पाठा आदृताः । तत्रापि संदेहे तु श्रीमदाचार्यचरणध्यानबलात् यः पाठोऽस्माकमत्यन्तं समीचीनो भातः, स एव मूले निवेशितः, शिष्टपाठाश्च टिप्पणे । एवं पाठादरणे सर्वत्र प्रभुदत्तो विवेकोऽस्माभिः कृतः । मौढ्यादनवबोधादाग्रहात्स्वकर्मदोषाद्वा प्रमादः पाठादरणे दृष्टश्चेत्, स भगवदीयैः क्षन्तव्य इति विज्ञप्तिः । न हि जीवानां पूर्णत्वं क्वापि दृष्टचरम् ।

उत्तरार्धश्रीसुबोधिन्युपरि एकमेव विवरणमुपलभ्यते । तत्केन कृतमित्यत्र सन्देहोऽस्माकम् । प्रसिद्धिस्तु श्रीरघुनाथवंश्यश्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभानां कर्तृत्वं ज्ञापयति । एतद्विवरणस्य नाम्न्यपि संदेहः । सामान्यत इदं विवरणं लेख इति नाम्ना प्रसिद्धम् । अस्मत्संनिधौ विद्यमानप्राचीनपुस्तकत्रयेपि ग्रन्थकर्तृनामादर्शनात् लेख इति नामादर्शनाच्च मुद्रणे यथोपलब्धं 'विवरणटिप्पणी'इति नाम ग्रन्थकृन्नामरहितं निवेशितम् । एतन्मुद्रणानन्तरं श्रीनाथद्वारतः शास्त्रिनन्दकिशोरैर्ज्ञापितम्, यत् तत्र विद्यमाने प्राचीनपुस्तके 'श्रीवल्लभकृतलेख' इति विद्यते । तदनुसारेण मुखपृष्ठोपरि 'श्रीवल्लभकृतलेख'इति मुद्रितमस्माभिः । तथापि तत्पुस्तकं कीदृशं वर्तते, प्राचीनं वा न वेति न जानीमो वयम् । तत्पुस्तकप्रेषणार्थं शास्त्रिनन्दकिशोरा विज्ञापिताः, परन्तु 'भवत्संनिधौ पुस्तकत्रयं वर्तते इति तत्प्रेषणस्यावश्यकता नास्ती'ति ज्ञापितम् । तेषां शब्दमनुसृत्य अस्य विवरणस्य श्रीवल्लभकृतलेख इति नाम निवेशितम्, तथापि तदेवैतद्विवरणस्य तथ्यं नाम वा, ते एवास्य प्रणेतारो वेत्यत्रास्मन्मनसि महाननिश्चयः । एतद्विवरणस्य प्रणेतृत्वं श्रीवल्लभानां वा तच्छिष्यश्रीरघुनाथात्मजश्रीव्रजनाथानां वोभयोर्वेति निर्णयो वेणुनादपत्रिकायामतः परं करिष्यते । क इमे श्रीवल्लभाः, श्रीमत्प्रभुचरणप्रथमलालश्रीगिरिधरवंश्या वा, तत्पञ्चमपुत्रश्रीरघुनाथवंश्या वा, तत्रापि श्रीदेवकीनन्दननन्दना वा, श्रीविट्ठलेशसूनवो वेत्यपि प्रपञ्चयिष्यते । श्रीरघुनाथवंश्यश्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभाः श्रीमत्प्रभुचरणप्रथमपुत्रश्रीगिरिधरात्मजश्रीगोपीनाथदीक्षितवंश्यश्रीरघुनाथात्मजश्रीव्रजनाथानां गुरव आसन्नित्यत्र तु नैव संदेहः । एतैर्गुरुशिष्यैर्मिलित्वा बहवोपि सांप्रदायिकप्रबन्धा योजिता इत्यत्र नैव संदेहः । तेन यदि श्रीरघुनाथवंश्यश्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभानामेतद्विवरणस्य प्रणेतृत्वं संभवति चेत्, तदा श्रीव्रजनाथानामत्र अंशतोपि कर्तृत्वं वर्तते एवेत्यस्माकं प्रतिभाति ।

दुर्भाग्यमेतद्यत्सांप्रदायिकैरेतादृशां महानुभावानां गोस्वामिनां निजपूर्वजानामप्यैतिह्यमंशतोपि न रक्षितम् । अस्तु वा केषाञ्चिदेवास्य विवरणस्य कर्तृत्वम्, तथापीदमेवैकं विवरणमुत्तरार्धश्रीसुबोधिन्युपरि प्राप्यते । तदपि सूक्ष्मं क्वचित् टिप्पणरूपम्, न तु विस्तृतम् । श्रीपुरुषोत्तमैरुत्तरार्धश्रीसुबोधिन्युपर्यपि विवरणं योजितमपि क्वचित् स्यात् । तत्पुस्तकस्थशब्दोपरिचिह्नैरेवं स्फुरत्यस्माकम् । एवं चेत्, तदमिलने दुर्भाग्यमेव श्रीसुबोधिनीवाचकानाम् । नास्माभिस्तद्विवरणं कुत्रापि दृष्टचरम् । अत्र मुद्रितविवरणस्य पुस्तकत्रयं प्राप्तम् । एकं पं.गट्टूलालाजीसंग्रहतः, द्वितीयं कोटातः श्रीमन्मथुरेशसंग्रहस्थं पं. मु. गोकुलदासैः प्रेषितम् । तृतीयं नटपुरस्थब्राह्मणवैष्णवरुक्मिण्याः । पुस्तकत्रयाधारेणेदं विवरणं संशोध्य मुद्रितमस्माभिः ।

एतत्प्रकरणस्य श्रीमदाचार्यकृतनिबन्धोप्यत्र मुद्रितः । तद्योजना श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतात्रैव मुद्रिता । श्रीमदाचार्यकृतैतत्प्रकरणानुक्रमणिका च । पुरुषोत्तमनामसहस्रस्थनामानि त्रिविधनामावलीस्थनामान्यपि निवेशितानि । गोष्ठीशालकृतैतत्प्रकरणविभागसूचिकापि मुद्रिता । श्रीगोकुलरायकृतैतत्प्रकरणाध्यायार्थोपि मुद्रितः । उत्तरार्धसूचनिका च । एतत्प्रकरणस्थानां मूलश्लोकानां कारिकाणां च वर्णानुक्रमौ मुद्रितौ । तौ चास्मन्मित्रचन्दुलाल चुनीलाल शाह बी.ए. इत्यनेन संपादितौ । एवं यथाशक्ति सर्वाङ्गसंपन्नत्वमस्य प्रकरणस्य संपादयितुं प्रयासः कृतः । एतेन कस्यचिदपि भगवदीयस्य श्रीसुबोधिन्या अध्ययने किमपि सौकर्यं भविष्यतीति विचारेणैव परमप्रेम्णा परिश्रमेण च सिद्धमेतत्प्रकरणं श्रीसुबोधिन्याः श्रीमत्प्रभुचरणकमलेषु समर्पयाम इति । विना मूल्यं चैतत्प्रकरणस्य योग्यवैष्णवेभ्यो वितरणार्थं श्रीमन्महाराजचरणेषु श्रीगोवर्धनलालचरणेषु अस्मदीया नम्रविज्ञप्तिरिति । श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।

ज्येष्ठाभिषेकः **मूलचन्द्र तेलीवाला ।**

संवत् १९७९. मुम्बई. **धैर्यलाल सांकलीया ।**

EDITOR'S NOTE

In the field of religious literature the importance of Srimad Bhagavata is second to none. Gayatri is the Bija, from which grew the Vriksha of Veda which in its turn bore the Phala of Bhagavata. The importance of the Bhagavata was due to its inherent merit and from very old times it attracted the attention of learned Scholars like Vishnuswami, Madhva, Chitsukha, Bopedeva and others. Bhagavata was looked upon as a Bhakti-sastra and the learned scholars began to consider the true meaning of it in seven ways. First of all, they considered what was taught by the whole Bhagavata as a Sastra, then what was taught by its Skandhas, then by its Prakaranas, Adhyayas, Vakyas, Padas and Aksharas. When a complete harmonious interpretation was thus worked out then only the Tattva of Bhagavata could be understood. Such a task was not undertaken by any scholar before Sri Vallabhacharya. He undertakes to do this ana a perusal of his Nibandha and Subodhini would convince any unbiased reader that he has fulfilled it very successfully. This work of unfolding the true purpose of Bhagavata was undertaken by Vallabhacharya by the command of God. Whatever that may be a perusal of the present Prakarana of the Subodhini will show that it is not any ordinary commentary. It stands by itself. Reading it we feel as if it were a Bhashya of Srimad Bhagavata. in the Nibandha Sastrartha, Skandhartha, Prakaranartha and Adhyayartha are given, while in the Subodhini,

Vakyartha, Padartha and Aksharartha, are given. Subodhini gives the Adhidaivika meaning of the Bhagavata by which one would get glimpses into the inner light of it. The language of Subodhini, dictated as it is by its learned author to his pupil Madhava Bhatta Kashmirin, is a marvel of lucid Sanskrit. A perusal of this Prakarana would surely bring home to the reader the truth of what has been said above.

We have begun with tenth Uttarardha and here are printed the first seven Adhyayas of it which are said to comprise the Sadhana Prakarana of the Rajasa Prakarana of the Dasama-skandha. An effort has been made by us to settle the text of Bhagavata according to Vallabhacharya. A list of all quotations occuring in this chapter has been given indicating as far as possible the places from where they are drawn. The text of Subodhini is critically settled. It is based on 6 mss., two mss. from Pandit Gattulalaji's Library, one of Sri Vallabhalalji, one of Mr. Mohanlal of Dabhoi, one printed at Brindaban and one of Sri Vitthala Dikshita (second son of Vallabhacharya). The last has been written by Rana Vyasa, a select pupil of Vallabhacharya. Our Subodhini text is chiefly based on this very mss. the use of which was kindly allowed to us by the enlightened Maharaja Sri Vraja Ratnaji of Surat in whose temple this mss. has been preserved in the Seva. In this connection we have also to thank Sri Gokulnathji Maharaja of Bombay for having facilitated our work by allowing us the use of his

press-copy. The Nibandha with Purushottamjee's commentary has been published here. Other sahitya relating to this Prakarana has also been printed here. Indexes of Karikas and Verses of this Prakarana are given. The details of this are given in Sanskrit Introduction. We have specially to thank Tiket Sri Goverdhanlalji Maharaja of Nathadwar, the head of the Maharajas‹} for having supplied us with funds for the publication of this work. Two pictures‹} one of Tiket Sri Goverdhanlalji Maharaja and the other of his son Sri Damodarlalji‹} are also put in here.

We have spared no pains to make this Prakarana as complete as possible and with feelings of joy, we offer this fruit of our labour of love at the Lotus feet of Lord SriKrishna.

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीसुबोधिनी ।

(श्रीमद्भागवत-दशम-उत्तरार्ध-राजस-फल-प्रकरणम्)

(अध्यायाः ८-१४)

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रणीता ।

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतलेखसमेता ।

विद्याविलासिश्रीश्रीनाथद्वाराधीशश्रीमद्गोस्वामिकुलतिलकश्रीमद्गोवर्धन-
लालजीमहाराजचरणानां द्रव्यसाहाय्येन 'भृगुपुरस्थ मूलचन्द्र
तुलसीदास तेलीवाला, बी.ए., एल्‌एल्. बी.,
वकील हाइ कोर्ट' 'सुरतिस्थ धैर्यलाल व्रजदास
सांकलीया, बी.ए., एल्‌एल्. बी.,
वकील हाइ कोर्ट' इत्येताभ्यां
संशोध्य निर्णयसागरमुद्र
णालये मुद्रयित्वा
प्रकटीकृता

श्रीवल्लभाब्दाः ४४६. संवत् १९८१.

मूल्यं रुप्यकत्रयम् ।

निवेदनम् ।

एतत्प्रकरणमुद्रणमपि श्रीमद्गोस्वामिकुलतिलकश्रीमद्गोवर्धनलालजीमहाराजचर णानां तत्कुमारश्रीदामोदरलालचरणानां च परमकृपया भवति । श्रीसुबोधिनीमुद्रणयोज नाविषयकं सर्वमावश्यकमस्माभी राजससाधनप्रकरणे निवेदितम्, अतस्तन्नानूद्यतेऽत्र । जिज्ञासुभिस्तत्प्रकरणमवलोकनीयम् । श्रीसुबोधिनीलेखकृच्छ्रीवल्लभविषयको निर्णया ऽस्माभिस्तामसफलप्रकरणे कृतः, तदनुसारेणास्माभिर्लेखकृन्नाम निवेशितम् । परिशिष्टे निवेशितौ कारिकाणां श्लोकानां चाकारादिवर्णानुक्रमौ 'गोविन्दलाल हरगोविन्द भट्ट, एम्. ए.' इत्यनेन संपादितौ । श्रीमदाचार्यचरणानां निजाशयबोधकानां वाक्यानामस्मिन् प्रकरणे उपलब्धानां संग्रहः स्थलनिर्देशपूर्वकं परिशिष्टे वाङ्मुक्तावल्यां कृतः । एतेन लौकिकादिव्यापृतिव्यग्राणामवकाशरहितानामपि इतरेषां तत्त्वबुभुत्सूनामेत त्प्रकरणावगाहनं स्वल्पकालेन स्वल्पप्रयासेन च भविष्यति । दर्भावतीस्थवल्लभदासतः श्रीसुबोधिन्या एकं हस्तलिखितं पुस्तकमेतन्मुद्रणावसरेऽधिकं प्राप्तम् । एतत्प्रकरणश्रीसु बोधिनीपाठादि श्रीमत्प्रभुचरणानां श्रीविट्ठलदीक्षितानां श्रीमदाचार्यसेवकराणाव्यासलि खितमूलपुस्तकाधारेण राजससाधनप्रकरणवदेव योजितम् । इदं पुस्तकं सुरतिपुरे श्रीमद्बालकृष्णप्रभुमन्दिरे सेवायां श्री-समीपे विराजते । एतदुपयोगोऽस्माभिस्तन्मन्दिराधिष्ठातॄणां श्रीमद्गोस्वामिश्रीव्रजरत्नलालचरणानां परमकृपया कृतः । पूर्वप्रकरणवदत्रापि विरामादिकं दशदिगन्तविजयिश्रीमद्गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमानां पुस्तकानुसारेण कृतम् । पूर्ववदेव प्रत्येकश्लोकव्याख्यानसमापनसूचनं दर्भावतीस्थमोहनलालतः प्राप्तप्राचीनपुस्त काधारेण कृतम् । पूर्ववदेव मोहमयीस्थश्रीमद्गोस्वामिश्रीगोकुलनाथचरणानामत्राप्युपकारः समजनि । पण्डितभट्टश्रीबलभद्रशर्मण उपकारः पूर्ववदेवास्माभिः स्मर्तव्यः । शास्त्रिवर्यश्रीकल्याणजिच्छर्मणा क्वचिदस्मिन्मुद्रणे उपकृतम् । तथैव शास्त्रिजिच्छ्रीरमाना थेन । पण्डितमुख्यपरिचारकश्रीगोकुलदासैरपि । मुद्रणसाहित्यसंपादने पण्डितशिरोमणिभ ट्टश्रीगट्टूलालाजीसंस्थाया उपकारस्त्वविस्मरणीयः । अस्मदनवधानेनात्रानिर्दिष्टानां प्रमादाद्वा विस्मृतानां विदुषामप्युपकारः स्मर्यते । एवं यथाशक्ति सर्वाङ्गसंपन्नत्वमस्य प्रकरणस्य संपादयितुं प्रयासः कृतः । एतेन कस्यचिदपि भगवदीयस्य श्रीसुबोधिन्या अध्ययने किमपि सौकर्यं भविष्यतीति विचारेणैव परमप्रेम्णा परिश्रमेण च सिद्धमेतत्प्रकरणं श्रीमत्प्रभुचरणकमलेषु समर्पयाम इति । श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।

दोलोत्सवः **मूलचन्द्र तेलीवाला ।**

१९८१-मुंबई. **धैर्यलाल सांकलीया ।**

EDITOR'S NOTE

This is the second volume of the tenth Uttarardha Subodhini of Sri Vallabhacharya. Here are printed the second seven Adhayayas (8-14) which are said to comprise the Phala Prakarana of the Rajasa Prakarana of the tenth Skandha of Shrimad Bhagavata. As before an effort has been made by us to settle the text of Bhagavata according to Sri Vallabhacharya's Subodhini. The text of Subodhini is carefully settled as before. It is based on six MSS. two of which were received from Pandit Gattulalaji's Library, one from Mr. Mohanlal of Dabhoi, one from Vallabhdas of the same place, one printed at Brindaban and one of Sri Vitthala Dikshita second son of Sri Vallabhacharya. The last has been written in the hand of Rana Vyasa, a select pupil of Sri Vallabhacharya. One text of Subodhini is primarily based on this very copy, the use of which was so very kindly allowed to us by the enlightened Maharaja Sri Vraja Ratnaji of Surat in whose Temple this book has been preserved in Seva. In this connection we have also to thank, as before, Sri Gokulanathaji Maharaja of Bombay for having facilitated our work by allowing us the use of his press-copy. Our obligations are also due to Sri Vallabhalalji Maharaja of Kama and his Shastri Vasantaram for giving us the original picture of the Lekhakara Sri Vallabhaji. As before the Nibandha of Sri Vallabhacharya with Purushottamaji's commentary on this chapter has been printed here. All other materials in conection with this are also

included in this volume. Indexes of Karikas and Slokas of this Prakarana are given. These were kindly prepared by Mr. Govindlal Harigovind Bhatta M.A. A list of all quotations occuring in this chapter has been given indicating as far as possible the sources from which they are drawn. We have culled out and printed at the end typical sentences expressing the author's personal views from this Prakarana-Subodhini; a perusal of which would at a glance enable the reader to come into touch with the grand personality of the noble great soul who wrote this work.

As before we have specially to thank Tiket Sri Govardhanalalji Maharaja of Sri Nathadwara, the head of the Goswami Maharajas, and his son Sri Damodarlalji for having supplied us with funds for the publication of this work. Four pictures of Sri Vallabhacharya, of Sri Vallabhaji the author of the commentary named Lekha which is printed here, of Tiket Sri Govardhanalalji and his son Damodarji are also put in this volume.

We have spared no pains to make this volume as complete as possible and with feelings of Joy we offer this fruit of our labour of love at the Lotus-feet of Lord Sri Krishna.

Bombay, M.T.Telivala.
24th-2-1925. D.V.Sankalia.

।। द्वितीयं परिशिष्टम् ।।

।वर्णानुक्रमेण साधनफलप्रकरणस्थ–कारिकासूचिः।

फलप्रकरणम्

।वर्णानुक्रमेण साधनफलप्रकरणस्थ–मूलश्लोकसूचिः।

त

फलप्रकरणम्

आ

इ

उ, ए, ऐ

क

द

ध, न

।।यथाक्रमं साधनप्रकरणे उपन्यस्तवाक्यानां सूचिपत्रम्।।

१. ये यथा मां प्रपद्यन्ते ह्न भ.गीता ४।११

२. शास्त्रफलं प्रयोक्तरि ह्न जैमिनिसूत्र. ३।७।१८

३. अङ्गीकृता ग्लानिर्न दोषाय ह्न न्यायः ....

४. यदा यदा हि धर्मस्य ह्न भ.गीता ४।७

५. संस्थापनाय धर्मस्य ह्न भाग. १०।३०।२७

६. यस्य ध्वनिर्दानवदर्पहन्ता ह्न ....

७. सविशेषणे विधिनिषेधौ विशेषणमुपसङ्क्रामतः ह्न ....

८. द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ, परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ह्न मेघातिथिकृत–मनुस्मृतिभाष्येऽयं श्लोक उपन्यस्तः. मनु.स्मृ. ७।९०, पराशर. ३।३७

९. यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः ह्न कठ.उप. २।२५

१०. यज्ज्यानिनादश्रवणात् सुराणां चेतांसि ह्न ....

११. एकेभैकरथा अश्वा पत्तिः पञ्चपदातिके ह्न मेदिनिकोषः?......

१२. सौम्यं वै क्षौमम् ह्न तै.सं. ६।१।१, ब्रा. ९।६।२

१३. नग्नान्न मुक्तिः ह्न ....

१४. आद्यन्तमध्ये बद्धो हि वेदेनामृतमश्नुते ह्न ....

१५. पुरुषः काममयः ह्न बृह.उप. ३।९।११

१६. विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि ह्न सात्वतसंहिता ....

१७. शिथिलाश्च सुबद्धाश्च ह्न पञ्चतन्त्र. ....

१८. वधानुकल्पः स्वद्रोहे ह्न भागवतार्थनिबन्धः १०।२१४

१९. अप्रतिषिद्धमनुमतं भवति ह्न न्यायः ....

२०. आत्मलाभान्न परं विद्यते ह्न आपस्तम्बधर्मसूत्र. १।८।२२।२

२१. तत्तेजोऽसृजत ह्न छान्द.उप. ६।२।३

२२. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ह्न ऋग्वेद १०।६०।२

२३. ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती ह्न आदित्यहृदयम् १६७

२४. वर्तिका अग्निस्थानम् अग्नेस्तूषाधानं ह्न तै.सं. ६।१।१

२५. एतद्वा अग्नेस्तेजो यद् घृतम् ह्व ....

२६. न शयानं प्रबोधयेत् ह्व याज्ञ.स्मृ. आ. १३८

२७. पुन्नाम्नो नरकात् त्रायत ह्व मनु.स्मृ. ९।१३८

२८. सालावृकाणां हृदयान्येताः ह्व ऋग्वेद १०।९५।१५

२९. स सोमो नातिष्ठत ह्व तै.सं. ६।५।८, ब्रा. ४।६।१७

३०. प्रजापतिरमृतमानन्द इत्युपस्थः ह्व तैत्ति.उप. ३।१०।३

३१. बिले बतोरुक्रमविक्रमान्ये ह्व भाग. २।३।२०

३२. सा वाग् यया तस्य गुणान् गृणीत ह्व भाग. १०।११।३

३३. योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते, किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ह्व शकुन्तलोपाख्याने महाभारतपर्वम् अ. ९८ श्लो. ७ कुम्भघोणम्.

३४. दुर्लभो मानुषो देहः ह्व भाग. ११।२।२९

३५. कियान् वार्थः स्वपरद्रुहा धर्मेण? ह्व ....

३६. मां चैवान्तःस्थशरीरस्थम् ह्व भ.गीता १७।६

३७. राघवत्वेऽभवत् सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि ह्व ....

३८. गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ ह्व भागवतार्थनिबन्धः १०।२१०

३९. प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ह्व महाभा. अनु.पर्व ७९।७

४०. समुद्रं दुर्गमाश्रित्य ह्व भाग. १०।७१।३७

४१. अभ्रातृमती न विवाह्या ह्व ....

४२. मायया मे विनिर्मिते ह्व भाग. ११।११।३

४३. रमापि रूपं वव्रे द्वितीयमिव यत् प्रवदन्ति मायाम् ह्व ....

४४. तस्मात् प्रायेण न ह्याढ्या मां भजन्ति ह्व भाग. १०।५७।१४

४५. प्रजापत आशया वै श्राम्यसि ह्व तैत्ति.ब्रा. ....

४६. अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः ह्व ....

४७. यो यच्छ्रद्धः स एव सः ह्व भ.गीता. १७।३

४८. अनृतं वै वाचा वदति ह्व तैत्ति.ब्रा. ....

४९. वाङ्मनसयोरनृतत्वम् ह्व ....

५०. मद्भक्तपूजाभ्यधिका ह्व भाग. ११।१९।२१

५१. नित्यं सञ्ज्ञा छन्दसोः ह्व पाणिनिसूत्र. ४।१।२९

५२. स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः ह्व भाग. ४।२४।२९

५३. अहं भक्तपराधीनः ह्व भाग. ९।४।६३

५४. ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे ह्व भाग. १०।४३।४

५५. स्त्रीषु नर्मे विवाहे च ह्व भाग. ८।१९।४३

५६. यज्ञसंयोग एव पत्युर्नोभवति ह्व पाणिनिसूत्र. ४।१।१३३

५७. अनलङ्कृता क्षणमपि न तिष्ठेत् ह्व ....

५८. मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः ह्व ब्रह्मसूत्र. ३।२।१०

५९. अतिरिक्तभागाः एव सृगालानाम्. तत्रापि यदक्रूरमतिरिक्तं तत् साध्यानां यत्क्रूरं तत् सृगालानामिति. यथा मथिताग्निः चषालादूर्ध्वं यूपश्च साध्यानां यतश्च सृगालानामिति. ह्व ....

६०. दिह उपचये ह्व धातुपाठः १०१५

६१. द्विषता हि हविर्भुक्तं नेह नान्यत्र तद् भवेत् ह्व ....

६२. विदुः प्रमाणं बलवीर्ययोर्वा ह्व ....

६३. उपसर्गस्य अन्योपसर्गत्वात् न नानार्थत्वं समुदायस्य ह्व........

६४. परोक्षप्रिया (इव हि) देवाः प्रत्यक्षद्विषः ह्व एत.उप. ३।१४, बृह.उप. ४।२।२, तै.ब्रा. ....

६५. त्रिसत्या हि देवाः ह्व तै.ब्रा. ३।३।८

६६. कृष्णो द्वितीयः केशवः संबभूव ह्व ....

६७. नायं हन्ति न हन्यते ह्व भ.गीता २।१९

६८. पिष्ट्वापि वेदे प्रैष उक्तः, अणूनि कुरुतादिति ह्व ....

६९. जिघांसन्तं जिघांसीयात् ह्व वसिष्ठ ३

७०. तरति शोकमात्मवित् ह्व छान्द.उप. ७।१।३

७१. नानात्मानो व्यवस्थातः ह्व ....

७२. शरीरं यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ह्न भ.गीता १५।८

७३. असङ्गो ह्ययं पुरुषः ह्न बृह.उप. १।३।१५

७४. तस्मादेवंवित् सर्वैरेव प्रकारैरुपासीत ह्न ....

७५. अत्यन्तसंयोगे ह्न पाणिनिसूत्र. २।१।२९

७६. शतमक्षान् विजानातीति मध्येऽधिदेवन एव सभ्ये अक्षक्रीडा ह्न आपस्तम्बधर्मसूत्र...........

७७. श्येनो वै वयसां बलिष्ठः ह्न ....

७८. संवत्सरप्रतिमा वै द्वादशरात्रयः ह्न तै.ब्रा. १।१।६

७९. अर्चिष्यन्ति ह्न भाग. १०।२।१०

८०. पर्वतानामधिपतिः ह्न यजु.सं......., तैत्ति.सं.........

८१. सर्वदैवत्यं वासः ह्न तैत्ति.सं. ६।१।११, ब्रा. ७।६।२९

।।यथाक्रमं फलप्रकरणे उपन्यस्तवाक्यानां सूचिपत्रम्।।

१. प्रपन्नं विरथं भीतं न हन्ति ह्न भाग. १।७।३६

२. यो यच्छ्रद्धः स एव सः ह्न भ.गीता १७।३

३. येनोपशान्तिर्भूतानाम् ह्न भाग. ४।३०।२९

४. नाहं वेदैः ह्न भ.गीता ११।५३

५. धनुर्यज्ञादुत्पन्नमिषवश्च यज्ञजन्मा हि ह्न तै.आ. ५।१।२।२

६. अग्निः सर्वा देवताः ह्न तै.ब्रा. २४

७. धन्या पितृमुखी कन्या ह्न पञ्चतन्त्रम् ?.............

८. तस्मात् नैका द्वौ पती विन्दते ह्न तै.सं. ६।६।४।३७

९. ते दश प्राणाः एते चन्द्राः ह्न बृह.उप. ३।९।४

१०. देवानां पूरयोध्या ह्न तै.आ. १।२७।३

११. इयं वा अदितिः ह्न तै.ब्रा. १।११।६।४

१२. विष्णोर्मुखोत्थानिलपूरितस्य ह्न पञ्चायुधस्तोत्रम् ....

१३. आपो हि रक्षोघ्नीः ह्न तै.ब्रा. ३।२।१०

१४. गदया निर्बिभेदाद्रीन् ह्न भा.द.उ. १०।४

१५. तया विना क्व देवत्वम् ह्न ....

१६. तत्त्वेषु पुरुषो महान् ह्न ....

१७. एकः सन् बहुधा विचचार ह्न तै.आ. ३।११

१८. ये यथा मां प्रपद्यन्ते ह्न भ.गीता ४।११

१९. सर्वान् बलकृतान् ह्न मनु.स्मृ. ८।१६८

२०. कन्या वरयते रूपम् ह्न पञ्चतन्त्रम् ४।६८

२१. अज्ञानात् कृतमकृतमेव ह्न न्यायः ....

२२. नूनं स्वार्थपरो लोको.. यदि वेद न याचेत ह्न भाग. ६।१०।६

२३. धर्मार्थकाममोक्षार्थं य इच्छेत् ह्न भाग. ४।८।४१

२४. आत्मलाभान्न परं विद्यते ह्न आपस्तम्बधर्मसूत्रम् ....

२५. यथा स्त्रिया संपरिष्वक्तः न वेद ह्न बृह.उप. ४।३।२१

२६. शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः ह्न बृह.उप. ४।३।२१

२७. सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ह्न ब्रह्मसूत्र. १।३

२८. मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः ह्न ब्रह्मसूत्र. ३।२।१०

२९. ये त्यक्तलोकधर्मांश्च ह्न भाग. १०।३।४

३०. द्विःशरं नाभिसन्धत्ते ह्न रामायणम् ?............

३१. कौन्तेय प्रतिजानीहि ह्न भ.गीता ९।३१

३२. स्त्रीषु नर्मविवाहे ह्न भाग. ८।१९।४३

३३. परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं च मम ह्न भाग. ११।२१।३५

३४. अङ्गना भीरुः कामिनी वामलोचना ह्न अमरकोशः २।६।३

३५. चित्तमनेनाकृष्यते ह्न भाग. ११।१४।४३

३६. अप्रतिषिद्धमनुमतं भवति ह्न न्यायः ....

३७. समः प्लुषिणा ह्न बृह.उप. १।३।२२

३८. सुखमस्यात्मनो रूपं सर्वेहोपरतिः ह्न भाग. ७।१३।२६

३९. न द्विषतोऽन्नमश्नीयाद् द्विषन्तं नैव भोजयेत्, द्विषता हि हविर्भुक्तं नेह नान्यत्र तद् भवेत् ह्न स्मृतिः. इदं वाक्यं भाग. १।१३।२३स्य सुबोधिन्यामुपन्यस्तम्. ....

४०. स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा ह्न भाग. ११।२०।२६

४१. अश्वं न त्वा वारवन्तम् ह्न ऋग्वेद १।२।२२।१, यास्क.निरुक्तम् १।२०४

४२. वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा ह्न पाणिनिसूत्र. ३।३।१३१

४३. मम योनिर्महद् ब्रह्म ह्न भ.गीता १४।३

४४. सम्भवः सर्वभूतानाम् ह्न भ.गीता १४।३

४५. ईशादपेतस्य ह्न भाग. ११।२।३७

४६. छन्दसि लुङ्लङ्लिटः ह्न पाणिनिसूत्र. ३।४।६

४७. त्रयीद्विषो हन्तव्याः ह्न ....

४८. दशास्यां पुत्रानाधेहि ह्न ऋग्वेद ८।३।२८।५

४९. पतिमेकादशं कृधि ह्न ऋग्वेद ८।३।२८।५

५०. नव वै पुरुषे प्राणाः ह्न तै.सं. ६।१।१।२१, ब्रा. १।८।५।१७

५१. नृम्णाय नृम्णम् ह्न ऋग्वेदः............

५२. यस्य ध्वनिर्दानवदर्पहन्ता ह्न पञ्चायुधस्तोत्रम् ....

५३. कोटरा रेवती ज्येष्ठा ह्न भाग. १०।६।२८

५४. कन्यायोनिं पशुक्रीडां नग्नस्त्रीं प्रकटस्तनीम् ह्न धर्मशास्त्रे........ द्रष्टव्यः व्रतचर्यासुबोधिनी.............

५५. रुद्रः पशूंश्छमायेत ह्न तै.सं. ३।१।९।७२, आपस्तम्बश्रौतसूत्र. ६।१४।११

५६. न तत्र रुद्रः पशूनभिमन्यते ह्न तै.ब्रा. ....

५७. यास्ते अग्ने घोरास्तनुवः ह्न तै.आ. ४।२२

५८. एतास्ते अग्ने घोरास्तनुवः ह्न तै.आ. ४।२२

५९. ताभिरमुं गच्छ योऽस्मान् द्वेष्टि ह्न तै.आ. ४।२२

६०. पुरुषो ह वै नारायणः ह्न नारायणोपनिषत् ....

६१. इन्द्र आत्मनः शीतरूरावजनयत् ह्न तै.सं. २।५।४।४

६२. खाता हि वेदिः ह्न ....

६३. नाग्नेर्हि तापः ह्न भाग. ११।२३।५६

६४. न हि दृष्टे अनुपपन्नं नाम ह्न न्यायः ....

६५. चक्षुषः चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रम् ह्न केन.उप. २

६६. किं ज्योतिरयं पुरुषः ह्व बृह.उप. ४।३।४, शतपथब्रा. ११।६।१।१०

६७. वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः ह्व भ.गीता १५।१५

६८. रूपमग्नौ प्रतिष्ठितम् ह्व ....

६९. विश्वस्य भगवान् पिता ह्व ....

७०. मेघाः सूर्योद्भूताः ह्व ....

७१. याभिरादित्यस्तपति रश्मिभिः ह्व महाना.उप.., तै.आ. १०।६३।१६

७२. ताभिः पर्जन्यो वर्षति ह्व महाना.उप...., तै.आ. १०।६३।१६

७३. अन्ते या मतिः सा गतिः ह्व न्यायः ....

७४. प्रजा अनु प्रजायन्ते ह्व तै.सं. ३।३

७५. सदा तद्भावभावितः ह्व भ.गीता ८।६

७६. माता पितामही यस्य तथैव प्रपितामही, तिस्र एककुले जाता अभिशस्तो निगद्यते ह्व ....

वर्णानुक्रमेण फलप्रकरणीय–श्रीमदाचार्यवाङ्मुक्तावलिः

१. अग्निरूपः कामः.

२. अङ्गुल्यादिषु वेणुनादानुगुणतया स्थापयन् दधारेति तृतीयो विशेषः. एतदपि धारणं न गोकुलसंरक्षार्थम्, अन्यथा साधनपरतन्त्रः स्याद्, इन्द्रभयाद् वा तथा कृतवानित्यपि शङ्केत.

३. अज्ञानेन व्यसनैश्च नरकः सिद्धो भवति.

४. अतएव भगवतः सानुरागस्मितं वक्त्रं दृष्ट्वा तदेव पुरुषार्थत्वेन मन्यमाना मुदं ययुः. एतावदेव भक्तकार्यम्.

५. अतो भगवच्चरणसेवातो राज्यमपकृष्टम्.

६. अत्राख्याने त्रिविधा लीला वर्तत इति ज्ञापयितुं भगवतो नामत्रयंह्व भगवत्त्वाच्छास्त्रार्थत्वं, ईश्वरत्वादावश्यकत्वं, विष्णुत्वात् पापनाशकत्वम्.

७. अदित्या भोगरूपं तत्रास्ते. क्रियारूपा त्वंशेन देवकी जाता.

८. अनुवृत्तिर्नामोदासीनेऽपि भगवति तदनुसरणम्.

९. अनृतापवर्गो मोक्षः विशेषेण अप्रार्थितोऽपि भगवता अदत्तोऽपि भगवद्भक्तमुपयाति, भगवच्चरणामोद इव. अनृतस्य भगवत्यपवर्ग एव. तत्र गतः सीमान्ते गत इव तदभावमवश्यं प्राप्नोति. अतो विशेषफलाभावेऽपि मोक्षस्तु सिद्ध एव.

१०. अनेन तेजोवद् भगवदाविर्भावः.

११. अनेन निद्रायामागतायां भक्तहृदये शयानः स्थित इति सूचितम्.

१२. अनेन यमुनायास्तस्याश्च भेदः प्रदर्शितः. पर्वतभावापन्नाद् इयमाधिदैविकी कालिन्दीत्येव नाम्ना विश्रुता उत्पन्ना. सा तु यममुत्पाद्य पश्चात् तद्दोषपरिहारार्थं यमुनामुत्पादितवान्. उभयोरैक्याद् आधिदैविकाधिभौतिकवत् स्थितत्वात् लोके अभेदेन प्रयोगः. नापि तपतीवत शापात् नदीत्वं, पूर्वमेव नदीरूपस्य विद्यमानत्वात्. नाप्याध्यात्मिकं देवतारूपं, तथा सति यमुनापरित्यागासम्भवात्. अनुग्रहनिग्रहयोरेव तदभिव्यक्तेश्च. सर्वथा च भेदकं सूर्यतनयात्वात् लोके प्रसिद्ध्यभावाच्च नास्तीत्याधिदैविकत्वं कल्प्यते.

१३. अनेन स्त्रीणां शापो निरूपितःह्न या भगवत्कथा न शृणोति सा तादृशं पतिं प्राप्नोति.

१४. अन्यथा भक्तिरस एव स्यात्, न कामरसः. प्रथमतोऽनुरागश्चित्ते, ततो हासः भावप्राकट्यम्. ततोऽवलोकनं दृष्ट्या सङ्गः. ततो नवसङ्गमो नित्यं, नित्यनूतनत्वाद् भगवतः. ततो जल्पाः नानाविधाः कथाः. तत उत्थितानां लज्जा कुलवधूभावप्राकट्यम्, अन्यथा अगुप्तो रसः रसाभासः स्यात्.

१५. अयुतं षट्सहस्राणि च. षोडशकलानां सहस्रधा तत्तदधिष्ठात्र्यो देवताः भूमौ प्रतिष्ठिता इति भूमिजेनाहृताः भगवत्प्रेरणया भ्रमात् तदैव च तावत्यः सम्पन्नाः. एता द्विस्वभावा इति ज्ञापयितुं सङ्ख्याद्वयेन निर्दिष्टाःह्न षट्सहस्राण्ययुतं चेति. त‘त्राधिक’पदं षट्सहस्राणामुत्तमत्वाय. ता ह्यप्सरसः देवतात्वात् तद्रूपेण क्रीडार्थं जाताः. ता आदावष्टावक्त्रं स्तुत्वा पश्चादुपहसितवत्य इति ज्ञापयितुं द्विस्वभावत्वं निरूपितम्. अतएवादावन्ते च ऋषिकोपाद् दुःखप्राप्तिः, प्रसादाद् वरणे बुद्धिः.

१६. अवसादस्तत्रैव लयः. भगवानग्रे गत इति तेन मार्गेण जिगमिषया राज्यादिकं विसृज्य, राज्यादिभ्यो भगवद्दर्शनं महदिति तद्वाञ्छया, नृपशिखामणयः अम्बरीषप्रभृतयः वनं विविशुः. भगवति समागतेऽपि ते न

समागता इति पूर्वमपि न व्याघुट्यागता इति पदवीमन्वेव अवसन्नाः भगवन्मार्ग एव मार्गप्रदर्शका इव स्थिताः. अन्यथा भगवन्मार्गो न प्रवर्तेत.

१७. अविद्या भगवन्तं न विषयीकरोति. कालान्तरमेव भगवत्प्राप्तिरिति कालरूपं गरुडं क्षोभयति.

१८. 'असावि'ति तथैव दृश्यते आविर्भूतो वा. तत्राधिकभक्तौ भगवांस्तद्रूपेण भासत इति न काप्यनुपपत्तिः.

१९. आशायोगेनाशा सत्या भवति तदा पूर्णा सति निवर्तते. कामनिवृत्तौ तु निवर्तत एव. विषयदोषदर्शनादपि निवर्तते.

२०. इतः प्रभृत्येवोभयोः शक्तिर्विभक्ता. असम्मतिलीलाप्यन्योन्यं प्रदर्श्यते.

२१. इयं च सृष्टिरूपा माया, नतु मुख्या लक्ष्मीर्ब्रह्मानन्दरूपापि. तस्या एवांशो मायेति न क्वचिद् विरोधः.

२२. इयं भूमिरभिमानिनी देवता, न त्विला भगवच्छक्तिः. सा आधिदैविकी. सत्यभामा त्वाधिदैविकी.

२३. इयं लौकिकी भाषेति नात्र कोऽपि विरोधः शङ्कनीयः. सर्वमेवोत्तरार्धं न समाधिभाषेत्येके.

२४. ईक्षणेनैव चिच्छक्त्याधानमुक्तम्. सम्बन्धस्तु भगवता सह नित्य इतीक्षणमेव विशेषः.

२५. ईश्वरवाक्ये च यावत् सएव स्वाभिप्रायं न प्रकाशयति तावदर्थान्तरं न वर्णनीयम्.

२६. ईश्वरशक्त्योर्विभक्तत्वात् तद्भक्तानामपि बुद्धिर्विभक्तेति अक्रूरभीष्मादीनां भगवद्भिन्नशीलत्वं वर्णितम्, अन्यथोभयविधा न निरुद्धा भवन्तीति. अतो बलभद्रप्रकारेण ये निरुद्धास्ते भगवतो नानुगुणाः भगवता निरुद्धाश्च न बलभद्रानुगुणा इति. अनयोर्विभागे शास्त्रमपि विभक्तमिति ज्ञापयितुं विदेहपदम्. ज्ञाननिष्ठाः प्रियाः बलपक्षे भक्तिनिष्ठाश्चापरत्रेति. क्रियाज्ञानशक्ती एकत्र भक्तिपरमानन्दावपरत्र.

२७. ईश्वराद् भिन्नतया स्थितौ संसारः "ईशादपेतस्य" इत्युत्तरत्र वक्ष्यते.

२८. एते इह आस्थिताः किं, आमरणान्ते किं गृहएव स्थिताः अपि तु वने प्रविष्टाः तत्रैवावसन्नाः? तेन विपरीतार्थे ये गृहे स्थिताः त एवावसन्नाः नतु त इति.

वाञ्छामात्रेण स्वकीयं सिद्धमपि राज्यं परित्यजन्ति वने स्वावसादमपि सहन्ते तत्र भगवन्तं प्राप्य अधमराज्यपरित्यागः किमाश्चर्यमिति भावः.

२९. ऐहिकामुष्मिकफलरागरहितस्तु मत्परायण इति न मत्सेवया सर्वजन्मस्वैहिकामुष्मिकफलसिद्धिः.

३०. औडुलोमिवदात्मानं चैतन्यमात्रं मन्यते साङ्ख्यवद् वा. उभयोर्वैलक्षण्यं जीवत्वब्रह्मत्वकृतम्. सर्वेषामेव दैत्यांशानां तत्पक्षपातिनां च चिन्मात्रपक्ष एव सम्मतः. तत्र केषाञ्चिज्जगत्कर्तृत्वं न भगवतः किन्तु प्रकृत्यादेरिति.

३१. कार्यकारणवैलक्षण्यं कार्यवैचित्र्यं च चिन्तामणाविवात्राप्यध्यवसेयम्. तस्योपादानत्वमविकृतत्वं निमित्तत्वं च पूर्वमेव साधितम्. अतएव जगतः अनुपास्यतापि सिद्धा. ब्रह्मत्वे च जगतस्तज्जलान्तत्वमेव. दृष्टान्तैः स्थितिप्रलयावन्यत्रेति निदर्शनमात्रत्वम्. बहवो दृष्टान्ता एकीभूता भगवति सर्वलक्षणां बुद्धिं सम्पादयन्ति. तर्कमात्रमूलत्वे अप्रामाण्यं स्यादिति दृष्टान्ताभावाच्च श्रुत्यैकसमधिगम्यमेव ब्रह्मेति स्थापितम्. कादाचित्कत्वेऽपि भगवानेव हेतुः. अन्यस्मिन् कारणत्वेन परिकल्प्यमाने या उपपत्तिः सा भगवत्येव सम्पादनीया, सर्वसमर्थत्वाद् ब्रह्मणः. भिन्नाधिकरणत्वे यथा विरोधपरिहारः तथैकाधिकरणत्वेऽपि. युक्त्यपेक्षायामपि पत्र-दारु-निर्यास-पुष्प-फलेषु बीजमेकमेव कारणं सर्वविलक्षणं दृष्टमिति तस्यैव परम्परया साक्षाद् वा कारणत्वमध्यवसीयते तथा श्रुतत्वाद् ब्रह्मणोऽप्यध्यवसेयम्, अवधृतप्रामाण्यवेदात्. तथा सति श्रुतिर्यथार्था समर्थिता भवति. वैयर्थ्यं च स्यात्, प्रत्यक्षानुमानादिभिरेव वैदिकार्थस्यापि सिद्धेः. सङ्केतस्तु निरूपणग्रहणादेव, अन्यथा तत्तन्मते आत्मादिपदानां सङ्केतः अलौकिकार्थानामसङ्गतः स्यात्. अतोऽद्वितीयपुरुष एव आद्यो जगत्कारणम्.

३२. का वा स्त्री तव पादसरोजगन्धमाघ्राय अन्यं लशुनामेध्यरूपमाश्रयेत? अनेनोत्कर्षविषयः तत्र स्वरुचिश्चेति निरूपितम्.

३३. ''किं ज्योतिरयं पुरुष''इति ब्राह्मणे सूर्यादिनिराकरणप्रस्तावे वागपि निराकृता. सुप्तायां वाचि ''किं ज्योतिरयं पुरुष'' इति वाक्यादतः परं ज्योतिर्भगवानेव. तर्ह्येवं सति साक्षात् पुराणपुरुषः परमात्मा देवक्यामवतरिष्यति स एव वेदार्थ इति कथं वेदे न श्रूयते? तत्राह 'गूढं ब्रह्मणि वाङ्मय' इति. वेदैस्तथैव प्रतिपाद्यते परं गुप्तप्रकारेण. अतएव गुप्तत्वाद् भगवानाह ''वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'' इति. तर्हि कथं निश्चये न प्रवृत्तिरित्यत आह 'यं पश्यन्ती'ति. ते हि

प्रथमतो गूढं ज्ञात्वा सूक्ष्मदर्शनार्थममलात्मानो भवन्ति. ततः पाञ्चभौतिकेषु घटपटादिषु आकाशमिव अप्रकटमपि शून्यवत् प्रतिभासमानं सर्वत्र पश्यन्ति. तर्हि सङ्घातप्रविष्टं तं जीवरूपं जानीयुः; तत्राह 'केवलमि'ति नतु सङ्घाताविष्टम्.

३४. क्षत्रियेषु वीर्यवान् महान्. सप्ताङ्गानि क्षत्रियस्य; सर्वत्र तत्सामर्थ्ये महान् भवति. अतः सप्तवृषा दम्यत्वेन स्थापिताः.

३५. जृम्भणाख्यो गणस्तृतीये निरूपितः.

३६. ज्ञाने सर्वे विरोधिनः भक्तौ प्रकृतिरेवेति व्यसनान्येवात्र बाधकानीति तान्येकेन रूपेण दूरीकर्तुमशक्यानीति सप्तविधा साधनशक्तिरुक्ता. अन्यथा त्रिभिरेव प्रेमसम्पत्तौ पादसेवनादीनां वैयर्थ्यमेव स्यात्. सख्यात्मनिवेदने च भगवता स्वधर्मस्थापनार्थं क्रियेते. तत्कृत्वा भगवत्तुल्यः पश्चाद् व्यसनानि समूलं दूरीकरोतीति ज्ञापयितुं स्वयं भगवानत्र सप्तरूपाणि करिष्यति. इयं च भक्तिः पाषण्डे न भवतीति ज्ञापयितुं नग्नजिद्राज्ञः कन्यात्वेन सा निरूप्यते, नग्नान् वेदरहितान् जयतीति.

३७. ज्येष्ठयोर्नमस्कारः समस्यालिङ्गनं सम्भाषणं च. अन्ययोर्नमस्कारानन्तरमाशिषः.

३८. ता हि प्रमाणस्थकामानुसारेण न विवाहिताः किन्तु प्रमेयस्थानुसारेण. स हि पुष्टो निरन्तरश्च नित्यरमणात्मकः. अतो विवाहक्षणमारभ्य यावत्स्थिति नित्यरमणमेव तासु कृतवान्. विधिपरिपालनार्थमेव दशपुत्रोत्पादनं, तदत्र न वक्तव्यं, कामप्राधान्यात्, उत्पादने हि कामः क्षीयत इति.

३९. त्रिलोकस्थितभक्त-रक्षणार्थमवताराः.

४०. देहाभिमानिनां तावदेव तापः यावत् तेऽङ्घ्रिमूलं नासेवेरन्. अनेनान्यथा तापनिवृत्तिर्न भवतीत्यप्युक्तम्. ज्ञानेऽपि तापनिवृत्तौ अङ्घ्रिमूलाश्रयणमेव हेतुरिति किमन्तर्गडुना ज्ञानेनेति भक्तेरुत्कर्षोऽप्युक्तः.

४१. धर्मादयः पुरुषार्थाः त्वदवयवेषु वर्तन्ते यथा गङ्गायां जलम्. ततोऽपि गङ्गा महती; तथा भवानिति मयडर्थः.

४२. धर्मो हि द्विविधःह्न विहितकरणं निषेधपरिपालनं च.

४३. धर्मो हि सहस्रदक्षिणः प्राकृतवैकृतभेदेन दशविधो भवति. कामस्त्रिविध इति सहस्रशो युवतयो दत्ताः. नायिकाभेदेन गुणभेदेन च त्रैविध्यम्ह्न नियतालङ्कृता रसालम्बना इति.

४४. ननु भगवान् निरिन्द्रियो ब्रह्मानन्दरूपायां लक्ष्म्यामेव रमते न त्वन्यत्रेति कथं रमणमित्याशङ्क्याह 'रमाभिरि'ति. यावन्ति भगवद्रूपाणि तावन्त्येव लक्ष्मीः करोतीति तासु लक्ष्म्यास्तावतां रूपाणामावेशः.

४५. न हि क्वचिद् विषयाभावोऽस्ति, श्वादियोनावपि विषयोपभोगस्य दृष्टत्वात्. दुःखं तु विषयसम्बन्धे नियतम्. तारतम्यं त्वप्रयोजकम्.

४६. न हि बह्व्यो मक्षिका यं कञ्चिदपकृष्टमाश्रयन्त इति गरुडाश्रित-भगवत्तुल्यो भवति.

४७. न हि भगवान् रसानुभवार्थं समागतः किन्तु धर्मरक्षार्थं निरोधार्थं च.

४८. न ह्यस्मत्स्वामी जीवैर्निश्चिते ज्ञाते वा प्राकृत इव तन्मन्युं गृह्णाति सात्यकिरिव प्रायोपविष्टं मारयति तक्षक इव वा भक्षयति मृत्युरिव वा हन्ति. तस्मादक्लिष्टकर्मा भगवान्.

४९. नागपाशा अवतारविशेषे भगवतोऽपि तथात्वं सम्पादयन्ति, किमुत तदंशानाम्

५०. निरुद्धं मनः सर्वहेतुर्भवति.

५१. निस्स्वामिकं तु द्रव्यं राजगामि भवति. चोरं हत्वापि यो वस्तुतो न भागी स न द्रव्यं प्राप्नोति परिज्ञातम्. उत्पन्न एव दायभाग्भवतीति न व्यवहितज्ञातेः दायभाक्त्वमिति केचित्. दायं वा साक्षात्स्वामिनि गते तत्स्वामिनमन्वेषमाणं परम्परया शाखामूलपर्यन्तं गत्वा तुल्यतया तच्छाखासु निर्विशति. यं कञ्चिद् वा सर्वानुमत्या पिण्डदातारम्.

५२. पञ्चाप्सरउद्धारे फाल्गुने अनन्तशयने पञ्चाप्सरसां तत्स्पर्शेन मुक्तिप्रतिपादनात् तथात्रापि तत्सम्भाषणात् सा भगवन्तं प्राप्स्यतीति तद्वचनं न दूषणम्.

५३. प्रेमरसस्त्रिविधो भवतिह्न सात्त्विको राजसस्तामसश्च. सात्त्विकस्तत्र पुत्रादिसाधारणः. राजसः स्त्रियामेव धर्मसहितः. तामसस्तु जार एव भवति.

५४. बुद्धिं तु भगवान् स्त्रियमिव सर्वेभ्यो दत्तवान्; पुरञ्जनोपाख्याने तदुपपादितम्. तत् सर्वजीवेषु भिन्नम्, अन्यथा प्रमाणानां वैयर्थ्यं स्यात्.

५५. ब्रह्माण्डे संवत्सरात्मकस्य प्रजापतेरधिकारो दत्तः.

५६. भक्तत्वेऽपि मायायाः कार्यरूपा अविद्येति उत्पत्तिविचारेण स्नेहभङ्गः सम्भाव्यते. ततः प्रपन्नायास्तथात्वे ममापि तथात्वमुचितमिति सर्वथा स्नेहे भग्ने भक्तिमार्गो नश्यतीति भयम्.

५७. भगवच्चरणारविन्दासेवायां न कामः प्रतिबन्धकः किन्तु तच्छक्तिराशा.

५८. भगवतस्त्वीहितं शास्त्रेषु भाववर्णनाज्ज्ञातुमपि शक्यं, तदीयानां तु सुतरामेवाभिप्रायो न बुध्यत इति.

५९. भगवता निरुद्धानां विस्मृतप्रपञ्चानां भगवदासक्तियुक्तानां कालादिभिरुपद्रवे राजसानामुद्वेगो भवतीति फलनिरूपणे तदवश्यं वक्तव्यम्. उपायश्चानेन निरूपितःह्न पराजयसम्भावनायामेतत्स्मर्तव्यम्.

६०. भगवता वीर्यं क्षत्रियेभ्यो दत्तं, यत्किञ्चिदपेक्षितं तद् वीर्येणैव साधनीयमिति.

६१. भगवतो व्यापकत्वं सर्वश्रुतिसिद्धं, गुणानां मायाया वा न तथा.

६२. भगवद्व्यतिरिक्तानामन्यधर्मः प्रवर्तत इति स्नेहभङ्गसम्भवः, शक्तिर्विभक्तेति.

६३. भगवांस्तु सर्वसमः, ''समः प्लुषिणा'' इत्यादिश्रुतेः. यथाकाशः सर्वसमो भवति, न त्वाकाशसमः कश्चित्.

६४. भगवानलौकिकः भगवद्धर्माश्च, अन्यथा भगवतो न किञ्चित्कार्यं स्याद् भगवन्मार्गस्य वा. संसारस्यान्यथैव सिद्धत्वात् तन्निवारकं त्वलौकिकमेव.

६५. भगवानेव सर्वरूपेण विचरतीत्युक्तत्वात् भेदो भिन्नो नान्यः सम्भवति, तत्त्वादिनिरूपकाणां स्मार्तानां विचारकाणामपि भेदो हृदये भासत इति.

६६. भगवान् नान्यत्र रमते यथा भक्तौ रमत इति.

६७. भगवान् सर्वदा स्वस्मिन्नेव रमते; अभितो रमणं तत्रैव. केनचिदंशेन कदाचिदेव कार्ये रमणम्. अतएव तत्कार्याण्यपि घटादीनि कदाचिदेव व्यापृतानि भवन्ति नतु सर्वदा.

६८. मत्सम्बन्धिनः सर्वएव सकामा निष्कामाश्च व्यवहारा निष्कामा एव.

६९. मर्त्या स्वयं मरणधर्मा मरणनिवर्तकमात्मदं भगवन्तमेव सेवितुमर्हति.

७०. माया सर्वभवनसामर्थ्यं शक्तिर्वा काचिदप्रयोजिका, तामपि करणत्वेन स्वीकृत्य इदं सर्वमेव जगदुत्पादयति पालयति नाशयति च.

७१. मार्गमेव भगवतो न जानन्ति, कुतः सेवां करिष्यन्ति? अभिप्रेता हि सेवा कर्तव्या, अभिप्रायस्तु दुर्गमः. तदपि ज्ञात्वा सेवां कृतवत्य इत्यलौकिकं बोध्यते. तत्रापि न विधिकिङ्करतया किन्तु मुदा.

७२. मिथिला नाम मथनाज्जातेति न निर्मितेति कर्मज्ञानोद्भवस्तस्यां सूचितः.

७३. मुरो नाम पञ्चपर्वाविद्याधिष्ठात्री देवता. तस्य पाशाः सर्वापेक्षयान्तरावरणभूताः, ते च दृढाः पूर्वापेक्षयापि.

७४. यः पिण्डदः स रिक्थहारीति.

७५. यथा चतुर्विंशतिवार्षिकः पतिः षोडशवार्षिकी कन्येति.

७६. यथा श्रोत्रं कथा गृह्णाति तथा घ्राणमपि भगवन्तमासेव्य भगवच्चरणारविन्दरजो गृह्णाति चेत् तदा शवं न गृह्णाति. यो हि कमलगन्धमाजिघ्रति स शवगन्धात् विचिकित्सते. विशेषानभिज्ञस्तु काकादिः न विचिकित्सत इति नायं सर्वात्मना भोगरूपः. स्त्रीपदं पतिव्रताव्युदासार्थं, सा हि धर्मार्थमेव भगवद्बुद्ध्या तं भजत इति.

७७. यथा षड्रसापि हरीतकी नीरसैव, निसर्गतः कोऽपि रसः सर्वविलक्षणो न प्रतीयत इति, तथैव भगवान् सर्वत्र सर्वगुणप्राकट्ये कृसरवत् प्रतीयेत. अतो भगवदिच्छारूपया मायया सर्वत्र पूर्णगुणकोऽपि यथाविकारं प्रतीयते.

७८. यदि निषिद्धानां साधनानां प्रयोजकता न स्याद् भगवत्प्रसादे तदा कस्यापि मोक्षो न सिद्ध्येत्. अतः स्वतन्त्रभक्तिविषयं तादृशरूपदर्शनविषयं वा तद्वाक्यमिति मन्तव्यम्.

७९. यदैव भगवान् यस्मिन्नंशे तिरोहित इव भवति तत्रैव भगवत्कृतसम्माननात् मान उत्पद्यत इति स्थितिः.

८०. यद्यपि पापादिना न तेषां भयं तथापि दैत्याः न व्यभिचारिणो भवन्तीति.

८१. यद्यपि भवान् सर्वत्र एक एव पूर्णगुणश्च तथापि यावन्ति रूपाणि जगति प्रसिद्धानि घटपटादीन्यपि तत्र कारणे विचार्यमाणे भगवानेव स्वस्यैकमेकं धर्मं मुख्यतया परिगृह्य तथाविधो जात इति मन्तव्यम्.

८२. यावन्तो भगवदपराधकर्तारः ते सर्व एव क्षेमात् प्रच्युता दृष्टाः.

८३. या ह्यनन्यभक्ता सा सर्वं प्राप्नोतीति. एकान्ते वा भजते साप्यपेक्षितं कामसुखं प्राप्नोतीति.

८४. ये केवलमैहिकसम्पद एव प्रार्थयन्ति ते मन्दभाग्याः. यथा मन्दभाग्यो निधिमपि प्राप्य पाषाण इति पदा प्रक्षिपति. एतन्मन्दभाग्यस्य लक्षणम्.

८५. ये त्वच्चरणरजसा जातदेहाः त्वच्चरणरजोभिलाषिणो वा त्वामुपासते तेषामपि वर्त्मास्फुटम्. स्फुटत्वे तु तैः प्रतिबन्धान्न मननं सिद्ध्यति. यथा कालं वञ्चयित्वा भगवान् भक्तान् नेष्यत्यभिप्रेतानेव तथा तेऽपि गुप्ताश्चरन्तीति त्वदुपासकाः कर्मिणोऽपि गुप्ता भवन्ति; सुतरां चरणोपासका ज्ञानिनः, सुतरामपि पादपद्मोपासका भक्ताः. तत्रापि भक्तिरसाभिज्ञा मकरन्दनिषेवकाः, तं रसमन्यो ग्रहीष्यतीति.

८६. ये हि वैदिककर्मपरा धर्मपरा वा ते ह्यक्षज्ञा भवन्ति. बलस्यानुभयरूपत्वात् युक्तमेवाक्षाज्ञानम्.

८७. ''यो यच्छ्रद्धः स एव सः'' इति भगवान् कृष्णः पञ्चात्मकः शब्दार्थशक्तिभक्तक्रीडाधारभूतः. अतो व्यासो भगवान् कालिन्दी अर्जुनो द्रौपदी चेति.

८८. रजसा हि भगवदीयं शरीरं भवतीति पूर्वमुक्तम्. तदा भगवान् निःसन्दिग्धं प्राप्यते. स्वतन्त्रा भक्तिर्वा भवति. तत्रापि शिरसि बिभ्रति, एतच्छरीरवियोगे प्रथमं तत एव देहारम्भकाः परिष्वङ्गं कुर्वन्तीति. लक्ष्म्या अपि भगवदवतारेषु अवतारोऽपेक्षित इति सर्वेष्वेव देहेषु यथा भगवत्सम्बन्धो भवति तदर्थं मृग्यमेव. ब्रह्मादीनामपि स्वाधिकारसमाप्त्यनन्तरं यथा तथा भवति तदर्थं धारणं पुनरधिकारनिवृत्त्यर्थम्.

८९. रुद्रेण प्रेरितास्तास्तनुव एकीभूता ज्वरत्वमापन्ना भगवत्समीपं गताः.

९०. रोहिणी षोडशसहस्राणां शताधिकानां मुख्या. क्वचिदेषैवाष्टमहिषीमध्य इति भद्रायाः स्थाने मन्त्रशास्त्रे प्रसिद्धा. तस्या दीप्तिमान् पुत्रः अष्टमहिषीपुत्रतुल्यः. तेनैकाशीति पुत्राः एकाशीति भक्तिप्रकारा इव भगवता प्रकटीकृता इति द्योतितम्.

९१. वरस्य वा विवाहसमये समागतस्य यथोपचाराः क्रियन्ते मधुपर्कादिः पाणिग्रहणादिर्वा. ततः पादप्रक्षालनं ततस्ताम्बूलदानं ततो विश्रमणं पादसंवाहनं ततो वीजनं व्यजनादिभिः ततो गन्धमाल्यादिदानम्. ततः स्वेच्छयोपविष्टस्य माल्यादिग्रथनार्थं केशप्रसारः ततः शयनं ततः कामे तृप्ते स्नपनं ततः उपहारः भक्ष्यभोज्यादिदानम्. कामार्थमेव हि स्त्रीगृहे गमनं नतु भोजनार्थम्. अतः कामानन्तरमेव भोजनं युक्तम्, अन्यथोभयमपि विरसं स्यात्. एवं द्वादशधोपचाराः प्रत्यहं कर्तव्याः द्वादशधा मनसो वृत्तिपूरणार्थम्.

९२. वस्तुतस्तु भगवान् सर्वसंसारनिवारकः नतु संसारप्रदः.

९३. विद्यमाने भगवति भगवद्धर्माणां प्रयोजकता न स्यात्.

९४. व्रतैर्भगवन्नियमैः यैर्भगवान् वशे भवति तादृशैश्चेद्धृतः तदा अस्मदधीन इति मे निर्दुष्टा आशिषः सत्याः करोतु. अनेन लोकप्रतीत्या गोपिकासु अन्यादृश्योऽप्याशिषः सत्याः करोतीति सूचितम्.

९५. शब्दस्य त्रेधा वृत्तिःह्न मुख्या गौणी तात्पर्यवृत्तिश्चेति. लक्षणागौण्योस्त्वभेदः तात्पर्ये वा अन्तर्भावः.

९६. स ज्वरो रुद्रोऽष्टमूर्तेः शिवस्य कलारूपः.

९७. सन्तो हि निस्सन्दिग्धा भवन्ति, भगवद्वाक्यविश्वासेन प्रवर्तन्ते.

९८. सप्तभिर्मिलितैर्जये सप्तानां सा भवतीति वैदिके पक्षे स निषिद्ध इति नग्नजिता न क्रियते, ''तस्मात् नैका द्वौ पती विन्दत'' इतिश्रुतेः. वार्क्षीद्रौपदीप्रभृतिषु ''ते दश प्राणाः एते चेन्द्राः पञ्चमुखो वा महादेवः'' इति कालवशात् पुष्टिवशाद्वा प्रलयात् पूर्वमेवं भवतीति न मर्यादायामेवं कर्तुं युक्तम्. तस्माद् भक्तिर्भगवतैव प्राप्तव्या. ज्ञानेन च भगवत्त्वमिति पूर्णबोधा एव भगवद्भक्ता भवन्ति.

९९. सेवा तदपेक्षिता कामकृता, दास्यं साधारणमिति विशेषः. स्त्रीत्वं भक्तत्वं च देहमन्तःकरणं च कृतार्थीकृतवत्य इत्यर्थः.

१००. स्त्रीणां मुख्या लक्ष्मीः सम्पत्तिरूपा च. तस्यास्तदेव गृहमिति स्त्रीभिः सर्वाभिस्तत्रैव स्थातव्यम्.

१०१. स्वरूपतः फलतः साधनतश्चेयं भक्तिः सत्येति. अतएव वेदविरुद्धमतेषु अधमेषु कर्मविहीनेषु भक्तिः सत्या न भवतीति द्योतितम्. उत्कर्षवादा एवातोऽन्यथा. अन्यथा भक्तिशास्त्रं व्यर्थमेव स्यात्, सहस्रशो भगवदंशा दृष्टप्रत्ययान्यपि सम्पादयन्तीति शास्त्रे अनुक्ता भक्तिः न भक्तिरिति. भगवत्साक्षात्कारात् पूर्वमेवैषा व्यवस्था. सा च देवतारूपा अलौकिकी कन्या न कमपि भगवदंशं गृहीत्वा स्थिता. असाधारणी मूलभूतेनैव ग्राह्या, न केवलम्. यतो भक्तिः प्राप्यते सएव वेदानुसारी. किन्तु यत्रापि तिष्ठति तेनापि तथा भाव्यमिति.

।।तृतीयं परिशिष्टम्।।

श्रीहरिरायाणां प्रकीर्णस्वतन्त्रलेखाः

(१)

।।वासुदेवकलानन्त... (भाग.पुरा.१०।१।२४)इत्यस्य विवरणे।।

सात्त्विकेषु इत्यादि. तत्र अयम् आशयो : मूले **अग्रतो भविता देवो हरेः प्रिय चिकीर्षया** इति उक्त्याः प्रथमतः पुरुषोत्तमसेवासाधनार्थं संकर्षणस्यापि स्वाधिदैविकसहितस्य पूर्णस्यैव आविर्भावो वाच्यः. तथाच तादृशस्य तस्य आविर्भावनिरूपणार्थं मूलस्थ'वासुदेवा'दिपदानां तात्पर्यविषयीभूतम् अर्थम् आचार्यचरणाः कारिकाभिः निरूपयन्ति **सात्त्विकेषु** इत्यादि. अत्र 'वासुदेव'पदेन संकर्षणव्यूहएव अनन्ताधिष्ठाता उच्यते नतु वासुदेवव्यूहः, तस्य तदधिष्ठातृत्वानुपपत्तेः. नहि अनन्तो वासुदेवकला भवितुम् अर्हति, प्रलयकर्तृत्वात्; तस्य च संकर्षणकार्यत्वात्. 'वासुदेवा'भिधत्वन्तु संकर्षणस्य सात्त्विकपुराणार्थप्रतिपादकतया **''यद् वासुदेवाभिधम् आमनन्ति''** (भाग.पुरा.३।८।४) इति वाक्येन श्रीभागवतएव तत्कल्पाधिष्ठातृविष्णुरूपस्य(त्वम्!) उक्तं, तस्यैव अनन्ते स्वकलारूपे अन्तःप्रवेशयोग्यत्वात्. यत्रच एकजातीयकार्यकरणम् आविश्य उभाभ्यां तत्रैव आधिदैविकाधिभौतिकभावः प्रेरकत्वविशेषेण हि आधिदैविकत्वं, तस्य **''पुरुषश्च आधिदैवतम्''** (भग.गीता.८।४) इति वाक्येन पुरुषरूपत्वेन चेतनतया तथात्वात्. अनन्तत्वादेव तस्य कालरूपत्वं च इति तद् उक्तं **कालात्मा च स विज्ञेय** इति. **''अनन्तश्च अस्मि नागानाम्''** (भग.गीता.१०।२९) इति वाक्येन अनन्तो नागविशेषः कालस्यापि तदेव रूपम् इति 'अनन्त'पदेन तत्र संकर्षणे तथात्वम् उच्यते इति अर्थः.

(२)

।।आत्मानम् इह सञ्जातम् (भाग.पुरा.१०।१।६८) इत्यत्र।।

ननु **''ये-ये हताः...''** (पाण्ड.गीता.२३) इति वाक्यात् कालनेमेरपि अमृतमथने भगवद्हस्तहतत्वेन मुक्तत्वात् कथं पुनः दैत्यदेहसम्बन्धः इति तत्र उच्यते : आसुराणां या मुक्तिः सा केनचिद् धर्मेण भगवत्सम्बन्धितया भागवतत्वे सति भवति नतु अन्यथापि, **'माम् अप्राप्यैव''** (भग.गीता.१६।२०) इति

गीतायां प्रभुवचनात्. एवं सति कालनेमेः क्रोधस्य देवविषयत्वेन तेनापि भगवत्सम्बन्धित्वाभावाद् न मुक्तिः. अतएव मुक्त्यर्थमेव कंसावतारे भगवद्द्वेषः. अतएव हि देवपार्ष्णिग्राहेण भगवता इति वदद्भिः आचार्यैं विवरणे अयमेव अर्थो असूचि. ननु तथापि **''ये ये हता''** (तत्रैव) इति वाक्यं विरुध्येत तत्र भगवद्धस्तहतत्वमात्रस्य मुक्तिसाधकत्वोक्तेः इति चेद् न, अग्रे तस्मिनेव वाक्ये क्रोधस्यापि भगवतो वरतुल्यत्वेन उक्त्या यत्र भगवान् क्रोधं करोति ते मुच्यन्ते. स च क्रुद्धेष्वेव सम्भवति **''ये यथा मां प्रपद्यन्ते''** (भ.गी.४।११) इति प्रतिज्ञानात्. तथाच यत्र अन्य साहाय्यकरणार्थं मारयति तत्र तेषां भगवति क्रोधाभावेन भगवत्सम्बन्धित्वाभावात् भगवतश्च तेषु क्रोधाभावाद् न मुक्तिः. अतो यथा कथंचिदपि भगवत्सम्बन्धएव मुक्तिः इति निरूपितम्. तस्मात् कालनेमेः तदभावाद् न मुक्तिः. अतएव तृतीयस्कन्धे उद्धववाक्यं **''मन्ये असुरान् भागवतान् त्र्यधीशे संरंभमार्गाभिनिविष्टचित्तान्''** (भाग.पुरा.३।२।२४) इति.

ननु शिशुपालादयः कथं भगवति क्रुद्धाः तद्हस्तहताः पुर्नजन्मभाज इति चेत्, न, भगवतः पूर्वमेव ''जन्मत्रयेण एते मां प्राप्नुवन्तु'' इति इच्छावत्त्वस्य मुक्तौ प्रतिबन्धकत्वात्. पुष्टिपथस्थापनार्थं प्रकटस्य प्रभोः इच्छैव मुक्तौ तत्प्रतिबन्धे च नियामिका मन्तव्या इति दिक्.

(३)

।।तथा न ते माधव (भाग.पुरा.१०।२।३३) इत्यत्र।।

ननु विकर्मसाहित्ये भक्तिमार्गे भगवद्भावस्य तेन अस्तगमनात् निरीश्वरसांख्यमार्गइव अत्रापि पातः स्याद् इति आशंक्य उत्तरम् आहुः. रात्रावपि इत्यादिना **'माधव'**इति सम्बोधनपदतात्पर्यार्थिकथनेन **माधव तावका** इति पदसमभिव्याहारेण लक्ष्मीपतेः सेवकाः इति उक्तम्. तथाच लक्ष्मीपतेः भगवतो **रात्रावपि** विलासेन रात्रिंदिवं तस्य सेवकापेक्षासत्त्वात् तत्सेवकानां सर्वदा सेवापरत्वाद् गृहदासानामिव सेवायां प्रभुदर्शनं सिद्धमिति तद्दर्शने भावोद्बोधके सदा सति न भगवद्भावास्तमयसंभावनेति न पातसंशयोऽपि कारणाभावात् प्रत्युत विकर्मएव स्वकार्यजनने असमर्थं सत् तद्दर्शनेन निवर्त्तते **''क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ''** (मुण्ड.उप.२।२।८) इति श्रुतेः इति भावः.

सेवापरत्वाभावेतु दर्शनं न भवेदपि ।।
केवलोपासकानां तु रात्रौ पूजाद्यसंभवात् ।। १ ।।
उद्बोधकं दर्शनं हि तदभावाद् हरौ रतिः ।
अनुद्भूता यदैव स्यात् छिद्रं प्राप्य तदा पुनः ।। २ ।।
विकर्म कुर्यात् तद्भावतिरोभावश्च शक्तितः ।
यथा सदौषधाप्राप्तौ रोगः प्रबलतां गतः ।। ३ ।।
कुर्यादेव निजं कार्यं तत्प्राप्तौ नश्यति स्वयं ।
अतो हि सर्वदा स्वामिदर्शनं भाववर्धकं ।। ४ ।।
यथा स्यात् तादृशं यत्नं कुर्यात् स्वार्थविचक्षणाः ।
सतु सेवैव तत्रापि स्वामिनीसहितस्य हि ।। ५ ।।
तदा रात्रावपि हरेः सेवकापेक्षणाद् रतौ ।
सदा तद्दर्शनं कृष्णसेवायाम् आनुषंगिकम् । ६ ।।
भावो भावोद्बोधहेतौ कथम् अस्तं गमिष्यति ।
न ह्यग्निः तृणकाष्ठादिसम्बन्धेऽस्तं प्रयाति हि । ७ ।।
तदा विकर्म किं कुर्यात् निर्बलं सत् तिरोभवेत् ।
भगवद्भावदहनात् तूलवत् क्षणमात्रतः ।। ८ ।।
''स्वपादमूलं भजतो... धुनोति हृदयस्थितः ।
विकर्म'' नेतरस्येति श्रीभागवतवाक्यतः ।। ९ ।।
तस्मात् तत्सेवैव कर्त्तव्या लीलायुक्तस्य सर्वदा ।
विकर्मसहितेनापि नान्यथा तस्य नाशनम् ।। १० ।।
इति श्रीमन्निजाचार्यहार्दं तैः प्रकटीकृतं ।
कृपया तत्पदांभोजदासैः बौद्धव्यम् उत्तमैः ।। ११ ।।

(४)

।। अथ सर्वगुणोपेत (भाग.पुरा.१० ।३ ।१) इत्यत्र ।।

'अथ' शब्दस्य आनन्तर्यार्थान्तरोपक्रमाभिधार्थद्वयमपि अभिप्रेतम् इति ज्ञायते. **अथ तदनन्तरमेव...तदैव सर्वगुणोपेत** इति आचार्योक्तेः, टिप्पण्यान्तु कालस्वरूपव्याख्यावसरे भिन्नप्रक्रमार्थोऽपि व्याख्यातइति विवृतिटिप्पण्योः अविरोधः इति अर्थः ।।

(५)

।।दासीनाम् (सुबो.कारि.१०।३।८।१)इत्यादिना।।

ननु साक्षात् पुरुषोत्तमप्राकट्यम् **आविरासीद्** इत्यनेन उच्यते. तत्र प्रथमाध्याये **त्रिविधानां भक्तानां त्रिविधगुणा भक्ताहितप्रदाः** (सुबो.कारि.१०।१।मंग.२४) इति उक्तेः सगुणं दुःखहेतुत्वेन उक्तं नतु गुणातितं केवलभगवदर्थकं तत् कथं साक्षात्पुरुषोत्तमाविर्भावहेतुः भविष्यतीति हेत्वभावात् कथं तदाविर्भावः इति आशंक्य कारिकया एकया तद्धेतुनिरूपणपूर्वकम् आविर्भावं निरूपयन्ति दासीनाम् इत्यादिना. अत्र अयम् आशयः : हरिः हि रसात्मा **''रसो वै सः''** (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुत्या तथा निरूपणात्. सच भावएव स्थायी. **''स्थायिभावो रसः स्मृतः''** इति तच्छास्त्रे निरूपणात्. सोऽपि गोपिकानामेव श्रुतिरूपाणां तासामेव भगवते तद्वत्त्वेन श्रवणात्. अतएव वरदानसामयिकदर्शनानन्तरं तदनुभवमनोरथः, तस्य भावकार्यत्वात्. नहि भावरहिताः तदनुभवमनोरथं कुर्वन्ति कुमारिकाणां ऋषित्वेन तत्सम्बन्धात् तज्जातीयभावोत्पत्तिः. अतएव परोक्षे कोशलेन्द्रद्वारा परम्परया एतदङ्गीकारो महापुरुषद्वारैव. अतएव अयोग्यशरीरत्वात् तासां कात्यायिनीप्रवेशेन योग्यस्त्रीभाववत् शरीरसंपादनं, न श्रुतीनां तासां सहजाप्राकृतस्त्रीत्वात्, नामात्मकस्य प्रभोः लक्ष्मीसमानत्वात्. प्राग्भवीयपुंभावोपि प्रभुणा अंगीकृतत्वात् पूतनाप्रवेश-स्वांतरानयन-यशोदास्तन्यपान-गोपिकागृहदधिदुग्धादिभोजन-भक्ति रसालोडितमृत्स्नाभक्षणादिभिः स्वामिनीप्रवेशयोग्यतासंपादनेन तासां सफलीकृतः. अन्तःगृहगोपिकास्तु मुख्यासु प्राकृतदेहाद्यभावज्ञापनाय कामरसानुभवकर्त्रा भगवतैव तथा स्थापितेति तेन प्रकारेण तासां प्राकृतशरीरनिवृत्तिः. सायुज्यस्य सततं संयोगरूपस्य फलस्य तत्र देयत्वात्. एतेन प्राकृतशरीराणां स्त्रीणां पुरुषाणां तत्सम्बन्धिनां साक्षात् परम्परया वा पुष्ट्यङ्गीकृतौ प्रसादरूपशक्तिप्रवेशेन वियोगेन वा प्राकृतशरीरपरावृत्तावेव यथाधिकारं फलसिद्धिः भवति इति उक्तम्. परम अत्र एतावान् विशेषो यत्र प्रसादरूप-शक्तिप्रवेशः तत्र तनुनवीनकरणेन

अलौकिकस्त्रीभावसंपत्त्या केवलभावात्मकस्य लीलाविशिष्टस्य प्रवेशः. तस्य च सर्वात्मभावे बाह्याभ्यन्तरभेदेन अनुभवः. यत्र पुनः कामभावेन वियोगः तेन च शरीरनिवृत्तिः तत्र भगवति प्रवेशेन तद्रूपलक्ष्मी-सदृशस्त्रीत्वापत्त्या केवलसंयोगेन बाह्ये अनुभवः. फलं तु स्थलद्वयेऽपि सर्वभाव-लभ्यमेव तथापि प्रसादरूपशक्तिप्रवेशे संयोगपुष्टेन वियोगेन रसानुभवः पूर्णः, सायुज्येतु अर्धएव वियोगरसाभावे रसस्य अपूर्णत्वाद् इति भावः. अतो मुख्यः श्रुतिरूपस्वामिनीभावः इति भावः. ताएव वरं वितीर्य पुष्टिमार्गप्रवेशाय प्रथममेव आविर्भावितेति तद्दुःखेनैव तासामेव अर्थे मूलरूपाविर्भावः इति गूढाभिसन्धिना श्रीमदाचार्यचरणा निरूपयन्ति **दासीनाम्** इति.

अयम् अर्थः : दासीनां निरन्तरगुणवर्णनपरतया परोक्षे सर्वात्मभावेन प्रत्यक्षेऽपि दास्यं प्राप्तानां श्रुतिरूपस्वामिनीनां तादृशं यादृशं प्रथमाध्याये द्वितीयाध्याये प्रादुर्भावनिमित्तम् अर्थाद् दुःखं महत् सर्वेषां निरूपितं स्वामिनीनां तादृशं नतु तत्. एतस्य दुःखस्य केवलभगवद्विषयत्वेन गुणातीतत्वात् तन्निमित्तीकृत्य सर्वरक्षायाम् अनिमित्तमपि करुणया निमित्तीकृत्य मम भावात्मकभक्तिरूपतदास्यस्य स्वामिनीनियामको निदेशदानेन आविर्भाव्य स्वस्वरूपलीलादिप्रकटीकर्तृत्वाद् एतादृशो मूलरूपः प्रभुः आविर्भूतो न निमित्तान्तरेण अन्यदुःखेन इति. अतएव उक्तम् आचार्यैः प्रभुभिश्च **''स्त्र्यर्थमेव प्रादुर्भूतो भगवान्''**. गोपिकानामेव भावरूपः तदर्थमेव च कोटिकंदर्पाधिक-लावण्यं प्रकटीकृत्य प्रकटः 'कृष्ण'पदार्थइति. ननु एवं पूर्वोक्तभक्तदुःखस्य हेतुत्वकथनम् अनुपपन्नमेव इति चेत् तत्र आहुः. **सर्वरक्षार्थम्** इति पूर्वोक्तानामपि त्रिविधानां भक्तानां रक्षाऽपि अनेनैव आविर्भावेन स्वतः स्वांशैश्च कंसादिकालाज्ञानजन्यदुःख-निवारणेन कृतेति तद्दुःखस्यापि हेतुत्वोक्तिः स्वामिनीदुःखस्य गूढभावरूपत्वेन अस्पष्टत्वाद् अनुक्तिः तथापि चन्द्रदृष्टान्तेन रसात्मकतया तापहारकत्वं तत्रैव सिद्धमिति स तापो अस्मत्प्रभुभिः निमित्तत्वेन स्फुटीकृतः. एवं सति अत्र अवतारे सर्वांशसत्त्वाद् यथायोग्यम् अनेनैव रूपेण सर्वरक्षाकृता इति ज्ञेयम् इति भावः. अतएव उक्तम् आचार्यैः **''स्त्रीणाम् अत्र विशेषतः''** (सुबो.१०।१।१७) इति. विशेषस्तु केवलधर्मिरूपेण इति बोध्यः. नच एवम् अनेनैव रूपेण सर्वांशसहितेनापि सर्वरक्षाकृतौ केवल-धर्मिणि सर्वविषयत्वं स्यात् तथाच श्रुतिविरोधः **''परांचि खानी''** (कठोप.४।१) इति

श्रुत्या तन्निषेधाद् इति आशंक्य आहुः नैश्चित्यं वाची यथा पूर्वं मूलरूपाप्राकट्यदशायां सर्वरूपेण सर्वात्मकस्य सर्वत्र सत्वेऽपि न इन्द्रिय सामर्थ्येन दृश्यत्वं ''**परांचि खानी**' इति श्रुतेः स्वेच्छया दृश्यत्वं ''**कश्चिद् धीरः...**'' (तत्रैव) इति श्रुतेरिति तत्र नैश्चिक्त्यम् अविरोधः तथा एतत्प्राकट्यदशायामपि यत्र यत्र यद्रूपदर्शनेच्छा तत्र तद्रूपस्य तद्विषयत्वमिति न मूलरूपस्य सर्वदृग्विषयत्वम् अतो न श्रुतिविरोधः इति अर्थः. एतेन ''**सर्वदृग्विषयत्वाद् नेदम् उपनिषत्प्रतिपाद्यं मूलरूपम्**'' इति बहिर्मुखोक्तिः परास्ता. अतएव नन्दमहोत्सवे गोपिकानामेव भगवति ''**अजनम् उज्जगुः**'' (भाग.पुरा.१०।५।१२) इति वाक्याद् अजनत्वस्फूर्तिः न अन्येषां तद्भावात्मकस्य अन्यविषयत्वाभावात्. नहि स्वभावो अन्यविषयो भवति. विवृतञ्च तथैव आचार्यैः ''**सहि भगवान् तत्र न जात इति ताभिः ज्ञातम्**'' (सुबो.१०।५।१२) इति. अतएव शुकोऽपि ''**नन्दस्य व्रजम् आगते**'' (भाग.पुरा.१०।५।१३) इति अग्रे उक्तवान्. अजत्वोक्तिस्तु सहजभावरूपत्वेन उपनिषद्भिरैव ''**यद् वै तत् सुकृतं रसौ वै सः**'' (तैत्ति.उप.२।७) इति वाक्येन तथा प्रतिपादनात्. अतएव ''**मल्लानाम् अशनिः**'' (भाग.पुरा.१०।४०।१७) इति श्लोके शुकेनापि भगवति प्रकारभेदेन सर्वेषां दर्शनम् उक्तम्. एवं सति सावरणे रूपे यो अस्मत्स्वामिनीभावरूपः सः न अन्यविषयः इति बोध्यम्. अतएव ''**का स्त्री अंग ते**'' (भाग.पुरा.१०।२६।४०) इत्यादिवाक्यानि. सर्वत्र तथात्वे प्रामाण्योच्छेदापत्तिः. तथाच प्रकृतावपि यद्भावेन कृपया प्राकट्यं तद्विषयत्वमेव प्रभोरिति न अभेदेन प्रतिकृतिभजनेऽपि श्रुतिविरोधसम्भावना इति भावः.

निजाचार्यकृपालेशानुभावेन निरूपितः।
पुष्टिमार्गानुगैः ग्राह्यो गूढस्तत्कारिकाशयः।।

(६)

।।तम् अद्भुतम् (भाग.पुरा.१०।३।९) इत्यस्य व्याख्याने।।

पुनरैश्वर्यादयो वैदिकाइति. अत्र अयं भावः : भगवतः ऐश्वर्यादयो मर्यादापुष्टिभेदेन स्वरूपे कार्यार्थं द्विविधा धर्मरूपाः धर्मिरूपाः च सच्चिदानन्दवत्. तत्र प्रथमा यथा १.कालादिनियामकरूपम् ऐश्वर्यं

२. ब्रह्मांडधारकत्वं वीर्यं, ३. वेदब्रह्मादिस्तुत्यत्वं यशः, ४. माहात्म्यज्ञानजनिका अलौकिकी शोभा श्रीः, ५. सर्वज्ञत्वरूपं ज्ञानं, ६. सर्वत्रसर्वकरणेऽपि तत्र सत्त्वेऽपि ततो निर्लेपत्वं वैराग्यं, तथा पुष्टिमार्गीयाऽपि ते षट्, तत्र १. आत्मारामत्वसत्त्वेऽपि सर्वभावेन रमणकर्तृत्वम् ऐश्वर्यं, २. भक्तानां एकस्यामेव लीलायां निमग्नानां ततो पृथक्कृत्य द्वितीयतृतीयलीलानुभावकत्वं वीर्यं, ३. स्वविरहेण आर्त्तानाम् आर्त्तिनिराकरणपूर्वकम् अदेयस्वरूपामृतदानेन तैः स्तूयमानत्वं यशः, ४. स्वामिनीसाहित्यजनित शोभावत्त्वं श्रीः, ५. स्वामिनीविरहेण मूर्छादौ सखीवचनैः प्रबोधेन रमणमात्रविषयकज्ञानेन ज्ञानवत्त्वं, ६. पुष्टिमार्गीयभक्तातिरिक्ते तदसम्बन्धिनि च रागाभावो वैराग्यम्. एवं द्विविधेषु ये धर्मरूपा मर्यादामार्गीयाः ते कदाचिद् कार्यार्थम् अन्यत्र अपि भवंति यथा बलं वा ऐश्वर्यं "**युक्तं भगैः**" (भाग.पुरा.२।९।१६) इति वाक्यात्. अतः ते अन्यगताः संतो लोके निरूपयितुं शक्यत्वात् लौकिकाः इति उच्यन्ते. द्वितीयास्तु स्वरूपमात्रगताः वस्तुतः स्वरूपमेव. "**प्रकाशाश्रयवद् वा तेजस्त्वाद्**" (ब्र.सू.३।२।२८) इति न्यायेन करचरणाद्यवयवेष्विव तेष्वपि भेदेन व्यवहारः. अतएव पञ्चाध्यायाम् ऐश्वर्यादिरूपत्वं प्रभुभिः "**काचित् समं मुकुन्देन**" (भाग.पुरा.१०।३०।१०) इत्यादिवाक्यैः स्वामिनीनामेव उक्तम्. तास्तु प्रभुस्वरूपमेव "**भवतीनां वियोगो मे नहि सर्वात्मना**" (भाग.पुरा.१०।४४।२९) इति वाक्यात्. भवतीनां सर्वात्मना इति आचार्यचरणैः तत्र अन्वयनिरूपणात्. तेतु पूर्ववद् न अन्यत्र केवलाः प्रादुर्भवंति किन्तु हृदयादौ लीलाविशिष्टप्रभुस्वरूपाविर्भावे तद्गतत्वेन धर्मिरूपत्वात्. अतएव "**बभूव प्राकृतः शिशुः**" (भाग.पुरा.१०।३।४६) इत्यत्र रूपांतरस्वीकृतौ तेषां तद्गतानाम् आविर्भावः. अतएव "**भगवान् आत्ममायया**" (तत्रैव) इत्यत्र '**भगवत्**'पदम्. वसुदेवस्य तादृग्धर्मविशिष्टस्वरूपदर्शनन्तु न धर्मप्राकट्येन किन्तु तत्र तत्सत्तया मौनिपंडितदर्शनवत् तेषां स्वामिनीरूपत्वेन अत्र तल्लीलानाविर्भावाद् अप्रकटनीयत्वाद् विशेषणत्वेन तन्निरूपणात् तद्विशिष्टप्रभुदर्शने वसुदेवस्य न साक्षात् तद्दर्शनम्. एवं सति धर्मरूपाणां तेषां स्वरूपतो अलौकिकत्वेऽपि कदाचित् लोकेऽपि प्राकट्यात् लौकिकत्वमपि. धर्मिरूपाणान्तु "**तं तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि**" (बृह.उप.३।९।२६) इति श्रुतेः श्रुत्यैकसमधिगम्यत्वात् वैदिकत्वमेव इति सुष्ठूक्तं आचार्यैः पुनर् ऐश्वर्यादयो वैदिकाः इति. न "**अत्र पुष्टिमार्गीयेषु तेषु कथं वैदिकत्वोक्तिः आचार्याणाम्**" इति दासैः संशयितव्यं कदाचिदपि

इति संक्षेपः. वस्तुतस्तु, श्रुतिरूपस्वामिनीभावैकविषयत्वेन तेषु वेदवेद्यत्वात् वैदिकत्वं च कदापि (न) व्यभिचरति इति भावः.

(७)

।।आत्मनः साकाशाज्जातः पुत्रएव अयम् इति नन्दस्य बुद्धिः (सुबो.१०।५।१) इत्यत्र ।।

''**पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृहएव मायया सह जात**'' (सुबो.१०।२।१६) इत्यत्र साक्षाज्जननिरूपणाद् अत्र बुद्धिनिरूपणं ग्रन्थे परस्परविरुद्धमिव भाति इति चेद्, उच्यते. अत्र हि केवलो रसात्मको भावात्मा श्रुतीनाम् अग्निकुमाराणां (च) अनुग्रहाय आविर्भूतः तस्य च जननं भावेनैव. तापेन तथाभावोत्पत्तौ तत्प्रादुर्भावात्. नात्र अवतीर्णस्येव प्रद्युम्नांशेन जननम्. अतएव ''**अथ एनम् आत्मजं वीक्ष्य**'' (भाग.पुरा.१०।३।२३) इत्यत्र श्रीदेवकीनां न बुद्धिनिरूपणं तत्र प्रद्युम्नांशेन जननात्. अतएव तत्र वंशसम्बन्धः. प्रकृतेतु भगवतो भावात्मकत्वात् तथाभावएव तेषां प्रादुर्भावः इति सूष्ठूक्तम् आचार्यवर्ये नन्दस्य बुद्धिः इति न अनुपपत्तिः काचित्.

(८)

।।भगवद्भावस्य (सुबो.१०।५।१२) इति ।।

अलौकिकस्फूर्त्या भगवति भावः स भगवद्भावः. एतच्च निबन्धे ''**तस्य देवस्य सेवा**'' (त.दी.नि.१।४) इत्यत्र निरूपितम्. ''**न मनुष्यत्वेन ज्ञातव्यः**'' (त.दी.नि.प्र.१।४) इत्यादिना. सच जननज्ञाने न संभवति अतएव अन्येषां नन्दसम्बन्धिनां तद्गृहे पुत्रोत्पत्तिः अभूद् इति तत्सम्बन्धेन उत्साहवशाद् आगतत्वेन वस्तुतः तत्र भावे भगवतः सत्त्वेऽपि भावो अलौकिकएवेति तत्स्फूर्तिसत्त्वात्.

सर्वात्मभावएव भगवद्भावः. स एतासामेव सिद्धो जननाद्यस्फूर्तिः आविर्भावएव अस्फुरद् न जननम्. अतएव ''**अजनम् उज्जगुः**'' (भाग.पुरा.१०।५।१२) इति उक्तम्. एतदेव विवृतं सहि भगवान् इत्यादिना. ''**यशोदायाः सुतोद्भवं**'' (भाग.पुरा.१०।५।९) इत्यत्रापि श्रीशुकैः तद्भावानुवादे उद्भवएव उक्तो नतु ''**नन्दस्त्वात्मज उत्पन्न**''

(भाग.पुरा.१०।५।१) इतिवद् उत्पत्तिः इति उक्ता, तद्भावस्य तथाभूतत्वात्. भगवल्लीलानुवादकत्वसिद्धये शुकेन यत्र यादृशो भगवता भावः संपादितो लीलायां तत्र तथैव तदनुवादकरणात्. अतएव शृंङ्गाररसमंडने तद्भावानुवादे प्रभुभिरपि तथैव उक्तं **''यशोदायां प्राचीदिशि सकलतारापतिरिव यदैव आविर्भूतः''** (शृंगा.रसमण्ड.) इत्यादिना. तथाच स्वामिनीभाव-सर्वात्मभावरूपतया इतरवैलक्षण्यज्ञापनार्थमेव श्रीशुकेः तथा उक्तम्. विवृतं च तथैव आचार्यचरणैः इति न अनुपपत्तिः काचित्. सर्वापेक्षाभावाद् इत्यादिना सर्वात्मभावस्वरूपमेव उक्तमिति न अत्र तच्चरणरेणुधनैः संशयलेशोऽपि विधेयः इति दिक्.

(९)

।।तामसप्रकरणीयप्रथमाध्यायान्ते कारिका 'गोकुलोत्सवम्'इति. (सुबो.कारि.१०।५।३२।१७)।।

गोकुलोत्सवम् ईशानं गोपगोपीगवां हितम्।
ज्ञानतः कर्मतश्चैव तामसानां नमाम्यहं।।

तदर्थस्तु : **ज्ञानतः कर्मतः च** इति प्रतिविशेषणं योज्यं तथाच ताभ्यां तथा इति अर्थः. तथाहि उत्सवो द्विविधो बाह्याभ्यन्तरभेदेन, तत्र आन्तरो ज्ञानात्मको बाह्यः क्रियात्मकः, तेन व्रजवासिनाम् उभयविधोत्सवात्मकः प्रभुरेव इति अर्थः. **ईशानम्** इति ऐश्वर्यमपि ज्ञानकर्मभेदेन द्वेधा. 'अहम् एतत्प्रभुः' इति ज्ञानेन तदनुरूप कृत्या च. तथाच व्रजवासिषु तदुभयविधमपि प्रकटीकृत्य स्थितः इति तथा इति अर्थः. **गोपगोपीगवां हितम्** इति. गोपाः गोप्यो गावः च निःसाधनाः तासां हितम्. उभयथापि तद्हितकर्तरि स्वरूपज्ञापनेन मातृचरणगोपप्रभृतीनां तथाविधलीलाकर्तृत्वात्. कृतौ तु भगवतो यथाधिकारं तारतम्यं अवगन्तव्यम्. नहि सर्वसमा भगवल्लीला तामसानाम् इत्यनेन प्रभोः तत्सम्बन्धित्वबोधकेन पदेन तेषामेव फलरूपः इति ज्ञापितम्. प्रभोरपि तदर्थं ज्ञानकर्मसम्बन्धोक्त्या तेषु निःसाधनत्वं च द्योतितम्. तथाच सिद्धं हरेः निःसाधनफलरूपत्वं तदेव च श्रीमदस्मत्प्रभुचरणैः टिप्पण्यां विवृतं **निःसाधनफलात्मा अयम्** इति. तथाच उभयोः कारिकयोः एकएव अर्थः इति भावः.

(१०)

।।कलेवरं परशुभिः (भाग.पुरा.१०।६।३३) इत्यत्र।।

कलेवरं मृतशरीरम् इति. यद्यपि 'कलेवर'शब्दस्य कोषादिषु सामान्यतः शरीरवाचकत्वम् अस्ति तथापि कदाचिद् नन्दादिभिरेव मथुरातः समागतैः पूतनाया जीवत्याएव शरीरछेदः कृतः इति न भगवतः पूतनान्तकत्वम् आयाति इति कस्यचिद् शंका स्यात् तदभावाय अत्र प्रकरणानुरोधात् ''प्राणैः समं रोषसमन्वितः'' (भाग.पुरा.१०।६।१०) इति वाक्यानुरोधात् च सामान्यवाचकमपि 'कलेवर'पदं विशेषम् आदाय मृतशरीरवाचकत्वेन व्याख्यातम्. पूर्वोक्तवाक्यविरोधात् सामान्यवाचकत्वस्य अत्र अनुपपत्तेः.

(११)

।।कालेन व्रजत (भाग.पुरा.१०।८।२२) इत्यत्र।।

(१३ब) **स्वतः** इति, **स्वतो व्रजता** नतु अन्य प्रेरणया, कालस्यापि भगवद्रूपत्वात्. व्रजनन्तु चेष्टारूपत्वेन. एतेन नित्यव्यापकस्य भगवतः तथाभूत तल्लीलायाः च कालव्रजनेन प्रकाशो दीपचलनेन गृहस्थितपदार्थानां क्रमिकप्रकाशइव इति निरूपितम्. युक्तञ्च एतद् भगवतः तल्लीलायाश्च आविर्भावो भगवच्चेष्टयाएव भवति. ननु नित्यस्य व्यापकस्य कथं व्रजनम् इति चेद् न, वायोरिव व्रजनविशिष्टस्यैव तस्य व्यापकत्वात् व्रजनन्तु आविर्भावतिरोभावावेव. अतएव **स्वतः** इति उक्तम्. एतेन भगवतोऽपि न कालप्रेरकत्वमिति लीलापरत्वं ज्ञापितम्. नच धर्मिप्रेरणाभावे धर्मरूपचेष्टोत्पत्तिः कथम् इति वाच्यं, निद्रितस्यएव स्वप्रेरणाभावेऽपि तदुत्पत्त्युपपत्तेः.

(१२)

।।यर्ह्यंगना (भाग.पुरा.१०।८।२५) इत्यस्य विवरणे।।

भगवान् लीलार्थम् इत्यादि. अत्र अयम् अभिप्रायः : इदानीं तथाविधधाष्ट्‌र्याभावात् स्वामिनीसविधे स्वतो गन्तुं शक्तोति मनः च अङ्गनादर्शनीयलीलावत्त्वेन अस्ति गन्तुम् इति भगवान् लीलार्थं स्वामिनीभिः सह लीलां कर्तुं कर्मांगदेवतात्वं तदवलम्बनं कर्मांगपश्वालम्बनं वा यथा कर्माङ्गदेवता तदङ्ग पश्वादिकं च कर्मद्वारैव फलं ददाति न स्वतः तथा वत्सपुच्छावलम्बने तदाकर्षणक्रियाद्वारा ताभ्यः स्वसम्बन्धरूपं फलं दातुं **स्वस्मिन् करोति**

प्रकटीकरोति. एतच्चातुर्ये भगवतः मुग्धभावस्य अत्र प्रदर्शनार्थत्वेन उक्तत्वात् परन्तु प्रभोः आशयं पशुत्वेन कर्ममार्गीयत्वाद् अबुध्वा भक्तनैकट्यम् अपहाय इतस्ततएव प्राकृत-वैकृतैः च उभयविध कर्मण्येव भगवन्तं योजयन् न भक्तौ इति अर्थः. एतेन क्रियामात्रपर्यवसितं प्रभुं कुर्वन्ति नतु तां क्रियां भक्त्यङ्गत्वेन भक्तिमार्गीयां कुर्वन्ति इति बोधितम्. अतएव मूढा इति उक्तम्. भगवता वत्सचारणलीलायाम् अग्रे निरोधस्य करिष्यमाणत्वाद् इदानीं प्रभुतात्पर्यनवगमात् तथात्वम्. अत्र वत्सपुच्छाकर्षणक्रियायां वत्सकतृक इतस्ततो नयनकर्मणोः प्राकृतत्वे वैकृतत्वोक्तेः. अयम् अर्थः : यस्यां दिशि भक्तस्थितिः तद्दिगाभिमुख्येन नयनं प्राकृतकर्मयोजनम्. तस्य कर्मणो दूरस्थतया भक्त्युपयोगित्वात्. वैदिकमपि प्राकृतं नित्यकर्मं चित्तशुद्धिद्वारा भक्त्युपयोगीति तत्साम्याद् अत्रापि प्राकृतत्वोक्तिः. यत्रच न भक्तस्थितिः तद्दिक्सांमुख्येन नयनं वैकृतयोजनं, तस्य कर्मणो दूरस्थतयापि चित्तशुद्ध्यजनकस्य काम्यकर्मवत् भक्त्यनुपयोगित्वात् तथात्वम्. एतेन अत्र भगवतः कर्माधीशतया स्वर्गवत् लेशभूत दूरतो दर्शनाद्यानन्ददातृत्वम् उक्तम्. तादृशात् प्रभोः परमानन्दप्राप्तिस्तु यदि कर्मनिष्ठता त्याज्यते परमाग्रहवत्या प्रणत्या तदा भवति. ''ये यथा मां प्रपद्यन्ते'' (भग.गीता.४।११) इति वाक्यात्. तथाच स्वयं गृहादिसर्वपरित्यागेन भगवन्मात्रार्थितया स्थितौ भगवानपि भक्तिमार्गीयक्रियया कर्मसम्बन्धित्वम् अपहाय भक्तसम्बन्धी भवति इति उज्झितगृहाः इति विशेषणेन सूचितम्. ननु एतद् न घटते भगवतो यल्लीलार्थमपि कर्माङ्गदेवताभाव-तदवलम्बनादिकरणम् इति चेत्. अतिकरुणस्य फलदानार्थं हीनभावाङ्गीकृतेः अपि उचितत्वात्. अतएव ''अथो अनयोर्वा एष गर्भ'' इत्यारभ्य ''अतिरिक्तस्य शाक्त्या''(   ) इत्यन्तश्रुतौ यज्ञात्मकत्वेन भागनिरपेक्षस्यापि विष्णोः शिष्टहविषः शांतिसंपादनेन अग्रिमकर्मसिध्या फलदानार्थं छिन्नपादपशुसम्बन्धिनो नाभेः उपर्यधोगतभेदेन द्विविधमांसद्रव्यस्वीकृतिः उच्यते. अन्यथा यज्ञफलदातृत्वं न स्यात् तथा अत्रापि इति न शंकालेशः अत्र. एतेन भक्तसम्बन्धार्थं प्रभोः साधनसम्बन्धोक्त्या तेषु निःसाधनत्वं प्रभोश्च तदधीनत्वं स्वप्रयत्नाप्राप्यत्वादिकं बोधितं भवति इति भावः.

चित्रं चिरत्नं मच्चेतः शुद्धं कर्तुं हरेः स्वतः।
समायाति कृपामात्रात् चित्ते विषयदूषिते।।१।।

निजाचार्यबलादेव भगवद्भावसंततिः।
यादृशे तादृशे वापि दुष्टचित्ते प्रजायते।।२।।

(१३)

।।नामकरण (१०।८।१२) इति।।

गर्गोहि बलदेवे भगवन्तम् आविष्टं दृष्टवान् ब्रह्मवित्त्वात्. अन्यथा ज्येष्ठस्य नामकरणकालातिपाते भगवत्त्वेन ज्ञानाभावे वा सहभावेन कथं नाम कुर्यात्. अत एव रिङ्गणादौ गत्यादिसाम्यम् इति भावः.

(१४)

।।कोपस्थितएव निमित्तवशात् उद्गत (सुबो.१०।९।६) इति।।

अयम् अर्थो : भगवतो निरोधकर्तुः स्वभावातिरिक्तभावेन गृहकार्यकरणे स्वचिकीर्षितनिरोधप्रतिबन्धात् कोपो भवति इति मातृचरणेषु पूर्वमपि कोपः स्थितएव परन्तु तादृशभावसत्त्वेऽपि भगवदपरित्यागाद् न प्रादुर्भूतः पश्चाद् भगवत्परित्यागेन पयसा शृतस्य उत्तारणाय अन्यत्र गमनरूपे निमित्ते सम्पन्ने तद्वशात् कोपः प्रादुर्भूतः. ताम् अदृष्ट्वा दधिभाण्डमेव तथा कृतवान् इति अर्थः. एतेन भगवान् भक्तिमार्गे लौकिकभावेनापि तत्परत्वे न कुप्यति किन्तु सर्वथा स्वत्यागएव इति सूचितम् इति भावः.

(१५)

।।ननु वृन्दावनं पुण्यमतीव चक्रतुः (सुबो.१०।१२।१)।।

इति उक्त्या तत्प्रवेशप्राप्तावपि पुनः द्वितीयश्लोके वृन्दावनप्रवेशोक्तिः अनुपपन्ना इति आशंक्य आहुः **प्रवेशश्च ग्रामाद्** इति. नहि अत्र व्रजात् प्रातश्चलनप्रतिपन्नवनप्रवेशो निरूप्यते किन्तु गोपैः गोभिश्च सार्द्धं वनं गतस्य प्रभोः ततएव स्वच्छन्दविहाराय निकुञ्जगह्वरवनकन्दरादिप्रदेशप्रवेशो यः स निरूप्यते इति अर्थः. अतएव उक्तं **''विहर्त्तुकामः कुसुमाकरं वनम्''** (भाग.पुरा.१०।१२।२) इति. तथाच प्रथमश्लोके व्रजाद् यो वनप्रवेशः स निरूपितो अत्रतु स्वच्छन्दविहारार्थं वनादेव यो अन्यान् बलं च गोनिकटे स्थापयित्वा तान् अन्तरङ्गान् सङ्गे नीत्वा निकुंजगमनरूपः स उक्तः इति न पौनरुक्तिरियम्.

अतएव चित्तविक्षेपाभावाय प्रथमश्लोके धर्मकारणम् उक्तम्. अन्यथा भगवतो अन्यत्र गमने विक्षिप्ताइव सङ्गे गच्छेयुः अनुचितस्थलेऽपि. अतः कार्यपराणां तेषाम् अन्यत्र चित्तव्यासङ्गाभावेन अविक्षिप्तत्वं सम्पादितम् इति अर्थः ।।

(१६)

।। दिव्यस्रग्गन्धमण्डितौ (भाग.पुरा.१० ।१२ ।४५) इत्यत्र ।।

ननु पूर्वमेव **तत्सत्कृतम्** इत्यनेन सत्कारस्य उक्तत्वात्. पुनः अत्र तत्कथनं किमर्थम् इति आशंक्य पूर्वसत्कृतेः प्रकारान्तरम् आहुः. **मध्येतु** इति, **मध्ये** मध्ये मार्गे अधिकारिणो ये देवाः स्वामिनीभुजनयनाद्यधिष्टातारः. दीव्यन्ति इति देवाः, क्रीडामात्रोपयोगिनः, तैरेव तथाकृतौ स्वरीत्यैव अलौकिकप्रकारेण सत्कृताविति न लौकिकस्नानादिरूपा सत्कृतिः तया अन्यथा इति अर्थः. ननु बलदेवे सा सत्कृतिः नासत्येवेति द्विवचनं प्रकृते कथं उपपद्यते इति चेद्, न, तत्रापि **मध्ये गोव्रजयोषिताम्** इति अग्रे वक्ष्यमाणाः याः तद्भोग्यः तदधिकारिदेवैः तथासंभवात्. अतएव **'अधिकारि'** पदम्. यथाधिकारमेव हि पूज्यसम्बन्धः पूजा च, तथाच येषां साक्षात्सम्बन्धः तेषां प्रभोः सत्कृतिः तदधिकारित्वाद् अन्येषां बलदेवे इति न संशयः इति भावः. एतच्च यथा तथा फलप्रकरणीयषष्ठाध्याये निरूपितम्. एतेन आवेशसमयेऽपि तासु तथाविधस्फुरर्त्तिरेव न क्रिया काचिद् इति सूचितम्. उपदेशाद् ज्ञानस्य ब्रह्मविदोऽपि सर्वत्वं स्वस्मिन् मन्वते न कृतिः कापि तेषु **''जगद्व्यापारवर्जम्''** (ब्र.सू.४ ।४ ।१७) इति न्यायात् इति भावः.

वने गोपैः पथि श्रीमत्स्वामिनीभिः व्रजे पुनः ।
मातृभ्यां पूजितो रामकृष्णौ यातः स्वपूज्यताम् ।।

(१७)

।। निशामुखेषु (भाग.पुरा.१० ।१७ ।८) इत्यत्र ।।

अर्थः शब्द(सुबो.कारि.१० ।१७ ।८ ।४) इत्यस्य टिप्पण्यां **वेदो हि** इत्यादि.

तत्र अयम् अर्थः : पूर्वलोकत्रयसहितादित्यनिरूपणेन लीलासृष्टिसमाश्रयभूतदेशकालौ निरूपितौ तत्र देशो भूम्यादिः, कालः सूर्यः, तत्स्वरूपप्रकाशकत्वं च वर्षर्त्तोः निरूपितम्. अधुना तत्स्थितधर्मिणां धर्मः पुष्टिमार्गीयो लोकसदृशो

मर्यादाविरुद्धः स्वरूपतो लोकविलक्षणो वर्षर्तुप्रकाश्यः पंचभिः श्लोकैः वैदिकधर्मवद् अपूर्वो भगवल्लीलोपयोगी **निशामुखेषु** इत्यादिभिः निरूप्यते.

मूलार्थस्तु **निशामुखेषु वर्षर्तौ तमसा खद्योता भान्ति यथा कलौ युगे पापेन पाषण्डाः** तथाच प्राकृतसृष्टौ कलियुगे कालविशेषे पाषण्डप्रकाशो यथा तथा लीलासृष्टौ निशि खद्योतप्रकाशएव न पाषण्डप्रकाशइति तदतिरिक्ततदभावेन पूर्णो वैदिकधर्मो अत्र तिष्ठति इति ज्ञापितम्. परं सोऽपि अत्र मर्यादाभिन्नः पुष्टिमार्गीयः इति ज्ञेयम्. तस्यच तथात्वं भगवल्लीलासिद्ध्यर्थं तत्करणात् स्वर्गाद्यर्थम् अकरणात् च इति बोध्यम्. एतेन भगवदीयैः वर्णाश्रमधर्मोऽपि भगवदर्थएव विधेयो न स्वार्थः इति भक्तिमार्गमर्यादापि ज्ञापिता. अन्यच्च, यथा कलौ युगे वेदाः न भान्ति पाषण्डप्रकाशकतच्छास्त्रीयतमसा आच्छादनात् तथा ग्रहाः चन्द्रादयो अत्र न भान्ति इति अर्थः. तथाच लीलासृष्टौ ग्रहाभानमेव वेदाप्रकाशइति वेदप्रकाशः सर्वथा अत्रैव अस्ति इति निरूपितम्. वेदोहि भगवदर्थतयैव अनुष्ठितो भासते ज्ञानजननात् **''कुतः पुनः शश्वद् अभद्रम्''** (भाग.पुरा.१।५।१२, १२।१२।५२) इति वाक्यात् न स्वार्थहेतुतया इति सूचितम्. तथाच प्रथमश्लोके वर्णाश्रमधर्मरूपो वैदिकोर्थः तत्प्रकाशको ज्ञानं च अत्र वर्तते इति पूर्णो वैदिको धर्मो निरूपितः इति बोध्यम्.

(१८)

।।श्रुत्वा पर्जन्यनिनदम् (भाग.पुरा.१०।१७।९) इत्यनेन।।

शब्दोऽपि अध्ययनपरिगृहितः समग्रो अत्र अस्ति इति प्रतिपाद्यते. तथाहि : यथा ब्राह्मणाः पूर्वं नियमस्था अपि तत्परित्यागेन वेदरूपा गिरो वर्षासु मण्डुकादिप्रार्थनारूपा लौकिकफलार्थं विसृजन्ति तथा अत्र मण्डूकाएव ता व्यसृजत् न ब्राह्मणाः इति अर्थः. ब्राह्मणास्तु व्रजीयाः **''तत आरभ्य:''** (भाग.पुरा.१०।५।१८) इति वाक्येन सर्वतः समृद्धाऽपि भगवतो लीलासिद्धये दानं श्रीनंदादिदत्तं प्रतिगृह्णंति प्रभौ आशिषां योजनाय च. अतः वेदाध्ययनं कुर्वंति न स्वार्थमिति वैदिकशब्दोऽपि भगवदर्थः पुष्टिमार्गीयो अत्र अस्ति इति निरूपितम्.

(१९)

।।आसन्नुत्पथवाहिन्यः (भाग.पुरा.१०।१७।१०) इत्यनेन।।

ततश्च वैदिकं यत् त्रिविधं कर्ममार्गीयं फलं कर्मणः त्रैगुण्यात् तत् वेदेनैव उत्तरकांडे निषिद्धं ''त्रैगुण्यविषया वेदाः'' (भग.गीता.२।४५) इति वाक्यात् च. तादृशम् अत्र नदीष्वेव अस्ति नान्येषु इति तासु तादृग्दृष्टान्तेन प्रतिपाद्यते. तथाच अत्रत्य सम्पत्तेः न कर्मफलत्वं सगुणत्वं वा किन्तु भगवदनुभावरूपत्वेन तत्सम्बन्धित्वाद् गुणातीतत्वं नद्यतिरिक्ते लौकिकसम्पत्त्या? उत्पथगामित्वाभावः च इति भावः.

(२०)

।।हरिता हरिभिः... क्षेत्राणि सस्यसम्पद्भिः (भाग.पुरा.१०।१७।१०-११) इति।।

पदद्वयेन लौकिकसम्पद्धर्माभावो अत्र निरूप्यते. तद्धर्मश्च बाह्या अल्पता आन्तरो मदश्च. सो अत्र वर्षासम्बन्धिभूमौ कर्षुकेषु च न अन्येषु इति निरूप्यते इति अर्थः. एतेन एतेषु खद्योतादिषु वर्षर्त्तुशोभाकरत्वेन तद्धर्मैः उत्तमता निरूपिता अन्येषु तदभावे न तथात्वं इति पुष्टिसृष्टौ सर्वांशेन उत्तमधर्मवत्त्वं निरूपितं जातम् इति भावः. किञ्च अत्र पापस्थानीयं वर्षर्त्तु धर्मरूपं तमएव नान्यदिति पापाभावः उक्तः पाषण्डप्रकाशस्थानीयः खद्योतप्रकाशइति तदभावो वेदाद्यप्रकाशस्थानीयः चन्द्राद्यप्रकाशः इति तदभावः च उक्तः. एवं सति विलक्षणैः एतैः धर्मैः एतत्सृष्टौ वैलक्षण्यम् उक्तं भवति इति भावः. किञ्च परोक्षवादविवरणेन पुष्टिस्थमुख्यानां च धर्मो विवृतः. तथाहि **खे** आकाशे पूर्वोक्तप्रभुशरीररूपे **द्योतः** प्रकाशो येषां ते लोकवेदविरुद्धेन अभिसरणेन पापरूपेण **भान्ति** प्रकाशन्ते तादृश्यः स्वामिन्यः इति अर्थः. तासाञ्च धर्मो तडितइव तोयदेषु भवत्येव प्रकाशो अन्यदा अप्रकाशः तदैव च गतिमत्त्वं तदर्थमेव च प्रयत्नः तत्रैव देहादेः विनियोगकृतिः अन्यधर्मसम्बन्धभिया स्वगतिसंगोपनम् इत्यादिप्रकारकः प्रतीतो भवति इति अर्थः. तथाच व्रजस्थेषु यो धर्मः सतु स्पष्टतयैव उक्तः परोक्षवादेन स्वामिनीधर्मः तथा इति ज्ञेयम्. अग्रेऽपि मण्डुकाः पूर्वम् अप्रकटाः तूष्णींस्थिताः वर्षैकजीवनाः स्वाभरणादिशब्दैः सशब्दाः ताएव इति ज्ञेयम्. नद्योऽपि उत्पथवाहित्वेन ताएव, भूरपि श्रीयुतत्वेन लक्ष्मीसमाविष्टाः ताएव, क्षेत्राण्यपि सफलत्वेन ताएव, कर्षुकापि तत्फलसम्पादका मध्यस्था मानिनो भर्त्तारः इति बोध्यम्. **अथवा** इत्यादिना

पक्षान्तराभिधाने पूर्वत्र अयम् अपरितोषः. तथाहि पूर्वपक्षे अत्रत्य धर्मस्य अलौकिकत्वमात्रमेव सिध्यति **न** भावोद्बोधकत्वमिति अरुच्या तादृगधर्मएव वर्षर्तुसम्बन्धी निरूप्यत इति अर्थः. अस्मिन्नपि पक्षे ग्रीष्मस्य वसन्तत्वेनैव लीलौपयिकत्वात् तेषां पंचत्वम् उपपद्यते इति बोध्यम्.

यत्कृपैव यथार्थः स्फुरति तथार्थं निरूपयामीह।
तमहं निजपतिम् अभितो वन्दे श्रीविठ्ठलेशाख्यम्।।

(२१)

।।कुसुमितवनराजी (भाग.पुरा.१०।१८।२) इत्यस्य विवरणे।।

क्रियाज्ञानसहित इति, भगवत्क्रियाया गोपेषु ज्ञानशक्तेः बलदेवे च आविष्टत्वेन तेषां तद्रूपत्वम् इति अर्थः. अत्र अयम् आशयः : भगवान्हि स्वकर्तव्यं पशुपालनं अन्तरङ्गतमलीलां कर्त्तुं स्वसेवकैः गोपैः कारयति इति तेषु तदावेशात् तद्रूपत्वम् इति. वेदात्मकत्वेन बलदेवेऽपि भगवद्ज्ञानशक्तेः आवेशात् तथा इति अर्थः. ननु बलदेवे सर्वत्र क्रियाशक्तिरूपत्वम् उच्यते कथम् अत्र ज्ञानशक्तिरूपत्वोक्तिः इति चेद्, इत्थम् : दैत्यादिमारणलीलायां भगवत्क्रियाशक्तेः आवेशात् प्रभुकर्तव्यकरणात् तथा. प्रकृतेतु लीलायाः अन्तरङ्गत्वेन तत्सम्बन्धिक्रियानावेशात् तत्कर्त्तव्याकरणाद् अन्तरङ्गलीलास्थत्वेन ज्ञानमात्रस्य सत्त्वात् तद्रूपत्वम् उच्यते इति अर्थः. ननु **''सह बल...''** (भाग.पुरा.१०।३२।१२) इत्यत्र वेणुवादनलीलायां कथं तथा निरूपणम् इति चेद्, विश्वपूरणस्यैव तत्कार्यत्वेन उक्तेः न दोषः. ननु गोपदेवतस्यापि क्रियापरत्वं कथं न भवति इति चेद्, न, महत्त्वेन तादृशकार्यानधिकारात्. तेहि साक्षित्वोक्त्या निरपेक्षतया प्रवृत्तिहेतवो निरूपिताः तदत्र न सम्भवति, दास्याभावेन निरपेक्षतायाः ज्येष्ठत्वेन अन्येषाम् एतत्संकोचेन तत्प्रवृत्तिहेतुतायाः च असम्भवाद् इति अर्थः.

(२२)

।।यथा सर्वे देवा (सुबो.१०।१८।३)इति।।

वेणुनादश्रवणमात्रेण सर्वेन्द्रियाधिष्ठातृदेवानां उत्थानम्. अतएव स्मरणश्रवणवर्णनादौ प्रवृत्तिः तथा तस्यापि उदयः सोऽपि स्वकार्यं स्ववेगेन

आशक्तिं? कृतवान् इति अर्थः. तत्रत्यागमनमपीति. ये वनएव स्थिता. किंचित्कार्यव्याजेन वस्तुतः कार्येण वा तत्र गताः तानपि तथा इति अर्थः.

(२३)

।।कालिन्द्यां स्नातुम् अन्वहम् (भाग.पुरा.१०।१९।६) इत्यत्र।।

नात्र कालो अपरिछिन्न इति. कालोहि अत्र द्वेधा, साधनफलभेदात्. तत्र साधनस्य परिच्छिन्नत्वेन तदाश्रयः कालोऽपि तथा. तस्यच अन्तःप्रकटभगवत्तल्लीलाश्रयत्वेन अव्यक्तत्वम्. अतएव भगवतोऽपि तस्मिन् काले तथैव स्थितिः. फलकालस्यतु अपरिच्छिन्नफलाश्रयत्वेन अपरिच्छिन्नत्वाद् बहिःप्रकटलीलाश्रयत्वेन व्यक्तत्वं भगवतोऽपि तत्र ''**वयस्यैः आगत**'' (भाग.पुरा.१०।१९।९) इति वाक्याद् व्यक्ततया स्थितिः इति अधुना अन्वहम् इति पदात् दिनपरिच्छेदनिरूपणात् साधनकालइति अव्यक्ततया स्थितिः इति अर्थः.

(२४)

।।तत्र गाः पाययित्वाप (भाग.पुरा.१०।१९।३७) इत्यस्य विवरणे।।*

आपः स्त्रीप्रकृतिका इत्यादि. तत्र अयम् आशयो : यमुनायाः वृक्षवत् परार्थतामात्रधर्मवत्त्वं निरूपितं गोपानां तत्सम्बन्धेनापि तादृशज्ञानजननाय. एवं सति गवामपि तज्जलपाने तादृशमेव ज्ञानम् उदेष्यति. तच्च अनुचितं तासां स्वामिनीसजातीयभाववत्त्वात्. एतच्च ''**गावश्च कृष्णमुख**'' (भाग.पुरा.१०।१८।१३) इति श्लोके तादृक्सामग्रीविशेषप्रकटनेन प्रभुणा स्वबलेन तथाभावसम्पादनं स्पष्टं अभिहितं, तद्रसस्य प्रभुभोग्यत्वात्. नहि तद्विजातीयभावानां सम्बन्धिरसं प्रभुः भुंक्ते ''**गन्धरूपम्**'' (सुबो.का.१०।५।१०(१६)) इति जन्मोत्सवाध्यायीयकारिकायां स्वामिनीष्वेव भगवद्भोग्यविषयपञ्चकरूपत्वनिरूपणात्. अतएव ''**रसो नवनीतस्य**'' इति उक्तम् आचार्यैः. परार्थताज्ञानन्तु स्वामिनीविजातीयभावतामेव तासान्तु अस्मदर्थमेव प्रभुप्राकट्यमिति ज्ञानेन तद्वस्तुषु स्वीयत्वबोधस्य दृढत्वाद्. अतः पानकर्मवाचकजलस्य एकत्वेऽपि तद्वाचकपदद्वयतात्पर्यम् आचार्याः निरूपयन्ति **स्त्रीप्रकृतिका** इति. यमुनाजले द्वैविध्यम् अस्ति स्वामिनीसहितक्रीडासम्बन्धित्वेन

तद्भावजनकत्वं अतएव ''**इयं तव कथाधिका**'' (यमु.८) इति उक्तं तत्स्तुतौ आचार्यैः, दोषमात्रनिवर्त्तनेन सादृश्यात् स्वरूपेण भगवद्भावजनकत्वम्. अतएव उक्तं ''**स्मरपितुः श्रियं बिभ्रतीम्**'' (यमु.१)इति. विवृतं च तथैव प्रभुचरणैः. अतो या '**आपः स्त्रीप्रकृतिकाः**' स्त्रीस्वभावाः स्वप्रवेशेन स्त्रीभाव सम्पादिकाः ताः तत्सजातीयभावाः **गाः पाययितवान्.** यथा तासां सएव स्वीयत्वाभिमानरूपो भावः स्थिरीभवति. गोपेभ्यस्तु जलमात्रं कामरूपत्वाद् भगवद्भावजनकं नपुंसकत्वाद् भगवद्विषयकदोषारोपमूलभूत-पुंभावरूप-दुःस्वभावविजयसाधकं पायितवानिति न अत्र प्रभुविवृत्तौ बोधाभावेन चित्तम् अन्यथयितव्यं सद्भिः इति संक्षेपः.

(२५)

।।सुदामारंकभार्यार्थभूम्यानीतेन्द्रवैभवः (त्रिवि.नामा.८८) इत्यत्र।।

इदं चिक्त्यते : ननु भगवता तस्यै लौकिक्यएव संपदः कुतो न दत्ता वैदिकीनां तासां दाने को हेतुरिति चेत् न, लौकिकीनां ''**दास्यामि संपदो अमर्त्त्यदुर्लभा**''(भाग.पुरा.१०।७८।७) इति प्रभुवाक्यविरोधापत्तेः. नहि लौकिक्याः ताः देवानां दुर्लभाः, अन्येषामपि स्वोपासनेन तद्दातृत्वात्. ननु इन्द्रोऽपि अमर्त्त्यएवेति तत्संपद्दाने वाक्यविरोधः तदवस्थएव इति चेद्, अत्र अयम् आशयः : पुरुषोत्तमाक्षरविभूतिरूपाः भगवतइव श्रियोऽपि त्रीणिरूपाणि. तत्र आधिदैविकं तत् पुरुषोत्तमैकनिष्ठम् इन्द्रस्यापि दुर्लभम्. अतएव उदधिमथनोद्भूतायाः तस्याः कामनायामपि न इन्द्रस्य तत्प्राप्तिः किन्तु सा तन्निष्ठतया तमेव वव्रे. अन्येषां देवानान्तु अमृतकामनैव तदर्थमेव मथनार्थ प्रवृत्तेः किन्तु राजत्वाद् इन्द्रस्यैव सा परन्तु अयोग्यत्वात् न तत्प्राप्तिः. एतेन अयोग्यः अयोग्यं कामयमानो विफलकामनो भवति इति सूचितम्. इन्द्रसम्पत्तिस्तु देवानां दुर्लभैव, तद्राजत्वात्. नहि राजसम्पत्तिः पामरे प्राप्या भवति. मनुष्यसम्पदस्तु न देवदुर्लभाः इति. भगवच्छ्रीस्तु सर्वेषामेव दुर्लभा अतो अमर्त्त्यदुर्लभा इति वाक्ये 'अमर्त्त्य'पदेन देवाएव उच्यन्ते न इन्द्रो, अन्यथा 'सर्वदुर्लभाः' इति उच्येत. इन्द्रदुर्लभायाः भगवदीयत्वेन सर्वदुर्लभत्वात्. इन्द्रस्यतु स्वीयालौकिक्यश्च सम्पदः सुलभा देवानान्तु इन्द्रस्यैव ता दुर्लभाः इति भगवद्वाक्यतात्पर्यम् अभिप्रेत्य प्रभुवर्यैः नाम आर्विभावितं '**भूम्यानीतेन्द्रवैभवः**' इति न अत्र संशयलेशोऽपि कश्चिद् इति भावः.

(२६)

।।विषयाक्रान्तदेहानाम् (संन्या.निर्ण.६) इति ।।

ननु स्थलान्तरे ''**विषयाविष्टचित्तानाम्**'' (सुबो.१।२।२०) इति उक्तेः अत्र '**देह**'पददानस्य अयम् अभिसन्धिः : भक्तिमार्गस्य (क)स्वतन्त्रा- (ख) स्वतन्त्रभेदेन द्वैविध्याद् (ख) अ(?य!)त्र अस्वतन्त्रता तत्र भगवतः पुरुषोत्तमस्य सायुज्यम्. तत्र साधनदशायां चित्तएव भगवदावेशो देहस्य पाञ्चभौतिकत्वेन निवर्तनीयत्वात्. (क)स्वतन्त्रे तस्मिन् देहस्यापि अलौकिकसामर्थ्येन कोशप्रतिमान्यायेन तदावेशयोग्यत्वात् तत्परमफलनिरूपणे बाधकविषयाक्रमो देहएव निरूपितः इति अर्थः. अतएव श्रुतिः. ''**तस्य एष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्**'' (कठोप.१।२।२३) इति.

(२७)

श्रीमदाचार्यस्वरूपज्ञानं (१), भगवत्स्वरूपज्ञानं (२), एतन्मार्गस्वरूपज्ञानं (३), भक्तिस्वरूपज्ञानं (४), लीलास्वरूपज्ञानं (५), प्राकट्यस्वरूपज्ञानं (६), निरोधज्ञानं (७), परमस्थितिज्ञानं (८), फलनिर्णयः (९), साधननिष्कर्षः च (१०) ।।

(१) तत्र प्रथमं आचार्यस्वरूपज्ञानम् उच्यते : भगवन्मुखारविन्दाधिष्ठात्रग्निरूपः. अतएव श्रीकृष्णास्यं कृपानिधिः इति. (२) भगवत्स्वरूपज्ञानम् उच्यते : संयोगविप्रयोगभेदेन द्विदलात्मको रसरूपो यशोदोत्सङ्गलालितः. (३) एतन्मार्गस्वरूपज्ञानं कथ्यते : सर्वात्मभावभजनविशिष्टः पुष्टिमार्गः. (४)भक्तिस्वरूपज्ञानम् उच्यते : व्रजसिमन्तिनीभावपूर्वक व्रजाधिपतौ चेतः परमासक्तिः. (५) लीलास्वरूपम् उच्यते : श्रीगोवर्द्धनोद्धरणादिरूपालीला नित्या अतएव ''**नित्यलीलाविनोदकृद्**'' (पुरु.सह.ना.३) इति. (६)प्राकट्यस्वरूपप्रकारम् उच्यते : भक्तानां दुःखम् असहमानेन अविलम्बेन भगवत्प्राकट्यं ततएव यथा-यथा दुःखाधिक्यं तथा-तथा शीघ्रमेव भगवत्प्रादुर्भावः. इदन्तु सुबोधिन्यां जन्मप्रकरणे स्पष्टम्. (७) निरोधस्वरूपम् उच्यते : प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिः. (८) परमस्थितिज्ञानम् उच्यते : भक्तिसाहित्येन परमस्वरूपेण स्थितिः. (९) फलनिर्णयः उच्यते : अलौकिकसामर्थ्यं

सायुज्यं सेवोपयोगीदेहसम्पत्तिः. (१०) साधननिष्कर्षः उच्यते : घोषभूषणसीमन्तिनीभावएव परमं साधनम्. अतएव श्रीमदाचार्यैः उक्तं **''भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यद्''** (संन्या.नि.८) इति.

(२८)

।।रसात्मकस्वरूपनिरूपणम्।।

ननु किञ्चिद् अत्र विचार्यते : भक्तिमार्गे भगवतो रसात्मकस्वरूपस्य अनुभवः फलम्. सच संयोगेन विप्रयोगेन द्वेधा. तत्र संयोगानुभवः परोक्षे सेवया, विरहानुभवः तत्परित्यागेन अतएव प्रभोः नाम **''विरहानुभवैकार्थसर्वत्यागोपदेशकः''** (सर्वो.स्तो.४७।१८). उक्तञ्च सन्यासनिर्णये **''विरहानुभवार्थन्तु परित्यागः प्रशस्यते''**(संन्या.निर्ण.७) इति. सच विरहानुभवो न परित्यागम् अन्तरा सिध्यति. परित्यागः च तत्कृतएव तद्धेतुः. भक्तानां स्वतो भगवत्परित्यागासम्भवात्. नहि विरहानुभवो भक्तानां मनसा अभीष्टः. संयोगार्थं प्रयत्नवतां तदभिलाषानुत्पत्तेः. भगवानेव परं स्वतः तथाविधम् आनन्दं दातुं भक्तान् परित्यज्यति. अतएव अयमेव आनन्दः श्रुतौ श्रीभागवते च **''मनोरथान्तं श्रुतयो यथा...''** (भाग.पुरा.१०।२९।१३) उच्यते, यत्र भक्तानां मनसोऽपि गतिराहित्यं; तथा रासलीलानन्दोऽपि. तस्यापि लोकवेदातीतया अप्रसिद्धत्वेन च मनसः तत्र अगतेः. एवं सति प्रकृते संदेहः तथाहि निजाचार्यैस्तु ततएव अयं सन्यासः प्रादुर्भावितः **''कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः''** (संन्या.निर्ण.८) इति वाक्यात्.

तत्रतु भगवता परित्यागेन वियोगो दत्तः प्रकृतेतु प्रभोरेव सेवायां प्रकटस्य साक्षात्पुरुषोत्तमस्य संयोगरसदातुः उत्तरोत्तरम् आनन्दवर्धकस्य विरहानुभवार्थं स्वतएव परित्यागः कृत इति वैषम्यम् इति चेद्, अत्र अयं भावो : भगवान् रसात्मकः उभयविधरसात्मकं स्वस्वरूपं विभज्य, फलत्वेन दातुं, वसुदेवगृहे श्रीनन्दगृहे च स्वयं पुरुषोत्तमो भेदेन प्रादुर्भूतः. पश्चात् फलदानपर्यन्तं, वसुदेवानयननादिना एकीभूय स्थितः, सर्वाः लीलाः कृतवान्. तदुत्तरं केवलफलदानार्थं केवलरसात्मकः श्रीनन्दगृहाविर्भूतः पुरुषोत्तमस्वरूपमात्रस्थितिं सम्पादयितुं स्वयमेव पूर्वरूपम् एकीभूतं भिन्नं विधाय अक्रूरद्वारा तेन रूपेण तत्र गतवान्. अयमेव 'त्यागः' इति उच्यते. अत्रत्येन तेन अत्रैव स्थितिः परन्तु भक्तानां

भावरूपत्वेन लोकवेदातीतत्वात् तेषामेव दर्शनं नान्येषाम् इति ज्ञेयं. नहि स्वभावो अन्यस्य साक्षात्कृतो भवति. प्रकृतेतु सेवायां स्वरूपे प्रकटस्य केवलभावरूपस्य भक्ताधीनतया परित्यागासम्भवात् स्वरूपस्थितस्य संयोगानुभवहेतुत्वेन स्वभावप्रतिबिम्बरूपं ततः प्रधानं स्वयं निःसरन्तो निजाचार्याः यथापूर्वं स्वविषये स्थापयित्वा गताः वियोगानुभवाय इति न वैषम्यम्. एतेन आचार्यभावरूपस्य भगवतो अत्र तावत्पर्यन्तमेव स्थितिः. तथा **''सेव्यः सएव गोपीशः''** (शिक्षाश्लो.२-३) इति स्वरूपस्थितिसम्पादकाचार्यभावान् वेद स्वप्रियसुतमनःसमाधायकवाक्यात् तदशेषमाहात्म्यस्थितिभाजां प्रभूणाम् अर्थएव इति बोद्धव्यम् इति दिक्.

(२९)

।।अथ किञ्चित् श्रीकृष्णप्रादुर्भावविषये विचार्यते।।

कृष्णावतारः पूर्णः ''कृष्णस्तु भगवान्' (भाग.पुरा.१।३।२८) इति वाक्यात्. पूर्णताच सर्वांशेन आविर्भावे भवति. तत्रच अंशाः सप्त :

[१]अंशः [२]कला-[३]ऽवतारः च [४]व्यूहः [५]आवेशएव च।
स्वरूपं द्विविधं [६]धर्मसहितं [७]तदभाववत्।।१।।

तत्र १अंशो भगवतः सकाशाद् भेदेन तत्तत्कायार्थं प्रादुर्भूतः, तेच प्रद्युम्नादयो नियतकार्याः.

[२]कलाच अंशांशः यथा संकर्षणांशः केशौ.

[३]अवतारस्तु भगवतः स्वस्थानात् स्थानान्तरे समागमः. यथा वैकुण्ठाद् वसुदेव... ततो देवक्याम्. तस्यच मूलाद् भेदो अयोगोलके वह्नेरिव तस्य विशेषतो दाहकत्वमेव न मूलाग्नि(त्वं) पाकाग्निहोत्रादिकार्यकर्तृत्वं (वा). अतएव **''दुरासदो...''** (भाग.पुरा.१०।२।१७) इत्येव वाक्यम्.

[4]व्यूहः आवरकत्वेन स्थितो अंशो यत्कार्यनिमग्नमनसो न पुरुषोत्तमस्वरूपविदो भवन्ति. अतएव राजलीलायां तत्स्थानां न लोकवेदपरित्यागः स्वामिनीनामिव ज्ञानाभावात्. त्यागस्यैव तदज्ञानलक्षणत्वात्. एवमेव गुणाअपि.

[5]आवेशो द्विधा [5/क]धर्म–[5/ख]स्वरूप–भेदेन. तत्र स्वरूपावेशः स्वामिनीष्वेव धर्मावेशो बलदेवेऽपि.

[6]स्वरूपञ्च द्विविधं [6/क]धर्मसहितं [१/ख]केवलं च. तत्र पूर्वं लोकवेदप्रसिद्धं, धर्मद्वारैव उभयत्र प्रसिद्धेः. "**बन्दिनः तत्पराक्रमैः**" (भाग.पुरा.१०।८४।१३) इति वाक्यात्. द्वितीयम् अप्रसिद्धं केवलस्वस्वभावरूपत्वेन अनुभवैकगम्यत्वात्.

तत्र केवलस्य प्रादुर्भावो नन्दगृहे "**नन्दस्तु आत्मजे उत्पन्ने**" (भाग.पुरा.१०।५।१) इति स्वरूपमात्रोक्तेः वसुदेवगृहेतु धर्मसहितस्य. अतएव "**तम् अद्भुतम्**" (भाग.पुरा.१०।३।९) इत्यादिवाक्यानि. अंशास्तु प्रद्युम्नादयो श्रेष्ठाएव स्वकर्तव्यकार्योपयोगिनः. व्यूहस्तु प्रकटः प्रभुप्राकट्यनिरूपकग्रन्थसन्ददर्भएव उक्तः. "**जायमानेऽजने तस्मिन् नेदुः दुन्दुभयो दिवि**" (भाग.पुरा.१।३।५) इति देवताहर्षहेतुत्वेन धर्मरक्षको अनिरुद्धः उक्तः. "**जायमाने जनार्दने**" (भाग.पुरा.१०।३।८) इति अविद्यानाशकः संकर्षणः उक्तः. "**देवक्याम्...**" (भाग.पुरा.१०।३।८) इत्यनेन वंशसम्बन्धहेतुः प्रद्युम्नः उक्तः. "**आविरासीद्...**" (भाग.पुरा.१०।३।८) इदित्यनेन चन्द्रदृष्टान्तेन च सर्वसुखदानार्थं समागतः पुरुषोत्तमः उक्तः. वासुदेवस्तु "**प्राग् अयं वसुदेवस्य**" (भाग.पुरा.१०।८।१४) इति वाक्याद् अन्तःस्थितबालकशुद्धिहेतुपयसो भगवत्पानसिद्धये केवलमायाजनितत्वदोषनिवृत्तये स्वोद्(?) इति उक्त्या अत्र "**आत्मजे उत्पन्ने**" इति पुरुषोत्तमे सिद्धवत्कारेण न शुको वदेद्. अतो वासुदेवोत्पत्तिम् आदायैव तथा शुकोक्तिः. अतएव अग्रे "**सहि भगवान् तत्र न जातः इति ताभिः ज्ञातम्**" (सुबो.१०।५।१२) इति श्रीमदाचार्यैः स्वामिनीनां तथा ज्ञानम् उक्तम्. नन्दस्यतु तैरेव "**आत्मनः सकाशाद् जातः पुत्रएव अयम्**" (सुबो.१०।५।१) इति बुद्धिरेव उक्ता. शुकस्य तद्बुद्धेरेव अनुवादो नतु आत्मनः. अतएव अग्रे "**नन्दस्य व्रजम् आगते**" (भाग.पुरा.१०।५।१३) इति उक्तम्. वासुदेवस्तु विचारे

क्रियमाणे उत्पन्नएव. अतएव **''सिद्धान्तः...''** (सुबो.१०।५।१) इति उक्तं, निर्णीतस्यैव अर्थस्य, स्पष्टम् अनुक्तस्यापि निरूपणे सिद्धान्तत्वोक्तेः. वसुदेवगृहावतीर्णस्य तस्य अत्रैव आगमनं, तत्सहभूतस्यैव वासुदेवस्य पूतनामुक्तिदानम्.

इदञ्च अवतारकार्यम्. अतएव उक्तं पञ्चाध्याय्यां **''यदा यदा भगवान् अवतरति तदा तदा पूतनासुपयःपानादिकं करोति''** (सुबो.१०।२७।१५) इति. एतेषाञ्च चरित्राणां मूलचरित्रत्वम्, अनुकरणलीलायां स्वामिनीभावविषयत्वेन वसुदेवगृहाद् आगमनमपि मूलरूपीभूय नतु अत्र आगते एकीभावः. अन्यथा वसुदेवदेवक्योः शिशुरूपशुद्धब्रह्मादर्शने, अननुभूतत्वेन, तद्वियोगानुभवो न स्यात्; परं संयोगात् पूर्वं जातो वियोगो न पुष्टः, संयोगेन उपमर्दात् तदुत्तरं जातस्तु तथा. तादृशतद्दानन्तु स्वामिनीष्वेव इति अलम् उक्तिभिः. कलानु **''कलाभ्यां नितरां हरेः''** (भाग.पुरा.१०।१७।४८) इत्यादिवाक्यात् स्पष्टैव. अवतारभेदोपि अत्रैव. **''मत्स्याश्वकच्छप...''** (भाग.पुरा.१०।२।४०) इति वाक्यात् कृष्णावतारस्तु स्पष्टएव. **''कृष्णावतारोत्सवसंभ्रम'''** (भाग.पुरा.१०।३।११) इति वाक्यात्. एवं सति सर्वांशेन आविर्भावाद् अत्र अवतारे स्वरूपैक्येऽपि तादृग्भक्तोद्धारार्थं तन्निरोधार्थं अन्तरंगभक्तानां अविद्या-तदध्यासादि-निवर्तनार्थं तैस्तैः अंशैः सर्वविधचरित्राणां सन्निवेशः सिध्यति. निजाचार्यकृपाभावाद् एतद् भेदानवगत्या पुरुषोत्तमचरित्रे अन्यादृशत्वसंदेहाद् मुह्यन्ति लोकाः इति भावः. धर्मसहितस्वरूपचरित्रन्तु पुरवनितानाम् आनन्ददानं, केवलतच्चरित्रं व्रजवनितानां भाववर्धनम्. तदुपयोगित्वेनैव अंशादिचरित्रम् इति निर्गलितो अर्थः. एतदेव श्रीशुकैः सर्वांते भगवल्लीलानित्यत्वे संदिहानं राजानं प्रति **''जयति जननिवास...''** (भाग.पुरा.१०।८७।४८) इति पद्येन विविच्य सर्वं कुर्वन् व्रजपुरवनितानां वर्द्धयन् कामदेवं जननिवासो जयति सर्वदा सर्वोत्कर्षेण इति निरूपितम्. सर्वधर्मविर्निमुक्तः केवलः पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृहएव जातइति तच्चरित्रमपि तत्रैव इति सिद्धं. अतएव उक्तम् अस्मत्स्वामिभिः **''पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृहएव मायया सह जातः''** (सुबो.१०।१२।१) इति, मायासहभावोक्तिस्तु सावरणाविर्भाव-द्योतनाय. अन्यथा निरावृत्ताविर्भावे ज्ञानमेव उदियात्. वसुदेवदेवक्योरिव अत्र स्तुतिः च स्याद्, लीलासुखं च सति ज्ञाने न स्याद्, अतः आविर्भावे

पुरुषोत्तमत्वज्ञानाभावाय मायासहभावः. तदुत्तरं सर्वांशविशिष्टपूर्वरूपेणैव अवतरणसम्भवात् तदपसारणम्. अतएव नन्दादीनां पुत्रत्वज्ञानमेव न वसुदेवादिवत् पुरुषोत्तमत्वज्ञानं ततएव उत्सवादिलीलासुखं च. फलप्रकरणे पुनः तदाश्रयणं च तल्लीलास्थातिरिक्तानाम् एतल्लीलाज्ञापनाय निजानन्ददानाय च इति निष्कर्षः.

इति श्रीहरिदासेन निजाचार्याश्रितेन हि।
निर्णीतः तत्कृपामात्राद् आविर्भावो निजप्रभोः।।

प्रभूणाम् आविर्भावनिर्णयः समाप्तः।।